

GOVERNMENT OF INDIA

ARCHAEOLOGICAL SURVEY OF INDIA

Central Archaeological Library

NEW DELHI

ACC. NO. 72043

CALL NO. Sa 6V/Shu

D.G.A 79



॥ श्रीः ॥

चौखम्बा आयुर्विज्ञान ग्रन्थमाला

१८



पदार्थविज्ञान-दर्पण

(भारतीय चिकित्सा केन्द्रीय परिषद्, नई दिल्ली
द्वारा स्वीकृत पाठ्यक्रमानुसार)

72043

लेखक—

डॉ० विद्याधर शुक्ल

जी. ए. एम. एस., काव्यतीर्थ,

एम. ए., विद्यावारिधि (पी-एच्. डी.)

भूतपूर्व रोडर : आयुर्वेद महाविद्यालय

ओसम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

प्राक्कथन—

आचार्य प्रियव्रत शर्मा



Sa6V

Shu



चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

वाराणसी

प्रकाशक—

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)

के० ३७/११७, गोपालमन्दिर लेन

720 पो० बा० नं० ११२९, वाराणसी २२१००१

प्रकाशित संख्या

विशेष क० २२१

Sa 6 V

Shu

नई दिल्ली

दिनांक 28 दूरभाष : ४५३५७

सर्वसंप्रदायिक पुस्तकालय सर्वधिकार सुरक्षित

प्रथम संस्करण १९८४

मूल्य ४०-००

अन्य प्राप्तिस्थान—

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

३८, यू. ए., जवाहरनगर, बंगलो रोड

दिल्ली ११०००७

*

प्रमुख वितरक—

चौखम्बा विद्याभवन

चोक (बनारस स्टेट बैंक भवन के पीछे),

पो० बा० नं० १०६९, वाराणसी २२१००१

दूरभाष : ६३०७६

मुद्रक—

श्रीजी मुद्रणालय

वाराणसी

THE
CHAUKHAMBA AYURVIJNAN GRANTHAMALA

14



PADARTHA-VIJÑĀNA- DARPAṆA

(According to the Syllabus of Central Council
of Indian Medicine, New Delhi)

By

Dr. Vidyadhar Shukla

*G. A. M. S., Kavyatirtha,
M. A., Vidyavaridhi (Ph. D.)*

Ex. Reader—Ayurveda Mahavidyalaya
Shri Sampurnananda Sanskrit Vishwavidyalaya, Varanasi

Foreword by

Acharya Priyavrat Sharma



CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN
VARANASI

© CHAUKHAMBHA SURBHARATI PRAKASHAN
(*Oriental Publishers & Booksellers*)

K. 37/117, Gopal Mandir Lane

Post Box No. 1129

V A R A N A S I 2 2 1 0 0 1

Telephone : 55357

First Edition

1984

Also can be had of

CHAUKHAMBHA SANSKRIT PRATISHTHAN

38 U. A., Jawaharnagar, Bungalow Road

D E L H I 1 1 0 0 0 7

*

Sole Distributors

CHOWKHAMBHA VIDYABHAWAN

CHOWK (Behind The Benares State Bank Building)

Post Box No. 1069

V A R A N A S I 2 2 1 0 0 1

Telephone : 63076

प्राक्कथन

पदार्थविज्ञान यद्यपि आयुर्वेद के अष्टाङ्ग में परिगणित नहीं है, तथापि वह सर्वत्र व्याप्त है। वस्तुतः वह सभी अङ्गों का मूल है। पदार्थों को हृदयङ्गम किये बिना शास्त्र में प्रवेश संभव नहीं है। महर्षियों ने पदार्थों का यथावत् ज्ञान प्राप्त करने के बाद ही तन्त्रों का निर्माण किया—

तेनर्षयस्ते ददृशुर्यथावज्ज्ञानचक्षुषा ।

सामान्यश्च विशेषश्च गुणान् द्रव्याणि कर्म च ॥

समवायश्च, तज्ज्ञात्वा तन्त्रोक्तं विधिमास्थिताः ।

—चरकसंहिता, सूत्र० १।२८-२९

आधुनिक युग में जब आयुर्वेद का शिक्षण विषयानुसार प्रवर्तित हुआ तब आयुर्वेद के मूलभूत तथ्यों को समुच्चित कर 'पदार्थविज्ञान' नामक एक नवीन विषय की कल्पना की गई। इसके अन्तर्गत पदार्थ, प्रमाण, पुरुष, तन्त्रयुक्ति आदि का समावेश किया गया। आगे चल कर, 'मौलिक सिद्धान्त' शब्द का प्रचलन प्रारंभ हुआ। प्रारंभ में, स्नातकोत्तर आयुर्वेद-संस्थानों में इसका प्रयोग प्रारंभ हुआ। 'मौलिक सिद्धान्त' का क्षेत्र व्यापक है; इसमें दोषधातुमल, रसगुणवोर्यविपाक आदि सिद्धान्तों का अध्ययन भी आ जाता है। वास्तव में, पदार्थविज्ञान मौलिक सिद्धान्त की भूमिका है। इन सिद्धान्तों के अध्ययन के पूर्व पदार्थों का ज्ञान अत्यावश्यक है।

'पदार्थविज्ञान' पर, सर्वप्रथम पुस्तक पं० रामरक्ष पाठक कृत प्रकाशित हुई। यह पुस्तक उन्होंने तुब लिखी थी जब वे लगभग ४० वर्ष पूर्व गुरुकुल कांगड़ी में आयुर्वेदिक कालेज के प्राचार्य थे। वर्षों तक इस विषय पर यह एकमात्र अवलम्बभूत ग्रन्थ रहा। इसके बाद क्रमशः अन्य ग्रन्थ प्रकाश में आये। सभी लेखकों ने अपनी बुद्धि और अनुभव के अनुसार विषय को यथासंभव स्पष्ट करने का प्रयत्न किया।

प्रस्तुत ग्रन्थ इस विषय की नवीनतम कृति है। इसके रचयिता पं० विद्याधर शुक्ल आयुर्वेद के मर्मज्ञ होने के साथ-साथ अन्य संस्कृत-शास्त्रों के भी मनीषी हैं। फलस्वरूप इस ग्रन्थ में पदार्थ, प्रमाण, पुरुष आदि सभी उपयोगी विषयों का साङ्गोपाङ्ग विशद विवेचन हुआ है। इस उत्तम रचना के लिए मैं लेखक महोदय को बधाई देता हूँ तथा आशा करता हूँ कि भविष्य में भी उत्तम कृतियों से आयुर्वेद-वाङ्मय की श्रीवृद्धि करते रहेंगे। सुरभारती प्रकाशन भी इसके धन्यवादार्ह है। आशा है, छात्रों तथा अध्यापकों द्वारा इसका हार्दिक स्वागत होगा।

गुरुधाम, वाराणसी }
१२ नवम्बर, १९८४ }

प्रियव्रत शर्मा

प्रस्तावना

आयुर्वेद मात्र चिकित्साशास्त्र ही नहीं है, अपि तु यह उत्कृष्ट दर्शन भी है। जब हम दर्शन शब्द का प्रयोग करते हैं, तो उसका तात्पर्य ऐसी साधनापद्धति से होता है, जिसे यथार्थद्वष्टा महर्षियों ने मानव को त्रिविध तापों (आध्यात्मिक-आधिभौतिक-आधिदैविक) से मुक्त करने के लिए निदिष्ट किया है। संसार में अनाविकाल से चल रहे दुःख-प्रवाह की आत्यन्तिक निवृत्ति के लिए, जगत् के स्थूल तथा सूक्ष्मतत्त्वों का साक्षात्कार कर लोक-कल्याण की कामना से जो विभिन्न साधनमार्ग बतलाये गये हैं, उनमें 'आयुर्वेद' अपना विशिष्ट स्थान रखता है।

आयुर्वेद स्वस्थ व्यक्तियों के स्वास्थ्य की रक्षा और रुग्ण व्यक्तियों का व्याधि-परिमोक्षण तो करता ही है, साथ ही वह सर्वोच्च सांसारिक सुख एवं सर्वोत्कृष्ट पारमार्थिक सुख की उपलब्धि के लिए निभ्रान्त मार्ग-दर्शन भी करता है।

आयुर्वेद चतुर्विंशतितत्त्वात्मक समस्त पुरुष की चिकित्सा का प्रतिपादक शास्त्र है। वह शरीरमूलक वात-पित्त-कफ, रसरक्तादि धातु, तीन बोधाग्नि, पंचमहा-भूताग्नि एवं सप्त धात्वग्नि की साम्यावस्था और मलों के समुचित रूप से यथा-काल निर्हरणमात्र से किसी पुरुष को स्वस्थ नहीं मानता; जब तक कि उपर्युक्त साम्यावस्था के साथ-साथ, उस व्यक्ति का मन, आत्मा और इन्द्रियाँ प्रसन्न न हों—

समदोषः समग्निश्च समधातुमलक्रियः ।

प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते ॥ (सुभ्रत०)

एवञ्च आयुर्वेद पुरुष के समस्त तत्त्वों की समीक्षा कर चिकित्सा का विधायक शास्त्र है। इस शास्त्र में शरीर का मन के साथ अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध बतलाया गया है। एक के विकृत होने पर दूसरा भी विकृत हो जाता है—'सत्त्वमनुविधीयते शरीरं, शरीरञ्च सत्त्वम्,' अत एव आचार्य चरक ने रोगरहित जीवन के लिए मन पर नियन्त्रण रखना आवश्यक माना है—

मतिर्वचः कर्म सुखानुबन्धं सत्त्वं विषेयं विशदा च बुद्धिः ।

ज्ञानं तपस्तत्परता च योगे यस्यास्ति तं नानुपतन्ति रोगाः ॥

(चरक० शा० २।४७)

आयुर्वेदीय 'पदार्थविज्ञान' में 'मन' के विशेषाध्ययन की उपयोगिता की समीक्षा एक अनिवार्य विषय है। आयुर्वेद भारतीय दर्शनों के विविधपक्षों को

आत्मसात् करने में विशाल एवं उदार दृष्टि रखता है। वह उसे ही बुद्धिमान् मानता है, जिसमें ज्ञान का अभिमान न हो ?

“कृस्नो हि लोको बुद्धिमतामाचार्यः शत्रुश्चाबुद्धिमताम् । अतश्चाभिसमीक्ष्य बुद्धिमताऽमित्रस्यापि घन्यं यशस्यमायुष्यं पौष्टिकं लोक्यमभ्युपविशतो वचः श्रोत-भ्यमनुविधातव्यं चेति ।”

(चरक० वि० ८।१४)

आयुर्वेद में सभी दर्शनों के सारभूत तत्त्वों का वर्णन उपलब्ध होने से उसे ‘सर्ववेदपारिषद्’ कहा जाता है। आयुर्वेद अगाध ज्ञान-वारिधि है, जिसमें अनेक स्रोतों से ज्ञानवारि की अनन्त धारायें समवेत होती हैं। भारतीय दर्शनों के ज्ञान-प्रवाह से वह आप्लावित है।

आयुर्वेद के मौलिक सिद्धान्तों को हृदयङ्गम बनाने के लिए दार्शनिक विषयों को एवं चिकित्सा के आधारभूत सिद्धान्तों को संकलित कर ‘पदार्थ-विज्ञान’ एक स्वतन्त्र विषय निर्धारित किया गया है। आयुर्वेदाध्येताओं के लिए इस विषय का समुचित ज्ञानार्जन करना अत्यन्त उपादेय है। इसमें द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेष-समवाय पदार्थ, शब्दशक्ति, प्रमाण-विज्ञान, सृष्टि-विज्ञान, पुरुष-विज्ञान, तन्त्रयुक्ति, मनोविज्ञान एवं तद्विद्यसंभाषा आदि विषयों का विवेचन प्रस्तुत किया जाता है।

इन दार्शनिक विषयों के आधार-ग्रन्थ संस्कृत-वाङ्मय में हैं; विशेषकर न्याय, वैशेषिक, सांख्य, वेदान्त तथा आयुर्वेदीय संहिता-ग्रन्थों के आधार पर उक्त विषयों का अध्ययन अपेक्षित है। ये विषय कोमलमति संस्कृतपाण्डित्यरहित छात्रों के लिए बुरुह और भारस्वरूप मालूम पड़ते हैं। इस दुःस्थिति को दूर करने के लिए और सभी श्रेणी के छात्रों को सरलतापूर्वक थोड़े ही श्रम से ‘पदार्थ-विज्ञान’ के रहस्य को बुद्धिगम्य बनाने के लिए सुबोध एवं सुगम हिन्दी भाषा में इस ग्रन्थ की रचना की गयी है। इस ग्रन्थ के लेखन में यह प्रयास किया गया है कि सभी विषय अपने मूल ग्रन्थ के साथ सामञ्जस्य स्थापित रखें ? एतदर्थ नीचे ‘पाठ-टिप्पणी’ में मूलपाठ भी यथावश्यक रूप से उद्धृत कर दिया गया है। कठिन विषय को भी सरल बनाकर लिखने की भरपूर चेष्टा की गयी है। अद्यावधि उपलब्ध इस विषय की अन्य पुस्तकों की अपेक्षा यह पुस्तक अधिकाधिक सुबोध, व्यावहारिक और छात्रोपयोगी होगी, यह विश्वास है।

यह ग्रन्थ ‘केन्द्रीय भारतीय चिकित्सा परिषद्’, नई दिल्ली द्वारा निर्धारित पाठ्यक्रम के अनुसार लिखा गया है और परीक्षा के सभी विषय इसमें समाविष्ट हैं। इस विषय की शुद्ध हिन्दी में यह प्रथम रचना है और इस एक ही ग्रन्थ के स्वाध्याय से इस विषय का समुचित रूप से सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

आशा है, इस ग्रन्थ का मनोयोगपूर्वक श्रद्धा के साथ स्वाध्याय करने से छात्रों के मन में 'पदार्थ-विज्ञान' के रहस्य की जिज्ञासा का उदय होगा, जिसकी परितृप्ति के लिए त्रिविधशिष्यबुद्धिगम्य शैली में लिखा गया यह ग्रन्थ छात्रों को 'अनुकार्यज्ञान' कराने में सक्षम होगा और विद्वज्जनों को ऊहापोह का अवसर प्रदान करने में समर्थ होगा ।

इस ग्रन्थ के लिखने में न्याय, वैशेषिक, वेदान्त, साहित्य, सांख्य और आयुर्वेद के ग्रन्थों से सहायता ली गयी है । जिन महापुरुषों के ग्रन्थों एवं लेखों से सहायता ली गयी है, मैं उन सबके प्रति हृदय से आभारी हूँ ।

अन्त में स्वनामधन्य, यशस्वी चिकित्सक, आचार्य पं० गंगासहाय पाण्डेय जी के प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन करना अपना मधुर कर्तव्य समझता हूँ, जिनकी प्रेरणा तथा उद्बोधन से ग्रन्थ को प्रकाशित करने की अवधारणा हुई ।

मैं आचार्य प्रियव्रत शर्माजी का आभारी हूँ, जिन्होंने अपने वचनामूर्तों द्वारा इस ग्रन्थ के गौरव को बढ़ाया है ।

चौखम्बा सुरभारती के संचालक-बन्धुओं के सत्प्रयास से यह ग्रन्थ सुन्दर रूप में प्रकाशित हुआ, एतदर्थ मैं उनका कृतज्ञ हूँ ।

चैत्र रामनवमी, सं० २०३९ }
जे १२/१२० धूपचण्डी, वाराणसी }

विद्वज्जनानुचर—
विद्याधर शुक्ल

भिषजां साधुवृत्तानां भद्रमागमशालिनाम् ।
अभ्यस्तकर्मणां भद्रं भद्रं भद्राभिलाषिणाम् ॥

(वाग्भट)

विषयानुक्रमणिका

प्रथम अध्याय : शास्त्र-विज्ञान

१-९

शास्त्र-लक्षण १; उत्तमशास्त्र का लक्षण २; शास्त्र-प्रामाण्य ३; अनुबन्ध-चतुष्टय ४; आयुर्वेद का लक्षण ५; आयु-वेद-शब्दार्थ ५; आयुर्वेद का स्वरूप— १. सुखायु ६, २. असुखायु ६, ३. हितायु ६, ४. अहितायु ७; आयु का मान ७।

द्वितीय अध्याय : शब्दशक्ति-विज्ञान

१०-२७

पद का लक्षण १०; वाक्य का लक्षण ११; आकाङ्क्षा, योग्यता और सन्निधि १२; शब्द के भेद—१. वाचक १३, २. लाक्षणिक १३, ३. व्यञ्जक १३; अर्थ के भेद १४; शब्द की वृत्तियाँ १४; अभिधा का लक्षण १४; शक्तिग्रह १५; शक्तिग्राहक व्याकरण-कोष आदि १६, लक्षणवृत्ति-विचार १७; लक्षणा का लक्षण १८; लक्षण के भेद—१. उपादानलक्षणा १८, २. लक्षणलक्षणा १९, ३. जहदजहल्लक्षणा २०; व्यञ्जना का लक्षण २०; व्यञ्जना के भेद— १. अभिधामूला व्यञ्जना २१, २. लक्षणामूला व्यञ्जना २१; आर्थी व्यञ्जना २२; आर्थी व्यञ्जना के भेद २२; आर्थी व्यञ्जना में शब्द का सहयोग २२; तात्पर्यवृत्ति-विचार २२; वाक्यार्थशैली के विवेचन में दो मत—१. अभिहितान्वयवाद २३, २. अन्विताभिधानवाद २३; निघण्टु २४; निरुक्त में यास्क द्वारा विद्युत् निरूपण २६।

तृतीय अध्याय : पदार्थ-विज्ञान

२८-४२

आयुर्वेद में पदार्थविज्ञान का प्रयोजन २८; द्रव्य ३०, गुण ३०, कर्म ३१, समवाय ३१; पदार्थविचार ३१; पदार्थ-लक्षण ३२; पदार्थविज्ञान और कणाद-दर्शन ३३; तन्त्रयुक्तिरूप पदार्थ का वर्णन ३४; विभिन्न शास्त्रों में पद और पदार्थ ३५; पदार्थों के स्वरूप तथा संख्या आदि में मतमतान्तर ३६; पदार्थों की संख्या ३६; अभाव की अनुक्ति में हेतु ३७; अभाव का लक्षण ३८; अभाव के भेद—(१) संसर्गाभाव ३८—प्रागभाव ३९, प्रध्वंसाभाव ३९, अत्यन्ताभाव ३९, (२) अन्योन्याभाव ४०; पदार्थों का परिगणन ४०; प्रमेय का लक्षण ४०; प्रमेय के भेद ४१—प्रवृत्ति—१. कायिक-प्रवृत्ति ४१, २. वाचिक-प्रवृत्ति ४१, ३. मानस-प्रवृत्ति ४१, दोष ४१, प्रेत्यभाव ४१, फल ४२, दुःख ४२, अपवर्ग ४२, अपवर्ग-प्राप्ति ४२; प्रमाण-प्रमेयरूप पदार्थ-वैशिष्ट्य ४२।

Received from Chaurbamba Sanskrit Pratishthan Delli (C-Block-30/10/18)
Dr. 25/9/18 Price Rs 40/-

चतुर्थ अध्याय : प्रमाण-विज्ञान

४३-५५

प्रमाण ४३; अप्रमाण ४४; स्मृति ४४; स्मृति का आधार ४५—१. धारणा ४५, २. पुनश्चेतना ४६, ३. प्रत्यभिज्ञान (पहचान) ४६; स्मृति से दुःख का विनाश ४६; मोक्षसाधक स्मृति ४६; स्मृति-जागरण में कारण ४७; अनुभव ४८; अभ्यहित होने में प्रमाण की प्राथमिकता ४८; प्रमाण का लक्षण ४९; प्रमाणों की संख्या ४९; त्रिविध प्रमाणों में सभी प्रमाणों का समन्वय ५०; आयुर्वेदोक्त प्रमाणों का त्रिविध प्रमाणों में समन्वय ५१; प्रमाणसम्बन्धी मत-भेद ५२; प्रामाण्यवाद ५३; स्वतःप्रामाण्य और परतः प्रामाण्य ५३।

पञ्चम अध्याय : प्रत्यक्षप्रमाण-विज्ञान

५६-६८

प्रत्यक्ष का लक्षण ५६; प्रत्यक्ष के भेद ५६—निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ५६; सविकल्पक प्रत्यक्ष ५७; सविकल्पक प्रत्यक्ष के भेद—(१) लौकिक सविकल्पक के भेद—बाह्य प्रत्यक्ष ५७, आभ्यन्तर प्रत्यक्ष ५७, इन्द्रिय भेद से लौकिक प्रत्यक्ष भेद—१. श्रावण प्रत्यक्ष ५७, २. त्वाच प्रत्यक्ष ५७, ३. चाक्षुष प्रत्यक्ष ५७, ४. रासन प्रत्यक्ष ५८, ५. घ्राणज प्रत्यक्ष ५८, ६. मानस प्रत्यक्ष ५८; (२) अलौकिक प्रत्यक्ष के भेद—१. सामान्यलक्षणान्य प्रत्यक्ष ५८, २. ज्ञान-लक्षणान्य प्रत्यक्ष ५८, ३. योगज प्रत्यक्ष ५९; सन्निकर्ष ५९; सन्निकर्ष के भेद—१. संयोग ५९, २. संयुक्तसमवाय ५९, ३. संयुक्त-समवेतसमवाय ६०, ४. समवाय ६०, ५. समवेत-समवाय ६०, ६. विशेषविशेषण-भाव ६०; इन्द्रियों की प्राप्यकारिता का विचार ६१; अतिसामीप्य आदि प्रत्यक्ष के दोष ६२; प्रत्यक्षप्रमाण का प्रमाणान्तर सहायकत्व—अनुमान ६३, युक्ति ६४, उपमान ६४, आत्मोपदेश ६४, अर्थापत्ति ६४, अनुपलब्धि ६४, चेष्टा ६४; स्वप्नावस्था में प्रत्यक्ष ६४; ज्ञानोत्पत्ति प्रकार ६६; इन्द्रिय-भेद से प्रत्यक्ष के भेद ६७; इन्द्रियसन्निकर्ष के भेद ६७; विविधयन्त्रादि द्वारा प्रत्यक्ष प्रमाण का विस्तार ६७।

षष्ठ अध्याय : अनुमानप्रमाण-विज्ञान

६९-९१

अनुमान का स्वरूप ६९; अनुमान का लक्षण ७०; व्याप्ति का लक्षण ७१; व्याप्ति के भेद—१. अन्वयव्याप्ति ७२, २. व्यतिरेकव्याप्ति ७२; पक्ष, सपक्ष और विपक्ष ७३; पक्षधर्मता ७३; परामर्श ७३; करण ७३; कारण ७३; साध्य और हेतु ७४; अनुमान के भेद—१. स्वार्थानुमान ७४, २. परार्थानुमान ७४; अनुमान के अवयव—१. प्रतिज्ञा ७६, २. हेतु ७६, ३. उदाहरण ७६, ४. उप-नय ७६, ५. निगमन ७६; पञ्चावयववाक्यों का महत्त्व ७६; प्रकारान्तर से अनुमान के भेद—१. पूर्ववत् ७८, २. शेषवत् ७८, ३. सामान्यतोदृष्ट ७८; हेतु का लक्षण ७८; हेतु के भेद—१. अन्वयव्यतिरेकी ७९, २. केवलान्वयी

७९, ३. केवलव्यतिरेकी ७९; तीनों हेतुओं के सत् हेतुत्व पर विचार ८०; केवलान्वयी हेतु ८०; केवलव्यतिरेकी हेतु ८०; हेत्वाभास—१. सव्यभिचार ८१—साधारण ८१, असाधारण ८१, अनुपसंहारी ८२, २. विरुद्ध ८२, ३. सत्प्रतिपक्ष ८२, ४. असिद्ध ८३—आश्रयासिद्ध ८३, स्वरूपासिद्ध ८३, व्याप्यत्वासिद्ध ८३, ५. बाधित ८४; तर्क का स्वरूप ८४; तर्क का महत्त्व ८५; तर्क का लक्षण ८५; तर्क के भेद ८६; संशय ८७; संशय का लक्षण ८७; संशय का स्वरूप ८७; संशय के भेद—१. समानधर्मदर्शनजन्य संशय ८७, २. विप्र-तिपत्तिजन्य संशय ८८, ३. असाधारणधर्मजन्य संशय ८८; भ्रान्ति, विपर्यय, मिथ्याज्ञान तथा विवर्तभाव ८८; आयुर्वेद में अनुमानप्रमाण का सर्वाधिक प्रयोग और अनुमान का महत्त्व ८९ ।

सप्तम अध्याय : युक्ति-उपमान-आप्तोपदेश-प्रभृति-विज्ञान ९२-१०९

युक्तिप्रमाण का लक्षण ९२; युक्ति का उदाहरण ९२; प्रमाणान्तर से युक्तिप्रमाण का वैशिष्ट्य ९२; युक्तिप्रमाण का आयुर्वेद में विशेष उपयोग ९३; युक्तिप्रमाण का अनुमान में अन्तर्भाव नहीं ९५; उपमान-विचार ९७; उपमान के भेद—१. साधर्म्योपमान ९७, २. वैधर्म्योपमान ९८; उपमान के स्वतन्त्र प्रमाण होने में युक्ति ९८; आयुर्वेद में उपमानप्रमाण का उपयोग ९८; सादृश्य-मूलक उपमान का अन्य प्रमाणों का उपजीव्यत्व १००; आप्तोपदेश १०१; आस का लक्षण १०१; ऐतिह्य और आगम १०३; शाब्दबोध की प्रक्रिया १०३; अनुपलब्धि १०४; इतिहास (ऐतिह्य) १०४; चेष्टा १०४; परिशेष १०४; संभव १०५; इतिहास-प्रामाण्य १०५; धार्मिक वाङ्मय १०५, लौकिक वाङ्मय १०५; मुद्रा १०६; पर्यटकों के विवरण १०६, अभिलेख १०६, पुरातत्त्व १०६; कारण का लक्षण १०७; कारण के भेद—समवायिकारण १०८, असमवायि-कारण १०८, निमित्तकारण १०८; कार्य-लक्षण १०८; प्रमाणों का फल १०८ ।

अष्टम अध्याय : द्रव्य-विज्ञान

११०-१२२

द्रव्य का लक्षण ११०; द्रव्यशब्द की व्युत्पत्ति ११०; द्रव्य के भेद—१. कारणद्रव्य ११०; २. कार्यद्रव्य—चेतन द्रव्य ११०, अचेतन द्रव्य १११, चेतन द्रव्य के भेद—अन्तश्चेतन १११, बाह्याभ्यन्तर चेतन १११, कार्यद्रव्यों की उत्पत्ति ११२; द्रव्यों का परिगणन ११२; पृथ्वी आदि का द्रव्यत्व ११३; जल का द्रव्यत्व ११३; तम का दशम द्रव्यत्व ११३; पृथ्वी-निरूपण ११५; जल-निरूपण ११६; तेज का निरूपण ११६; तेज के भेद ११७; वायु-निरूपण ११८; आकाश-निरूपण ११८; पंचमहाभूत और उसके नैसर्गिक गुण ११९; महाभूतों के भूतान्तरानुप्रवेशकृत गुण १२१; पंचमहाभूतों के भौतिकगुण १२१; पंचमहाभूतों की उत्पत्ति १२१; पंचमहाभूतों का संगठन १२१ ।

नवम अध्याय : आत्म-विज्ञान

१२३-१४४

आत्मा का लक्षण और गुण १२३; आत्मा के ज्ञत्व का प्रतिपादन १२५; जीवात्मा का लक्षण और अनेकता १२६; जीवात्मा का परिमाण १२९; परमात्मा और जीवात्मा १२९; देहातिरिक्त आत्मा का सङ्काव १३०; जीवात्म-परमात्म-भेद से पुरुषपञ्चक—१. भूतात्मा १३३, २. इन्द्रियात्मा १३४, ३. प्रधानात्मा १३५, ४. जीवात्मा १३६, ५. परमात्मा १३७; परमात्मा का निरूपण १३८; परमेश्वर-विचार १३९; जीवात्मा का परमेश्वर से मिलन १४१; आयुर्वेद में परमेश्वर के स्मरण का विधान १४२ ।

दशम अध्याय : मनोविज्ञान

१४५-१७०

मन का निरूपण १४५; मन का लक्षण १४५; मन की निरुक्ति १४६; मन के भेद (सात्त्विक आदि भेद से) १४६; आन्तर और बाह्य भेद से मन का विश्लेषण १४७; मनोविज्ञान-विवेक १४८; आधुनिक दृष्टिकोण १४९; मन के दो गुण १५१; मन के विषय १५२; काम-क्रोध आदि मनोवृत्तियाँ १५२; मन के कर्म १५३; मन के दोष १५५; मन का इन्द्रियत्व और भौतिकत्व १५६; मन का कर्तृत्व १५६; सत्त्वसार का लक्षण १५७; सात्त्विक मन १५७, राजस मन १५७, तामस मन १५७, मन का अधिष्ठान १५८; मनोबहस्रोत १५९; मन का पोषण १६६ ।

एकादश अध्याय : काल-दिक्-विज्ञान

१७१-१७५

काल-निरूपण १७१; महाभारत में काल-निरूपण १७१; श्रीमद्भागवत में काल-निरूपण १७२; श्रीमद्भागवत के अनुसार काल का महत्त्व १७४; दिक्-निरूपण १७५ ।

द्वादश अध्याय : गुण-विज्ञान

१७६-१९८

गुण का लक्षण १७६; गुणों की संख्या १७६; गुणों के भेद १७७; वैशेषिक दर्शन में गुण १७७; न्यायशास्त्रोक्त गुण १७७; चरकोक्त गुणों का न्यायोक्त गुणों से समन्वय १७८; गुणों का परस्पर सामर्थ्य-वैधर्म्य १७९; शब्द-निरूपण—१. वर्णात्मक शब्द १८०, २. ध्वन्यात्मक शब्द १८०; शब्द की उत्पत्ति १८०; शब्द से शब्द की उत्पत्ति १८१; श्रोत्र प्रत्यक्षोत्पत्तिप्रकार १८१; श्रोत्र १८१—१. बाह्यकर्ण १८२; कर्णशङ्कुली १८२, कर्णगुहा १८२, कर्णपटह १८२; २. मध्यकर्ण १८२; कण्ठकर्णी या पटहपूरणिका १८३; ३. अन्तःकर्ण १८३; शुण्डिका का कार्य १८५; शब्द-श्रवण १८५; ध्वनितरङ्गों का संवहन १८५; ध्वनितरङ्गों का संग्रहण १८६; स्पर्श-निरूपण १८६; त्वचा द्वारा स्पर्शज्ञान का प्रकार १८७; स्पर्शज्ञान १८८; मानवीय त्वचा १८८; रूप-निरूपण १८६; चक्षु द्वारा रूपज्ञान का प्रकार १८९; नेत्रगोलक के मण्डल—पद्ममण्डल १९०,

वर्त्ममण्डल १९०, श्वेतमण्डल १९०, कृष्णमण्डल या स्वच्छमण्डल १९०, दृष्टि-मण्डल १९१; दर्शनकेन्द्र और दर्शनप्रक्रिया १९१; दर्शनकेन्द्र १९१, अन्धविन्दु १९२, दर्शनप्रक्रिया १९२; रसनिरूपण १९३; रस का लक्षण १९४; रसों की संख्या और परिचय १९४; नव्यमत १९४; रसों के वैशिष्ट्य का कारण १९५; रसनाप्रत्यक्षोत्पत्ति-प्रकार १९५; गन्ध-निरूपण १९६; घ्राणजप्रत्यक्षोत्पत्ति-प्रकार १९७; श्वासकर्म १९७; घ्राणेन्द्रिय १९७; गन्धज्ञान १९८ ।

त्रयोदश अध्याय : सामान्यादि-गुण-विज्ञान १९९-२१६

सामान्य-गुण-निरूपण—१. गुरुत्व १९९, २. लघुत्व १९९, ३. शीतत्व २००, ४. उष्णत्व २००, ५. स्निग्धत्व २००, ६. रूक्षत्व २००, ७. स्थिरत्व २०१, ८. सरत्व २०१, ९. मृदुत्व २०१, १०. कठिनत्व २०१, ११. मन्दत्व २०१, १२. तीक्ष्णत्व २०२, १३. विशदत्व २०२, १४. पिच्छिलत्व २०२, १५. श्लक्ष्णत्व २०२, १६. खरत्व २०२, १७. स्थूलत्व २०३, १८. सूक्ष्मत्व २०३, १९. सान्द्रत्व २०३, २०. द्रवत्व २०३, गुरु आदि गुणों का उपयोगिता २०३; अध्यात्म-गुण-निरूपण—१. बुद्धि २०४, २. इच्छा २०४, ३. द्वेष २०५, ४. सुख २०५, ५. दुःख २०५, ६. प्रयत्न २०६, ७. परत्व २०६, ८. अपरत्व २०६, ९. युक्ति २०७, १०. संख्या २०७, ११. संयोग २०८, १२. विभाग २०९; १३. पृथक्त्व २०९; १४. परिमाण २०९; १५. संस्कार २१०; १६. अभ्यास २१०; गुण की प्रधानता में युक्तियाँ २११; गुणों की प्रधानता सिद्ध करने वाले प्रमाण—रसाभिभव २११, रसानुग्रह २११, विपाककारणत्व २१२, संख्या की अधिकता २१२, प्रयोग की बहुलता २१२, कर्मबाहुल्य २१२, विषयबाहुल्य २१२, उपदेश २१२, अनुमान २१२; द्वन्द्वगुण-निरूपण २१३; सांख्योक्त गुण-निरूपण २१३; सत्त्व, रजस् तथा तमस् गुणों के लक्षण और गुण २१३; तीनों गुणों के प्रीत्यादि लक्षण २१५; गुणों के कार्य २१५; अन्योन्य वृत्तियाँ और गुण २१५; अन्योन्याभिभव २१५; अन्योन्याश्रय २१५, अन्योन्यजनन २१५, अन्योन्यमिथुन २१६; अन्योन्यवृत्ति २१५ ।

चतुर्दश अध्याय : कर्म-सामान्य-विशेष-समवाय-विज्ञान २१७-२२४

कर्मनिरूपण २१७; कर्म का लक्षण २१७; कर्म के भेद २१७; द्रव्यों के कर्म की प्रक्रिया २१८; सामान्य निरूपण २१९; सामान्य का लक्षण २१९; परिभाषा २१९; सामान्य का वर्गीकरण २२०; सामान्य के दो भेद २२०; सामान्य के तीन भेद २२१; प्रकारान्तर से सामान्य के तीन भेद २२१, प्रकारान्तर से सामान्य के दो भेद २२१; विशेष-निरूपण २२२; विशेष के भेद—द्रव्यविशेष २२३, गुणविशेष २२४, कर्मविशेष २२४, समवाय-निरूपण २२४ ।

पञ्चदश अध्याय : तत्त्व-विज्ञान

२२६-२५४

तत्त्व-निरूपण २२६; सृष्टि का क्रमिक विकास २२६; प्रकृति २२९; विश्व-सृष्टिका क्रमिक विकास २३०; दार्शनिक दृष्टिकोण २३१; न्याय-दर्शन २३१; उत्तरमीमांसा २३३; पूर्वमीमांसा २३३; सांख्य-दर्शन २३३; योग-दर्शन २३४; आयुर्वेद २३४; चार्वाक-दर्शन २३४; जैन-दर्शन २३४; बौद्ध-दर्शन २३४; वैज्ञानिक दृष्टिकोण २३४; चरकानुमत चौबीस तत्त्व २३७; चौबीस तत्त्वों का विवरण २३७; आठ प्रकृतियाँ २३८; प्रकृति के भेद २३८; सोलह विकार २३९; क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ-निरूपण २४१; व्यक्त और अव्यक्त निरूपण २४४; मूल प्रकृति-निरूपण २४४; चरक के मत में प्रलय २४५; प्रकृति और पुरुष का साधर्म्य-वैधर्म्य २४८; सुश्रुतोक्त छः कारणों का विचार—१. स्वभाव २५०, २. ईश्वर २५०; ३. काल २५०, ४. यदृच्छा २५१, ५. नियति २५१, ६. परिणाम २५१ ।

षोडश अध्याय : पुरुष-विज्ञान

२५५-२७०

आयुर्वेद में चिकित्स्य पुरुष २५५; राशिपुरुष २५७; धातुभेद से पुरुष के प्रकार—एकधातुज पुरुष २५७, षड्धातुज पुरुष २५७, चतुर्विंशतितत्त्वात्मक पुरुष २५८; सूक्ष्मशरीर २६१; पुरुष के संयोग से प्रकृति में चैतन्य २६४; शरीर, इन्द्रिय, मन और आत्मा का सम्बन्ध २६५; अध्यात्म द्रव्य-गुण-कर्म २६६; वेदना का अधिष्ठान—सेन्द्रिय देह और मन २६८; वेदनानाश के कारण २६८ ।

सप्तदश अध्याय : करण-विज्ञान

२७१-२९०

तेरह करण और उनके कार्य २७१; करणों का बाह्य-आभ्यन्तर-विभाग २७१; बाह्य एवं आभ्यन्तरकरणों की विलक्षणता २७२; बाह्य-आभ्यन्तर-करणों का प्राधान्य-गौणत्व विमर्श २७२; बाह्य-आभ्यन्तरकरणों की वृत्तियाँ २७३; अन्तःकरणचतुष्टय २७३; इन्द्रियशब्दार्थ २७४; इन्द्रिय भेद और संख्या—ज्ञानेन्द्रियाँ २७५, कर्मेन्द्रियाँ २७५; ज्ञान-कर्मेन्द्रिय २७५; इन्द्रियों की वृत्तियाँ २७५; ज्ञानेन्द्रियों की वृत्तियाँ २७५; कर्मेन्द्रियों की वृत्तियाँ २७६; इन्द्रियों का पोषण २७६; पञ्चश्चपक २७७; पाँच इन्द्रियाँ २७७; पाँच इन्द्रिय द्रव्य २७७; पाँच इन्द्रियाधिष्ठान २७८, पाँच इन्द्रियार्थ २७९; पाँच इन्द्रियबुद्धियाँ २७९; पञ्चपञ्चक सारणी २८०; इन्द्रियों का भौतिकत्व २८१; इन्द्रियों का अहंकारि-कत्व २८५; बुद्धि का लक्षण और गुण २८६; बुद्धि का जन्म २८६; बुद्धि के सत्त्विक गुण २८७; बुद्धि के तामस गुण २८८; अहंकार का लक्षण २८९; अहंकार के कार्य २८९ ।

अष्टादश अध्याय : निद्रा-स्वप्न-मूर्छादि-विज्ञान २९१-३१७

निद्रा-विचार २९१; निद्रा के प्रकार २९१—१. तामसी निद्रा २९२, २. स्वाभाविकी निद्रा २९२, ३. वैकारिकी निद्रा २९३; निद्रा एक उपस्तम्भ २९३; दिन की निद्रा २९४; दिन में शयन के योग्य मनुष्य २९४; निद्रानाश की चिकित्सा २९४, निद्रा विष्णु-माया २९५; निद्रा पापमयी २९५; निद्रा का वास्तविक काल २९५; निद्रा का कारण २९६; निद्रासम्बन्धी आधुनिक विचार २९६; तन्द्रा-विवेक २९८; स्वप्न-विवेक २९९; स्वप्न के सात प्रकार ३००; अतीन्द्रिय ज्ञान के प्रकार ३०३—विचार-सम्प्रेषण ३०३, परोक्षदर्शन ३०३, पूर्वज्ञान या पूर्वाभास ३०३, भूतकाल का ज्ञान ३०३; पूर्वाभासी स्वप्न; ३०३; स्वप्नसम्बन्धी विविध मत ३०६; स्वप्न : दमित वासना की वृत्ति का साधन ३०७; स्वप्न और विज्ञान ३०७; स्वप्न-अनु-सन्धानशालाएँ ३०८; स्वप्न और उपचेतन मन ३०९; भविष्यदर्शन ३०९; मोह ३१०; मूर्छा ३११—वातजमूर्छा ३१२, पित्तजमूर्छा ३१२, कफजमूर्छा ३१२; रक्तवाहिनी-विकृतिजन्य मूर्छा ३१३, हृदय-विकृतिजन्य मूर्छा ३१३; संज्ञानाश ३१४; उद्बोधन ३१५; जाग्रत्स्वरूप ३१६ ।

एकोनविंश अध्याय : विविधवाद-विज्ञान ३१८-३५७

सत्कार्यवाद ३१८; असत्कार्यवाद ३२२; कार्य-कारणभावविवेक ३२२; परिणामवाद ३२२; सदृश-विसदृश और परिणाम ३२३; विवर्तवाद ३२३; पीलु-पाक-विचार ३२३; पिठरपाक-विचार ३२४; आरम्भवाद ३२४; क्षणमंग-वाद ३२५; आस्तिकता-नास्तिकता-विचार ३२५; आस्तिकता-विचार ३२५; पुनर्जन्म या परकाया-प्रवेश ३३०; नास्तिकता-विचार ३३३; आयुर्वेद में अने-कान्त-विचार ३३६; तद्विद्यसम्भाषा-विचार ३३८; तद्विद्यसम्भाषा का महत्त्व ३३९; तद्विद्यसंभाषा के भेद—१. सन्धायसंभाषा ३४०, २. विगृह्यसंभाषा ३४१; परिषद् के भेद ३४२; शास्त्रार्थ के उपयोगी ४४ पद; ३४४; वाद के स्थल और प्रयोजन ३४५; वाद-जल्प-वितण्डा-विचार ३४६; निग्रह-स्थान ३४६; पराजय के दो प्रकार—विप्रतिपत्ति ३४७, अप्रतिपत्ति ३४७; आयुर्वेद में कारणान्तरों का विचार ३४७; भेद—१. असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग ३४८, २. प्रज्ञा-पराध ३४८, ३. परिणाम ३४८; प्रकारान्तर से कारण के भेद ३४९, स्वभा-वोपरमवाद ३५०; स्वभावोपरमवाद का दार्शनिक आधार ३५२; साम्य-वैषम्य-सिद्धान्त और चिकित्सा का प्रयोजन ३५५ ।

विंश अध्याय : तन्त्रयुक्ति-विज्ञान ३५८-३७४

तन्त्रयुक्तियों का प्रयोजन ३५८; वाक्ययोजन ३५९; अर्थयोजन ३५९, चालीस तन्त्रयुक्तियाँ—१. अधिकरण ३६१, २. योग ३६१, ३. हेत्वर्थ ३६१,

४. पदार्थ ३६२, ५. प्रदेश ३६२, ९. उद्देश ३६३, ७. निर्देश ३६३,
 ८. वाक्यशेष ३६३, ९. प्रयोजन ३६४, १०. उपदेश ३६४, ११. अपदेश ३६४,
 १२. अतिदेश ३६५, १३. अर्थापत्ति ३६५, १४. निर्णय ३६५, १५. प्रसङ्ग
 ३६५, १६. एकान्त ३६५, १७. अनेकान्त ३६६, १८. अपवर्ग ३६६, १९.
 विपर्यय ३६६, २०. पूर्वपक्ष ३६६, २१. विधान ३६६, २२. अनुमत ३६७, २३.
 व्याख्यान ३६७, २४. संशय ३६८, २५. अतीतावेक्षा ३६९, २६. अनागतावेक्षा
 ३६९, २७. स्वसंज्ञा ३६९, २८. ऊह्य ३७०, २९. समुच्चय ३७१, ३०. निदर्शन
 ३७१, ३१. निर्वचन ३७१, ३२. सन्नियोग ३७३, ३३. विकल्प ३७३, ३४.
 प्रत्युत्सार ३७३, ३५. उद्धार ३७३, ३६. संभव ३७३, ३७. परिप्रश्न ३७४,
 ३८. व्याकरण ३७४, ३९. व्युत्क्रान्ताभिधान ३७४, ४०. हेतु ३७४ ।

एकविंश अध्याय : प्रकीर्ण-विषय-विज्ञान

३७५

वात-पित्त-कफ का मन पर प्रभाव ३७५; परमाणु-लक्षण ३७७; परमाणु-
 नित्यता-विचार ३७८; परमाणु निरवय तथा नित्य है ३८०; परमाणुवाद
 और प्रकृतिवाद ३८०; परमाणु और तन्मात्रा ३८१; श्रीमद्भगवत् में परमाणु-
 लक्षण ३८२; अवयव-अवयवी-विचार ३८२; भावना-विचार ३८३; भावना के
 भेद—१. शाब्दी भावना ३८३, शाब्दी भावना के तीन अंश ३८३, २. आर्थी
 भावना ३८४, आर्थी भावना के तीन अंश ३८४; वेदवाक्यों के पाँच प्रकार
 ३८४—विधि ३८४, उत्पत्तिविधि ३८४, विनियोगविधि ३८४, अधिकार-
 विधि ३८५, प्रयोगविधि ३८५, मन्त्र-विचार ३८५, नामधेय-विचार ३८६,
 निषेध-विचार ३८६, अर्थवाद-विचार ३८६, सात प्रकार की कल्पनाएँ ३८७;
 चौदह तन्त्रदोष ३८८; सत्रह ताच्छील्य ३९०; इक्कीस अर्थाश्रय ३९२ ।

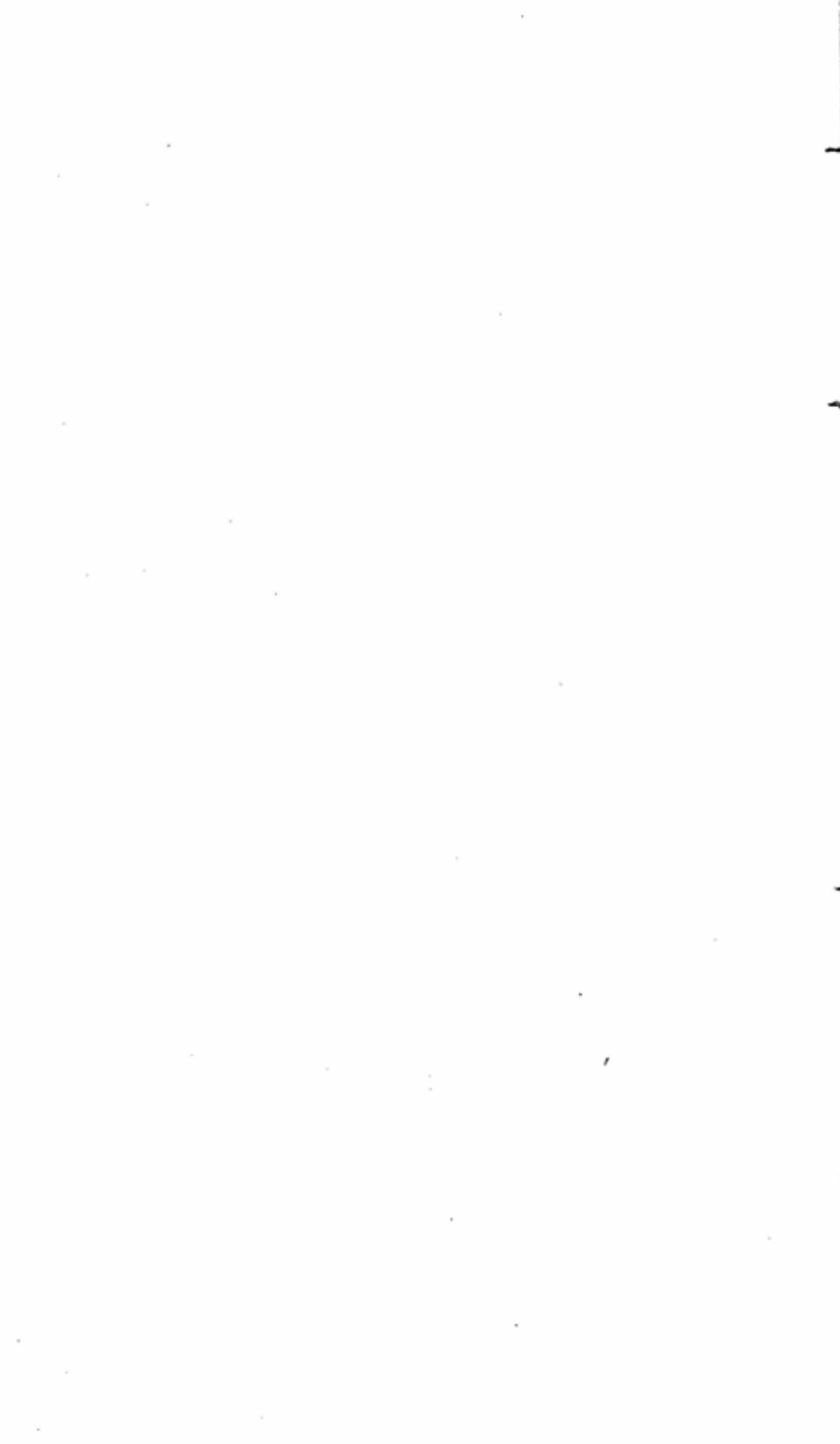
द्वाविंश अध्याय : तुलादि-विज्ञान

३९५-३९७

आयुर्वेदाचार्य (बी. ए. एम. एस.) पाठ्यविषय

(क-च)

पदार्थ-विज्ञान-दर्पण



प्रथम अध्याय

शास्त्र-विज्ञान

शास्त्र का लक्षण

शासन करने वाले ग्रन्थ को "शास्त्र" कहते हैं^१। शासन करने का अर्थ है मनुष्यों के लिए शुभाशुभ कर्मों का निर्देशन अर्थात् किन-किन कार्यों के करने से ऐहलौकिक और पारलौकिक अभ्युदय होगा एवं किन-किन कार्यों के करने से अधःपतन होगा या अकल्याण होगा, उन कर्मों को बतलाना ही शास्त्रों की संरचना के उद्देश्य होते हैं^२। वेद, पुराण, धर्मशास्त्र, स्मृति, आयुर्वेद प्रभृति शास्त्र मनुष्यों के हित के लिए सत्कर्मों में प्रवृत्ति और असत्कर्मों से निवृत्ति का उपदेश करते हैं। इसीलिए ये "शास्त्र" कहे जाते हैं। संक्षेप में यदि कहा जाय, तो यह कहना होगा, कि शुभाशुभकर्मों में प्रवृत्ति-निवृत्ति कराने वाले ग्रन्थ "शास्त्र" कहलाते हैं।

वेदान्त दर्शन में किसी गूढतत्त्व का "शंसन" (प्रतिपादन) करने वाला ग्रन्थ 'शास्त्र' कहा जाता है।^३ इस व्युत्पत्ति के अनुसार गूढ 'ब्रह्मतत्त्व' का प्रतिपादन करने वाले वेदान्त आदि के लिए 'शास्त्र' शब्द का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार 'शासन' और 'शंसन' इन दोनों ही गुणों का होना किसी शास्त्र के लिए आवश्यक है।

जहाँ तक आयुर्वेद का प्रश्न है, वह स्वास्थ्यरक्षण तथा रोगविमुक्ति के उपायों का शासक और शारीरिक तथा मानसिक विगूढ़ तत्त्वों का विश्लेषक होने के कारण एक पुण्यतम शास्त्र है।^४

१. शिष्यतेऽनेनेति शास्त्रम्, शास् + ष्टृन् । (वाचस्पत्यम्)

२. प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा नित्येन कृतकेन वा ।

पुंसां येनोपदिश्येत तच्छास्त्रमभिधीयते ॥

तर्कभाषा-तत्त्वालोक (सं० टीका) पृ० ४ ।

३. शंसनाद्वा शास्त्रम् । (निरुक्तम्)

४. (क) प्रयोजनं चास्य-स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणमातुरस्य विकार-प्रशमनं च । (चरक० सूत्र० ३०।२६)

(ख) तत्रायुर्वेदः शाखा, विद्या, सूत्रं, ज्ञानं, शास्त्रं, लक्षणं, तन्त्रमित्यनर्थान्तरम् । (चरक० सूत्र० ३०।३१)

उत्तमशास्त्र का लक्षण

बुद्धिमान् पुरुष को चाहिए, कि वह सर्वप्रथम यह विचार करे कि चिकित्सा-विज्ञान शास्त्र या जिस किसी शास्त्र का अध्ययन करना उसे अभीष्ट हो उस शास्त्र के पढ़ने से उसे क्या लाभ होगा। धर्म, अर्थ, काम या मोक्ष इन चार पुरुषार्थों में से उसे क्या प्राप्त होगा? इस शास्त्र का अध्ययन लोक-परलोक के लिये हितकारी होगा? देश, काल, समाज की दृष्टि से इस शास्त्र की कितनी उपयोगिता है? क्या मेरे पास इतना समय है? इतनी बुद्धि है, कि इस शास्त्राध्ययन कार्य को पूर्ण कर सकूँगा? इसका सर्वाङ्गीण ज्ञान अर्जित कर सकूँगा? क्या यह शास्त्र मेरी जीविका का और धर्मार्थकाम का साधक बन सकेगा? इत्यादि बातों को खूब अच्छी तरह सोच विचार कर जब दृढ़ आस्था और विश्वास हो जाय, तब निर्णय करे, कि मुझे किस शास्त्र की किस शाखा का अध्ययन करना है। तदन्तर वह युक्तिपूर्वक यह विचार करे, कि “कौन-सा शास्त्र उत्तम है” क्योंकि लोक में एक-एक विषय के अनेक शास्त्र प्रचलित हैं। अतः उसे उनमें से उत्तम शास्त्र का निर्वाचन करना चाहिए।^१

जिस शास्त्र में विस्तारपूर्वक सभी विषयों का प्रतिपादन किया गया हो और जिसे यशस्वी विद्वान् लोग पढ़ते-पढ़ाते हैं उसे ‘उत्तमशास्त्र’ जानना चाहिए। जिसमें एक ही बात बार-बार न कही गयी हो, जिसे अल्पबुद्धि, मध्यमबुद्धि और श्रेष्ठबुद्धि ये तीनों प्रकार के छात्र सुगमता से पढ़ सकते हों, जिसकी रचना यथार्थद्रष्टा उच्चकोटि के विद्वान् ने की हो, वह “उत्तमशास्त्र” है। जिस शास्त्र में पहले सूत्ररूप में, फिर व्याख्यात्मक ढंग से पुनः अतिविस्तार पूर्वक भाष्य के रूप में सभी विषयों का विवेचन किया गया हो, जिसमें विषयों के प्रतिपादन में विरोधाभास न हो, कठिन, असङ्गत या सङ्कीर्ण शब्दों या वाक्यों का प्रयोग न किया गया हो, जिसमें वर्ण्य विषय को सुस्पष्ट रूप से बतलाया गया हो, उसे ‘उत्तमशास्त्र’ कहा जाता है। जिसमें विषयों का वर्णन असन्दिग्ध रूप से किया गया हो, सभी विषय लक्षण और उदाहरण के साथ कहे गये हों, जो शीघ्र बोध होने योग्य शैली में रचित हो, ऐसा सर्वगुण-सम्पन्न शास्त्र ही उत्तमशास्त्र की कोटि में गिना जाता है। जैसे भुवन भास्कर

(ग) तस्यायुषः पुण्यतमो वेदो वेदविदां मतः ।

वक्ष्यते यन्मनुष्याणां लोकयोरुभयोर्हितम् ॥ (चरक० सूत्र० १।४३)

१. बुद्धिमानात्मनः कार्यगुरुलाघवं कर्मफलमनुबन्धं देशकालौ च विदित्वा युक्तिदर्शनाद् भिषग्बुभूवुः शास्त्रमेवादितः परीक्षेत । विविधानि हि शास्त्राणि भिषजां प्रचरन्ति लोके । (च० वि० ८।३)

भगवान् सूर्य अपनी सहस्रों किरणों से संसार के समस्त विषयों को आलोकित कर देते हैं, उसी तरह से बुद्धि के अन्धकार को दूर कर ज्ञान का आलोक विकीर्ण करने वाला शास्त्र "उत्तमशास्त्र" कहलाता है।^१

शास्त्र-प्रामाण्य

आत्मजनों ने जो उपदेश किया है, वही शास्त्र है। आत्मजन रज और तम से मुक्त होने के कारण राग, द्वेष आदि मनोविकारों से रहित होते हैं। इसलिए उनका उपदेश संशयरहित, सत्य एवं यथार्थ होता है।^२ जो ज्ञान प्रत्यक्ष अनुमान आदि प्रमाणों से ज्ञेय नहीं हो पाता और जो ज्ञान प्रत्यक्षादि प्रमाणों की सीमा से बाहर है, यह आत्मोपदेश (शास्त्र) से प्राप्त किया जाता है। अतः आत्मजनों द्वारा उपदिष्ट शास्त्र सर्वोपरि प्रमाण होते हैं। साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों का ज्ञान सर्वमान्य, सर्वग्राह्य एवं सर्वाधिक पूजनीय है। तपस्या और ज्ञान के बल से भूत, भविष्य और वर्तमान इन तीनों कालों का ज्ञान रखने वाले, अप्रतिहत बुद्धि वाले ऋषियों का वाक्य "शास्त्र" है। इसलिए शास्त्र स्वयं प्रमाण है।

इस प्रकार त्रिसूत्र^३ (हेतु, लिङ्ग और औषध) आयुर्वेद एक शाश्वत, पुण्यतम, यशस्वी, आयुष्य और वृत्तिकर शास्त्र है। आयुर्वेद शास्त्र स्वयं तो प्रमाण शास्त्र है ही, साथ ही आयुर्वेद के प्रामाण्य से वैदिकवाङ्मय की प्रामाणिकता भी सिद्ध होती है।

१. तत्र यन्मन्येत सुमहद् यशस्विधीरपुरुषासेवितमर्थबहुलमाप्तजनस्य पूजितं त्रिविधशिष्यबुद्धिहितमपगतपुनरुक्तदोषमार्थं सुप्रणीतसूत्रभाष्यसङ्ग्रहक्रमं स्वाधार-मनवपतितशब्दमकष्टशब्दं पुष्कलाभिधानं क्रमागतार्थमर्थतत्त्वविनिश्चय-प्रधानं सङ्गतायमसङ्कुलप्रकरणमाशुप्रबोधकं लक्षणवच्चोदाहरणवच्च, तदभिप्रपद्येत शास्त्रम्। शास्त्रं ह्येवंविधममल इवादित्यस्तमो विधूय प्रकाशयति सर्वम्।

(चरक० विमान० ८।३)

२. रजस्तमोभ्यां निर्मुक्तास्तपोज्ञानबलेन ये।

येषां त्रिकालममलं ज्ञानमव्याहृतं सदा॥

आत्माः शिष्टा विबुद्धास्ते तेषां वाक्यमसंशयम्।

सत्यं, वक्ष्यन्ति ते कस्मादसत्यं नीरजस्तमाः॥

(चरक० सू० ११।१८-१९)

३. हेतुलिङ्गौषधज्ञानं स्वस्थातुरपरायणम्।

त्रिसूत्रं शाश्वतं पुण्यं बुबुधे यं पितामहः॥

(चरक० सूत्र० १।२४)

अनुबन्ध-चतुष्टय

किसी शास्त्र की प्रामाणिकता या उपादेयता की दृष्टि से उस शास्त्र के चतु-रङ्ग की जानकारी आवश्यक समझी जाती है। इसे “अनुबन्ध-चतुष्टय” कहते हैं। जिसमें (१) अधिकारी (२) विषय (३) सम्बन्ध और (४) प्रयोजन की गणना की जाती है।^१

१. अधिकारी^२ आर्यप्रकृति, मेधावी, सर्वभूतहितैषी, अनुरक्त, दक्ष, शास्त्र में श्रद्धालु, आलस्यरहित तथा शीलवान् व्यक्ति को आयुर्वेद शास्त्र का अधि-कारी जानना चाहिए।

२. विषय^३ हितायु, अहितायु, सुखायु और दुःखायु, आयु के लिए हित-अहित तथा आयु का मान आदि इसके विषय हैं।

३. सम्बन्ध^४—शास्त्र और आयु का अभिधान और अभिधेय सम्बन्ध है।

४. प्रयोजन^५—स्वस्थ के स्वास्थ्य की रक्षा तथा रोगी के रोग को दूरकर “धातुसाम्य” स्थापित करना ही आयुर्वेद का प्रयोजन है एवं इस सार्वभौम प्रयोजन का दाता होने से यह शास्त्र स्वयं प्रमाण है।

१. विषयश्चाधिकारी च सम्बन्धश्च प्रयोजनम्।

२. स चाध्येतव्यो ब्राह्मणराजन्यवैश्यैः (बोधोपयुक्त-शब्द-तर्क-साहित्या-द्यधीतविद्यैः)। तत्रानुग्रहार्थं प्राणिनां ब्राह्मणैः, आरक्षार्थं राजन्यैः, वृत्त्यर्थं वैश्यैः, सामान्यतो वा धर्मार्थकामपरिग्रहार्थं सर्वैः। तत्र च यदध्यात्मविदां धर्म-पथस्थानां धर्मप्रकाशकानां वा मातृपितृभ्रातृबन्धुगुरुजनस्य वा विकार-प्रशमने प्रयत्नवान् भवति, यच्चायुर्वेदोक्तमध्यात्ममनुध्यायति वेदयत्ननुविधीयते वा, सोऽस्य परो धर्मः। या पुनरीश्वराणां वसुमतां वा सकाशात्सुखोपहारनिमित्ता भवत्यर्थावाप्तिरारक्षणं च, या च स्वपरिग्रहीतानां प्राणिनामातुर्यादारक्षा, सोऽस्यार्थः यत्पुनरस्य विद्वद्ग्रहणयशःशरण्यत्वं च, या च सम्मानशुश्रूषा, यच्चे-ष्टानां विषयाणामारोग्यमाधत्ते, सोऽस्य कामः। (चरक० सूत्र० ३०।२६)

३. विषयोऽभिधेयः। विषय का अर्थ है अभिधेय। यहाँ आयुर्वेदशास्त्र में हेतु, दोष, द्रव्यस्वरूप, स्कन्धत्रय (हेतु-लिङ्ग-औषध) तथा रोगों का निवारण उपाय बतलाना आदि अभिधेय या विषय हैं।

४. विषय और शास्त्र का वाच्य-वाचक सम्बन्ध है।

५. (क) धातुसाम्य क्रिया चोक्ता तन्त्रस्यास्य प्रयोजनम्।

(चरक० सूत्र० १।५३)

(ख) प्रयोजनं चास्य-स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणमातुरस्य विकारप्रशमनं च।

(चरक० सूत्र० ३०।२६)

आयुर्वेद का लक्षण

आयुर्वेद, शाखा, विद्या, सूत्र, ज्ञान, शास्त्र, लक्षण और तन्त्र यह सब एकार्थबोधक (पर्यायवाची) शब्द हैं ।^१ जो शास्त्र हित-आयु, अहित-आयु, सुख-आयु, दुःख-आयु, आयु के लिए हित-अहित तथा आयु का मान एवं आयु के स्वरूप का उपदेश करता है उसे, 'आयुर्वेद' कहते हैं^२ "जिस शास्त्र में आयु का विचार किया जाता है, जिससे आयु का ज्ञान होता है, जिससे आयु की प्राप्ति की जाती है और जिस शास्त्र से आयु के अस्तित्व का अवबोध होता है, उसे 'आयुर्वेद' कहते हैं ।"^३ "जिस शास्त्र में आयुष्य और अनायुष्य द्रव्य-गुण-कर्मों का उपदेश उपलब्ध होता है, उसे आयुर्वेद कहा जाता है ।"

आयुर्वेद शब्द में आयु और वेद दो शब्द हैं, जिनके शब्दार्थज्ञान से आयुर्वेद का शब्दार्थ स्पष्ट हो जायेगा, इसलिए यहाँ आयु और वेद शब्द का पृथक् पृथक् विवेचन किया जा रहा है ।

आयु^४—पंचमहाभूतात्मक चेतनाधिष्ठित शरीर, चक्षु आदि इन्द्रिय, मन और ज्ञान प्रतिसन्धाता आत्मा के संयोग को (१) 'आयु' कहते हैं । यह संयोग रसरक्तादिसंवहन क्रिया से शरीर को शीर्ण होने से बचाता है, इसलिए इसे (२) 'धारि' कहते हैं । श्वसन आदि कर्म से प्राणों को धारण करता है जिसके कारण, इसे (३) "जीवित" कहते हैं । प्रतिक्षण गमनशील होने से इसे (४) "नित्यग" कहते हैं । एक शरीर से दूसरे शरीर में संयोगरूप से अनुबन्ध स्थापित करता है, अतः इसे (५) 'अनुबन्ध' कहते हैं । एवं गर्भावस्था से लेकर मृत्यु पर्यन्त चेतना का अनुवर्तन करने से इसे (६) 'चेतनानुवृत्ति'^५ कहते हैं ।

१. तत्रायुर्वेदः—शाखा, विद्या, सूत्रम्, ज्ञानम्, शास्त्रम्, लक्षणम्, तन्त्र-मित्यनर्थान्तरम् । (चरक० सूत्र० ३०।३१)

२. तत्रायुर्वेदयतीत्यायुर्वेदः, कथमिति चेत् ? उच्यते, स्वलक्षणतः सुखा-सुखतः, हिताहिततः, प्रमाणाप्रमाणतश्च, यतश्चायुष्याप्यनायुष्याणि च द्रव्यगुण-कर्माणि वेदयत्यतोऽप्यायुर्वेदः । (चरक० सूत्र० ३०।२३)

३. शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोगः, तस्मिन्नायुर्वेदे विद्यते अस्ति इत्यायुर्वेदः, अथवा आयुर्विद्यते ज्ञायतेऽनेनेत्यायुर्वेदः, आयुर्विद्यते विचार्यतेऽनेन वा इत्यायुर्वेदः, आयुरनेन विन्दति प्राप्नोति इति वाऽऽयुर्वेदः ।

(सुश्रुत० सूत्र० १।१५ पर डल्हण टीका)

४. शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोगो धारि जीवितम् ।

नित्यगश्चानुबन्धश्च पर्यायैरायुरुच्यते ॥ (चरक० सूत्र० १।४२)

५. तत्रायुश्चेतनानुवृत्तिर्जीवितमनुबन्धो धारि च इत्येकोऽर्थः ।

(चरक० सूत्र० ३०।२२)

वेद—विद्धातु से घञ् प्रत्यय करने पर वेद शब्द बनता है। विद् धातु का प्रयोग चार अर्थों में होता है^१ (१) सत्ता (२) ज्ञान (३) विचार और (४) प्राप्ति अर्थात् जिससे अस्तित्व का बोध हो, जिससे ज्ञान हो, जिससे विचार किया जाय, जिससे प्राप्ति हो उसे वेद कहते हैं। जिस शास्त्र में आयु का अस्तित्व हो, जिससे आयु का ज्ञान हो, जिसमें आयु सम्बन्धी विचार किया जाय और जिससे आयु की प्राप्ति हो, उसे 'आयुर्वेद' कहते हैं। आयु के सम्बन्ध में सम्पूर्ण ज्ञान कराने वाला शास्त्र 'आयुर्वेद' कहा जाता है।

आयुर्वेद का स्वरूप

आयुर्वेद में चार दृष्टियों से आयु का विचार किया गया है (१) सुखायु (२) दुःखायु (३) हितायु और (४) अहितायु। इसके अतिरिक्त आयु के लिए हितकर द्रव्य-गुण-कर्म तथा आयु के प्रमाण का भी विवेचन किया गया है। अतः इन विषयों के वर्णन से आयुर्वेद का स्वरूप स्पष्ट हो जायेगा, इस-लिए इनके सम्बन्ध में विचार किया जा रहा है।

(१) सुखायु—जो व्यक्ति शारीरिक और मानसिक रोगों से आक्रान्त नहीं है, युवावस्थासम्पन्न है, प्रत्येक कार्य करने में समर्थ है, बल, वीर्य, यश, पुरुषार्थ और पराक्रमशील है, ज्ञान-विज्ञान-युक्त है, जिसकी सभी इन्द्रियाँ क्रियाशील हैं, जो समृद्धिवाली है, विविध उपभोग्यपदार्थों का उपयोग करता है, जिसके सभी मनोरथ पूर्ण हैं, जो स्वेच्छया विचरणशील है, ऐसे पुरुष की आयु 'सुखायु'^२ कही जाती है।

(२) असुखायु—सुखायु में वर्णित मनुष्यों से भिन्न मनुष्यों की आयु "असुखायु" कही जाती है।

(३) हितायु—प्राणियों की भलाई चाहने वाले, दूसरों के धन की तृष्णा न करने वाले, सत्य बोलने वाले, शान्तिप्रेमी, विचारपूर्वक काम करने वाले, असावधान न रहने वाले, धर्म, अर्थ, और काम का सन्तुलन पूर्वक व्यव-

१. आयुः शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोगः, तदस्मिन्नायुर्वेदे विद्यते अस्तीत्यायुर्वेदः, अथवा आयुर्विद्यते ज्ञायतेऽनेनेति वाऽऽयुर्वेदः, आयुर्विद्यते विचार्यते अनेन वा इत्यायुर्वेदः, आयुरनेन विन्दति प्राप्नोति वा आयुर्वेदः।

(सुश्रुत० सू०, डल्हण १।१५)

२. तत्र शारीरमानसाभ्यां रोगाभ्यामनभिद्रुतस्य विशेषेण यौवनवतः समर्थानुगतबलवीर्ययशःपौरुषपराक्रमस्य ज्ञानविज्ञानेन्द्रियेन्द्रियार्थबलसमुदाये वर्तमानस्य परमद्विचरिविधिपभोगस्य समृद्धसर्वारम्भस्य यथेष्टविचारिणः सुखमायुरुच्यते।

(चरक० सूत्र० ३०।२४)

हार करने वाले, पूजनीय की पूजा करने वाले, ज्ञान, विज्ञान, शान्ति और कृष्ण रखने वाले, मनोवेगों को नियन्त्रित रखने वाले, अनेक प्रकार के दान देने वाले, अध्यात्म विद्या को जानने वाले, लोक-परलोक का ध्यान करके कार्यों को करने वाले, स्मृति-बुद्धि सम्पन्न पुरुषों की आयु "हितायु" होती है ।

(४) अहितायु—हितायु के विपरीत मनुष्यों की आयु "अहितायु" कही जाती है ।

आयुष्य और अनायुष्य द्रव्य-गुण-कर्मों का उपदेश समूचे शास्त्र में तत्-तत् सन्दर्भों में किया गया है ।^३ चरकसंहिता के सूत्रस्थान अध्याय पचीस में विस्तृत रूप से हितकर और अहितकर द्रव्यों का वर्णन किया गया है ।^४ आचार्य चरक ने स्वस्थवृत्त के सन्दर्भ में गुण और कर्म का भी निरूपण किया है जिससे आयु की वृद्धि होती है ।^५ अहिंसा, ब्रह्मचर्य, इन्द्रियविजय और विद्या आदि की श्रेष्ठता का भी प्रतिपादन बहुत सुन्दर ढंग से किया हुआ उपलब्ध होता है ।^६

आयु का मान

आयु के मान ज्ञान के लिए चरकसंहिता के इन्द्रियस्थान में विस्तृत विवेचन किया गया है । इन्द्रिय, इन्द्रियार्थ, मन, बुद्धि चेष्टा आदि में अकारण होने वाली विकृतियों को देखकर उस मनुष्य की आयु का मान ज्ञात होता है,

१. हितैषिणः पुनर्भूतानां परस्वादुपरतस्य सत्यवादिनः शमपरस्य परीक्ष्य-कारिणोऽप्रमत्तस्य त्रिवर्गं परस्परेणानुपहतमुपसेवमानस्य पूजार्हसम्पूजकस्य ज्ञान-विज्ञानोपशमशीलस्य बृद्धोपसेविनः सुनियतरागरोगेर्ध्यामिदमानवेगस्य सततं विविधप्रदानपरस्य तपोज्ञानप्रशमनित्यस्याध्यात्मविदस्तत्परस्य लोकमिमं चामुं चावेक्षमाणस्य स्मृतिमतिमतो हितमायुरुच्यते । (चरक० सूत्र ३०।२४)

२. अहितमतो विपर्ययेण । (चरक० सूत्र० ३०।२४)

३. तत्रायुष्याप्यनायुष्याणि च द्रव्यगुणकर्माणि केवलेनोपदेक्ष्यन्ते तन्त्रेण । (चरक० सूत्र० ३०।२३)

४. अग्न्याणां शतमुद्दिष्टं यद् द्विपञ्चाशदुत्तरम् ।

अलमेतद्विकाराणां विघातायोपदिश्यते ॥ (चरक० सूत्र० २५।४१)

५. स्वस्थवृत्तं यथोद्दिष्टं यः सम्यगनुतिष्ठति ।

स समाः शतमव्याधिरायुषा न वियुज्यते ॥ (चरक० सूत्र० ८।३१)

६. तत्रार्हिंसा प्राणिनां प्राणवर्धनानामुत्कृष्टतमा, वीर्यं बलवर्धनानाम्, विद्या बृंहणानाम्, इन्द्रियजयो नन्दनानाम्, तत्त्वावबोधो हर्षणानाम्, ब्रह्म-चर्यमयनानामित्यायुर्वेदविदो मन्यन्ते ॥ (चरक० सूत्र० ३०।१५)

कि वह कितने दिन, कितने महीने या वर्ष भर जीवित रहेगा।^१ शरीर के चिह्नों को भी देखकर आयुष्मान् या हीनायु का ज्ञान होने की बात शास्त्रों में वर्णित है।^३

आयु—आयु के स्वरूप वर्णन में यह कहा गया है, कि शरीर, इन्द्रिय, मन और आत्मा के संयोग को आयु कहते हैं तथा चेतनानुवृत्ति, जीवित, अनुबन्ध, और धारि आदि आयु के पर्यायवाची शब्द हैं।^४

पूर्वोक्त इन समस्त अर्थों को आचार्य चरक ने सूत्र-रूप में एक ही श्लोक में सन्निबद्ध किया है, जो आयुर्वेद की आधार-शिला है—

हिताहितं सुखं दुःखमायुस्तस्य हिताहितम् ।

मानञ्च तच्च यत्रोक्तमायुर्वेदः स उच्यते ॥ (चरक० सूत्र० १।४१)

व्यापक अर्थ में विचार करने पर मानव के अतिरिक्त, चर और अचर जीवधारियों के हित-अहित का ज्ञान, उनको स्वस्थ रखने का विधान, विकारों को दूर करने के उपायों का निर्देश तथा उनकी आयु की सीमा का ज्ञान तथा अन्य जीवनोपयोगी विषयों का ज्ञान-विज्ञान आदि भी “आयुर्वेद” की सीमा के अन्तर्गत सन्निविष्ट हैं। कहने का तात्पर्य यह कि सम्पूर्ण जीव-विद्या—पशु-चिकित्सा, अश्व-चिकित्सा, हस्ति-चिकित्सा तथा वृक्षायुर्वेद प्रभृति विषयों का समावेश आयुर्वेद में समाहित हो जाता है।

१. प्रमाणमायुवस्त्वर्थेन्द्रियमनोबुद्धिचेष्टादीनां विकृतिलक्षणैरुपलभ्यतेऽ-
निमित्तैः, अयमस्मात् क्षणान्मुहूर्ताद् दिवसास्त्रिपञ्चसप्तदशद्वादशाहात् पक्षान्मा-
सात् षण्मासात् संवत्सराद्वा स्वभावमापत्स्यत इति । (चरक० सूत्र० ३०।२५)

२. तत्रेमानि आयुष्मतां कुमारानां लक्षणानि भवन्ति, तद्यथा—एकैकजाः
मृदवोऽल्पाः स्निग्धा सुबद्धमूलाः कृष्णाः केशाः प्रशस्यन्ते ।

(चरक० शारीर० ८।५५)

३. तिलकाः पिप्लवो व्यङ्गाः राजयश्च पृथग्विधाः ।

आतुरस्याशु जायन्ते मुखे प्राणान्मुमुक्षतः ॥

पुष्पाणि नखदन्तेषु पङ्क्तौ वा दन्तसंश्रितः ॥

चूर्णको वापि दन्तेषु लक्षणं मरणस्य तत् ॥

(चरक० इन्द्रिय० १।२१-२२)

४. शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोगो धारि जीवितम् ।

नित्यगश्चानुबन्धश्च पर्यायैरायुरुच्यते ॥ (चरक० सूत्र० १।४२)

“तत्रायुश्चेतनानुवृत्तिर्जीवितमनुबन्धो धारि चेत्येकोऽर्थः ।”

(चरक० सूत्र० १०।२२)

आयुर्वेद में "स्वास्थ्य-विज्ञान" के सन्दर्भ में दिनचर्या, रात्रिचर्या और ऋतुचर्या का विस्तृत विधान वर्णित है ।^१ स्वस्थविहित आहार-विहार, संस्थान चङ्क्रमण, व्यायाम, शयन, ब्रह्मचर्य, स्नान, धारणीय तथा अधारणीयवेग आदि का वर्णन किया गया है ।^२ रुग्णावस्था में रोगहेतु, रोगलक्षण और तदनुसार औषध व्यवस्था का निर्देश किया गया है । विचारणीय विषयों की ओर विशेष रूप से इंगित किया गया है एवं स्वस्थ के स्वास्थ्य-संरक्षण और व्याधित के व्याधि-परिमोक्षण के समस्त आवश्यक ज्ञान-राशि से भरा पूरा शास्त्र है 'आयुर्वेद' जिसे अनन्तपार^३ और पुण्यतम वेद की संज्ञा दी गयी है ।

१. तच्च नित्यं प्रयुज्यते स्वास्थ्यं येनानुवर्तते ।

अजातानां विकाराणामनुत्पत्तिकरं च यत् ॥ (चरक० सूत्र० ५।१३)

नगरी नगरस्येव रथस्येव रथी यथा ।

स्वशरीरस्य मेघावी कृत्येष्ववहितो भवेत् ॥

वृत्युपायान्निषेवेत ये स्युः धर्माविरोधिनः ।

शममध्ययनं चैव सुखमेवं समश्नुते ॥

(चरक० सूत्र० ५।१०३-१०४)

आर्द्रसन्तानतात्यागः कायवाक्चेतसां दमः ।

स्वार्थबुद्धिः परार्थेषु पर्याप्तमिति सद्ब्रतम् ॥

नक्तंदिनानि मे यान्ति कथम्भूतस्य सम्प्रति ।

दुःखभाङ्गं भवत्येवं नित्यं सन्निहितस्मृतिः ॥

(अष्टाङ्गसंह० सू० २।४७-४८)

२. मात्राशी स्यात् । आहारमात्रा पुनरग्निबलापेक्षिणी । यावद्धस्याशन-मणितमनुपहत्य प्रकृतिं यथाकालं जरां गच्छति, तावदस्य मात्राप्रमाणं वेदितव्यं भवति ।

(चरक० सूत्र० ५।३-४)

इमांस्तु धारयेद्वेगान् हितार्थी प्रेत्य चेह च ।

साहसानामशस्तानां मनोवाक्कायकर्मणाम् ॥

देहप्रवृत्तिर्या काचिद्विद्यते परपीडया ।

स्त्रीभोगस्तेयहिंसाद्या तस्या वेगान् विधारयेत् ॥

(चरक० सूत्र० ७।२६, २९)

१. "सोऽनन्तपारं त्रिस्कन्धमायुर्वेदं महामतिः ।" (चरक० सूत्र० १।२५)

द्वितीय अध्याय शब्दशक्ति-विज्ञान

पद का लक्षण

“वर्णों के ऐसे समूह को पद कहते हैं, जो प्रयोग के योग्य हों और अकेले किसी अर्थ के बोधक हों।”^१ वर्णसमूह बिना विभक्ति या प्रत्यय लगाये प्रयोग के योग्य नहीं होता, इसलिए वैयाकरण सुबन्त तथा तिङन्त वर्ण समूह को पद मानते हैं। जैसे—“रामः गच्छति” इस वाक्य में रामः और गच्छति दोनों ही पद हैं। नैयायिक और साहित्यिक अर्थबोधिकाशक्ति (अभिधा-लक्षणा आदि) से युक्त वर्णसमूह को पद^३ (शब्द) मानते हैं। पद की शक्ति से ही उसके अर्थ का बोध होता है।

“वर्णसमूह” के विषय में नैयायिकों ने एक प्रश्न खड़ाकर उसका समाधान भी किया है।^४

प्रश्न—शंका यह होती है, कि वर्णसमूह नहीं बन सकता? क्योंकि वर्ण प्रथम क्षण में उत्पन्न होकर द्वितीय क्षण में रहता है और तृतीय क्षण में विनष्ट हो जाता है। एक साथ बहुत से वर्ण रह ही नहीं सकते, क्योंकि क्रमशः वर्णों का उच्चारण होता है और द्वितीय वर्ण के उच्चारण से आशुतर विनाशी प्रथमवर्ण नष्ट हो जाता है, इसलिए एक काल में अनेक वर्णों का अनुभव असम्भव है अतएव वर्णों का समूह नहीं बन सकता? फिर वर्णसमूह को पद कैसे कह सकते हैं?

१. वर्णाः पदं प्रयोगार्हानिन्वितैकार्थबोधकाः ।—साहित्यदर्पण २।४

२. सुतिङन्तं पदम् ।—पाणिनीयाष्टाध्यायी १।४।१४ ।

३. शक्तं पदम् ।

४. वर्णानां क्रमवतामाशुतरविनाशित्वे नैकदाऽनेकवर्णानुभवासंभवात् (कथं वर्णसमूहः पदमिति ?) । पूर्व-पूर्व-वर्णानुभूय अन्त्यवर्ण-श्रवणकाले पूर्व-पूर्व-वर्णानुभव-जनित-संस्कार-सहकृतेन अन्त्यवर्ण-सम्बन्धेन पदव्युत्पादन-समयग्रहानुगृहीतेन श्रोत्रेणैकदैव सदसदनेकवर्णविगाहिनी पदप्रतीतिर्जन्यते सह-कारिदाढ्यात् प्रत्यभिज्ञानवत् । ततः “पूर्व-पूर्व-वर्णानुभव-जनितसंस्कार-सहकृतेन अन्त्यवर्णविषयेण श्रोत्रेन्द्रियेण वर्णप्रत्ययानुगृहीतेन अनेकवर्णविगाहिनी पद-प्रतीतिः क्रियते” (इति साधु)

—तर्कभाषा

उत्तर—यहाँ समूह पदार्थ “यह एक पद है” ऐसी ज्ञान-विषयता है। जो कि अन्तिम वर्ण सम्बन्ध से उद्बुद्ध, पूर्वपूर्ववर्णानुभव से जनित संस्कार से सहकृत तथा पदशक्तिस्मरण से अनुगृहीत श्रोत्रेन्द्रिय से जायमान “यह एक पद है” ऐसा ज्ञान सत् तथा असत् अनेक वर्णों को विषय करता है। ऐसी स्थिति में वर्णों के समूह को पद कहना उचित ही है। जैसे—चैत के महीने में देवदत्त बम्बई में दिखायी दिया था, फिर कार्तिक में जब वह काशी में दीख पड़ा, तब यह वही देवदत्त है, ऐसी प्रत्यभिज्ञा हुई। एवं वर्तमान देवदत्त-दर्शन से उद्बुद्ध, अतीत देवदत्त-दर्शन से जनित-संस्कार से सहकृत चक्षुरिन्द्रिय से जायमान “यह वही देवदत्त है” एतादृश प्रत्यभिज्ञान प्रत्यक्ष, असत् अतीतावस्था तथा सत् विद्यमानावस्था से विशिष्ट देवदत्त को विषय करता है (ज्ञान कराता है)।

वाक्य का लक्षण

पदों के ऐसे समूह को वाक्य कहते हैं, जो परस्पर आकांक्षा, योग्यता तथा आसत्ति-सन्निधि (बुद्धचविच्छेद) से युक्त हो। आकांक्षा आदि से रहित वाक्य अप्रमाण हैं, क्योंकि वहाँ शब्दबोध की संगति नहीं हो पाती है।

वाक्य के भेद—वाक्य दो प्रकार के होते हैं—१. लौकिक और २. वैदिक।

१. लौकिक पुरुषों के वाक्य को लौकिक वाक्य कहते हैं। इनमें सभी वाक्य प्रमाण नहीं माने जाते, अपितु यथार्थवक्ता आप्तपुरुषों के वाक्य को ही प्रमाण मानते हैं।

२. ईश्वरीय वेद (श्रुति) हैं, अतः सभी वैदिक वाक्य प्रमाण माने जाते हैं, जैसे वेद के मन्त्र और आयुर्वेद का प्रामाण्य स्वयं सिद्ध है उसी प्रकार समस्त श्रुति के वाक्य प्रमाण हैं।

१. येन चैत्रमासे मुम्बय्यां दृष्टो देवदत्तः कार्तिकमासे काश्यां यदाऽवलोक्यते, तदा तेन “सोऽयं देवदत्तः” इति प्रत्यभिज्ञायते। तत् पूर्वापरकाल-देशावच्छिन्नैकवस्त्वगाहि प्रत्यभिज्ञानं तत्तारूपेणासन्तं कालं देशञ्च एवम् इदन्तारूपेण सन्तं कालं देशञ्च विषयीकरोति। यथा संस्कारसहकृतं चक्षुरिन्द्रियं स्मृतिव्यतिरिक्तं तादृशं प्रत्यभिज्ञानं जनयति, तथा तादृशसंस्कार-सहकृतं तादृशं श्रोत्रेन्द्रियं स्मृतिव्यतिरिक्तं तादृशीं पदप्रतीतिं जनयिष्यति न वर्णसमूहस्य पदत्वाङ्गीकारे काचिदनुपपत्तिः। —तर्कभाषा की तत्त्वालोक टीका।

आकाङ्क्षा, योग्यता और सन्निधि^१

आकाङ्क्षा—“वाक्य के अन्तर्गत दूसरे शब्द के उच्चारण किये बिना, जब किसी का प्रयोग अपना अर्थ न प्रकट कर सके, तो ऐसे पदों (शब्दों) में परस्पर अपेक्षा का होना “आकाङ्क्षा” कहलाती है^२ । जैसे—जब कोई वक्ता लगातार—“गाय, हाथी, घोड़ा, ऊँट, आदमी” इन पदों का उच्चारण करता है, तो श्रोता को इन पदों का शाब्दबोध नहीं हो पाता, क्योंकि श्रोता को “गाय” इस पद से “हाथी” आदि पदों से कोई अपेक्षा नहीं मालूम पड़ती । किन्तु जब वक्ता “गाय आती है” ऐसा बोलता है, तो श्रोता को इस वाक्य से शाब्द बोध होता है, क्योंकि श्रोता को “आती है” इस क्रिया पद से “गाय” इस कारक पद की अपेक्षा मालूम होती है ।

योग्यता—“वाक्य के अन्तर्गत प्रयोग किये हुए पदों में अर्थों के परस्पर सम्बन्ध में बाधा का न होना “योग्यता” कहलाती है^३ । जैसे—यदि वक्ता कहता है कि “यह आग से सींच रहा है ।” तो श्रोता को इस वाक्य से शाब्दबोध नहीं होता, क्योंकि सींचने का कार्य आग से नहीं हो सकता—आग का सिञ्चन पद से परस्पर सम्बन्ध में बाध होता है । परन्तु जब वक्ता कहता है, कि “जल से सींच रहा है” तो श्रोता को इस वाक्य से शाब्दबोध होता है । क्योंकि सिञ्चन और जल के परस्पर सम्बन्ध में कोई बाध नहीं है ।

आसन्निधि (सन्निधि)—पदों का बिना बिलम्ब किये उच्चारण करना “सन्निधि” कहलाती है^४ । जैसे—वक्ता “गाय” कहने के चार घण्टे बाद “आती है” यह कहता है, तो श्रोता को शाब्दबोध नहीं होता, क्योंकि गाय पद की “आती है” इस पद से सन्निधि नहीं मालूम पड़ती । परन्तु वक्ता जब गाय कहने के तुरन्त बाद “आती है” यह कहता है, तो श्रोता को इस वाक्य से शाब्दबोध होता है, क्योंकि उसे “गाय” पद का “आती है” इस पद के साथ सान्निध्य प्रतीत होता है ।

१. आकाङ्क्षायोग्यतासन्निधिश्च पदार्थज्ञाने हेतुः । —तर्कसंग्रहः

२. पदस्य पदान्तरव्यतिरेकप्रयुक्तान्वयाननुभावकत्वमाकाङ्क्षा । —तर्कसंग्रहः

३. योग्यता पदार्थानां परस्परसम्बन्धे बाधाभावः । —तर्कसंग्रहः

४. पदानामबिलम्बेनोच्चारणं सन्निधिः । —तर्कसंग्रहः

आकाङ्क्षादिरहितं वाक्यमप्रमाणम् । यथा—गौरश्चः पुष्टो हस्तीति न प्रमाणं आकाङ्क्षा विरहात् । बह्विना सिञ्चति, इति न प्रमाणं योग्यता-विरहात् प्रहरे प्रहरेऽसहोच्चारितानि “गाम् आनय” इत्यादि पदादि न प्रमाणं सान्निध्याभावात् । —तर्कसंग्रहः

इस प्रकार यह निष्कर्ष निकलता है कि—“परस्पर साक्षाद् योऽयतावान् और सन्निहित पदों के समूह को ही वाक्य कहते हैं ।” जैसे—कल्याण चाहने वाला ईश्वर का भजन करे, नदी तीर में पाँच फल हैं । इत्यादि । अर्थात्—^१“अर्थप्रतिपादन द्वारा श्रोता में पदान्तर या अर्थान्तर विषयक-आकाङ्क्षा को उत्पन्न करते हुए जायमान-परस्परान्वय योऽयता वाले एवं अर्थों का प्रतिपादन करने वाले सन्निहित पदों के समूह को वाक्य कहते हैं ।” (वाक्यं स्याद् योऽयताऽऽकाङ्क्षाऽऽसत्तियुक्तः पदोच्चयः) ।

शब्द के भेद

वाचक, लाक्षणिक और व्यञ्जक भेद से शब्द तीन^२ प्रकार के होते हैं—

(१) वाचक—जो शब्द अभिधा शक्ति के द्वारा साक्षात् संकेतिक अर्थ को कहता है, उसे ‘वाचक’ शब्द कहते हैं^३ ।

(२) लाक्षणिक—जो शब्द मुख्यार्थ का वाक्य के अन्य पदों के अर्थों के साथ अन्वय होने में बाधा होने पर लक्षणाशक्ति के द्वारा मुख्यार्थ से सम्बद्ध किसी अन्य अर्थ की प्रतीति कराता है, उसे लाक्षणिक शब्द कहते हैं । जैसे—“गंगायां घोषः”^४—गंगा में घोष है—इस वाक्य में गंगायां पद का अर्थ है—गंगा का प्रवाह और गंगा के प्रवाह में घोष का रहना असम्भव है । इसलिए लक्षण शक्ति से “गंगायां” पद अपने प्रवाह रूपी अर्थ को छोड़कर “तट” का बोध कराता है, तब “गंगातटे घोषः”—गंगा तट पर घोष है । यह अर्थ प्रतीति होता है एवं गंगायां शब्द ‘लाक्षणिक’ है ।

(३) व्यञ्जक—जो शब्द व्यञ्जना शक्ति के द्वारा वाच्यार्थ या लक्ष्यार्थ से अतिरिक्त किसी तीसरे ही अर्थ का बोध कराता है, उसे ‘व्यञ्जक’ शब्द कहते हैं ।^५ जैसे—हे साधु ! अब आप निःशङ्क होकर भ्रमण करें । गोदावरी के

१. अर्थप्रतिपादनद्वारा श्रोतुः पदान्तरविषयाम् अर्थान्तरविषयां वा आकाङ्क्षा जनयतां प्रतीयमानपरस्परान्वययोऽयार्थप्रतिपादकानां सन्निहितानां पदानां समूहो वाक्यम् ।—तर्कभाषा

२. स्याद् वाचको लाक्षणिकः शब्दोऽथ व्यञ्जकस्त्रिधा ।—काव्यप्रकाश २।६

३. साक्षात् संकेतितं योऽर्थमभिधत्ते स वाचकः ।—काव्यप्रकाश—२।७

४. “गंगायां घोषः” इत्यत्र अर्थान्तरभूतं तटमवगमयितुं गंगाशब्देन स्व-वाच्यभूतः श्रोतो विशेषोऽत्र समर्प्यते । साहित्यदर्पण २

५. तद्युक्तो व्यञ्जकः शब्दः, यत् सोऽर्थान्तरयुक् तथा ।

अर्थोऽपि व्यञ्जकस्तत्र सहकारितया मतः ॥

—काव्यप्रकाश २।२०

कछार के कुञ्ज में रहने वाले अभिमानी सिंह ने उस कुत्ते को मार डाला, जो आपको बहुत तंग करता था। यहाँ वाच्यार्थ भ्रमण का निर्देशक है, किन्तु व्यङ्ग्यार्थ निषेधसूचक है। अभिप्राय यह है कि अब भूलकर भी इधर न आइये, नहीं तो आपकी भी कुत्ते की सी दशा हो सकती है।

अर्थ के भेद

वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ तथा व्यङ्ग्यार्थ भेद से अर्थ तीन प्रकार के होते हैं। कुछ आचार्य तात्पर्यार्थ को चतुर्थ अर्थ मानते हैं। इनमें अभिधाशक्ति के द्वारा वाच्यार्थ का, लक्षणाशक्ति के द्वारा लक्ष्यार्थ का, व्यञ्जना शक्ति के द्वारा व्यङ्ग्यार्थ का एवं तात्पर्य नामक शक्ति से तात्पर्यार्थ का बोध होता है।^१

शब्द की वृत्तियाँ

वृत्ति और शक्ति शब्द एक ही अर्थ के द्योतक हैं, इसलिए यहाँ वृत्ति का शक्ति अर्थ जानना चाहिए। शब्द में चार प्रकार की शक्ति होती है—अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना और तात्पर्या।

अभिधा का लक्षण

शब्दों के सांकेतिक मुख्यार्थ (वाच्यार्थ) का बोध कराने वाली अग्रिमा शब्दशक्ति को “अभिधा” कहते हैं।^२ यहाँ संकेतिक शब्द का अर्थ है—संकेत किया हुआ। प्रत्येक शब्द का किसी विशेष अर्थ में एक संकेत होता है, कि—“इस शब्द से यह अर्थ जानना चाहिए।” इसी संकेत को शब्द का मुख्यार्थ कहते हैं। जैसे—सास्ना आदि से युक्त प्राणी विशेष का बोध कराने के लिए सांकेतिक गो शब्द गाय का बोध कराता है। इसी प्रकार साक्षात् सांकेतिक मुख्यार्थ का बोध कराने वाला जो शब्द व्यापार है, उसे “अभिधा”^३ व्यापार कहते हैं।

१. वाच्योऽर्थोऽभिधया बोध्यो लक्ष्यो लक्षणया मतः।

व्यङ्ग्यो व्यञ्जनया ताः स्युस्तिस्रः शब्दस्य शक्तयः ॥

तात्पर्याख्यां वृत्तिमाहुः पदार्थान्वयबोधने।

तात्पर्यायं तदर्थञ्च वाक्यं तद्बोधकं परे ॥ —साहित्यदर्पण २।३, २०

२. तत्र सङ्केतितार्थस्य बोधनादग्रिमाऽभिधा। —साहित्यदर्पण २।७

३. स मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधोच्यते ॥

—काव्यप्रकाश २।८

जैसे—सारे शरीर में मुख पहले दिखायी देता है, सबसे प्रधान है, उसी प्रकार शब्द में जितने अर्थ (वाच्य-लक्ष्य-व्यङ्ग्य-तात्पर्यार्थ) हैं, उनमें वाच्यार्थ सबसे प्रधान और सबसे पहले उपस्थित होने वाला अर्थ है, इसीलिए मुख के समान होने से उसे मुखार्थ कहते हैं—“मुखमिव मुख्यः” । व्यवहार में बिना संकेत ज्ञान के शब्द से अर्थ की प्रतीति नहीं होती, इसीलिए संकेत की सहायता से ही शब्द, अर्थ विशेष का प्रतिपादन करता है, यह सिद्धान्त स्वीकार किया गया है ।

शक्तिग्रह—(संकेतग्रह का विषय)—जिस शब्द का जिस अर्थ में संकेतग्रह होता है, उस शब्द से उसी अर्थ की प्रतीति होती है । यहाँ प्रश्न यह उठता है, कि यदि व्यक्ति में संकेतग्रह माना जाय, तो जिस व्यक्तिविशेष में संकेतग्रह हुआ है, उस शब्द से उस व्यक्ति विशेष की ही उपस्थिति होगी और अन्य व्यक्तियों के लिए अलग-अलग संकेतग्रह मानना आवश्यक होगा । इस दशा में अनन्त व्यक्तियों की प्रतीति के लिए अनन्त-अनन्त शक्तियों की कल्पना करनी होगी । एवं व्यवहार से वर्तमान देश और काल में ही संकेतग्रह हो सकता है, भूत, भविष्य और देशान्तर या कालान्तर के सब व्यक्तियों में संकेतग्रह सम्भव भी नहीं है । इसलिए व्यक्ति में संकेतग्रह नहीं माना जा सकता है ।

दूसरी बात यह है कि महाभाष्यकार “चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः । जाति-शब्दाः गुणशब्दाः क्रियाशब्दाः यदृच्छाशब्दाश्चतुर्थाः” लिखकर जातिशब्द, गुण-शब्द, क्रियाशब्द और यदृच्छाशब्द रूप से शब्दों का चार प्रकार का विभाग किया है । व्यक्ति में शक्ति मानने पर चारों प्रकार का शब्दविभाग नहीं बन सकता, क्योंकि जब व्यक्ति में संकेतग्रह माना जायेगा, तो “गौः शुक्लः चलः डित्यः” इन चार शब्दों से शक्ति का ही बोध होगा । इसलिए गौ शब्द जातिवाचक है, शुक्ल शब्द गुणवाचक है, चल शब्द क्रियावाचक है और डित्य शब्द उस व्यक्ति का नाम होने से यदृच्छा शब्द है—इस प्रकार का विभाग नहीं बन सकता है । अत एव व्यक्ति में शक्ति न मान कर “व्यक्ति के उपाधिभूत जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छारूप धर्मों में ही संग्रह मानना उचित है, यह सिद्धान्त स्थिर होता है । इस बात को मम्मट और कविराज विश्वनाथ दोनों ने माना है ।” संकेतित^१ अर्थ जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा भेद से चार प्रकार का होता है । संकेतग्रह^२ जाति, गुण, द्रव्य और क्रिया में होता है ।

१. सङ्केतितश्चतुर्भेदो जात्यादिर्जातिरेव वा ।—काव्यप्रकाश २।८

२. सङ्केतो गृह्यते जातो गुण-द्रव्य-क्रियासु च ।—साहित्यदर्पण २।८

१ शक्तिग्राहक व्याकरणकोषादि (संकेतग्रह के उपाय)—व्याकरण, उपमान, कोष, आप्तवाक्य, लोक-व्यवहार, वाक्यशेष, विवृत्ति (व्याख्या) और सिद्ध (ज्ञात) पद के सान्निध्य से संकेतग्रह होता है, अर्थात् ये सब संकेतग्रह के साधन हैं, जिनसे यह प्रतीत होता है, कि “अमुक शब्द से अमुक अर्थ समझना चाहिए” । **व्याकरण** से जैसे—पच् धातु (डुपचष् पाके) से कर्ता में तृच् प्रत्यय होने से पक्ता शब्द बना है और व्याकरण द्वारा धातु और प्रत्यय के ज्ञान होने से पक्ता शब्द का पकाने वाला यह संकेतग्रह होता है । **उपमान** से जैसे—गो सदृश “गवय” होता है, इस वाक्य के स्मरण से गो के आकार जैसे पशु को देखने पर यह गवय है, यह संकेतग्रह होता है । **कोष** से जैसे—“पिप्पली मागधी कृष्णा” इस कोष से मागधी और कृष्णा में पिप्पली के संकेत का ज्ञान होता है । **आप्तवाक्य** से जैसे—“यह अश्व है” इस प्रकार के गुरुजनों के वाक्य से नये पदार्थों का ज्ञान बालक को होता है । **लोकव्यवहार** से जैसे—पिता ने भाई से कहा कि “गौ को ले आओ” तब भाई सास्नादिमान् गौ को ले आता है । पास में बैठा हुआ बालक “गौ” और “ले आओ”—इनमें से किसी भी शब्द का अर्थ नहीं जानता है । परन्तु पिता के कहने पर भाई द्वारा गाय का ले आना देखकर बालक “सास्नादिमान् पशुविशेष का लाया जाना” यह पूरे वाक्य का एक अखण्ड अर्थ जान जाता है, किन्तु अलग-अलग शब्दों के अर्थ का ज्ञान उसको नहीं होता है । उसके बाद फिर “गौ ले जाओ” और “घोड़ा ले आओ” आदि वाक्यों के प्रयोग और उनके अनुसार होने वाली क्रियाओं को देखकर धीरे-धीरे बालक को अलग-अलग शब्दों के अर्थों का ज्ञान हो जाता है । यही व्यवहार से संकेतग्रह की प्रक्रिया है । **वाक्यशेष**^२ से—“सिर, हाथ, पैर, पृष्ठ का” यह कहने पर “पुरुष” में संकेतग्रह हो जाता है । यहाँ पुरुषवाक्यशेष^३ का उदाहरण है । **विवृत्ति** से जैसे—‘हरि’-शब्द—भेक, वानर, विष्णु आदि का बोधक होने से अनेकार्थक है, किन्तु,

१. शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोषाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च ।

वाक्यस्यशेषाद् विवृत्तेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः ॥

—सिद्धान्तमुक्तावली

२. वाक्य में छोड़े हुए पद । वाक्येषु त एव पदाः शेषाः क्रियन्ते, येऽनिवेशिता अपि प्रतीयन्ते ।

३. येन पदेन अनुक्तेन वाक्यं समाप्येत स वाक्यशेषः । यथा—‘शिरः-पाणिपादपार्श्वपृष्ठोदरोरसाम्’ इत्युक्ते पुरुषग्रहणं विनाऽपि गम्यते पुरुषस्येति ।

—मु० उ० ६५।१९

जब व्याख्या करके यह बतलाया गया, कि, यहाँ हरि=वासुदेव हैं, तो विवृत्ति से हरि का वासुदेव अर्थ में संकेतग्रह हुआ। प्रसिद्धशब्द के सान्निध्य से जैसे—“कमल के खिलने पर मधुकर मधुपान कर रहा है” यहाँ “मधु करोति इति मधुकरः” इस व्युत्पत्ति से मधुकर शब्द से मधुमक्खी समझा जाय या भ्रमर यह सन्देह होता है? किन्तु कमल में पूर्व काल में भ्रमर को ही मधुपान करते देखा गया है और यहाँ कमल शब्द का स्पष्ट उल्लेख है। इसलिए प्रसिद्ध कमल शब्द के सान्निध्य से मधुकर शब्द से भ्रमर में संकेत ज्ञान होता है।

अनेकार्थक शब्द से किसी एक ही अर्थ की प्रतीति में कारण—संयोग विप्रयोग, साहचर्य, विरोधिता, अर्थ, प्रकरण, लिङ्ग, अन्यशब्द की सन्निधि, सामर्थ्य, औचित्य, देश, काल, व्यक्ति और स्वर आदि अनेकार्थक शब्द के अर्थ का निर्णय करने के कारण होते हैं।

लक्षणावृत्ति-विचार

जहाँ कहीं वाक्य के अन्य पदों के अर्थों के साथ मुख्यार्थ का अन्वय होने में बाधा होती है अथवा उससे तात्पर्य की अभिव्यक्ति नहीं होती, वहाँ रूढ़ि अर्थात् प्रसिद्धि के कारण या किसी विशेष प्रयोजन के प्रतिपादन के लिए मुख्यार्थ से सम्बद्ध किसी अन्य अर्थ की प्रतीति जिस शक्ति से होती है उसे “लक्षणा” कहा जाता है। लक्षणा शक्ति के व्यापार के लिए १. मुख्यार्थबाध, २. लक्ष्यार्थ का मुख्यार्थ के साथ सम्बन्ध तथा ३. रूढ़ि या प्रयोजन में से एक, इन तीन कारणों की आवश्यकता होती है। अधिकतर विद्वान् मुख्यार्थबाध का अर्थ “अन्वयानुपपत्ति” करते हैं। जैसे—“गंगायां घोषः” इस उदाहरण में गंगा का अर्थ जलप्रवाह और घोष का अर्थ आभीरपल्ली है। गंगा के जलप्रवाह में वह नहीं रह सकती, इसलिये यहाँ अन्वय के अनुपपन्न होने के कारण गंगा पद “लक्षणा” से तटरूप अर्थ का बोधक होता है।

किन्तु “परमलघुमञ्जूषा” में नागेशभट्ट ने “अन्वयानुपपत्ति” के स्थान पर “तात्पर्यानुपपत्ति” को लक्षणा का बीज माना है और उसका कारण यह

१. संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता ।

अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः ॥

सामर्थ्यमौचित्यं देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः ।

शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः ॥

—भर्तृहरिः वाक्यपदीय

(उदाहरण के लिए देखें—साहित्यदर्पण २-२१)

दिया है, कि अन्वयानुपपत्ति को लक्षणा का बीज मानने पर “काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्”—कौओं से दही बचाओ—इस प्रयोग में लक्षणा नहीं हो सकेगी। यहाँ केवल कौओं से दही बचाने का अभिप्राय नहीं है, अपितु दही को नष्ट करने वाले कुत्ते, बिल्ली आदि सबसे दही बचाना अभीष्ट है। यह अभिप्राय “काक” पद की “दध्युपघातक” अर्थ में लक्षणा करने से पूरा हो सकता है। प्रश्न यह है, कि यदि अन्वयानुपपत्ति को ही लक्षणा का बीज माना जायेगा, तो यहाँ “लक्षणा” नहीं हो सकती, क्योंकि “काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्” इस वाक्य में सभी पदों का अन्वय बन जाता है। अन्वय में बाधा न होने पर भी काक पद का मुख्यार्थ मात्र लेने से वक्ता के तात्पर्य की सङ्गति नहीं होती है, इसलिए लक्षणा करना आवश्यक हो जाता है। अतः नागेश भट्ट ने “अन्वयानुपपत्ति के स्थान पर “तात्पर्यानुपपत्ति” को लक्षणा का बीज मानना उचित बतलाया है।

लक्षणा का लक्षण^१—मुख्यार्थ बाध (अर्थात्-अन्वय की अनुपपत्ति या तात्पर्य की अनुपपत्ति) होने पर, एवं मुख्यार्थ के साथ लक्ष्यार्थ का सम्बन्ध होने पर, रुढ़ि से या प्रयोजन विशेष से जिस शब्दशक्ति द्वारा अन्य अर्थ लक्षित होता है, वह आरोपित व्यापार लक्षणाशक्ति कहलाता है।

लक्षणा के भेद—मुख्य रूप से लक्षणा के तीन भेद होते हैं—१. उपादान-लक्षणा (अजहत्स्वार्था) २. लक्षणलक्षणा (जहत्स्वार्था) और ३. जहदज-हल्लक्षणा (भागलक्षणा)

(१) **उपादानलक्षणा**^२—“मुख्यार्थ की अन्वयसिद्धि के लिए वाक्य में प्रयुक्त किसी पद द्वारा जो शक्ति मुख्यार्थभिन्न किसी अन्य अर्थ का आक्षेप कर लेती है, साथ ही मुख्यार्थ को भी ग्रहण करती है, उसे “उपादान लक्षणा” कहते हैं। इसमें मुख्यार्थ का भी उपादान (ग्रहण) होता है, इसलिए इसे उपादान लक्षणा कहते हैं। जैसे—“कुन्ताः प्रविशन्ति” (भाले घुस रहे हैं) इस वाक्य में भाला शब्द अचेतन वस्तु का वाचक है, उसमें प्रवेश क्रिया का अन्वय (सामञ्जस्य) नहीं हो सकता है, इसलिये यहाँ मुख्यार्थ का बाध होने पर “कुन्त” शब्द अपने अन्वय की सिद्धि के लिए

१. मुख्यार्थबाधे तद्युक्तो ययाऽन्योऽर्थः प्रतीयते ।

रूढेः प्रयोजनाद् वाऽपि लक्षणा शक्तिरपिता ॥ —साहित्यदर्पण २-९

२. मुख्यार्थस्येतराक्षेपे वाक्यार्थेऽन्वयसिद्धये ।

स्यादात्मनोऽप्युपादानादेशोपादानलक्षणा ॥

—साहित्यदर्पण २-१०

पुरुष पदार्थ का आक्षेप कर लेता है, जिससे कुन्त शब्द “कुन्तधारी पुरुष” का बोधक हो जाता है और अन्वय होने में जो बाधा थी वह दूर हो जाती है। यहाँ कुन्तधारी पुरुषों की भीड़ (सेना) को सूचित करना ही लक्षणा का प्रयोजन है। इस प्रकार यह प्रयोजनवती उपादान लक्षणा का उदाहरण है। इसी को “अजहत्स्वार्था भी कहते हैं।

(२) लक्षणलक्षणा^१—जहाँ वाक्य में प्रयुक्त कोई शब्द दूसरे शब्द के अन्वय की सिद्धि के लिए अपने अर्थ का परित्याग कर अन्य अर्थ का बोधक हो जाता है, वहाँ “लक्षणलक्षणा” होती है। इसमें दूसरे के लिए अपने अर्थ का त्याग रूपी लक्षण (उपलक्षण) है, इसलिए इसे लक्षणलक्षणा कहते हैं। इसे ही जहत्स्वार्था कहते हैं।

जैसे—“गंगायां घोषः” इस उदाहरण में वाक्य में प्रयुक्त “घोष” पद के आधेयत्व रूप से अन्वय की सिद्धि के लिए “गंगा” शब्द अपने “जलप्रवाह” रूप मुख्यार्थ का परित्याग कर “तट” रूप अन्य अर्थ का बोध कराता है, एवं यह प्रयोजनवती लक्षणलक्षणा का उदाहरण है।

नोट—यद्यपि लक्षणलक्षणा का यह “गंगायां घोषः” उदाहरण बहुत प्रसिद्ध है, किन्तु यह अरुचिग्रस्त है क्योंकि यहाँ लक्षणा करने के बाद “तटे घोषः” इतना ही अर्थ प्रतीत होता है अथवा गंगा के अर्थ का सम्बन्ध भी तट के साथ जुड़ा रहता है और “गंगातटे घोषः” यह अर्थ प्रतीत होता है ? एवं गंगा के साथ अभेद सम्बन्ध से तट अर्थ की उपस्थिति होती है। इस कारण गंगा शब्द अपने अर्थ के साथ ही तट अर्थ का बोध कराता है, ऐसा अनुभव होने से यहाँ पर लक्षणलक्षणा नहीं संगत होती दीखती ? इस तरह गंगा रूप लक्षक पद का तट रूप लक्ष्यार्थ के साथ सम्बन्ध प्रतीत होता ही है, तब फिर यह ‘लक्षणलक्षणा’ का उदाहरण ठीक नहीं है ? यह समस्या उठ खड़ी होती है ? जिसके समाधान के लिए कोई दूसरा उदाहरण ऐसा होना चाहिए जो स्पष्ट रूप से प्रतीत हो सके और जहाँ पर कोई पद अपने मुख्यार्थ का परित्याग कर केवल लक्ष्यार्थ का ही बोध करा रहा हो। वह उदाहरण निम्नलिखित श्लोक से स्पष्ट हो जा रहा है—

उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते सुजनता प्रथिता भवता परम् ।

विदधदीदृशमेव सदा सखे सुखितमास्व ततः शरदां शतम् ॥

१. अर्पणं स्वस्य वाक्यार्थं परस्यान्वयसिद्धये ।

उपलक्षणहेतुत्वादेवा लक्षणलक्षणा ॥

—साहित्यदर्पण २-११

किसी अत्यन्त अपकार करने वाले व्यक्ति के प्रति उसके अपकार से पीड़ित व्यक्ति की यह उक्ति है। यहाँ “उपकृत” शब्द अपने उपकृत अर्थ को छोड़कर “अपकृत” अर्थ को लक्षणलक्षणा से बोधित करा रहा है। इसी प्रकार “सुजनता” “सखे” “सुखितमास्व” आदि शब्द भी अपने अर्थों को छोड़कर अपने से विपरीत “दुर्जनता” “शत्रो” “सद्यः म्रियस्व” आदि अर्थों को लक्षणा द्वारा बोधित करते हैं। लक्षणलक्षणा या जहत्स्वार्थालक्षणा का यह उदाहरण एकदम स्पष्ट है।

(३) जहदजहल्लक्षणा (भागलक्षणा)—“जहाँ शब्द अपने अर्थ के कुछ अंश को छोड़कर कुछ ही अंश का बोधक रह जाता है, वहाँ जहदजहल्लक्षणा (भागलक्षणा) होती है।

जैसे—“सोऽयं देवदत्तः” यह वही देवदत्त है इस वाक्य में ‘सः’ शब्द का अर्थ है तत्कालविशिष्ट देवदत्त और “अयम्” शब्द का अर्थ है एतत्काल-विशिष्टदेवदत्त। यहाँ देवदत्त अंश में कोई विरोध नहीं है, किन्तु तत्कालीन और एतत्कालीन अंश में काल का विरोध है। अतः यहाँ विरुद्धांश को छोड़कर अविरुद्ध “देवदत्त” मात्र के बोध कराने के लिए जहदजहल्लक्षणा मानी जाती है। इसी को “भागलक्षणा” या “लक्ष्यलक्षणसम्बन्ध” भी कहते हैं। इसी प्रकार “तत् त्वम् असि”—वही तुम हो—इस महावाक्य में तत् शब्द का सर्वज्ञत्वादिविशिष्ट चैतन्य अर्थ है, “त्वम्” पद का अल्पज्ञत्वादिविशिष्ट चैतन्य रूप अर्थ है। इन दोनों पदों के विरुद्धांश अल्पज्ञत्व-सर्वज्ञत्वादि रूप अंश को त्यागकर चैतन्यांशमात्र का ग्रहण किया जाता है, तभी तत् और त्वम् ये दोनों पद एक अखण्ड (अविरुद्ध) चैतन्य के बोधक होते हैं।

(यहाँ लक्षणा के भेदों का अधिक विस्तृत विवेचन अपेक्षित नहीं है। विस्तार के लिए साहित्यदर्पण का दूसरा परिच्छेद देखें)।

व्यञ्जना का लक्षण^१

जब अभिधा, लक्षणा और तात्पर्या वृत्तियाँ अपनी-अपनी शक्ति से अर्थ का बोध कराकर विरत हो जाती (लौट जाती) हैं तब वाच्य, लक्ष्य और

१. विरतास्वभिधाद्यासु ययाऽर्थो बोध्यतेऽपरः ।

सा वृत्तिर्व्यञ्जना नाम शब्दस्यार्थादिकस्य च ॥

अभिधा-लक्षणा-तात्पर्याख्यासु तिसृषु वृत्तिषु स्वं स्वमर्थं बोधयित्वो-पक्षीणासु, यया अपरोऽन्योऽर्थो बोध्यते, सा शब्दस्यार्थस्य प्रकृतिप्रत्ययादेशच वृत्तिर्व्यञ्जन-ध्वनन-गमन-प्रत्यायनादिव्यपदेशविषया व्यञ्जना नाम ।

तात्पर्यार्थ से भिन्न किसी अन्य अर्थ का बोध जिस शक्ति से होता है, वह शब्द-अर्थ एवं प्रकृति-प्रत्यय की वृत्ति “व्यञ्जना” नाम से कही जाती है।” इसे ही “व्यञ्जन” (व्यङ्ग्यार्थबोधक) “ध्वन्यर्थबोधक” “प्रतीतिजनक” आदि संज्ञाओं से पुकारते हैं ।

जैसे—“सूर्यास्त हो गया” इस वाक्य से धार्मिक व्यक्ति स्नान, संख्या का संकेत, चोर चोरी की तैयारी का संकेत और मजदूर छुट्टी का संकेत समझता है । ये भिन्न-भिन्न संकेत व्यञ्जना कराती हैं ।

व्यञ्जना के भेद^१—शाब्दीव्यञ्जना दो प्रकार की होती है—१. अभिधामूला व्यञ्जना और २. लक्षणामूला व्यञ्जना ।

(१) **अभिधामूला व्यञ्जना**^२—“संयोग, विप्रयोग आदि के द्वारा अनेकार्थक शब्दों के किसी एक अर्थ में नियन्त्रित हो जाने पर उससे भिन्न अवाच्य अर्थ की प्रतीति कराने वाला शब्द का व्यापार “अभिधामूला व्यञ्जना” कहलाता है ।

जैसे—“परवारणस्य करः सततं दानाम्बुसेकसुभगोऽभूत्” इस वाक्य में जितने शब्द आये हैं उन सबका प्रकरण से एक अर्थ में नियन्त्रण हो जाता है । इस वाक्य से राजा की स्तुति की जा रही है । फिर भी हाथी के पक्ष में दूसरे अर्थ की भी प्रतीति होती है । राजा के पक्ष में इसका अर्थ है—

महाराजा शत्रुओं का निवारण करने वाले हैं, इनका हाथ दान करते समय संकल्प से छोड़े जाने वाले जल से सदैव सुशोभित रहता है ।

हाथी के पक्ष में दूसरा अर्थ इस प्रकार प्रतीत होता है—उत्तम हाथी की सूँड़ मदजल के बहने से सदा सुन्दर मालूम होती है ।

(२) **लक्षणामूला व्यञ्जना**^३—“जिस प्रयोजन की सिद्धि के लिए प्रयोजनवती लक्षणा का आश्रय लेना पड़ता है, वह प्रयोजन जिस व्यञ्जना शक्ति के द्वारा ज्ञात कराया जाता है, उसे लक्षणामूला व्यञ्जना कहते हैं ।”

१. अभिधालक्षणामूला शब्दस्य व्यञ्जना द्विधा । —सा० द० २।२०

२. अनेकार्थस्य शब्दस्य संयोगाद्यनियन्त्रिते ।

एकत्रार्थेऽन्यधीहेतुव्यञ्जना लक्षणाश्रया ॥ —सा० द० २।२१

३. लक्षणोपास्यते यस्य कृते तत्तु प्रयोजनम् ।

यया प्रत्याव्यते सा स्याद् व्यञ्जना लक्षणाश्रया ॥

“गंगायां घोषः” इत्यादी जलमयाद्यर्थबोधनादभिधायां, तटाद्यर्थबोधनाच्च लक्षणायां विरतायां यया शीतत्वपावनत्वाद्यतिशयादिर्बोध्यते, सा लक्षणामूला व्यञ्जना । —सा० द० १।२२

जैसे—“गंगायां घोषः” इस वाक्य में जब “जलप्रवाहः” अर्थ बतलाकर अभिधा और तट अर्थ बतलाकर लक्षणा विरत हो गयी, तब जिस शक्ति से शीतलत्व, पावनत्व आदि धर्मों का व्यञ्जन, ध्वनन या द्योतन होता है, उसे लक्षणामूला व्यञ्जना कहते हैं।

आर्थी व्यञ्जना—“वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्यरूप अर्थ का व्यापार आर्थी व्यञ्जना कहलाता है।”

आर्थी व्यञ्जना के भेद^१—१. वक्ता, २. बोद्धव्य (ज्ञेय) ३. काकु (एक प्रकार की ध्वनि) ४. वाक्य, ५. वाच्य, ६. अन्यसन्निधि, ७. प्रस्ताव, ८. देश, ९. काल, १०. चेष्टा आदि के वैशिष्ट्य से प्रतिभावानों को अन्य अर्थ का ज्ञान कराने वाला अर्थ का जो व्यापार होता है, वह “आर्थी व्यञ्जना” कहलाता है।

विशेष—आर्थीव्यञ्जना का उदाहरण साहित्यदर्पण, द्वितीय परिच्छेद में देखें।

आर्थी व्यञ्जना में शब्द का सहयोग^२—जिस प्रकार शाब्दी व्यञ्जना में शब्द मुख्य रूप से व्यञ्जक होता है, और उसके साथ अर्थ उसका सहकारी होता है। उसी प्रकार आर्थी व्यञ्जना में अर्थ के मुख्य रूप से व्यञ्जक होने पर शब्द भी सहकारी होता है। एवं शब्दप्रमाण से गम्य अर्थ ही अर्थान्तर को व्यक्त करता है, इसलिए अर्थ के व्यञ्जकत्व में शब्द भी सहकारी होता है।

व्यञ्जना के दोनों भेदों के निरूपण से ध्वनि के विषय का प्रतिपादन हो जाता है। “ध्वनि” के मुख्य दो भेद—१. प्रधान और २. अप्रधान माने गये हैं। प्रधान को “ध्वनि” तथा अप्रधान को “गुणीभूतव्यङ्ग्य” कहते हैं।

तात्पर्यवृत्ति-विचार

जब किसी वाक्य में आये हुये पदों के अर्थों का अभिधा या लक्षणा द्वारा प्रकाशन हो जाता है, तब उन पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध का बोध जिस शक्ति से होता है, उसे ‘तात्पर्यशक्ति’^३ कहते हैं।

१. वक्तृ-बोद्धव्य-वाक्यानामन्यसान्निधिव्याच्ययोः ।

प्रस्ताव-देश-कालानां काकोश्चेष्टादिकस्य च ॥

वैशिष्ट्यादन्यमर्थं वा बोधयेत् सार्थसम्भवा ॥ —सा. द. २।२३-२४

२. शब्दबोध्यो व्यनक्त्यर्थः शब्दोऽप्यर्थान्तराश्रयः ।

एकस्य व्यञ्जकत्वे तदन्यस्य सहकारिता ॥ —साहित्यदर्पण २।२५

३. तात्पर्याख्यां वृत्तिमाहुः पदार्थान्वयबोधने ।

तात्पर्यार्थं तदर्थञ्च वाक्यं तद्बोधकं परे ॥

जैसे—“देवदत्तो ग्रामं गच्छति”—देवदत्त गाँव जाता है, इस वाक्य में अभिधाशक्ति ने प्रत्येक पद का अर्थ बतलाने के बाद अपना व्यापार बन्द कर दिया। तदनन्तर “ग्रामकर्मकगमनानुकूलकृतिमान् देवदत्तः” इस प्रकार के पदार्थ सम्बन्ध का ज्ञात “तात्पर्यशक्ति” से होता है। एवं तात्पर्यवृत्ति का अर्थ तात्पर्यार्थ और तात्पर्यार्थ का बोधक वाक्य होता है (यह मत अभिहितान्वयवादी प्राचीन नैयायिकों का है)।

“अन्विताभिधानवादी” मीमांसकों का कहना है, कि शब्द अभिधा या लक्षणा के द्वारा अपनी ही योग्यता से अन्वित अर्थों का बोध कराते हैं। वे अन्वयबोध के लिए “तात्पर्यवृत्ति” को स्वीकार नहीं करते हैं।

वाक्यार्थ-शैली के विवेचन में दो मत—शब्द-बोध के लिए दो प्रकार के मुख्य मत पाये जाते हैं—१. “अभिहितान्वयवाद” और २. अन्विताभिधानवाद ।”

(१) **अभिहितान्वयवाद**—इस वाद का अभिप्राय यह है कि पहले पदों से पदार्थों की प्रतीति होती है, अर्थात्-पदों के द्वारा अभिधाशक्ति से पदार्थ अभिहित होते हैं। बाद में वक्ता के तात्पर्य के अनुसार उनका परस्पर अन्वय या सम्बन्ध होता है, जिससे वाक्यार्थ की प्रतीति होती है। इस प्रकार वाक्यार्थ-बोध के लिए अभिहित पदार्थों का अन्वय मानने के कारण यह सिद्धान्त “अभिहितान्वयवाद” कहलाता है। इस मत में पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध पदों से नहीं, अपि तु वक्ता के तात्पर्य के अनुसार होता है। इसलिए उसको “तात्पर्यार्थ”^१ कहते हैं, वही वाक्यार्थ कहा जाता है और उसकी बोधिका शक्ति को “तात्पर्यशक्ति” कहते हैं।

(२) **अन्विताभिधानवाद**—इस मत के अनुयायी कहते हैं, कि पहले “केवल” पदार्थ अभिहित होते हैं और बाद में उनका “अन्वय” होकर वाक्यार्थ का बोध होता है, ऐसी बात नहीं है, बल्कि पहले ही “अन्वित” पदार्थों का अभिधा के द्वारा बोध हो जाता है। एवं ‘अन्वित’ का ‘अभिधान’

अभिधाया एकैकपदार्थबोधनविरामात् वाक्यार्थरूपस्य पदार्थान्वयस्य बोधिका तात्पर्यं नाम वृत्तिस्तदर्थश्च तात्पर्यार्थः। तद्बोधकञ्च वाक्यम् इति अभिहितान्वयवादिनां मतम्।

—साहित्यदर्पण २।२७

१. “तात्पर्यार्थोऽपि केषुचित्”

आकाङ्क्षा-योग्यता-सन्निधिवशाद् वक्ष्यमाणस्वरूपाणां पदार्थानां समन्वये तात्पर्यार्थो विशेषवपुरपदार्थोऽपि वाक्यार्थः समुल्लसति इति “अभिहितान्वयवादिनां मतम्।

—काव्यप्रकाश, द्वि० उ०

होने से “अन्विताभिधान” ही मानना उचित है। इस मत में पदार्थों का “अन्वय” पूर्व से ही सिद्ध होने के कारण अन्वय-बोध के लिए तात्पर्यशक्ति को नहीं मानते हैं।

यह मत अपने समर्थन में युक्ति देता है कि पदों से पदार्थों की प्रतीति “संकेत-ग्रह” के बाद ही होती है और उस “संकेत का ज्ञान” केवल पदार्थ में नहीं, अपि तु “अन्वितपदार्थ” में ही होती है, जैसा कि लोक में होने वाले व्यवहार से प्रकट है।

इस तरह—“पदों के द्वारा अन्वित पदार्थों की ही उपस्थिति होती है, इसलिए पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध रूप वाक्यार्थ वाच्य^१ ही होता है (तात्पर्य शक्ति के बाद में नहीं प्रतीत होता है) यह अन्विताभिधानवादियों का मत है।

निघण्टु

आचार्य यास्क का ‘निरुक्त’ वैदिक शब्दों का निर्वचन करने वाला एक अतिप्रसिद्ध कोष ग्रन्थ है, जिसके एक अंश को ही ‘निघण्टु’ कहा जाता है।

निरुक्त का प्रथम सूत्र है—

“समाम्नायः सामाम्नातः स व्याख्यातव्यः” (निरुक्त १।१।१)

‘समाम्नाय’ शब्द से ‘गो’ आदि—‘देवपत्नी’ पर्यन्त शब्दों का ग्रहण होता है, जिनकी संख्या १७७० है। ये शब्द अध्याय एक से अध्याय पाँच तक पड़े गये हैं।

आम्नाय वेद को कहते हैं एवं सामाम्नाय उसे कहते हैं, जो शब्द सम्यक् प्रकार से संसिद्ध, प्रसिद्ध तथा ऋषियों द्वारा समादृत और सुसंगृहीत हों।

यद्यपि सामाम्नाय शब्द वेद के लिए प्रसिद्ध है, तथापि व्युत्पत्ति बल से उन साधारण शब्दों के लिए भी इस शब्द का प्रयोग हो सकता है जो किसी विशेष मर्यादा के साथ पड़े गये हों—“समाम्नायते मर्यादयाऽभ्यस्यते इति सामाम्नायः।”

समाम्नाय को ही ‘निघण्टु’^२ कहते हैं—“तमिमं सामाम्नायं निघण्टव इत्याचक्षते”।

१. वाच्य एव वाक्यार्थ इत्यन्विताभिधानत्रादिनः।—काव्यप्रकाश, द्वि० उ०

२. निघण्टवः कस्मान्निगमा इमे भवन्ति ? निघण्टवः खल्वेते उच्यन्ते—यतो ह्येते निगमा भवन्ति, निगम्यन्ते नितरां ज्ञायन्ते मन्त्रार्थाः यैस्ते तथाभूताः सन्ति। “छन्दोभ्यः समाहृत्य समाहृत्य सामाम्नातास्ते निगन्तव एव सन्तो निगमनान्निघण्टव उच्यन्ते इत्यौपमन्यवः।”

निरुक्त की पञ्चाध्यायी में पठित वैदिक शब्दों का नाम निघण्टु है।

(क) ये निघण्टु क्यों कहे जाते हैं ? “निघण्टवः कस्मात् ?” क्योंकि ये उदाहरण का कार्य करते हैं “निगमा इमे भवन्ति” । अत एव ये निघण्टु कहे जाते हैं । ये शब्द मन्त्रों के अर्थों के निगमयितृ या निगन्तु अर्थात् ज्ञापक होते हैं—“निश्चयेन अधिकं वा निगूढार्था एते परिज्ञाताः सन्तो मन्त्रार्थान् गमयन्ति ज्ञापयन्ति, ततो निगमसंज्ञा इमे भवन्ति ।” यहाँ तीन तरह के शब्द हैं—

निघण्टु शब्द	अतिपरोक्षवृत्ति,
निगन्तु ,,	परोक्षवृत्ति और
निगमयितृ ,,	प्रत्यक्षवृत्ति है ।

जिस अतिपरोक्षवृत्ति शब्द की व्याख्या करनी होगी, उसके साथ परोक्ष-वृत्ति शब्द को मिलाते हैं ।

शब्द के परिवर्तन का क्रम—

निगन्तु शब्द के ‘ग’ के स्थान में ‘घ’ और ‘त’ के स्थान में ‘ट’ बदलने से ‘निघण्टु’ शब्द बनता है । उक्त तीनों शब्दों की विशेषता—

(१) प्रत्यक्षवृत्ति शब्दों में क्रिया स्पष्ट रूप से कही गयी होती है, (२) परोक्षवृत्ति शब्दों में क्रिया भीतर लीन हुई प्रतीत होती है और (३) अति-परोक्षवृत्ति शब्दों में क्रिया अत्यन्त अस्पष्ट होती है ।

‘निरुक्त’ में शब्दों के निर्वचन के पाँच उपाय कहे गये हैं—

१. शब्द में किसी अपेक्षित अक्षर का ऊपर से जोड़ दिया जाना ।
२. शब्द में किसी अक्षर के स्थान पर दूसरा अक्षर कर देना ।
३. शब्द के किसी अनावश्यक अक्षर को हटा देना ।
४. शब्द के अक्षरों को प्रयोजनानुसार आगे-पीछे कर देना ।
५. शब्द के अर्थ के अनुसार घातु के अर्थ को कल्पित करना ।

(ख) अथवा पञ्चाध्यायी ग्रन्थ के रूप में पठित होने के कारण ही ये निघण्टु कहे जाते हैं—‘अपि वा हननादेव स्युः’ ।

अपि वा हननादेव स्युः समाहृता भवन्ति यद्वा समादृता भवन्ति । ‘निघण्टवः’ शब्दस्य साधुत्वे गमेर्वा हनेर्वा पक्षद्वयमेव स्थितम् ।

गम्घातो समाहरणं हेतुः तत्र निघण्टुशब्दे हन्घातोऽपि गतिरर्थोऽस्ति “हन् हिंसागत्योः” (अदादि०) गतिश्चात्र प्राप्तिर्गृह्यते, गतेऽर्थोऽर्थाः ज्ञान-गमन-प्राप्तयः । समाहरणं हि प्राप्तिः समाहृता हि ते छन्दोभ्यः ।

(तत्रैव निरुक्ते भाष्यम्)

१. वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरो वर्णविकारनाशौ ।

घातोस्तदर्थान्तिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम् ॥

(ग) अथवा समाहरण (इकट्ठा करना) क्रिया के सम्बन्ध से ये शब्द निघण्टु कहे जाते हैं—‘यद्वा समाहृता भवन्ति ।’ ‘समाहृताः, समाहृतरिः निघण्टवः ।’

यहाँ सम आङ्पूर्वक ‘हृ’ धातु से ‘समाहृताः’ शब्द बनता है, उसी तरह नि उपसर्गपूर्वक ‘हृ’ धातु से ‘तु’ प्रत्यय के योग से निघण्टु शब्द बनता है । क्योंकि नियम है कि जितने धातुओं का चिह्न रूढ़ि शब्दों में पाया जाय और अभिधेय में उनका अर्थ हो, उतने ही धातुओं से उस रूढ़ि शब्द का निर्वचन करना चाहिए ।

‘यावतामेव धातूनां लिङ्गं रूढिगतं भवेत् ।

अर्थश्चाप्यभिधेयस्थस्तावद्भिर्गुणविग्रहः ॥’

जैसे—निगमन, समाहनन (पठन) और समाहरण ये तीनों ही क्रियाएँ एवं उनके वाचक ‘गम्’ ‘हन्’ और ‘हृ’ धातु निघण्टु शब्द के निर्वचन के समय अहमहमिकया (मैं पहले मैं पहले) आगे बढ़कर कहते हैं कि यह मेरे समान है, मुझसे इसका निर्वचन किया जाय ।

यहाँ निघण्टु शब्द में ‘गम्’ धातु अपने गकार को चकाररूप में देखता है तथा ‘हन्’ धातु और ‘हृ’ धातु अपने हकार को घकार बना हुआ देखते हैं । इसी कारण से अनेक धात्वर्थों द्वारा ‘निघण्टु’ शब्द का निर्वचन किया गया है, ताकि ऐसे ही अन्य नामों का भी निर्वचन कर लिया जाये ।

निघण्टु ग्रन्थ में कुल १७७० शब्द हैं, उनके १५१ शब्द देवताओं के वाचक या विशेष्य हैं, शेष १६१९ शब्द विशेषण हैं । इस रीति से विशेषण शब्दों की संख्या अधिक होने पर भी व्याख्या अल्प और सुगम है । निघण्टु ‘निरुक्त’ का एक भाग है ।

विद्युत् का निरूपण

(निरुक्त में यास्क द्वारा विद्युत् का निरूपण)

‘विद्युत्-तडित्’ (निरुक्तम् अ० ३ पाद २ ख० १०)

(क) ‘विद्युत् तडित् होती है’ यह शाकपूणि आचार्य मानते हैं—क्योंकि बिजली ताडन करती है और दूर से दिखाई देती है । दूर रहती हुई भी वह समीप-स्थित जैसी दिखती है—सा विद्युदवताडयति दूराच्च संदृश्यते दूरेऽपि सन्नन्तिक इव सन्दृश्यते ।

‘विद्युत् तडित् भवतीति शाकपूणिः । दूरे चित् सन् तडिदिवातिरोचसे’ (ऋ० १।९।७) ।

(ख) तडित् शब्द समीप और हिंसा इन दोनों ही अर्थों का बोधक है । 'तड् आघाते' (चुरादि०) धातु से यह शब्द बनता है । आघात का अर्थ है—हिंसा के लिए प्रहार करना अर्थात् 'आ समन्तात् घातः आघातः' समीप पहुँच कर आघात करना विद्युत का कार्य होने से विद्युत तडित् है ।

(ग) आघात शब्द में जो 'हन् हिंसागत्योः' धातु है उसका वध करना और समीप में पहुँचना दोनों ही अर्थ हैं—'ताडयति—आहन्ति पीडयति यः स वधः—वधको हिंसार्थे', ताडयति—आहन्ति समन्तात् प्राप्तं भवति समीपे गत्यर्थे' अर्थात् तडित् के आघातार्थक और समीपार्थक होने की बात मानी जाती है, उदाहरण—

त्वया वयं सुवृद्धा ब्रह्मणस्पते स्पर्हा वसु मनुष्या ददीमहि ।

या नो दूरे तडितो या अरातयोऽभिसन्ति जम्भया ता अनप्नसः ॥

(ऋ० २।२३।९)

—तडितः वधिकाः प्रजावधका जनाः दूरे, अरातयः अदानकर्माणो अदान-प्रज्ञावन्तो वा अदातारो वञ्चका अन्तिके समीपे ये सन्ति तान् जम्भय ॥

अर्थात् जो तडित यानी वधिक है, उनका नाश करो ? अथवा जो वञ्चक-जन हैं और हमारे समीप में हैं उनका नाश करो ?

ये दोनों अर्थ संगत होने से तडित् शब्द वध और समीप दोनों ही अर्थों का बोधक है । अतः जो ताडन करे और दूर होने पर भी समीप-स्थित की तरह प्रतीत हो, उसे तडित् कहते हैं । इस प्रकार तडित् की यह निश्क्ति सोदाहरण प्रस्तुत की गयी है ।

तृतीय अध्याय पदार्थ विज्ञान

आयुर्वेद में पदार्थविज्ञान का प्रयोजन

आयुर्वेद के दो प्रयोजन ऋषियों ने बतलाये हैं—१. स्वस्थ पुरुष के स्वास्थ्य की रक्षा और २. रोगी पुरुष के रोग को दूर करना^१। इन प्रयोजनों की सफलता के लिये तीन सिद्धान्त बतलाये गये हैं—

१. 'समाः पालयितव्याः', २. 'क्षीणाः वर्धयितव्याः' ३. वृद्धाः ह्रासयितव्याः (सुश्रुत० चि० ३३।३)। ये तीनों बातें सामान्य, विशेष, द्रव्य, गुण, कर्म तथा समवाय इन छह पदार्थों के सम्यक् ज्ञान पर निर्भर हैं और इन षट्पदार्थों का विवेचन 'पदार्थविज्ञान' का विषय है। इसलिए आयुर्वेद के पूर्वोक्त दोनों ही प्रयोजनों की सफलता पदार्थविज्ञान के ज्ञान पर निर्भर है। आयुर्वेद जिस पुरुष की चिकित्सा करता है, सबसे पहले उसका ज्ञान अपेक्षित है। पुरुष को त्रिदण्ड^२ कहा गया है अर्थात् वह मन, आत्मा और शरीर रूपी तिपाई पर खड़ा है। इसलिए जब तक मन और उसके क्षेत्र, आत्मा और उसके क्षेत्र एवं पाञ्चभौतिक शरीर तथा उसके क्षेत्र के विषय का पूरा ज्ञान नहीं होगा, तब तक इस त्रिदण्ड को समभाव में रखना, बड़े हुए दोषों को घटाना या क्षीण दोषों को बढ़ाने की प्रक्रिया को अपनाना सम्भव नहीं है। अतः आयुर्वेद के चिकित्स्य पुरुष (अधिकरण) की चिकित्सा करने के लिए, उसके आधारभूत मन, शरीर, आत्मा, इन्द्रिय, पञ्चमहाभूत आदि का सम्पूर्ण ज्ञान आवश्यक है।

स्वास्थ्य (आरोग्य) की रक्षा तथा रोगनाशन के लिए द्रव्यों के सामान्य गुण, कर्म और उसके सम्बन्ध (समवाय) और द्रव्यों के विशेष गुण, कर्म सम्बन्ध का ज्ञान परमावश्यक है। जिनके विषय में पूर्ण जानकारी होने पर ही सम दोषों की रक्षा, क्षीण दोषों को बढ़ाने या बड़े हुए दोषों के हटाने की प्रक्रिया अपनायी जा सकती है और तभी स्वास्थ्य का पालन तथा रोगी की चिकित्सा समुचित रूप से की जा सकती है। अथ च आचार्य चरक ने

१. प्रयोजनं चास्य स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणमातुरस्य विकारप्रशमनञ्च ।
(च० सू० ३०।२६)।

२. सत्त्वमात्माशरीरञ्च त्रयमेतत्त्रिदण्डवत् । (च० सू० १)

आयु की परिभाषा^१ की है—‘शरीर, इन्द्रिय, सत्त्व (मन) आत्मा के संयोग को आयु कहते हैं’ इस आयु की रक्षा के लिए आयुर्वेद के मूलभूत सिद्धान्तों का और उनकी पृष्ठभूमि का ज्ञान होना नितान्त आवश्यक है। इन्हीं का अध्ययन ‘पदार्थविज्ञान’ का विषय है। इस विज्ञान में द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय का विशद वर्णन करने के साथ ही प्रमाण-विज्ञान, तत्त्वविज्ञान, शब्द-शक्तिविज्ञान, तथा तन्त्रयुक्ति-विज्ञान आदि विषयों का स्पष्टरूप से वर्णन किया जाता है एवं यह सब आयुर्वेद के जिज्ञासुओं के लिए शास्त्रज्ञान तथा व्यवहारज्ञान दोनों ही दृष्टि से नितान्त उपयोगी है।

विमर्श—किसी शास्त्र के शास्त्रीय तथा व्यावहारिक ज्ञान को प्राप्त करने के पहले उस शास्त्र के मूलभूत सिद्धान्त, अभिधेय विषय तथा उसके प्रयोजनों की सफलता में सहायक पृष्ठभूमि का ज्ञान प्राप्त करना अत्यन्त उपयोगी एवं आवश्यक है। आयुर्वेदीय चिकित्सा की दीवार ‘पदार्थविज्ञान’ की नींव पर खड़ी है। पदार्थविज्ञान और आयुर्वेद का वही सम्बन्ध है, जो किसी प्रासाद का अपनी ही वास्तु (आधार भूमि) से होता है। उदाहरणार्थ—षट् पदार्थों की उपयोगिता पर विचार करें, तो यह अनुभव होगा, कि आयुर्वेद के दोनों ही प्रयोजन (स्वास्थ्य की रक्षा और व्याधिप्रशमन) तभी प्राप्त किये जा सकते हैं, जब कि चिकित्सकों को—स्वस्थ या रोगी के लिए प्रयोग में लाये जाने वाले द्रव्यों का परस्पर साधर्म्य-वैधर्म्य कैसा है ? द्रव्यों के सामान्य गुण, सामान्य कर्म या विशेष गुण तथा विशेष कर्म आदि किस प्रकार के हैं ?—इन सब बातों की जानकारी हो। और इस जानकारी को देने वाला विज्ञान है—पदार्थविज्ञान। जैसे—द्रव्य, गुण और कर्म इन तीनों की वृद्धि सामान्य से होती है, वह सामान्य तीन प्रकार का होता है—(१) **द्रव्य सामान्य**—जैसे मांस खाने से मांस बढ़ता है, क्योंकि मनुष्य के मांस में जो मांसत्व है वही मांसत्व बकरे के मांस में भी है। अतः मांस बढ़ाने के लिए तत् सामान्य मांस का प्रयोग किया जाता है—‘न हि मांससमं किञ्चित् मांसवर्द्धनमिष्यते।’ (२) **गुण सामान्य**—जैसे दूध, घी खाने से शुक्र की वृद्धि होती है, क्यों कि शुक्र में जो मधुर, स्निग्ध, शीत आदि गुण हैं, वे दूध, घी में भी वैसे ही सामान्य हैं। (३) **कर्म सामान्य**—जैसे—वायु चंचल होता है, इसलिए दौड़ने से वायु बढ़ता है। कफ का कर्म स्थिरता लाना है, इसलिए सोने या बैठने से कफ की वृद्धि होती है।

विशेष भी तीन प्रकार का होता है—(१) **द्रव्य विशेष**—जैसे मांस

१. शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोगो धारि जीवितम्।

नित्यगञ्जानुबन्धश्च

पर्यायैरायुरुच्यते ॥ ष० सू० १।४२

बढ़ जाने पर उसे कम करने के लिए साँवा, टागुन, कोद्रव और बाजरा आदि का प्रयोग किया जाता है। (२) **गुण विशेष**—जैसे वायु रूक्ष, लघु, शीत होता है और तैल स्निग्ध, उष्ण और गुरु होने के कारण वायु का नाश करता है। (३) **कर्म विशेष**—जैसे वायु चल होता है तथा बैठना, सोना ये कर्म स्थिरता लाने वाले होने से, उससे विशेष हैं, जिस कारण बैठना, सोना आदि कर्म वायुनाशक हैं एवं दोषों के घटने या बढ़ने से रोग होते हैं और घटे दोष को बढ़ाने के लिए सामान्य द्रव्य, गुण, कर्म के द्वारा वृद्धि की जाती है तथा जब दोष अपनी मात्रा से बढ़ जाते हैं तब बढ़े हुए दोषों को कम करने के लिए विशेष द्रव्य, गुण, कर्म का प्रयोग कर ह्रास किया जाता है और यही चिकित्सा का लक्ष्य है—‘प्रवृत्तिर्घातुसाम्यार्था चिकित्सेत्यभिधीयते।’ इन दोनों सामान्य तथा विशेष की आयुर्वेदशास्त्र में बड़ी भारी उपयोगिता है।

गुण—इसी तरह गुरु लघु आदि गुणों के सम्यक् ज्ञान के बिना आयुर्वेदीय चिकित्सा की गाड़ी आगे नहीं बढ़ सकती। शरीर के धातुओं में गुरु आदि गुण होते हैं और उसी प्रकार ये गुण औषध और आहार द्रव्यों में भी रहते हैं। अतः सामान्य-विशेष के नियम से, गुरु गुण वाले द्रव्यों से गुरु गुण वाले धातु बढ़ते हैं और उससे विपरीत लघु गुण वाले धातु घटते हैं। इसी प्रकार अन्य गुणों का भी सम्बन्ध जानना चाहिए। अतएव मांसक्षय में मांस, रक्तक्षय में रक्त तथा शुक्र क्षय में अण्डे का प्रयोग किया जाता है। यदि समान द्रव्य नहीं मिलता है, तो अन्य समान गुण वाले द्रव्यों का प्रयोग किया जाता है।

द्रव्य—आयुर्वेद के निर्वचन में आचार्य चरक^२ ने कहा है—कि आयु के लिए हितकारी और अहितकारी (आयुष्यकर तथा अनायुष्यकर) द्रव्य-गुण-कर्म का ज्ञान कराने के कारण ही इस शास्त्र को आयुर्वेद कहते हैं। इसी दृष्टि से आयुर्वेदीय वाङ्मय में यथास्थान द्रव्य-गुण और कर्म का विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। चिकित्सा में स्वस्थ के स्वास्थ्य की रक्षा में सफलता तभी प्राप्त हो सकती है, जबकि पाञ्चभौतिक शरीरोपयोगी द्रव्यों का रस गुण वीर्य-विपाक एवं प्रभाव सम्यक्तया ज्ञात हो। द्रव्यों के संतुलित प्रयोग से ही शारीरिक तत्त्वों की समता और आरोग्य होता है। रोगों के प्रतिषेध के लिए

१. ये गुरुवस्ते गुरुभिराहारविकारगुणैरभ्यस्यमानैराप्यायन्ते लघवश्च ह्रसन्ति, लघवस्तु लघुभिराप्यायन्ते गुरुवश्च ह्रसन्ते, एवमेव सर्वधातूगुणानां सामान्ययोगात् वृद्धिर्विपर्ययाद्भासः।

—च० शा० अ० ६

२. यतश्चायुष्याप्यनायुष्याणि च द्रव्यगुणकर्माणि वेदयत्यतोऽप्यायुर्वेदः।

—च० सू० अ० ३०।२३

या चिकित्सा के लिए भी दोष आदि का विचार कर द्रव्यों की विभिन्न कल्पनायें (स्वरस, कषाय, चूर्ण, अवलेह आदि) प्रयोग में लायी जाती हैं । द्रव्य ज्ञान के बिना चिकित्सा सफल नहीं हो सकती और द्रव्य ज्ञान भी ऐसा होना चाहिये, कि द्रव्य का औषध के रूप में प्रयोग ज्ञान, उसकी मात्रा का ज्ञान, देश काल आदि का ज्ञान होने के साथ, जिस रूप में द्रव्य का प्रयोग फलप्रद होवे, उस युक्ति का व्यावहारिक ज्ञान हो—‘मात्रा कालाश्रया युक्तिः सिद्धिर्युक्तौ प्रतिष्ठिता । तिष्ठत्युपरि युक्तिज्ञो द्रव्यज्ञानवतां सदा’ । — (च. सू. २।१६)

कर्म—द्रव्यों की शरीर पर जो क्रिया होती है, उसे कर्म कहते हैं । सुश्रुत ने औषधियों के कर्मों की गणना करते हुए वमन, विरेचन, संशमन, संप्राही, दीपन, पाचन, लेखन, वृंहण, रसायन, वाजीकरण, शोथकर, विलयन, दरण, मादन, दहन, प्राणघ्न, विषघ्न आदि को कर्म बतलाया है (सु. सू. ४०) द्रव्यों के जो भी कार्य होते हैं, वे कार्य द्रव्यों में पाँच भौतिक संगठन पर निर्भर होते हैं । चरक ने चेष्टा प्रवृत्ति, क्रिया, कर्म और कार्य तथा समारम्भ को कर्म कहा है । जिनसे शरीर की क्रियायें हों, वे कर्म हैं (‘प्रवृत्तिस्तु चेष्टा, कार्यार्था, क्रिया, कर्म, यत्न, कार्यसमारम्भश्च,’—च. वि. ८) कर्म शब्द से पंचकर्म का भी बोध होता है । कर्मों के प्रभाव के आधार शरीर के विभिन्न तत्त्व होते हैं । किसी तत्त्व का प्रभाव स्थानिक, किसी का सार्वदैहिक और किसी का किसी विशिष्ट अंग पर होता है । इसी दृष्टि से इन कर्मों की विशेषताओं का ज्ञान आवश्यक है और इसके लिए प्रयोग किये जाने वाले औषध या आहारभूत द्रव्यों का पञ्चभौतिक संगठन और गुणधर्म आदि के ज्ञान की अपेक्षा होती है ।

समवाय—नित्य सम्बन्ध को समवाय कहते हैं, जैसे—कारण और कार्य का सम्बन्ध नित्य होने का कारण समवाय है—यह आधार और आधेयभूत द्रव्यों का सम्बन्ध है, अतः जहाँ पृथ्वी आदि द्रव्य होंगे, वहाँ गन्ध आदि गुण समवाय सम्बन्ध से स्थित रहते हैं । समवाय नित्य होता है । आयुर्वेद में द्रव्यों का प्रयोग करके ही चिकित्सा की जाती है और द्रव्यगत गुण धर्मों का परस्पर समवाय सम्बन्ध ज्ञात करके आवश्यकतानुसार उनका प्रयोग किया जाता है ।

इस प्रकार उदाहरण के तौर पर संक्षेप में षट्पदार्थों की उपयोगिता के विवेचन से आयुर्वेद में ‘पदार्थ विज्ञान’ का प्रयोजन प्रत्येक दृष्टि से न केवल आवश्यक, अपि तु अनिवार्य है, यह बात सिद्ध होती है ।

पदार्थविचार

‘पद्यते गम्यते येन अर्थः, तत् पदम् ।’ वर्णों के उस समूह को पद कहते

१. वर्णाः पदं प्रयोगार्हानिन्वितैकार्थबोधकाः ।—(सा. दर्पण २।४)

हैं, जो अकेले किसी अर्थ का बोधक हो। जैसे—द्रव्य, गुण, कर्म ये पद हैं, जो अपने-अपने अर्थ का बोध कराते हैं।

अर्थ^१ उसे कहते हैं जो किसी पद द्वारा प्रकट किया जाय, 'ऋच्छन्ति इन्द्रियाणि यं सोऽर्थः,' जिसे इन्द्रियाँ ग्रहण करती हैं उसे अर्थ कहते हैं। जैसे—शारीरिक उष्णता को प्रकट करने के लिए ज्वर शब्द का प्रयोग किया जाता है, जिसका अर्थ है—शरीर में ताप का बढ़ जाना।

पदार्थ-लक्षण—जो ज्ञेय हो, जिसका कोई नाम हो और जिसका अस्तित्व हो उसे पदार्थ^२ कहते हैं। पद के द्वारा प्रतिपाद्य अर्थ को पदार्थ कहा जाता है। जो अर्थ, सूत्र या पद में कहा गया होता है, उसे 'पदार्थ' कहते हैं, पद का या पदों का अर्थ पदार्थ है।

आयुर्वेदाध्यायी के लिए पदार्थ के स्वरूप का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है, यह पहले कहा जा चुका है। सामान्यतः पदार्थ शब्द वस्तुपरक है, और ऐसी वस्तु जो भावात्मक हो। आयुर्वेद एक व्यावहारिक शास्त्र है, इसलिए भाव पदार्थ को ही स्वीकार किया है। जो संख्या में ६ बतलाये गये हैं—१. द्रव्य २. गुण ३. कर्म ४. सामान्य ५. विशेष और ६. समवाय। किसी शास्त्र में जिस विषय का विवेचन किया जाता है, वह विवेच्य वस्तु उस शास्त्र का 'पदार्थ' है। जैसे—द्रव्यगुण शास्त्र में यह कहा गया है, कि द्रव्य में—१. रस २. गुण ३. वीर्य ४. विपाक ५. शक्ति या प्रभाव ये पाँच पदार्थ रहते हैं—

द्रव्ये रसो गुणो वीर्यं विपाकः शक्तिरेव च।

पदार्थाः पञ्च तिष्ठन्ति स्वं स्वं कुर्वन्ति कर्म च ॥ (भा० प्र०)

विमर्श—वास्तविकता के अर्थ में भी पदार्थ शब्द का प्रयोग किया जाता है, जैसे—'आयुर्वेद विज्ञान' ग्रंथ में एक रोग का वर्णन है, जिसका नाम है—'गदोद्वेग' जिसमें रोग न रहने पर भी रोगी को शंका होती है, कि मुझे कोई नहीं बचा सकता? मेरे पेट में सर्प घुस गया है जो मुझे मार डालेगा और मस्तिष्क में मेढ़क बैठा हुआ है, जिससे शिर फट जायेगा, इत्यादि नाना प्रकार के भ्रम का शिकार होकर वह व्यक्ति अपने को रोगी मानता है, जब कि उसकी सारी बातें काल्पनिक एवं निराधार होती हैं। इस रोग में वास्तविक

१. पदप्रतिपाद्यत्वमर्थत्वम्।

२. षण्णामपि पदार्थानामस्तित्वाभिधेयत्वज्ञेयत्वानि।—(प्रशस्तपादभाष्य)

योऽर्थोऽभिहितः सूत्रे पदे वा स पदार्थः, पदस्य पदयोः पदानां वा अर्थः पदार्थः।

—(सु० उ० ६५)

लक्षण नहीं होते हैं, इसलिए इसका नाम ही 'गदोद्वेग' या 'अपदार्थगद' रक्खा गया है—

विना व्याधि व्याधिशङ्का गदोद्वेग इतीरितः ।

पदार्थत्वाभाववत्त्वात् अपदार्थगदश्च सः ॥

—आयु. वि.

विभिन्न शास्त्रों में पदार्थों पर अपनी-अपनी दृष्टि से विचार किया गया है। जहाँ तक आयुर्वेद का सम्बन्ध है इस शास्त्र में दो स्थलों पर, दो दृष्टि से, पदार्थ विवेचन मिलता है। प्रथम 'चरक संहिता' के सूत्रस्थान अध्याय एक में षट्-पदार्थों का वर्णन है, जो चिकित्सा की दृष्टि से उपयोगी है और इसी अभिप्राय से संहिता के प्रथम अध्याय के प्रारम्भ में ही इसका वर्णन किया गया है—
जब कि अग्निवेश आदि ऋषियों ने दीर्घजीवन की कामना से प्रजा-हितैषी आयुर्वेद शास्त्र को भारद्वाज से सीखा था। वे आयुर्वेद के साथ पूर्वोक्त षट्पदार्थों के सम्बन्ध में भी ज्ञान प्राप्त किये तथा आयुर्वेद शास्त्र में बतलायी हुई विधियों के प्रति दृढ़ आस्थावान् होकर दीर्घायुष्य को प्राप्त किये—

महर्षयस्ते ददृशुर्यथावज्ज्ञानचक्षुषा ।

सामान्यं च विशेषं च गुणान् द्रव्याणि कर्म च ॥

समवायं च तज्ज्ञात्वा तन्त्रोक्तं विधिमास्थिताः ।

लेभिरे परमं शर्म जीवितं चाप्यनित्वरम् ॥

—च. सू. १।२८-२९

पदार्थविज्ञान और कणाददर्शन

आयुर्वेदीय पदार्थ विज्ञान कणाददर्शन (वैशेषिकदर्शन) के अनुसार है, इसलिए वैशेषिक दर्शन की विचारधारा का परिचय आवश्यक है। 'विशेष' नामक पदार्थ के विशिष्ट प्रतिपादन के कारण कणाददर्शन का नाम वैशेषिक दर्शन पड़ गया। वैशेषिकों ने संसार के पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध और उनकी विशेषताओं (साधर्म्य-वैधर्म्य) का सुगम और विस्तार से वर्णन किया है। दर्शनशास्त्र का दृष्टिकोण विश्लेषणात्मक होना चाहिए, जिससे यथार्थता का ज्ञान हो सके। 'वैशेषिक' जगत् की वस्तुओं के लिए पदार्थ शब्द का व्यवहार करते हैं। वैशेषिकों का कहना है, कि हमारी आँखों के सामने जो विस्तृत जगत् दिखलायी दे रहा है, उसके भीतर एक ऐसे द्रव्य की प्रतीति होती है जो अभौतिक है और वह चेतन-तत्त्व जगत् का निर्माता है, जिसका कि अनुमान होता है।

अथ च सुश्रुत संहिता के उत्तरतन्त्र अध्याय ६५ में तन्त्रयुक्तियों के वर्णन के प्रसंग में 'पदार्थ' का विवेचन किया गया है। वहाँ पर आयुर्वेद के सूत्रों या पदों में जो अर्थ हैं, उनको जानने या समझने की दृष्टि से 'पदार्थ' का वर्णन है, जैसा कि तन्त्र-युक्तियों का प्रयोजन बतलाया गया है—

यथाम्बुजवनस्यार्कः प्रदीपो वेश्मनो यथा ।

प्रबोधस्य प्रकाशार्थं तथा तन्त्रस्य युक्तयः ॥

पदार्थ भी एक तन्त्रयुक्ति है, जो सूत्र या पद के अर्थ को प्रकाशित करता है ।

तन्त्रयुक्तिरूप पदार्थ का वर्णन^१

किसी सूत्र या पद में जो अर्थ (meaning) कहा गया हो, उसे पदार्थ कहते हैं । किसी एक पद का अर्थ, दो पदों का अर्थ अथवा अनेक पदों का अर्थ 'पदार्थ' कहलाता है । संसार में पदार्थों की संख्या अनगिनत है, वे अनन्त और अनेक हैं । जैसे—स्नेहन, स्वेदन और अञ्जन इन पदों का उच्चारण करने से उनसे दो या तीन अर्थों का बोध होता है । 'स्नेह' शब्द के गुण, प्रेम और घृत ये तीन अर्थ होते हैं । 'स्वेद' शब्द से साग्निस्वेद और निरग्निस्वेद (बिना अग्नि का) ये दो अर्थ निकलते हैं । 'अञ्जन' शब्द के भी नयनाञ्जन और अभ्यञ्ज ये दो अर्थ होते हैं—इनमें से यहाँ कौन सा अर्थ ग्रहण करना चाहिए ? इस तरह की शंका होती है, जिसके उत्तर में निर्देश दिया गया है, कि जो अर्थ पूर्वापर सन्दर्भों के अनुसार युक्तिसंगत प्रतीत हो, वही अर्थ ग्रहण करना चाहिए । उदाहरण के तौर पर सुश्रुतसंहिता के सूत्रस्थान के प्रथम अध्याय में 'वेदोत्पत्तिमध्यायं व्याख्यास्यामः' (वेदोत्पत्ति अध्याय का वर्णन करेंगे) इस कथन पर यह सन्देह होता है, कि वेद तो चार हैं, तब फिर यहाँ किस वेद का वर्णन करेंगे ? क्योंकि ऋग्वेद आदि तो वेद हैं और वेद शब्द में 'विद्' धातु है, वह विचारणार्थक विद् और लाभार्थक विद् ऐसी अनेकार्थक धातुएँ हो सकती हैं ऐसे स्थल में उत्पन्न हुये सन्देह के निराकरणार्थ यहाँ पर पूर्वापर सन्दर्भ का अवलोकन करने से यह निश्चयात्मक ज्ञान होता है, कि यहाँ आयुर्वेद की उत्पत्ति के विषय में कुछ कहना चाहते हैं, एवं 'वेदोत्पत्ति' में वेद पद का अर्थ 'आयुर्वेद' होता है । इस प्रकार से किसी पद का अर्थ निकालना 'पदार्थ' कहलाता है ।

१. योऽर्थोऽभिहितः सूत्रे पदे वा स पदार्थः, पदस्य पदयोः पदानां वा अर्थः पदार्थः, अपरिमिताश्च पदार्थाः । यथा—स्नेहस्वेदाञ्जनेषु निर्दिष्टेषु द्वयोस्त्रयाणां वाऽर्थानामुपपत्तिर्दृश्यते ? तत्र योऽर्थः पूर्वापरयोगसिद्धो भवति स ग्रहीतव्यः । यथा—'वेदोत्पत्तिमध्यायं व्याख्यास्यामः' इत्युक्ते सन्दिह्यते बुद्धिः कतमस्य वेदस्य उत्पत्तिं वक्ष्यतीति, यतः ऋग्वेदादयस्तु वेदाः, विद् विचारणे विद् लाभे इत्येतयोश्च धात्वोरनेकार्थयोः प्रयोगात्, तत्र पूर्वापरयोगमुपलभ्य प्रतिपत्तिर्भवति—आयुर्वेदोत्पत्तिमयं विवक्षुरिति, एष पदार्थः ।

—सु. उ. ६५।१०

विभिन्न शास्त्रों में पद और पदार्थ

पदार्थ शब्द की सीमा और उसका स्पष्टार्थ जाने बिना पदार्थों के विषय का अध्ययन समुचित रूप से नहीं किया जा सकता। इसलिये यह आवश्यक है, कि 'पद' और 'अर्थ' इन दो शब्दों के अलग-अलग अर्थ का सम्यक् ज्ञान किया जाय तथा संयुक्त 'पदार्थ' शब्द का भी विवेचन किया जाय ? व्याकरण-शास्त्र शब्दों के प्रकृति-प्रत्यय का ज्ञान कराता है और शब्दों के निर्माण का प्रकार बतलाता है। 'व्याक्रियन्ते व्युत्पाद्यन्ते शब्दा अनेन, इति व्याकरणम्।' अतः प्रथम व्याकरण की दृष्टि से ही विवेचन किया जा रहा है। 'सुप्तिङन्तं पदम्' (१।४।१४) इस पाणिनीय सूत्र से सुप् और तिङ् (क्रमशः कारक और क्रियाओं के प्रत्यय) जिन शब्दों के अन्त में हों उनकी पद संज्ञा होती है। जैसे—रामः रामौ रामाः इत्यादि सातों विभक्तियों के २१ रूप 'सुप्' अन्त में होने के कारण 'पद' कहलाते हैं तथा गच्छति, गच्छतः, गच्छन्ति आदि 'तिङ्' अन्त में होने के कारण 'पद' कहलाते हैं। एवं 'अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्' (१।२।४५) सूत्र से धातु और प्रत्यय तथा प्रत्ययान्त से भिन्न अर्थवान् शब्द स्वरूप की प्रातिपदिक संज्ञा होती है। सुबन्त पद अर्थवान् होता है। इस तरह वैयाकरणों की दृष्टि से अर्थवान् वर्ण-समूह को 'पद' कहते हैं, जिसके अन्त में कारक या क्रिया का प्रत्यय (सुबन्त या तिङन्त) लगा हो। नैयायिकों ने पद की परिभाषा यों की है—'जो किसी अर्थ को अभिव्यक्त करने की शक्ति रखता हो, ऐसे वर्णसमूह को 'पद' कहते हैं। 'पद' जिस विशिष्ट सम्बन्ध द्वारा किसी अर्थ का बोध कराता है, इस सम्बन्ध को 'शक्ति' कहते हैं। शक्ति के कारण ही व्यवहार को चलाने के लिए भाषा का प्रयोग होता है। जब कोई व्यक्ति 'गाय को लाओ' ऐसा कहता है, तो श्रोता सास्ना-शृंग-लांगूलयुक्त एक पशु विशेष को लाता है, क्योंकि गाय पद से श्रोता को इस पशु का बोध हो जाता है।

वैयाकरण, साहित्यिक और मीमांसक इस शक्ति को भी 'पदार्थ' मानते हैं, किन्तु नैयायिक इसे पदार्थ न मानकर 'इच्छा' नामक गुण में इसका समावेश करते हैं। कुछ नैयायिकों ने इस शक्ति को ईश्वरेच्छा या ईश्वर-सङ्केत माना है—'इस पद से इस पदार्थ का बोध करना चाहिए, इस प्रकार के ईश्वर-सङ्केत को 'शक्ति' कहते हैं (अस्मात् पदादयमर्थो बोद्धव्य इतीश्वरसंकेतः शक्तिः)'। जिससे कोई अर्थ निकलता हो, उसे 'पद' कहते हैं या सुप् अथवा तिङ् प्रत्यय जिन शब्दों के अन्त में रहते हों, उन्हें 'पद' कहते हैं। नैयायिकों ने प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, और शब्द प्रमाणों से जिस किसी वस्तु का ज्ञान

होता है, उसे 'पदार्थ' कहा है। 'प्रमितिविषयाः पदार्थाः'। पद शक्ति बोधक कारणों में व्याकरण, उपमान (प्रमाण) कोष, आसवाक्य (शब्दप्रमाण), व्यवहार, वाक्यशेष, विवृत्ति और सिद्ध पदों की निकटता की उपयोगिता कही गयी है—

शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोषासवाक्याद् व्यवहारतश्च ।

वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः ॥

'शक्तिवाद' में लिखा है कि, वृत्ति के द्वारा पद से प्रतिपाद्य अर्थ को 'पदार्थ' कहते हैं—'वृत्त्या पदप्रतिपाद्यमान एव पदार्थः ।' सुश्रुत ने कहा है—'योऽर्थोऽभिहितः सूत्रे पदे वा स पदार्थः ।' पद का पर्याय है शब्द, वह अपनी (१) अभिधा (२) लक्षणा और (३) व्यञ्जना—इन तीन शक्तियों से अपने में निहित अर्थ का बोध कराता है। अभिधा से वाच्यार्थ, लक्षणा से लक्ष्यार्थ और व्यञ्जना शक्ति से व्यञ्ज्यार्थ का बोध होता है।

वाच्योऽर्थोऽभिधया बोध्यो लक्ष्यो लक्षणया तथा ।

व्यञ्ज्यो व्यञ्जनया तास्तु तिस्रः शब्दस्य शक्तयः ॥ (सा० द०)

आचार्यों ने पदजन्य अर्थ को पदार्थ कहा है—'वृत्तिज्ञानाधीनपदजन्यप्रतिपत्तीयविषयताश्रयत्वं पदार्थत्वम् ।' अर्थात्—वृत्ति (अभिधा-लक्षणा-व्यञ्जना) के द्वारा प्रतिपादनीय अर्थ को 'पदार्थ' कहते हैं। इस प्रकार पदार्थ की उपयोगिता और उसके महत्त्व का ज्ञान शास्त्र तथा लोकव्यवहार दोनों ही दृष्टियों से अत्यन्त अपेक्षित है।

पदार्थों के स्वरूप-संख्यादि में मत-मतान्तर

पदार्थ के स्वरूप के विषय में भारतीय दार्शनिकों में कोई खास मतभेद नहीं दृष्टिगोचर होता है। 'पद के द्वारा प्रतिपाद्य अर्थ को पदार्थ कहते हैं' इस परिभाषा को ही दूसरे दार्शनिकों ने अपने-अपने शब्दों में कहा है। जिसका विस्तृत वर्णन 'पदार्थ लक्षणम्' शीर्षक में किया गया है।

पदार्थों की संख्या—महर्षि कणाद ने द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय इन छह पदार्थों का वर्णन किया है। कणाद ने प्रथम तीन (द्रव्य गुण और कर्म) में बाह्यविषयक सत्ता मानी है और इन्हें अर्थ कहा है। बाकी तीन (सामान्य, विशेष और समवाय) बौद्धिक विवेक पर आधारित हैं।

नव्य न्याय के अनुसार पदार्थ दो तरह के होते हैं—१. भाव पदार्थ और २. अभावपदार्थ। पूर्वोक्त छह भाव पदार्थ हैं। नैयायिक 'अभाव' नामक सातवाँ पदार्थ भी मानते हैं, किन्तु वैशेषिकों ने इसे नहीं माना है, क्योंकि उसके अलग मानने में कोई युक्ति नहीं है—न तो आवश्यकता ही है, कारण

कि जिन प्रमाणों द्वारा भाव पदार्थों का ज्ञान होता है, उन्हीं प्रमाणों के द्वारा उसके अभाव का भी ग्रहण होता है। आयुर्वेद में अभाव निरूपयोगी है।

अभाव की अनुक्ति में हेतु—आयुर्वेद का प्रयोजन है—वात, पित्त, कफ इन तीनों दोषों में साम्यत्व स्थापित करना। इस प्रयोजन की सिद्धि के लिए द्रव्य आदि छह पदार्थ तो कारणभूत हैं, किन्तु अभाव का धातु साम्यत्व स्थापित करने में कोई उपयोग नहीं है। आयुर्वेद जगत् को पञ्चभौतिक मानता है और चिकित्सा के क्षेत्र में भी पञ्चमहाभूतों के सामञ्जस्य स्थापन से ही सफलता प्राप्त होती है। चिकित्सा में अभाव का कोई उपयोग नहीं है।

जगत् कि वा पुरुष का उपादान कारण अभाव नहीं है। भावरूप प्राणियों की उत्पत्ति में अभाव उपादान कारण नहीं हो सकता? यदि अभाव से ही भाव की उत्पत्ति होती, तो कोई भी वस्तु जहाँ कहीं सर्वदा, सर्वत्र, यों ही उत्पन्न हुआ करती? किन्तु ऐसा नहीं होता। दूसरी बात यह है, कि यदि अभाव को वस्तुओं का उपादान कारण माना जाय, तो संसार की वस्तुओं में भिन्नता नहीं होनी चाहिए, किन्तु प्रत्येक वस्तु स्वरूप से भिन्न-भिन्न रूप की है, इसलिए अभाव उपादान कारण नहीं हो सकता। प्रत्येक प्राणी के अंग, मनो-वृत्ति, प्रवृत्ति, निवृत्ति, और चेष्टाएँ भी अलग-अलग हैं। उपादान कारण कार्य में अनुस्यूत (घुला-मिला) रहता है—जैसे वस्त्र में सूत, किन्तु अभाव किसी भाव में अनुस्यूत नहीं हो सकता?

यदि बीज के नाश (अभाव) होने पर अंकुर की उत्पत्ति देखकर अभाव को उपादान कारण मानते हैं, तो गेहूँ के पिसे हुये आटे से भी अंकुर की उत्पत्ति होनी चाहिए? जो नहीं होती, इसलिए अभाव को भावों का उपादान कारण नहीं माना जा सकता। आयुर्वेद एक व्यावहारिक शास्त्र है, जो पृथुदर्शी (स्थूलदर्शी—विशाल दृष्टिकोण रखने वाला) है और सृष्टि को पञ्चभौतिक मानता है, एवं भूतों और तज्जन्य भावपदार्थों की ही चिन्ता करता है। इस प्रकार आयुर्वेद में पृथक् अभाव की आवश्यकता नहीं मानी गयी है, क्योंकि न स्वस्थ के स्वास्थ्य की रक्षा कर सकता है, न तो रुग्ण व्यक्ति को नीरोग बनाने में ही कोई योगदान कर सकता है।

आयुर्वेद अभाव को इसलिए भी नहीं मानता है, कि अभाव तो स्वतःसिद्ध है और अभाव में कोई कार्य नहीं होता है। आयुर्वेद एक चिकित्सा विज्ञान है, जो रोगों की चिकित्सा करता है। रोग भावपदार्थों से उत्पन्न होते हैं और रोगों की चिकित्सा भी भाव पदार्थों से ही होती है। अतः आयुर्वेद में अनुपयोगी होने के कारण अभाव को पदार्थ नहीं माना जाता है। यदि यह कहा जाय कि भोजन न करने से वायु की वृद्धि होती है जिससे वात रोगों की उत्पत्ति होती

है ? इसी प्रकार कुछ रोग ऐसे हैं जो उपवास (भोजन का अभाव) से निवृत्त हो जाते हैं—‘अक्षिकुक्षिभवाः रोगाः प्रतिश्यायव्रणज्वराः । पञ्चैते विनिवर्तन्ते रोगाः केवललङ्घनात् ॥’ इस प्रकार यह प्रत्यक्ष है, कि जैसे भावपदार्थ रोग की उत्पत्ति और चिकित्सा में कारण हैं उसी प्रकार अभाव भी रोगोत्पत्ति और रोग निवृत्ति में कारण हैं ? अतः अभाव को सातवाँ पदार्थ मानना चाहिए ? किन्तु अभाव को स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि अभाव के होने में कोई कारण नहीं होता, जब कि भाव पदार्थ सकारण होते हैं । जिसका कारण नहीं है, उसका इन्द्रियों से प्रत्यक्ष नहीं हो सकता । ‘अभाव है’ इसमें कोई प्रमाण नहीं है । यदि भोजन के अभाव से रोगों की उत्पत्ति और रोगों की चिकित्सा का होना कहा जाय, तो यह भी ठीक नहीं है ? क्योंकि उस स्थल में ‘लघुता’ गुण का शरीर में भाव होने से ही रोग की उत्पत्ति या रोग की शान्ति होती है । इसी आशय से आचार्य चरक ने ‘अभाव’ को अतिरिक्त पदार्थ नहीं माना है, अपितु उसे स्वतःसिद्ध माना है, क्योंकि अभाव के होने में कोई कारण नहीं होता—

प्रवृत्तिहेतुर्भावानां न निरोधेऽस्ति कारणम् । —च० सू० १६।२८

अर्थात् उत्पन्न होने वाली वस्तुओं की उत्पत्ति में तो कारण होता है, किन्तु उनके अभाव में कोई कारण नहीं होता । इसी आशय से ‘स्वभावोपरम-वाद’ सिद्धान्त के रूप में माना जाता है—

‘जायन्ते हेतुवैषम्याद् विषमा देहधातवः ।

हेतुसाम्यात् समास्तेषां ‘स्वभावोपरमः सदा ॥’—च. सू. १६।२७॥

अभाव का लक्षण^१—जिस पदार्थ का उल्लेख नकारात्मक रूप से किया जाता है—वही ‘अभाव’ है, जैसे—‘इह इदं नास्ति’ (यहाँ यह वस्तु नहीं है) ‘इदम् इदं न भवति’ इस प्रकार के ज्ञान नञ् शब्द से प्रकट किये जाते हैं । अभाव निषेधात्मक होता है । इसकी अभिव्यक्ति इनकार से की जाती है । ‘निषेधमुखप्रमाणवेद्यत्व’ ही अभाव का लक्षण है ।

अभाव के भेद—अभाव के दो भेद होते हैं—१. संसर्गाभाव और २. अन्योन्याभाव । संसर्गाभाव तीन प्रकार का होता है—क. प्रागभाव ख. प्रध्वंसाभाव ग. अत्यन्ताभाव ।

(१) संसर्गाभाव^२—इसका अर्थ है—संसर्गविरोधी अभाव । इसके

१. निषेधमुखप्रमाणगम्योऽभावरूपः सप्तमः पदार्थः प्रतिपाद्यते । स चाभावः संक्षेपतो द्विविधः—संसर्गाभावोऽन्योन्याभावश्चेति । संसर्गाभावोऽपि त्रिविधः—प्रागभावः प्रध्वंसाभावोऽत्यन्ताभावश्चेति ।

२. संसृज्यते एकं वस्तु अन्यवस्तुना आश्रीयते येनासौ संसर्गस्तस्याभावः, संसर्गाभावः । ‘तादात्म्य सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावः संसर्गाभावः ।’ ।

तीनों प्रकार अपने प्रतियोगी (जिसका अभाव होता है वह प्रतियोगी कहलाता है) के संसर्ग के विरोधी हैं । जैसे—जब तन्तु में पट का अभाव (प्रागभाव) होता है, तब पट के अनुत्पन्न रहने से तन्तु में पट का संसर्ग नहीं रहता, इसलिए अपने प्रतियोगी (पट) के संसर्ग का विरोधी होने से तन्तु में पट का प्रागभाव संसर्गाभाव है । इसी प्रकार तन्तुओं का संयोग नष्ट हो जाने पर जब पट का प्रध्वंस (विनाश) होता है, तब तन्तुओं में पट का संसर्ग नहीं रहता है, इसलिए अपने प्रतियोगी (पट) के संसर्ग का विरोधी होने से पट का प्रध्वंस संसर्गाभाव है एवं जहाँ पट का अत्यन्ताभाव होता है वहाँ पट का संसर्ग नहीं होता । जैसे—घट में पट का अत्यन्ताभाव अपने प्रतियोगी (घट) के संसर्ग का विरोधी होने से संसर्गाभाव है ।

(क) प्रागभाव^१—कार्य के उत्पत्ति के पूर्व कारण में कार्य का अभाव 'प्रागभाव' कहलाता है । जैसे—पट बुने जाने के पूर्व तन्तुओं में पट का अभाव प्रागभाव है । यह अनादि होता है, क्योंकि इसकी उत्पत्ति नहीं होती । यह प्रागभाव तन्तुओं में पट की उत्पत्ति हो जाने पर विनष्ट हो जाता है । अतः विनाशी है ।

(ख) प्रध्वंसाभाव^२—किसी वस्तु की उत्पत्ति के बाद उस वस्तु का अपने समवायिकारण में अभाव होना 'प्रध्वंसाभाव' कहलाता है, जैसे—कपाल में घट की उत्पत्ति में पश्चात् घट पर मुद्गरप्रहारजन्य कपालों में घट का अभाव प्रध्वंसाभाव है, क्योंकि वह घट की उत्पत्ति के बाद स्व-समवायिकरणगत अभाव है । यह उत्पत्तिमान् होने पर भी अविनाशी है । अर्थात्—प्रध्वंस का जन्म तो होता है किन्तु उसका नाश नहीं होता है, क्योंकि उसका भी नाश माना जायेगा, तो नष्ट कार्य की पुनः उत्पत्ति हो जायेगी और अनवस्था दोष हो जायेगा ।

(ग) अत्यन्ताभाव^३—जो अभाव भूत, भविष्यत् और वर्तमान इन तीनों कालों में रहे वह 'अत्यन्ताभाव' कहलाता है । 'अन्तम् अभावम् अतीतः अत्यन्तः, स चासौ अभावः अत्यन्ताभावः' अर्थात्, जो सदैव बना रहे, जैसे—वायु में रूप का अभाव अत्यन्ताभाव है ।

१. उत्पत्तेः प्राक् कारणे कार्यस्या भावः प्रागभावः, यथा तन्तुषु पटाभावः । स चानादिरूपत्तेरभावात्, विनाशी च कार्यस्यैव तद्विनाशरूपत्वात् ।

२. उत्पन्नस्य कारणे अभावः प्रध्वंसाभावः । प्रध्वंसो विनाश इति यावत् । यथा—भग्ने घटे कपालमालायां घट्भावः । स च मुद्गरप्रहारादिजन्यः । स चोत्पत्तिमानप्यविनाशी नष्टस्य कार्यस्य पुनरनुत्पत्तेः ।

३. त्रैकालिकोऽभावोऽत्यन्ताभावः । यथा वायौ रूपाभावः । —तर्कभाषा ।

(२) अन्योन्याभाव^१—जो अभाव अपने प्रतियोगी के तादात्म्य (धुल-मिल कर रहना) का विरोधी होता है, उसे 'अन्योन्याभाव' कहते हैं, जैसे—'घटः पटो न भवति' घड़ा कपड़ा नहीं है। अन्योन्याभाव नित्य है, क्योंकि जो जिससे भिन्न है, वह उसका स्वरूप कभी नहीं हो सकता है।

पदार्थों का परिगणन^२—आयुर्वेद के आचार्यों ने छह पदार्थों को माना है, यथा—१. सामान्य, २. विशेष, ३. गुण, ४. द्रव्य, ५. कर्म और ६. समवाय।

किसी द्रव्य के विषय में पूरी जानकारी प्राप्त करने के लिए उसके सामान्य तथा विशेष गुण कर्म को जानना पड़ता है, इसलिए क्रम में पहले सामान्य और विशेष का रखना उचित है। दोषों की विषमता से रोग होते एवं रोगों की चिकित्सा में दोषों को साम्यावस्था में लाना होता है और यह कार्य गुण कर्मों के आश्रय द्रव्यों के सामान्य गुण कर्म एवं विशेष गुण-कर्म की सही जानकारी पर ही निर्भर है। अतः चिकित्सा में सामान्य विशेष का सिद्धान्त महत्वपूर्ण है, क्योंकि उनके आधार पर ही चिकित्सा और पथ्य-व्यवस्था सम्पादित होती है। गुण और कर्म के मध्य में द्रव्य की गणना का अर्थ यह है—कि गुण और कर्म द्रव्य में रहते हैं। उसके बाद समवाय के वर्णन का तात्पर्य है—कि गुण और कर्म द्रव्य में समवाय सम्बन्ध में रहते हैं।

आयुर्वेदीय पदार्थगणना वैशेषिकों के अनुसार है, किन्तु क्रम में अन्तर है, जिसका कारण ऊपर कहा गया है। वैशेषिक दर्शन के अनुसार द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, और समवाय इन छह पदार्थों के साधर्म्य-वैधर्म्य के ज्ञान द्वारा निःश्रेयस् (मोक्ष) की प्राप्ति होती है। आयुर्वेद में भी साधर्म्य और वैधर्म्य के ज्ञान का वर्णन है, बिना इनके ज्ञान के चिकित्सा नहीं की जा सकती। इन्हें ही सामान्य (साधर्म्य) और विशेष (वैधर्म्य) कहा गया है।

प्रमेय का लक्षण

यथार्थ अनुभव को प्रमा कहते हैं। जो वस्तु जहाँ जैसी हो, उस वस्तु को

१. अन्योन्याभावस्तु तादात्म्यप्रतियोगिकोऽभावः। यथा घटः पटो न भवतीति। (—तर्कभाषा) (तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकोऽभावः, अन्योन्याभावः)

२. सामान्यं च विशेषं च गुणान् द्रव्याणि कर्म च।

समवायं च तज्ज्ञात्वा तन्त्रोक्तं विधिमास्थिताः॥—च. सू. १।२८

वहाँ वैसी ही समझना—इसे यथार्थ अनुभव कहते हैं। जो यथार्थ अनुभव के योग्य हो उसे 'प्रमेय' कहते हैं। 'योऽर्थः प्रमीयते तत्प्रमेयम्। (वात्स्यायन)

प्रमेय के भेद

आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख और अपवर्ग ये बारह प्रमेय कहलाते हैं।

नोट—आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि और मन का वर्णन अन्य अध्यायों में किया गया है, इसलिए शेष का ही वर्णन यहाँ अभीष्ट है।

प्रवृत्ति^२—धर्म और अधर्म को पैदा करने वाली जो याग और हिंसा आदि क्रिया है, वह प्रवृत्ति है। प्रवृत्ति संसार के व्यवहारों की साधिका है। प्रवृत्ति तीन प्रकार की होती है—१. कायिक, २. वाचिक, और ३. मानस।

(१) **कायिक प्रवृत्ति**—यह छह प्रकार की होती है। जिनमें प्रथम तीन—हिंसा, चोरी, व्यभिचार—से पाप होते हैं। एवं द्वितीय तीन—दान, रक्षा, सेवा—से पुण्य होते हैं।

(२) **वाचिक प्रवृत्ति**—यह आठ प्रकार की होती है। जिनमें प्रथम चार—असत्य, हिंसा, कठोरता और चुगली—से पाप होते हैं और द्वितीय चार—सत्य, हित, प्रिय और स्वाध्याय—से पुण्य होते हैं।

(३) **मानस प्रवृत्ति**—यह ६ प्रकार की होती है। जिनमें प्रथम तीन—परद्रोह, परधनलिप्सा और नास्तिकता—से पाप होते हैं और द्वितीय तीन—दया, अस्पृहा, और श्रद्धा—से पुण्य होते हैं।

दोष^३—जिनसे प्रवृत्ति या निवृत्ति हो, वे दोष कहे जाते हैं। वे तीन प्रकार के होते हैं—राग, द्वेष और मोह। राग माने इच्छा, द्वेष माने क्रोध और मोह माने मिथ्याज्ञान।

प्रेत्यभाव^४—मरकर जन्म लेना प्रेत्यभाव है। पूर्व देह की निवृत्ति मरना है और नवीन देह की प्राप्ति जन्म लेना है।

१. आत्मा शरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनःप्रवृत्ति-दोष-प्रेत्यभाव-फल-दुःखापवर्गास्तु प्रमेयम्।
—गौ. न्या. सू. १।१।९

२. प्रवृत्तिः धर्माधर्ममयी यागादिक्रिया, तस्या जगद्व्यवहारसाधकत्वात्।
—तर्कभाषा

३. दोषाः रागद्वेषमोहाः। राग इच्छा। द्वेषो मन्युः क्रोध इति यावत्। मोहो मिथ्याज्ञानं विपर्यय इति यावत्।
—तर्कभाषा

४. पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः। स चात्मनः पूर्वदेहनिवृत्तिः। अपूर्वदेहसङ्घात-
लाभः।
—तर्कभाषा

फल^१—फल दो प्रकार का है—मुख्य और गौण । इन में सुख या दुःख का साक्षात्काररूप जो भोग, वह मुख्य फल है और शरीर, इन्द्रिय तथा विषय गौण फल हैं । सभी फल पाप या पुण्य के अनुसार मिलते हैं ।

दुःख^२—जो प्राणियों को प्रतिकूल प्रतीत होता है एवं जिससे पीड़ा होती है, उसे दुःख कहते हैं ।

अपवर्ग^३—इक्कीस प्रकार के दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति को अपवर्ग या मोक्ष कहते हैं ।

दुःख के कारण होने से शरीर आदि दुःख के साधन कहे जाते हैं । जैसे—एक शरीर, छह ज्ञानेन्द्रियाँ, छह विषय, छह इन्द्रियबुद्धियाँ एवं दुःखयुक्त होने से एक सुख ये बीस गौण दुःख हैं और मुख्य दुःख दुःख है ।

अपवर्ग की प्राप्ति—जब मनुष्य शास्त्राध्ययन द्वारा समस्त पदार्थों के तत्त्व को जानकर विषयों में दोष देखने पर विरक्त बन जाता है, तब मोक्ष की कामना से परमात्मा का ध्यान करता है । ध्यान की स्थिति में जब परमात्म साक्षात्कार के द्वारा मोह (मिथ्याज्ञान) रहित हो जाता है, तब वह अग्रिम पाप या पुण्य का उपाजन नहीं करता और योगज सन्निकर्ष से पहले के पुण्य-पाप समूह को योगबल लब्ध शरीरों से भोगता है । तदनन्तर धर्माधर्म की निवृत्ति हो जाने से वर्तमान शरीर के छूटने पर नवीन शरीर के न मिलने से पूर्वोक्त इक्कीस प्रकार के दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्तिरूप मोक्ष को प्राप्त हो जाता है ।

प्रमाण-प्रमेयरूप पदार्थ-वैशिष्ट्य

प्रमेय वे कहे जाते हैं, जिनका प्रमाणों के द्वारा अनुभव किया जा सके—प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि (सांख्यकारिका ४) एवञ्च प्रमाणों के द्वारा प्रमेयों का ज्ञान होता है । प्रमेय ज्ञेय है, साध्य है और प्रमाण ज्ञान के साधन होने से ज्ञापक है ।

इस प्रकार प्रमाणों के द्वारा वस्तुतत्त्व को जाना जाता है—यथार्थता जानी जाती है । प्रमाणों के द्वारा जिसकी यथार्थता प्रतिपादित होती है, वे प्रमेय कहे जाते हैं । प्रमाण साधन है और प्रमेय साध्य है ।

१. फलं पुनर्भोगः, सुखदुःखान्यतरसाक्षात्कारः ।

—तर्कभाषा

२. पीडा दुःखम् ।

—तर्कभाषा

३. मोक्षोऽपवर्गः । स चैकविंशतिप्रभेदभिन्नस्य दुःखस्यात्यन्तिकी निवृत्तिः ।

एक विंशतिप्रभेदास्तु शरीरं, षडिन्द्रियाणि, षड्विषयाः, षड्बुद्धयः, सुखं दुःखं चेति गौणमुख्यभेदात् । सुखं तु दुःखमेव दुःखानुषङ्गित्वात् । अनुषङ्गोऽविनाभावः ।

—तर्कभाषा

चतुर्थ अध्याय प्रमाणविज्ञान^१

यथार्थ अनुभव या ज्ञान को 'प्रमा'^२ कहते हैं। जो वस्तु जहाँ जिस रूप में हो, उसको वहीं उसी रूप में देखना 'यथार्थ अनुभव' कहलाता है^३। जैसे—जहाँ चाँदी हो वहाँ उसे 'यह चाँदी है' इस प्रकार का ज्ञान होना यथार्थ ज्ञान होता है।

विमर्श—ज्ञान यथार्थ और अयथार्थ भेद से दो प्रकार का होता है। किन्तु 'प्रमा' ज्ञान 'यथार्थ ज्ञान' को ही कहते हैं। जिस ज्ञान में सत्यता और यथार्थता हो वही ज्ञान 'प्रमा' है। नैयायिकों ने कहा है कि 'जो वस्तु जिन गुण धर्मों से युक्त है, उस वस्तु को हबहू उन्हीं गुण धर्मों से युक्त देखना प्रमा है।

सत्य की परिभाषा के विषय में भी आचार्यों का ऐकमत्य नहीं है। कुछ विचारकों का कहना है, कि सत्य कल्याणकारी और यथार्थ व्यवहार का साधक होता है। व्यास ने कहा है, कि 'जिससे प्राणियों का कल्याण होता है वह सत्य है—'यद् भूतहितमत्यन्तम् एतत् सत्यं मतं मम'। (महाभारत-शान्तिपर्व)। इस मत में सत्य को ऐसा ज्ञान कहा गया है, जिससे किसी प्रयोजन की सिद्धि होवे। पाश्चात्य विद्वान् जिसे प्राग्मेटिक थ्योरी=Pragmestic theory मानते हैं, वह इसी तरह की है। घट में घटत्व का ज्ञान प्रमा है यह परिभाषा पाश्चात्यों के कोरेस्पान्डेन्स थ्योरी (Correspondence theory) के समान है। तीसरे विचारक अनुभव के द्वारा उत्पन्न ज्ञान को प्रमा मानते हैं और उनका पाश्चात्यों के थ्योरी आफ कोहिरेन्स (Theory of Coherence) के समान है। वेदान्तशास्त्री अबाधितत्व को प्रमा का साधन मानता है।

इस प्रकार थोड़ा-बहुत मतभेद होते हुए भी सभी विचारक यथार्थ ज्ञान (Valid Experience) को 'प्रमा' मानते हैं। शास्त्रीय और लौकिक व्यवहार दोनों ही दृष्टि से इसकी उपयोगिता अक्षुण्ण है, क्योंकि किसी भी क्षेत्र में जब तक यथार्थता का बोध न हो, तब तक उस क्षेत्र में कार्यसम्पादन

१. Epistemology is the science of correct knowledge.

(H. M. Bhattachary)

२. यत्र यदस्ति तत्र तस्यानुभवः प्रमा ।

—तत्त्वचिन्तामणि

३. तद्वति तत्प्रकारकानुभवो यथार्थः ।

—तर्कसंग्रह

सम्भव नहीं हो सकता। विशेषकर आयुर्वेद का मुख्य प्रयोजन है—रुग्ण व्यक्ति के रोग का विनिवारण करना और जब तक रोग के विषय में यह जानकारी न हो कि 'क्या यह वातिक व्याधि है या पैत्तिक या कफज ?' तब तक उस रोग का समुचित रूप से उपचार कर पाना सम्भव नहीं है (रोगमादौ परीक्षेत ततोऽनन्तरमौषधम् । ततः कर्म भिषक् पश्चात् ज्ञानपूर्वं समाचरेत् ॥) । अतः एव आयुर्वेद में यह पुनः-पुनः निर्देश दिया गया है, कि चिकित्सक को सर्वप्रथम रोगज्ञान के लिए ही प्रयास करना चाहिए, क्योंकि रोग के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने के बाद जब चिकित्सा की जाती है, तभी वह चिकित्सा सफल होती है और चिकित्सक को यश मिलता है।^१

रोग विज्ञान के सन्दर्भ में आयुर्वेद शास्त्र ने 'प्रमा' के लिए प्रमाणों की विशद उपस्थापना की है और किस-किस प्रकार किन्-किन प्रमाणों से किन्-किन भावों के बारे में 'प्रमा' (यथार्थ ज्ञान) की उपलब्धि करनी चाहिए— इस बात का विस्तार के साथ वर्णन किया है।^२ जैसे प्रत्यक्ष के द्वारा श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, नासिका के द्वारा शब्द, स्पर्श, रूप और गन्ध जो रोगी के शरीर में हों उनकी परीक्षा करें। अग्नि, बल, मनःस्थिति, रज-तम, क्रोध, शोक, हर्ष, प्रीति, स्मृति, बुद्धि आदि की परीक्षा अनुमान से की जानी चाहिए। इसी प्रकार आसोपदेश के द्वारा यह जानना चाहिए, कि अमुक रोग का यह निदान है, यह लक्षण है, अमुक स्थान है, अमुक प्रकार के उपद्रव हैं, साध्य या असाध्य है, अमुक नाम है और इस तरह से इसकी चिकित्सा का विधान है। यह सब आसोपदेश से ज्ञात होता है। उक्त प्रकार के यथार्थ-ज्ञान को 'प्रमा' कहते हैं और उस प्रमा को जिस साधन से प्राप्त किया जाता है उसे 'प्रमाण' कहते हैं। 'प्रमा' का बोध कराने के कारण ही प्रमाणों का महत्त्व है।

अप्रमा—अयथार्थ अनुभव को 'अप्रमा'^३ कहते हैं। जो वस्तु जहाँ जिस रूप में हो, उसे न समझकर वहाँ उसे दूसरी वस्तु (जो वह नहीं है) समझ लेना 'अयथार्थ अनुभव'^४ है। जैसे—सीपी को देखकर उसे चाँदी समझ बैठना अयथार्थ अनुभव है।

स्मृति—पहले से जाने हुए किसी विषय की याद जग जाना 'स्मृति'^५।

१. रोगज्ञानार्थमेवादी यत्नः कार्यो भिषग्वरैः ।

सति तस्मिन् क्रियारम्भः पुण्याय यशसे श्रियै ॥

२. चरक-विमान० ४ ।

३. अयथार्थानुभवोऽप्रमा ।

—तर्कसंग्रह

४. अतद्वति तत्प्रकारकानुभवोऽयथार्थः ।

—तर्कसंग्रह

५. अनुभवजन्यं ज्ञानं स्मृतिः ।

—तर्कसंग्रह

कही जाती है। यह स्मृति उस ज्ञान को कहते हैं, जो कि अनुभव के होने पर 'भावना' नामक संस्कार के कारण उत्पन्न होता है। जैसे—कोई कामी किसी कामिनी को पहले से लालसाभरी दृष्टि से देखता है, फिर कामी के मन में 'भावना' नामक संस्कार घर कर लेता है और जब भी कोई उद्बोधक कारण उस भावना को जगाता है, तो उस कामी को कामिनी की याद आया करती है, यही याद आना स्मृति है।

विमर्श—स्मृति ही कल्पना और विचार का आधार होती है। स्मृति मानव-जाति के लिए एक विलक्षण वस्तु है। स्मृतिशील होने के कारण मनुष्य एक विवेकशील प्राणी समझा जाता है। मनुष्य के पुराने अनुभव स्मृति के रूप में उसके मानस पटल पर अंकित होते हैं।

स्मृति का आधार—जब हमें किसी विषय का ज्ञान होता है या किसी विषय का अनुभव होता है, तो हमारे मस्तिष्क में उसका एक संस्कार स्थिर हो जाता है। प्रत्येक प्राणी में थोड़ा बहुत अनुभव और यत्किञ्चित् स्मृति होती है, किन्तु मानव मस्तिष्क में स्मृति-शक्ति विपुल और समृद्ध रहती है। यही कारण है, कि मनुष्य कल्पना-शक्ति में प्रवीण होता है। वह उसे अपने ज्ञान से और भी बढ़ा लेता है। मानव के ज्ञान क्षेत्र के विस्तार में उसका भाषा ज्ञान महान् वरदान है, जिसने उसे विश्व का सबसे उत्कृष्ट अधिपति बना दिया है और वह प्रकृति का स्वामी बन बैठा है।

किसी अनुभूत विषय को स्मरण करने के लिए तीन मौलिक बातें होती हैं—१. अनुभव का मन में स्थिर रहना (Retention) २. उसका मानस-पटल पर पुनः चित्रित होना (Recall) और ३. उसका अपने पुराने अनुभव के रूप में परिचय देना (Recognition), दूसरे शब्दों में इन तीन बातों के लिए १. धारणा, २. पुनश्चेतना और ३. पहचान शब्दों का प्रयोग उपयुक्त होगा, जिनका संक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत करना अभीष्ट है।

(१) धारणा—(Retention)—मनुष्य की धारणाशक्ति उसके मस्तिष्क की बनावट के ऊपर निर्भर है। मनुष्यों के मस्तिष्क की बनावट में अन्तर होने से उनकी धारणा-शक्ति में भी अन्तर होता है। ये भेद जन्म से ही होते हैं। इस जन्मजात धारणा-शक्ति का बढ़ाया जाना सम्भव नहीं है। कोई मनुष्य श्रुतिधर होते हैं, जिन्हें बहुत शीघ्र बातें याद हो जाती हैं किन्तु वे वैसे ही शीघ्र याददास्त को खो बैठते हैं। दूसरी ओर कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं, जिन्हें कोई बात देर से याद होती है, पर याद किया हुआ विषय उन्हें चिरकाल तक स्मरण रहता है। किसी भी संस्कार का स्मृति में स्थिर रहना

निम्न चार बातों निर्भर करता है—१. समीपता (Recency), २. सघनता (Frequency) ३. रोचकता (Interest) और ४. सम्बन्ध (Association) ।

(२) पुनश्चेतना—(Recall) जो संस्कार हमारी स्मृति के धरातल में अंकित होते हैं, उनका पुनः चैतन्य मन में आना 'पुनश्चेतना' कहलाता है। संस्कारों के पुनर्जन्म ग्रहण करने की शक्ति की उत्प्रेरक धारणा-शक्ति होती है। जिस मनुष्य की धारणा-शक्ति जितनी ही प्रबल होगी, वह व्यक्ति उसी अनुपात से पुरानी बातों की याद कर सकता है। मन में स्थित सभी संस्कारों का पुनश्चेतन होना सम्भव नहीं है, अपितु वे ही संस्कार पुनश्चेतन होते हैं, जिनको बार-बार अभ्यास करके मन में स्थिर कर लिया जाता है। वे ही संस्कार शीघ्रतया स्मरण हो जाते हैं। मन की कोई भी शक्ति अभ्यास से घटती-बढ़ती है। संस्कारों की पुनश्चेतना उनकी उत्तेजना पर निर्भर है।

(३) परिज्ञान (Recognition)—इसका भी आधार पुराने संस्कारों का मन में स्थिर रहना है। जो व्यक्ति अनेकशः देखा हुआ होता है, उसे हम तुरन्त पहचान लेते हैं कि वह हमारा देखा हुआ व्यक्ति है। पहचानने की शक्ति अनुभव पर निर्भर है। यद्यपि पहचानने की शक्ति और स्मरण-शक्ति दोनों ही स्मृति के अङ्ग हैं, फिर भी अन्तर यह है कि पहचानने में पुराने संस्कारों को उत्तेजित करने वाला कोई पदार्थ होता है, जब कि स्मरण में इस प्रकार का कोई आधार नहीं होता। साधारणतः यह देखा जाता है, कि जिस व्यक्ति की जितनी अधिक पहचानने की शक्ति होती है, उतनी ही अधिक उसमें पुराने अनुभवों को पूर्णतया स्मरण करने की भी शक्ति होती है।

स्मृति से दुःख का विनाश—सांसारिक विषय-वासनाः, सांसारिक सम्बन्ध और संसार में उत्पन्न होने वाले सभी पदार्थों की नश्वरता का भाव जब मानव भस्तिष्क के स्मृति-पटल पर उभरता है, तब मनुष्य बन्धनकारी रज और तम के दुःखदायी कार्यों का स्मरण कर सांसारिक कार्यों को दुःख स्वरूप मानकर उससे अपने को अलग कर लेता है। एवं उसे संसार का सब कुछ दुःखमय है 'दुःखमेव सर्वं विवेकिनः' यह स्मृति जागृत हो जाती है। फलतः वह विषयाशक्ति से विमुक्त होकर सात्त्विक भावों के उदय होने से ईश्वराराधना-धारणा-ध्यान-समाधि के पथ का पथिक बनकर आत्यन्तिक दुःखनिवृत्तिस्वरूप मोक्ष (ब्रह्मपद) प्राप्त कर लेता है और वेदनारहित परम-पद पर अधिष्ठित हो जाता है।

मोक्षसाधक स्मृति—सज्जनों की सेवा, दुष्टजनों के साहचर्य का अभाव, व्रतों का पालन, सात्त्विक आहार या उपवास, शरीरिक और मानसिक शुद्धि, सन्तोष, तपस्या, स्वाध्याय करना, ईश्वराराधन (अपने कर्मों का ईश्वर को

समर्पित करना), धर्मशास्त्रों का अभ्यास, प्रमाणों द्वारा प्रमा (यथार्थ) का ज्ञानोपार्जन करना, निर्जन एकान्त स्थान में निवास, काम, क्रोध प्रभृति मनो-विकारों से प्रभावित न होना, मोक्ष के साधक कार्यों में प्रवृत्त होना और उच्चकोटि का धैर्य-पालन आदि उपायों से सांसारिक भावों की दुःखोत्पादकता और असारता का स्मरण जग जाता है और मनुष्य सचेत एवं जागरूक होकर परमानन्द चिन्मय ब्रह्मपद में लीन हो जाता है। उस चरम संन्यास-अवस्था में सभी प्रकार का ज्ञान-विज्ञान और त्रिविध ताप एवं भूत, भविष्य और वर्तमान की समस्त वेदनाएँ समूल नष्ट हो जाती हैं।^१ जिस व्यक्ति ने योग-शास्त्र से वास्तविकता को समझने वाली स्मृति-शक्ति का बल प्राप्त कर लिया है, वह अपनी ज्ञानाग्नि से कर्मों को भस्मसात् कर ज्ञानस्वरूप, प्रशान्तात्मा, निर्मम, ब्रह्ममय हो जाता है और अपुनर्भवत्व को प्राप्त कर लेता है।

स्मृति-जागरण में कारण—ये कारण संख्या में ८ कहे गये हैं—

१. निमित्त—जैसे कारण को देखकर कार्य का स्मरण करना, (कुम्भकार को देख कर घड़े का स्मरण करना)।
२. रूपग्रहण—जैसे नील गाय को देखकर गाय का स्मरण होना।
३. सादृश्य—पिता के समान आकृति वाले पुरुष को देखकर पिता का स्मरण हो जाना।
४. विपरीत—जैसे किसी दूसरे की गाय को अधिक दूध देते देखकर अपनी गाय का स्मरण हो जाना, कि वह कम दूध देती है।
५. सत्त्वानुबन्ध—अर्थात् अपने मनोयोग से किसी अभीष्ट का स्मरण करना, जैसे मानसिक रूप से शिव या कृष्ण का स्मरण करना।
६. अभ्यास—बार-बार किसी बात को याद करने से वह बात इतनी अधिक अभ्यस्त हो जाती है कि उसका सहज ही स्मरण हो जाता है।
७. ज्ञानयोग—धारणा, ध्यान, किंवा समाधि से जो ज्ञान प्राप्त होता है, उसे ज्ञानयोग कहते हैं। जैसे संसार की अनित्यता का ज्ञान होना।
८. पुनःश्रवण—किसी भूले हुये पद्य को पुनः सुन लेने से उसकी स्मृति ताजी हो जाती है।

ये उपर्युक्त आठ कारण हैं, जिनसे स्मृति होती है। स्मृति इन्हीं विषयों की होती है जो दृष्ट (देखे गये) हों, श्रुत (सुने गये) हों एवं अनुभूत (जिनका पहले से ज्ञान हो) हों। किन्तु ज्ञानयोग की यह विशेषता होती है कि दृष्ट, श्रुत और अनुभूत न होने पर भी भूत, भविष्य और वर्तमान इन तीनों कालों का ज्ञान होता है। योगीजन इन्द्रिय और विषय के सन्निकर्ष के बिना भी देखते, सुनते या किसी भी प्रकार के ज्ञान का स्मरण कर लेते हैं, क्योंकि उनका सात्त्विक मन आत्मा से सम्बद्ध होता है।

१. तस्मिंश्चरमसंन्यासे समूलाः सर्ववेदनाः ।

ससंज्ञाज्ञानविज्ञाना निवृत्तिरयान्त्यशेषतः ॥ —चरक शा. १।१५४

अनुभव^१—स्मृति से भिन्न जो ज्ञान, 'अनुभव' कहते हैं। यह ज्ञान प्रत्यक्ष, अनुमान आदि से प्राप्त होता है। यह दो प्रकार का होता है—यथार्थानुभव और अयथार्थानुभव। इन दोनों का वर्णन प्रमा और अप्रमा के साथ किया जा चुका है।

अभ्यर्हित होने में प्रमाण की प्राथमिकता—न्यायशास्त्र का प्रथम सूत्र^२ बतलाता है कि, प्रमाण, प्रमेय आदि सोलह पदार्थों के तत्त्वज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है। इसी प्रकार आगे चलकर आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख और अपवर्ग इन १२ को प्रमेय^३ कहा गया है।

इस संसार के आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक इन त्रिविध तापों से छुटकारा पाने के लिए ऋषियों ने जो साधन ढूँढ़ निकाला उसका नाम—'दर्शन' है। दर्शनों की विचार धारा के स्रोत प्रमेय हैं, जिनको पहले पहले ही गिनाया गया है। इन प्रमेयों के ज्ञान से ही अज्ञान की काली निशा पूर्णिमा की चाँदनी रात बन जाती है और सत्य का साक्षात्कार होने लग जाता है एवं पुरुषार्थ की उपलब्धि होती है।

गौडपादाचार्य ने सांख्यकारिका में सांख्य सम्मत २५ तत्त्वों को प्रमेय बतलाया है। यह भी कहा गया है कि प्रमेयों की सिद्धि प्रमाण से होती है—'प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धिः।' अस्तु उपर्युक्त कथन से यह सिद्ध होता है, कि सभी दर्शनों का विचारणीय-प्रतिपाद्य विषय प्रमेय हैं और प्रमेयों को सही ढंग से समझने के लिए प्रमाणों की उपयोगिता स्वयं सिद्ध है।

प्रमाण यथार्थज्ञान का साधन है और यथार्थ ज्ञान तब तक नहीं होता है, जब तक 'आत्मज्ञान' नहीं होता, सांसारिक प्रपञ्चों और रज, तम की माया समझ में नहीं आती है। इसलिए वास्तविकता को बतलाने वाले 'प्रमाण' की उपयोगिता से इनकार नहीं किया जा सकता। चाहे ऐहलौकिक या पारलौकिक किसी भी दृष्टि से विचार करें, तो भौतिक या आध्यात्मिक वस्तुओं का यथार्थज्ञान दोनों ही क्षेत्र में आवश्यक है। एतावता यथार्थज्ञान का साधन होने के नाते 'प्रमाण' ज्ञान सर्वप्रथम आपेक्षित है।

१. अनुभवो नाम स्मृतिव्यतिरिक्तं ज्ञानम्।

२. प्रमाण-प्रमेय-संशय-प्रयोजन-दृष्टान्त-सिद्धान्तावयव-तर्क-निर्णय-वाद-जल्प-वितण्डा-हेत्वाभास-च्छल-जाति-विग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः।

—गौ. सू. १।१।१

३. आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनःप्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफलदुःखापवर्गाः प्रमेयाः।

—गौ. सू. १।१।९

आचार्य चरक^१ ने 'प्रमाण' के लिए परीक्षा शब्द का प्रयोग किया है और 'चक्रपाणि'^२ ने परीक्षा की परिभाषा की है, कि जिससे वस्तुतत्त्व (किसी बात की वास्तविकता) का ज्ञान या मापदण्ड निर्धारित किया जाता है, उसे परीक्षा कहते हैं। अतः वस्तुओं के सम्यक् ज्ञान के लिए परीक्षा (प्रमाण) की आवश्यकता है^३। इस प्रकार प्रमेयों की सिद्धि के लिए प्रमाण ही साधन हैं। लोक में भी किसी वस्तु के नापने या तौलने से ही उसकी मात्रा का, गुण-धर्म का ज्ञान होता है, इसलिए प्रमाणों का अध्ययन करना चाहिए। इसी दृष्टिकोण को लेकर 'पदार्थ विज्ञान' में प्रमाण का वर्णन अपेक्षित है।

प्रमाण का लक्षण—प्रमाकरण^४ को 'प्रमाण' कहते हैं^५। यथार्थ अनुभव के साधन को 'प्रमाण' कहते हैं। जिसके द्वारा किसी वस्तु की वास्तविक स्थिति का ज्ञान होता है, वह प्रमाण है। प्रमाण एक साधन है, एक ज्ञान है, एक परीक्षा है। 'प्रमीयते अनेन' (जिसके द्वारा यथार्थ ज्ञान किया जाय) इस करण व्युत्पत्ति से प्रमाण शब्द बना है, न कि 'प्रमितिः प्रमाणम्' इस भाव व्युत्पत्ति से। अतः पदार्थों की इयत्ता, यथार्थता, वास्तविकता को बतलाने वाले साधन को प्रमाण कहते हैं। स्पष्ट शब्दों में प्रमा^६ के साधकतम कारणों को प्रमाण कहते हैं।

प्रमाणों की संख्या—एकविध प्रमाण—चार्वाक^७ केवल प्रत्यक्ष प्रमाण मानते हैं।

द्विविध प्रमाण^८—माध्वसम्प्रदाय वाले दो ही प्रमाण मानते हैं—प्रत्यक्ष

१. द्विविधा तु खलु परीक्षा ज्ञानवतां—प्रत्यक्षमनुमानं च। एतद्धि द्वयमुपदेशश्च परीक्षा स्यात्। —च. वि. ८।८३

२. परीक्ष्यते व्यवस्थाप्यते वस्तुस्वरूपमनयेति परीक्षा।

—च. सूत्र. ११-१७ पर चक्रपाणि

३. मानाधीना मेयसिद्धिर्मानसिद्धिश्च लक्षणात्।

तच्चाध्यक्षादिमानेषु गीर्वाणैरप्यवारणम् ॥

४. प्रमाकरणं प्रमाणम्, यथार्थानुभवः प्रमा, साधकतमं करणम्।

—तर्कभाषा

५. यथार्थानुभवः प्रमा, तत्साधनं च प्रमाणम्।

—उदयनाचार्य

६. प्रमाकरणं प्रमाणम्।

—तर्कसंग्रह

७. प्रत्यक्षमेकं चार्वाकाः।

—सर्वदर्शनसंग्रह

८. माध्वास्तु प्रत्यक्षं शब्दञ्चेति प्रमाणद्वयम्।

रामानुजाचार्यास्तु

शब्दञ्चेति प्रमाणत्रयमिच्छन्ति।

—सर्वदर्शनसंग्रह

प्रमाण और शब्दप्रमाण । बौद्ध, जैन और वैशेषिक ये भी दो प्रमाण मानते हैं—१. प्रत्यक्ष और २. अनुमान ।

त्रिविध प्रमाण—सांख्य^१, योग, रामानुजाचार्य और चरक तीन प्रमाण मानते हैं—१. प्रत्यक्ष २ अनुमान और ३. शब्द ।

चतुर्विध प्रमाण—न्याय सूत्र^२ में गौतम ने प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द इन चार प्रमाणों को माना है । सुश्रुत^३ भी इन्हीं चार प्रमाणों को मानते हैं । चरक^४ ने आसोपदेश, प्रत्यक्ष, अनुमान और युक्ति इन चार प्रमाणों का उल्लेख किया है ।

पञ्चविध प्रमाण—प्रभाकर मतानुयायी, प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द के अलावा पाँचवाँ प्रमाण 'अर्थापत्ति' मानते हैं ।

षड्विध प्रमाण—कुमारिलभट्ट और वेदान्ती पूर्वोक्त पाँच प्रमाणों के साथ छठा 'अनुपलब्धि' प्रमाण मानते हैं । जैमिनि ने छः प्रमाणों में १. अर्थापत्ति २. संभव ३. अभाव ४. प्रतिभा ५. ऐतिह्य और ६. उपमान की गणना की है ।

अष्टविध प्रमाण—पौराणिक लोग उक्त ६ प्रमाणों के साथ 'संभव' तथा 'ऐतिह्य' नामक दो और प्रमाणों को मानते हैं ।

नवविध प्रमाण—तान्त्रिक 'चेष्टा' नामक नवाँ प्रमाण भी मानते हैं । इस प्रकार तान्त्रिक—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, संभव, ऐतिह्य और चेष्टा इन नौ प्रमाणों को स्वीकार करते हैं ।

दशविध प्रमाण—कुछ लोग 'परिशेष' नामक दसवाँ प्रमाण भी मानते हैं ।

त्रिविध प्रमाणों में सभी प्रमाणों का समन्वय—उपर्युक्त सभी प्रमाणों का केवल तीन प्रमाणों में ही अन्तर्भाव हो जाता है । जैसे—ऐतिह्य का आसोपदेश में, अनुपलब्धि और चेष्टा का प्रत्यक्ष में तथा उपमान, अर्थापत्ति, सम्भव और परिशेष का अनुमान में अन्तर्भाव हो जाता है । इसलिए सांख्य, योग रामानुज और आयुर्वेदाचार्यों ने मुख्य रूप से प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द (आसोपदेश) इन्हीं तीन प्रमाणों को माना है ।

जिस इन्द्रिय से जिस विषय का 'भाव' जाना जाता है, उसी इन्द्रिय से उस विषय का 'अभाव' भी जाना जाता है, इसलिए अनुपलब्धि का प्रत्यक्ष

१. त्रिविधं प्रमाणमिष्टम् ।

सांख्यकारिका ४

२. प्रत्यक्ष-अनुमान-उपमान-शब्दाः प्रमाणानि । —गौ. न्याय सू. १।१।३

३. तस्याङ्गवरमाद्यम् आगमप्रत्यक्षानुमानोपमानैरविरुद्धम् ।

—सु. सू. १।२४

४. द्विविधमेव सर्वं सच्चासच्च । तस्य चतुर्विधा परीक्षा—आसोपदेशः, प्रत्यक्षम्, अनुमानं, युक्तिश्च ।

—च. सू. १।१।१७

में अन्तर्भाव समझना चाहिए। अनुमान में सम्भव इसलिए गतार्थ है, कि संभव का अर्थ है, कि जो जिससे होता है, वह उसका सम्भव है—जैसे त्रिगुणात्मिका प्रकृति से त्रिगुणात्मक सृष्टि की उत्पत्ति होती है। कारण के गुण कार्य में होते हैं यह सिद्धान्त है, इसलिए अनुमान से संभव का ज्ञान हो जाने से उसका अनुमान में ही अन्तर्भाव समझना चाहिए। अर्थापत्ति उसे कहते हैं, कि एक बात कही गयी उसी से जो बात नहीं कही गयी हो, उसका भी अनुमान कर लेना। जैसे—‘यह मोटा आदमी दिन में नहीं खाता’ इस वाक्य में मोटा शब्द से नहीं खाने की संगति नहीं है—क्योंकि बिना डट के भोजन किये मोटापा नहीं आ सकता, इसलिए अनुमान करते हैं, कि यह रात में खाता है। इस प्रकार अर्थापत्ति का अनुमान में ही अन्तर्भाव होता है। प्रतिभा और उपमान का भी आधार अनुमान ही है। ऐतिह्य और अलौकिक उपदेश को कहते हैं—उसका भी शब्द (आप्तोपदेश) में अन्तर्भाव हो जाने से मूल रूप में सांख्य-योग और आयुर्वेदाचार्यों ने तीन ही प्रमाण माने हैं।

आयुर्वेदोक्त प्रमाणों का त्रिविध प्रमाणों में समन्वय—आचार्य चरक ने प्रमाण के लिए परीक्षा, ज्ञान और विज्ञान शब्दों का प्रयोग किया है, किन्तु सबका मन्तव्य एक ही है। सुश्रुतसंहिता में प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम (आप्तोपदेश) और उपमान चार प्रमाणों को कहा गया है। यहाँ उपमान का अन्तर्भाव आप्तोपदेश के भीतर किया जाना संभव है, क्योंकि उपमान में सादृश्य ज्ञान होने पर ही किसी की पहचान होती है। जैसे—‘तिल के जैसा दाग पड़ जाने पर उसे ‘तिल’ कहा जाता है’ यहाँ तिल की आकृति देखकर तिल के सादृश्य ज्ञान से यह ‘तिल’ (क्षुद्ररोग) ही है, ऐसा ज्ञान होता है। एवं आप्त पुरुषों के उपदेश से तिल के विषय में जानकारी होने से ‘‘तिल’’ को देखकर उसका ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार उपमान को अलग से प्रमाण मानने की आवश्यकता नहीं है। अतएव ‘‘चरक’’ ने तीन ही प्रमाणों का उल्लेख किया है।

चरकसंहिता के सूत्रस्थान में भी चार प्रकार की परीक्षा का उल्लेख है—१. आप्तोपदेश २. प्रत्यक्ष ३. अनुमान और ४. युक्ति। यहाँ पर युक्ति ऊह लक्षण है। जैसा कि युक्ति के लक्षण में कहा गया है—‘‘बहुत से कारणों के योग होने से अमुक प्रकार के कार्य होने की कल्पना-तर्क-अनुमान किया जाता है, यह ऊह (तर्क) जिस बुद्धि से होता है उस ऊह लक्षण बुद्धि को ‘‘युक्ति’’^१ कहते हैं।’’ यह त्रिकाला है—वर्तमान, अतीत, अनागत सभी कालों

१. चरक. सूत्र. ११।१७।

२. बुद्धिः पश्यति या भावान् बहुकरणयोगजान्।

युक्तिः त्रिकाला सा ज्ञेया त्रिवर्गः साध्यते यया ॥—च. सू. ११।२५

में युक्ति द्वारा ज्ञान या अनुमान हो सकता है। वस्तुतः युक्ति केवल अनुमान की पृष्ठभूमि है, जिससे अनुमान करने में सहायता मिलती है। अत एव आगे चलकर “त्रिविध-रोगविज्ञान” (च० वि० ४) वर्णन-प्रसंग में युक्ति को अलग न गिनकर अनुमान में ही उसे गतार्थ कहा गया है। अनुमान प्रमाण युक्तिपूर्वक होता है, युक्ति ‘अविनाभावसम्बन्ध’ है (अर्थात् कारणों की अवश्यमेव उपस्थिति है) जिससे कार्य हो जाने का सही-सही अनुमान किया जाता है। अनुमान युक्त्यपेक्ष होता है। (युक्ति सम्बन्धी विवाद को चरक० सूत्र० ११।२५ की चक्रपाणि टीका में देखें) युक्ति के विषय में चक्रपाणि ने शान्तिरक्षित और कमलशील इन बौद्ध पण्डितों के विचारों का मन्थन करने के बाद अन्तिम निष्कर्ष यह दिया है, “कि युक्ति में भी अनुमान की तरह दृष्टान्त आदि होते हैं, इसलिए युक्ति अनुमान से भिन्न नहीं है।” इन तथ्यों को देखते हुए युक्ति को अनुमान से अभिन्न मानना ही युक्तियुक्त है।

दूसरी बात यह भी है, कि जिन अन्य प्रमाणों का उल्लेख जैमिनि आदि आचार्यों ने किया है, उनको प्रमाण के रूप में न मानकर भी आचार्य चरक ने उनके महत्त्व को स्वीकार किया है। इसीलिए शास्त्रार्थ विवेचन में उपयोगी विषयों की शृंखला में शब्द, प्रत्यक्ष और अनुमान के साथ ऐतिह्य, औपम्य, सम्भव और अर्थप्राप्ति (अर्थापत्ति) आदि का भी परिगणन किया है। इसलिए इस “वादमार्गज्ञान हेतु” वर्णन से इनको आयुर्वेदोक्त प्रमाण नहीं मानना चाहिए। सिद्धान्त रूप में तीन ही प्रमाण आयुर्वेद में माने गये हैं और इन्हीं तीनों में अन्य शास्त्रोक्त प्रमाणों का अन्तर्भाव हो जाता है, जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है।

प्रमाणसम्बन्धी मतभेद

चार्वाक	प्रत्यक्ष	एक प्रमाण
कणाद और बौद्ध	प्रत्यक्ष और अनुमान	दो प्रमाण
अन्य तार्किक	उपमान भी	तीन प्रमाण
गौतम	शब्द भी	चार प्रमाण
प्रभाकर	अर्थापत्ति भी	पाँच प्रमाण
कुमारिल और वेदान्ती	अनुपलब्धि भी	छः प्रमाण
जैमिनि	(१. अर्थापत्ति २. सम्भव ३. अभाव ४. प्रतिभा ५. ऐतिह्य ६. उपमान)	छः प्रमाण
पौराणिक	सम्भव और ऐतिह्य भी	आठ प्रमाण
तान्त्रिक	चेष्टा भी	नौ प्रमाण
अन्य	परिशेष भी	दस प्रमाण

सभी दार्शनिकों ने अपने-अपने ढंग से प्रमाणों का विवेचन किया है। उपर्युक्त प्रमाणों के अलावे कुछ लोग अभ्यास और अदृष्ट प्रमाणों को मानते हैं। आयुर्वेद में युक्ति नामक प्रमाण का भी उल्लेख है। फिर भी इन सभी प्रमाणों का अन्तर्भाव प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द में हो जाता है, अतएव सांख्य, योग, रामानुज और आयुर्वेद के मनीषियों ने इन्हीं तीनों को अङ्गीकार किया है।

प्रामाण्यवाद

(प्रमात्वं स्वतोऽप्रमात्वन्तु परत इति मीमांसकाः, तदुभयं परत एवेति नैयायिकाः ।)

स्वतःप्रामाण्य और परतःप्रामाण्य—विचारणीय है, कि प्रमाणों द्वारा जो प्रमात्व (यथार्थता) का ज्ञान होता है उसका 'यह मेरा ज्ञान यथार्थ है' इस प्रकार अपने ज्ञान के बारे में निश्चय, ज्ञानोत्पत्ति के परक्षण में स्वतः ज्ञान ज्ञापक कारणों से ही हो जाता है अथवा उसके व्यवहित परकाल में परतः किसी हेतु से ऐसी अनुमिति होती है कि—'मेरा यह ज्ञान यथार्थ था।' अर्थात्—१. अभीष्ट विषयों के ज्ञान होने पर उसमें प्रमात्व का निश्चय करके ही किसी व्यक्ति की अभीष्ट विषयों में प्रवृत्ति होती है। अथवा २. प्रमात्व के संशय से ही अभीष्ट विषयों में प्रवृत्ति होने के बाद और अभीष्ट प्राप्ति होने के बाद उसमें प्रमात्व का निश्चय कोई करता है। इन दोनों पक्षों में प्रथम पक्ष को ही प्रभाकर, मुरारि मिश्र और कुमारिल भट्ट मानते हैं और द्वितीय पक्ष को नैयायिक मानते हैं।

प्रभाकर आदि का कहना है कि—यदि ज्ञानोत्पत्ति के परक्षण में ही ज्ञान ज्ञापक कारणों से ज्ञान का और तदगत प्रमात्व का निश्चय न होगा, तो सुगन्धित पुष्प आदि अभीष्ट वस्तुओं के ज्ञान होने पर शीघ्र उन वस्तुओं की ओर प्रवृत्ति, एवं सर्पादि अनिष्ट वस्तुओं के ज्ञान होने पर उन तुरत वस्तुओं की ओर से निवृत्ति और उपेक्षणीय मनुष्य आदि के ज्ञान होने पर शीघ्र उनकी ओर उपेक्षा न हो सकेगी (जो कि होती है)। अतः मानना चाहिए, कि ज्ञानोत्पत्ति के परक्षण में ही ज्ञान-ज्ञापक कारणों से ही ज्ञान का और तदगत प्रमात्व का निश्चय होता है।

किन्तु 'ज्ञान-ज्ञापक कारण' पद से किसे लिया जाय ? इस विषय में प्रभाकर आदि के विभिन्न मत हैं। जैसे—प्रभाकर कहते हैं—कि जिस प्रकार स्वप्रकाश दीप को देखने के लिए अन्य दीप की अपेक्षा नहीं होती, उसी

प्रकार स्वप्रकाश ज्ञान को जानने के लिए अन्य ज्ञान की अपेक्षा नहीं होती। अर्थात् ज्ञान स्वयं ही अपने को और अपने में रहने वाले प्रमात्व को समझता है। एवं मुरारि मिश्र कहते हैं—कि जैसे, घट आदि विषयों का और उसमें रहने वाले घटत्व आदि का प्रकाशन, उनसे भिन्न 'यह घट है' इत्यादि ज्ञानों का उनमें वृत्ति प्रमात्व का प्रकाशन उनसे भिन्न 'मैं इस घट को जानता हूँ' इत्यादि (अनुव्यवसाय) ज्ञानों से होता है। कुमारिलभट्ट कहते हैं, कि ज्ञान अतीन्द्रिय होता है, अतः उसका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। किन्तु ज्ञान से विषय में 'ज्ञातता' अर्थात् प्राकट्य नाम की एक वस्तु पैदा होती है, क्योंकि ज्ञान के बाद लोग यह अनुभव करते हैं, कि 'यह विषय मुझसे ज्ञात हुआ' और ज्ञातता से ज्ञान का एवं तद्गत प्रमात्व का ज्ञान (अर्थात्पत्तिरूप) होता है। इन तीन मीमांसकों के मत में प्रमात्व ज्ञान के लिए ज्ञान-ज्ञापक कारणों से भिन्न की अपेक्षा नहीं होती है, अतः उसका ज्ञान स्वतः होता है, ऐसा समझना चाहिए। यही मत **स्वतःप्रामाण्य** कहलाता है।

यहाँ नैयायिकों का कहना है, कि ज्ञान के बाद शीघ्र प्रवृत्ति या निवृत्ति आदि के होने से यह नहीं कहा जा सकता, कि ज्ञान और ज्ञान के साथ ही उसमें प्रमात्व का भी निश्चय हो जाता है। क्योंकि कहीं कहीं प्रवृत्ति या निवृत्ति के होने पर भी यह सन्देह होता रहता है, 'मेरा ज्ञान ठीक है या नहीं।' जैसे—किसी ने दूर से अज्ञात स्थान में जल को देखा, फिर वह जलार्थी होने के कारण उस ओर चलता हुआ भी सोचता जाता है कि—'मैंने यह ठीक समझा है कि नहीं, कहीं ऐसा न हो, कि मुझे भ्रम ही हुआ हो और वहाँ जाने पर जल न मिले?' जब वह वहाँ जाकर जल पाता है, तब उसे यह निश्चय होता है, कि 'मुझे यह ज्ञान ठीक हुआ था'। इससे यह निश्चय होता है, कि ज्ञान की उत्पत्ति के बाद शीघ्र उसमें प्रमात्व का निश्चय नहीं होता है, क्योंकि वैसा होने पर ज्ञान में प्रमात्व का संशय नहीं बन सकेगा। अतः प्रवृत्ति आदि की सफलता के देखने से ही ज्ञान में प्रमात्व का निश्चय होता है, यह मानना चाहिए। ऐसी स्थिति में 'प्रमात्व ज्ञान स्वतः होता है, यह कहना ठीक नहीं, किन्तु वह परतः होता है, यही कहना उपयुक्त है।

वस्तुतस्तु स्थलविशेष में प्रथम पक्ष तथा स्थलविशेष में द्वितीय पक्ष ग्राह्य है। जैसे—चिरपरिचित वस्तु के ज्ञान में प्रमात्व का ज्ञान स्वतः होता है, ऐसा मानना उपयुक्त है, क्योंकि उसमें प्रमात्व का सन्देह किसी को नहीं होता है। एवं अपरिचित वस्तु के ज्ञान में प्रमात्व का ज्ञान परतः होता है, ऐसा मानना ठीक है, क्योंकि उसमें प्रमात्व का संशय सभी को होता है।

अप्रमात्वज्ञानं परतः—‘मेरा यह ज्ञान ठीक नहीं था’ ज्ञान में इस प्रकार के अप्रमात्व का निश्चय परतः (प्रवृत्ति आदि की निष्फलता देखने से) ही होता है, क्योंकि यदि ज्ञान में अप्रमात्व का निर्णय स्वतः (ज्ञान-ज्ञापक कारणों से) ही होता, तो किसी को अपरिचित वस्तु के ज्ञान के बाद उसमें प्रवृत्ति आदि नहीं हो सकेगी (जो कि होती है) । अतः सभी को यह मानना होगा, कि अप्रमात्व परतः होता है ।

पञ्चम अध्याय प्रत्यक्षप्रमाण-विज्ञान

प्रत्यक्ष का लक्षण

१. श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा और घ्राण इन इन्द्रियों द्वारा क्रमशः शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध का निश्चयात्मक (प्रमात्मक=यथार्थ) ज्ञान होना 'प्रत्यक्ष' कहलाता है ।^१ २. इन्द्रिय और विषय का परस्पर सम्बन्ध होने से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे 'प्रत्यक्ष' कहते हैं ।^२ ३. अपने-अपने अर्थ (विषय) के साथ इन्द्रियों का संयोग होने पर जो अव्यपदेश्य, अव्यभिचारी और व्यवसायात्मक ज्ञान होता है, वह 'प्रत्यक्ष' है ।^३ यहाँ अव्यपदेश्य से निर्विकल्पक और व्यवसायात्मक से सविकल्पक तथा अव्यभिचारी से भ्रम से रहित अर्थ समझना चाहिए ।

'चरक' के अनुसार प्रत्यक्ष का लक्षण—जब आत्मा मन के साथ, मन इन्द्रिय के साथ और इन्द्रियाँ अपने विषयों के साथ संयुक्त होती हैं, तो तत्काल जो निश्चयात्मक इन्द्रिय-बुद्धि उत्पन्न होती है, उसे 'प्रत्यक्ष'^४ कहा जाता है ।

प्रत्यक्ष के भेद

निर्विकल्पक और सविकल्पक भेद से प्रत्यक्ष दो प्रकार का होता है ।^५

निर्विकल्पक—जब इन्द्रिय द्वारा सन्निकृष्ट वस्तु का ज्ञान होता है और केवल वस्तुमात्र की प्रतीति होती है एवं वस्तु क्या है ? उसका नाम, जाति

१. प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टम् (प्रत्यक्षम्) —सा. का. ५ ।

२. इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम् —तर्कसंग्रह ।

३. इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानम् अव्यपदेश्यम् अव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् । —न्याय. द. ।

४. क—आत्मेन्द्रियमनोऽर्थानां सन्निकर्षात् प्रवर्तते ।

व्यक्ता तदात्वे या बुद्धिः प्रत्यक्षं सा निरुच्यते ॥—चरक सू. ११।२० ।

ख—प्रत्यक्षं नाम तत् यदात्मना चेन्द्रियैश्च स्वयमुपलभ्यते ।

तत्रात्मप्रत्यक्षाः सुखदुःखेच्छाद्वेषादयः, शब्दादयस्तु इन्द्रियप्रत्यक्षाः ।

—च. वि. ८ ।

५. अक्षजा प्रमितिर्द्वेधा सविकल्पाऽविकल्पजा ।

—तर्कभाषा ।

या विशेषता आदि का ज्ञान नहीं हो तो इस प्रकार के 'इदं किञ्चित्' (यह कुछ है) इस ज्ञान को 'निर्विकल्पक प्रत्यक्ष' कहते हैं ।

सविकल्पक—जब इन्द्रिय और अर्थ का संयोग होता है और प्रत्यक्ष की गयी वस्तु के नाम, जाति, गुण आदि का सम्यक् ज्ञान होता है एवं यह 'श्वेत गो है', 'कृष्ण अश्व है' इस प्रकार के विशेषण-विशेष्य बोधक ज्ञान को 'सविकल्पक प्रत्यक्ष' कहते हैं ।

सविकल्पक प्रत्यक्ष के भेद

लौकिक और अलौकिक भेद से 'सविकल्पक' के दो भेद होते हैं ।

(क) **लौकिक सविकल्पक के भेद**—बाह्य (बहिरिन्द्रिय द्वारा) और आभ्यन्तर (अन्तरिन्द्रिय द्वारा) के भेद से लौकिक सविकल्पक प्रत्यक्ष दो प्रकार का होता है ।

बाह्य प्रत्यक्ष—पाँच ज्ञानेन्द्रियों द्वारा ग्रहण किया जाता है, इसलिए पाँच प्रकार का होता है ।

आभ्यन्तर प्रत्यक्ष—यह अकेले मन द्वारा ग्राह्य होने के कारण केवल एक प्रकार का होता है ।

इस प्रकार सब मिलाकर लौकिक प्रत्यक्ष ६ प्रकार का होता है ।^१

इन्द्रिय भेद से लौकिक प्रत्यक्ष के भेद—पञ्च ज्ञानेन्द्रियों से एवं मन से क्रमशः श्रावण, त्वाच, चाक्षुष, रासन, घ्राणज और मानस ये छः प्रकार के लौकिक प्रत्यक्ष होते हैं ।^२

१. श्रावण प्रत्यक्ष—(Auditory Perception)—वह है जो नाना प्रकार के शब्दों का प्रत्यक्ष कराता है । जब शब्द तरङ्ग परम्परा क्रम से उत्पन्न होता हुआ कान में पहुँचता है, तब कर्णेन्द्रिय द्वारा शब्द, शब्दत्व या शब्दाभाव का प्रत्यक्ष होता है ।

२. त्वाच प्रत्यक्ष (Tactile)—वह है जिसके द्वारा शीतल, उष्ण, मृदु, रूक्ष आदि गुणों का प्रत्यक्ष होता है । जब शीत आदि का त्वचा से स्पर्श होता है, तब शीत, शीतत्व या शीताभाव आदि का त्वगिन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष होता है ।

३. चाक्षुष प्रत्यक्ष (Visual Perception)—वह है, जिसके द्वारा अनेक प्रकार के रूपों का प्रत्यक्ष होता है । जैसे—जब पीले वस्त्र का आँख

१. घ्राणजादिप्रभेदेन प्रत्यक्षं षड्विधं मतम् ।—कारिकावली ५२ ।

२. वही ।

से संयोग होता है, तब यह 'पीत वस्त्र है' ऐसा चक्षुरिन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान होता है।

४. रासन प्रत्यक्ष (Gustatory Perception)—वह है, जिससे विविध प्रकार के रसों का (यह मीठा है, यह खट्टा है आदि का) प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। जब रसयुक्त वस्तुओं का जिह्वा से संयोग होता है, तब जिव्हेन्द्रिय (रसना) द्वारा रस, रसत्व या रसाभाव का प्रत्यक्ष होता है।

५. घ्राणज प्रत्यक्ष (Oleactory Perception)—वह है, जिसके द्वारा 'यह सुगन्ध है', 'यह दुर्गन्ध है' यह ज्ञान होता है। जब गन्ध वाली वस्तुओं का घ्राणेन्द्रिय से संयोग होता है, तब गन्ध, गन्धत्व या गन्धाभाव का प्रत्यक्ष होता है।

६. मानस प्रत्यक्ष (Mental Pception)—वह है, जो मन के द्वारा सुख, दुःख, इच्छा द्वेष आदि का ज्ञान कराता है।

नोट—उक्त प्रकार से जब इन्द्रियों द्वारा अपने-अपने विषयों का ज्ञान होता है, तब उन विषयों के द्रव्य, गुण, कर्म, जाति और अभाव इन सबका ज्ञान होता है, क्योंकि जिस इन्द्रिय से जिस द्रव्य या गुण या कर्म का प्रत्यक्ष होता है, उसी इन्द्रिय से उसमें रहने वाली (तद्गत) जाति और उसके अभाव का भी प्रत्यक्ष होता है। जैसे—नेत्र द्वारा जब रूप का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, तब साथ ही रूपत्व का भी प्रत्यक्ष होता है एवं रूपाभाव का भी प्रत्यक्ष नेत्र द्वारा ही होता है।

(ख) अलौकिक प्रत्यक्ष के भेद—यह तीन प्रकार का होता है^१—

१. सामान्य लक्षणाजन्य, २. ज्ञान लक्षणाजन्य और ३. योगज।

१. सामान्य लक्षणाजन्य—उसे कहते हैं, जो धर्म प्रत्यक्षमूलक धर्म-विशिष्ट धर्मी समुदाय का प्रत्यक्ष हो। जैसे—किसी एक घड़े को देखकर जो भावी एवं अतीत और निकटवर्ती एवं दूरवर्ती सभी घड़ों में ये सभी घड़े हैं ऐसा प्रत्यक्ष होता है; वह सामान्य लक्षणाजन्य है, क्योंकि एक घड़े में देखा हुआ घटत्व ही संसार के सभी घटों में रहता है। इसलिए जब घटत्व स्वरूप सामान्य का (सकलघटगत साधारण धर्म का) प्रत्यक्ष होता है, तब वही प्रत्यक्ष असाधारण कारण बनकर स्वविषय घटत्व के आश्रयीभूत सकल घटों का प्रत्यक्ष करा देता है।

२. ज्ञान लक्षणाजन्य—जिस विशिष्ट प्रत्यक्ष में विशेषण के स्मरण से

१. अलौकिकस्तु व्यापारस्त्रिविधः परिकीर्तितः।

सामान्यलक्षणो ज्ञानलक्षणो योगजस्तथा ॥—कारिकावली ६३।

उसका ज्ञान हो जाता है, उसे 'ज्ञान लक्षणाजन्य' कहते हैं। जैसे—दूरवर्ती चन्दन में दूरत्व होने के कारण नाक से सम्बन्ध न होने पर भी आँखों जो 'यह चन्दन सुगन्धित है' ऐसा प्रत्यक्ष होता है, वह 'ज्ञान लक्षणाजन्य है' क्योंकि उस सुगन्ध विशिष्ट चन्दन के प्रत्यक्ष में जो सुगन्ध का विशेषण के रूप में भान होता है, उसके प्रति सुगन्ध का स्मरण ही असाधारण कारण है।

३. योगज-प्रत्यक्ष—योगियों को योगाभ्यास जनित धर्म से जो पदार्थों का प्रत्यक्ष होता है, वह योगज है। जैसे—योगियों के कथनानुसार जो घटना हुई, उसके सम्बन्ध में मानना होगा, कि उनको जो भावी घटना का प्रत्यक्ष हुआ, वह योगज था, क्योंकि वहाँ योगाभ्यास-जनित धर्म के अतिरिक्त कोई ऐसा असाधारण कारण नहीं था, जिससे कि वह प्रत्यक्ष हो सकता था।

यह योगज^१ प्रत्यक्ष युक्त और युञ्जान भेद से दो प्रकार का होता है। युक्त योगी को सब पदार्थों का सदा भान होता रहता है और युञ्जान योगी को ध्यान की सहायता से सब पदार्थों का साक्षात्कार होता है। जो योगी युक्त हैं, उन्हें योगज धर्म की सहायता से युक्त मन के द्वारा आकाश से परमाणु-पर्यन्त समस्त पदार्थों का ज्ञान सदा ही होता रहता है और युञ्जान को ध्यान (चिन्ताविशेष) की सहायता से पदार्थों का ज्ञान होता है।

सन्निकर्ष^२

'सन्निकर्ष' लौकिक प्रत्यक्ष ज्ञान का हेतु होता है। विषय (घट आदि) और इन्द्रिय का सम्बन्ध 'सन्निकर्ष' (व्यापार) कहलाता है।

सन्निकर्ष के भेद—सन्निकर्ष ६ प्रकार का होता है—१. संयोग २. संयुक्त-समवाय ३. संयुक्तसमवेतसमवाय, ४. समवाय ५. समवेतसमवाय और ६. विशेष्यविशेषण-भाव।

१. संयोग (Conjunction)—इन्द्रियों से द्रव्यों का जब प्रत्यक्ष होता है, तब इन्द्रिय और द्रव्य का 'संयोग सन्निकर्ष' ही कारण होता है। जैसे—आँखों से घड़े के प्रत्यक्ष होने से संयोग सन्निकर्ष है।

२. संयुक्तसमवाय (Inherence in that which is Conjoined)—इन्द्रियों से द्रव्य में रहने वाले गुण, कर्म या जाति का जब प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, तब इन्द्रिय और विषयों का 'संयुक्त-समवाय सन्निकर्ष' कारण होता है।

१. योगजो द्विविधः प्रोक्तः युक्तयुञ्जानभेदतः।

युक्तस्य सर्वत्र भानं चिन्तासहकृतोऽपरः॥—कारिकावली ६५।

२. विषयेन्द्रियसम्बन्धो व्यापारः सोऽपि षड्विधः। कारिकावली ५९।

जैसे-घड़े के रंग (नील, पीतादि) के प्रत्यक्ष होने में संयुक्त-समवाय सन्निकर्ष है, क्योंकि आँख से संयुक्त घड़े के साथ रंग का समवाय सम्बन्ध है ।

३. **संयुक्त-समवेत-समवाय** (Inherence in the inherent in that which is conjoined)—गुण या कर्म में रहने वाली किसी भी जाति के प्रत्यक्ष में उस जाति के साथ इन्द्रिय का 'संयुक्त-समवेत-समवाय' ही सन्निकर्ष कारण होता है । जैसे—घट समवेत (घट में समवाय-सम्बन्ध से रहने वाले) रूप में रहने वाले रूपत्व के चाक्षुष प्रत्यक्ष में उस (रूपत्व) के साथ आँख का संयुक्त-समवेत-समवाय सन्निकर्ष ही कारण होता है, क्योंकि आँख से संयुक्त होगा घट, उसमें समवेत (समवाय सम्बन्ध से रहने वाला) होगा रूप और रूप में समवाय होगा रूपत्व का ।

४. **समवाय** (Inherence)—यह पहले बतलाया जा चुका है अयुत-सिद्धों का सम्बन्ध 'समवाय-सम्बन्ध' होता है । जैसे—शब्द आकाश का गुण है और गुणी-गुणी का समवाय सम्बन्ध होता है, इसलिए शब्द और आकाश में समवाय-सम्बन्ध है । कर्णेन्द्रिय द्वारा जब शब्द का प्रत्यक्ष होता है, तब कान के साथ शब्द का समवाय सन्निकर्ष (कारण) होता है; क्योंकि कर्ण-विवर में स्थित आकाश ही कान है और उसमें शब्द (गुण) समवाय-सन्निकर्ष से रहता है ।

५. **समवेत-समवाय** (Inherence in inherent)—जब कान से शब्द में रहने वाले शब्दत्व का प्रत्यक्ष होता है, तब शब्दत्व के साथ कान का समवेत-समवाय सन्निकर्ष होता है; क्योंकि शब्दत्व का शब्द के साथ समवाय-सम्बन्ध है और शब्द का कान के साथ ।

६. **विशेष्य-विशेषण-भाव** (The relation of qualification and qualified)—अभाव का प्रत्यक्ष ज्ञान होने में विशेष्य-विशेषणभाव सन्निकर्ष है । 'पृथ्वी तल पर घड़े का अभाव है' (घटाभाववद् भूतलम्) । इस ज्ञान में 'घटाभाव' यह पृथ्वी का विशेषण है (जो कि आँख से संयुक्त है) एवं पृथ्वी तल विशेष्य है ।

१. तावेवायुतसिद्धो द्वौ विज्ञातव्यौ ययोर्द्वयोः ।

अविनश्यदेकमपराश्रितमेवावतिष्ठते

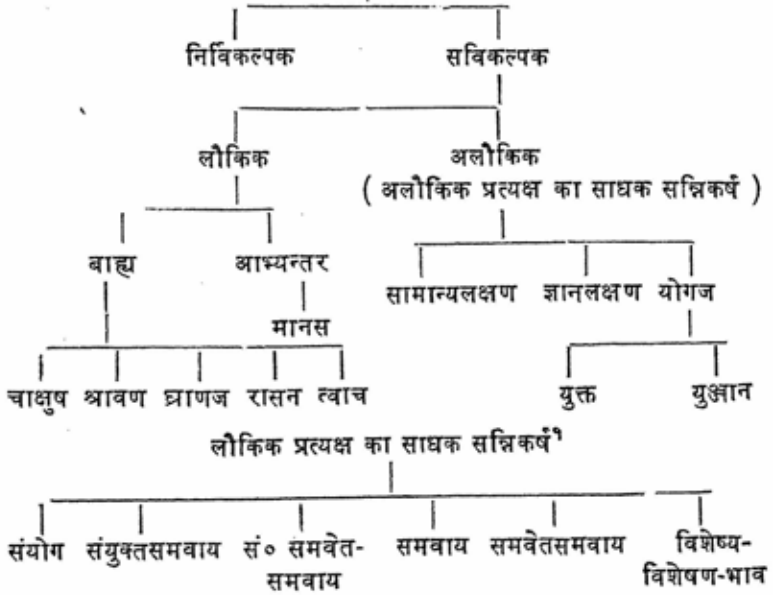
॥

—तर्कभाषा ।

(उन दोनों को अयुतसिद्ध समझना चाहिए, जिन दोनों में से एक अविनश्यत् (न नाश होने पर) दशा में दूसरे के आश्रित होकर ही रहता है । जैसे—अवयव और अवयवी, गुण-गुणी, क्रिया-क्रियावान्, जाति और व्यक्ति तथा विशेष और नित्यद्रव्य अयुतसिद्ध हैं) ।

प्रत्यक्ष

(Direct observation)



इन्द्रियों की प्राप्यकारिता का विचार

आयुर्वेद में इन्द्रियाँ पञ्चभौतिक मानी जाती हैं और इन्द्रियार्थ भी पञ्चभौतिक हैं। ऐसी स्थिति में सभी इन्द्रियों से सभी विषयों (अर्थों) का ज्ञान क्यों नहीं होता ?

१. लौकिक प्रत्यक्ष के साधक इन्द्रियार्थसन्निकर्ष ६ प्रकार के होते हैं—
 - (क) संयोगसन्निकर्ष—चक्षुषा घटप्रत्यक्षजनने संयोगः सन्निकर्षः ।
 - (ख) घटरूपप्रत्यक्षजनने संयुक्तसमवायः सन्निकर्षः ।
 - (ग) रूपत्वसामान्यप्रत्यक्षे संयुक्तसमवेतसमवायः सन्निकर्षः ।
 - (घ) श्रोत्रेण शब्दसाक्षात्कारे समवायः सन्निकर्षः, कर्णविवरवर्त्याकाशस्य श्रोत्रत्वात् शब्दस्याकाशगुणत्वात् गुणगुणिनोश्च समवायात् ।
 - (ङ) शब्दत्वसाक्षात्कारे समवेत-समवायः सन्निकर्षः श्रोत्रसमवेते—शब्दे शब्दत्वस्य समवायात् ।
 - (च) अभावप्रत्यक्षे विशेषण-विशेष्य-भावः सन्निकर्षः, घटाभाववद्-भूतल-मित्यत्र चक्षुः संयुक्ते भूतले घटाभावस्य विशेषणत्वात् । —तर्कसंग्रह ।

इसका समाधान करते हुये आचार्य सुश्रुत^१ ने कहा है, कि जिस इन्द्रिय में जिस भूत की अधिकता है, उस इन्द्रिय से उसी भूत के गुण का ग्रहण होता है। इसलिए इन्द्रियों का विषय निश्चित है 'प्रतिनियतविषयकानीन्द्रियाणि।' तुल्ययोनि (समान भूत से उत्पन्न) होने के कारण तैजस चक्षु तैजस रूप को; पाथिव घ्राणेन्द्रिय पाथिव गन्ध को जलीय जिह्वा जलीय रस को, वायव्य त्वचा वायव्य स्पर्श को और आकाशीय श्रोत्र आकाशीय शब्द को ही ग्रहण करता है।

अपने-अपने विषयों के ग्रहण करने में इन्द्रियाँ तभी समर्थ होती हैं, जब मन उनके साथ होता है।^२ इन्द्रियों का नियन्त्रण भी मन ही करता है।

ज्ञानेन्द्रियों के विषय शब्द-स्पर्श-रूप-रस और गन्ध हैं^३ और कर्मेन्द्रियों के कार्य वचन-आदान-विहरण-उत्सर्ग और आनन्द।^४ मन ज्ञानेन्द्रिय और-कर्मेन्द्रिय दोनों है और वह चिन्तन-विचार-तर्क-ध्यान एवं संकल्प करता है। अपना और इन्द्रियों का नियन्त्रण करना भी मन का ही कार्य है।^५

अतिसामीप्य आदि प्रत्यक्ष के दोष

'आठ ऐसे कारण हैं, जिनसे विद्यमान पदार्थों का भी प्रत्यक्ष नहीं हो पाता—अतिदूरत्व, अतिसामीप्य, इन्द्रियनाश, मन की अनवस्थता, अति सूक्ष्मता, व्यवधान, तिरस्कृत होना और समान वस्तुओं में मिल जाना^६।

१. अतिदूर होने से, आकाश में चिड़िया या हवाई जहाज नहीं दीखते।

१. क—इन्द्रियेणेन्द्रियार्थं तु स्वं स्वं गृह्णाति मानवः।

नियतं तुल्ययोनित्वात्मान्येनान्यमिति स्थितिः ॥—सु. शा. १।१५

ख—तत्र यद्यदात्मकमिन्द्रियं विशेषात्तदात्मकमेवार्थमनुगृह्णाति, तत्स्व-भावाद् विभुत्वाच्च। —च. सू. ८।१४।

२. मनःपुरःसराणीन्द्रियाण्यर्थग्रहणसमर्थानि भवन्ति। —च. सू. ८।७

३. अर्थाः शब्दादयो ज्ञेयाः गोचराः विषया गुणाः। —च. शा. १।

४. वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाश्च पञ्चानाम्। —सां. का. २८

५. चिन्त्यं विचार्यमूह्यं च ध्येयं संकल्पमेव च।

यत्किञ्चिन्मनसो ज्ञेयं तत्सर्वं ह्यर्थसंज्ञकम्।

इन्द्रियाभिग्रहः कर्म मनसः स्वस्य निग्रहः।

ऊहो विचारश्च, (ततः परं बुद्धिः प्रवर्तते) ॥ —च. शा. १।२०-२१

६. अतिदूरात् समीप्यात् इन्द्रियघातात् मनोजनवस्थानात्।

सौक्ष्म्यात् व्यवधानात् अभिभवात् समानाभिहाराच्च ॥—सां. का. ७

सतां च रूपाणामतिसन्निकर्षादतिविप्रकृष्टात् आवरणात् करणदौर्बल्यात् समानाभिहाराद् अतिसौक्ष्म्याच्च प्रत्यक्षानुपलब्धिः। —च. सू. ११।८

२. अतिसमीप होने से—जैसे—आँख में लगा अब्जन उसी आँख से नहीं दीख पड़ता तथा अतिसमीप से अक्षर नहीं दीख पड़ते हैं ।

२. इन्द्रियों के नष्ट होने से—जैसे—बहरे शब्द नहीं सुन पाते और अन्धे रूप को नहीं देख पाते (क्योंकि उनकी कर्णेंद्रिय और चक्षुरिन्द्रिय नष्ट हो गयी है) ।

४. मन की अनवस्थता से—जैसे—किसी सुन्दरी की छवि देखने में जिनका मन लगा है, वे समीप की ही बात नहीं सुन पाते ।

५. अतिसूक्ष्मता के कारण—जैसे—बालों में रहने वाली लीखें नहीं दीख पड़तीं एवं धूल के उड़ते कण वातावरण में व्याप्त रहते हैं, किन्तु दीखते नहीं ।

६. व्यवधान होने से—जैसे—दीवार के उस पार की वस्तुएँ नहीं दीख पड़तीं ।

७. तिरस्कृत होने से—जैसे—सूर्य के तेज से अभिभूत तारागण दिन में नहीं दिखाई देते हैं ।

८. समान वस्तुओं में मिल जाने से—जैसे—बेल की ढेरी में से बेल निकालकर फिर उसमें डाल दें, तो किस बेल को उठाया था, यह नहीं जान पड़ता है ।

प्रत्यक्ष प्रमाण का प्रमाणान्तरसहायकत्व

प्रत्यक्ष प्रमाण सभी प्रमाणों की आधारशिला है । अनुमान, युक्ति, उपमान, आत्मोपदेश (शब्द) इन प्रमाणों को विशेष महत्त्वपूर्ण माना गया है । कुछ आचार्य इनके अतिरिक्त अर्थापत्ति और अनुपलब्धि को भी प्रमाण मानते हैं । दूसरे लोग 'गूँगे की चेष्टा को देखने से यह ज्ञान होता है कि वह भूखा है' इसलिए चेष्टा को भी प्रमाण मानते हैं । अस्तु, प्रमाणों की संख्या के बारे में मतभेद बताया जा चुका है, यहाँ प्रत्यक्ष प्रमाण इन सभी प्रमाणों में कैसे सहायक होता है, यह बतलाना अभीष्ट है, जिसका वर्णन किया जा रहा है ।

अनुमान—'किसी चिह्न के ज्ञान से उस चिह्न को धारण करने वाली वस्तु का ज्ञान प्राप्त करना अनुमान कहलाता है ।' जैसे—पर्वत के शिखर से निकलने वाली धूमरेखा को देखकर उस पर्वत में अग्नि है और 'पर्वत अग्नि-युक्त है' (पर्वतो वह्निमान् धूमवत्वात्) यह अनुमान प्रमाण द्वारा सिद्ध होता है । यहाँ धुँए का देखना ही अनुमान का आधार है, इसलिए अनुमान प्रत्यक्ष पूर्वक ही होता है यह स्पष्ट है एवं प्रत्यक्ष अनुमान का सहायक होता है, यह साबित होता है ।

युक्ति—‘अनेक कारणों के योग से उत्पन्न भावों को, जो बुद्धि देखती है, उसे युक्ति कहते हैं’ यहाँ भी स्पष्ट है, कि जब तक उन भावों की उत्पत्ति देखी नहीं जाती है, तब तक युक्ति का जन्म नहीं होता है। इस प्रकार युक्ति में भी प्रत्यक्षज्ञान^१ सहायक होता है।

उपमान—यह प्रमाण सादृश्यमूलक होता है। जैसे—दण्ड को देखकर दण्डापतानक रोग का ज्ञान करना। यहाँ भी प्रत्यक्ष की सहायता अपेक्षित है।

आप्तोपदेश—आप्त महापुरुषों का उपदेश भी बिना देखे सुने नहीं हुआ है। इन लोगों ने जो भी उपदेश किया है, उसे पहले प्रत्यक्ष कर लिया है। उनका प्रत्यक्ष अलौकिक होता था। वे योगबल से, अपनी दिव्य चक्षुओं से पुनर्जन्म (पुनर्भव) का भी प्रत्यक्ष करने के बाद उसका उपदेश किये हैं।^२ इस प्रकार आप्तोपदेश भी प्रत्यक्ष मूलक है, यह सिद्ध होता है।

अर्थापत्ति—जैसे—‘यह मोटा ताजा ‘हरी’ दिन में नहीं खाता’ इस वाक्य की संगति के लिए यह कल्पना करते हैं, कि बिना भोजन के मोटा होना असम्भव है, इसलिए रात में भोजन करता है। यहाँ भी ‘मोटापा का प्रत्यक्ष होना’ अर्थापत्ति प्रमाण का जनक है।

अनुपलब्धि—में भी प्रत्यक्ष ज्ञान सहायक है, क्योंकि जिस इन्द्रिय से घट का प्रत्यक्ष होता है उसी आँख से घटाभाव भी प्रत्यक्ष होता है। एवं अनुपलब्धि में भी प्रत्यक्ष सहायक होता है।

चेष्टा—में भी आकार-प्रकार को देखकर ही गूँगे के इशारे से उसे प्यास लगी है, यह ज्ञान होता है। इसलिए चेष्टा में भी प्रत्यक्ष सहायक होता है।

इस तरह प्रत्यक्ष प्रमाण सभी प्रमाणों का मूल है। जैसा कि पहले बतलाया गया है, उसके अनुसार सभी प्रमाणों में प्रत्यक्ष प्रमाण का सहायक होना सिद्ध होता है।

स्वप्नावस्था में प्रत्यक्ष

जाग्रत (जगने) और सुषुप्ति (सोने) इन दिनों के बीच की अवस्था स्वप्नावस्था है। जाग्रत अवस्था में आत्मा, मन, इन्द्रिय और इन्द्रियार्थ का सम्बन्ध चालू रहता है और गहरी निद्रा में इन्द्रिय आदि का कार्य बन्द हो जाता है। इसलिए पूर्ण विश्राम प्राप्त हो जाने के कारण गाड़ी निद्रा से उठने

१. बुद्धिः पश्यति या भावान् बहुकारणयोगजान् । युक्तिः...॥—च. सू. २।२५

२. धर्मद्वारावहितैश्च व्यपगतभयरागद्वेषमोहलोभमानैर्ब्रह्मपरैराप्तैः कर्म-विद्विरनुपहतसत्त्वबुद्धिप्रचारैः पूर्वं पूर्वतरैर्महर्षिभिर्दिव्यचक्षुभिर्दृष्टवोपदिष्टः पुनर्भव इति व्यवस्येदेवम् ।

पर मनुष्य का मन और शरीर नयी स्फूर्ति का अनुभव करते हैं। इससे भिन्न स्थिति है स्वप्न में, जब कि इन्द्रियों के व्यापार बन्द रहते हैं, किन्तु मन निश्चल नहीं रहता। मन का व्यापार इन्द्रियों के बिना भी होता रहता है। स्मृति-कल्पना-तर्क-वितर्क द्वारा मन भूत, भविष्य और वर्तमान इन तीनों कालों का विचार कर सकता है। इसलिए स्वप्न में भूतकाल की देखी-सुनी घटनाओं का वर्तमान काल की इच्छा, कल्पना और भविष्य काल में घटित होने वाली अच्छी-बुरी घटनाओं का दर्शन होता है। स्वप्न में देखी गयी बातें स्मृति द्वारा पदार्थों का साक्षात् अभ्यास मात्र होती है। स्वप्न के समय की स्मृति सच्ची नहीं होती बल्कि वह कल्पित होती है, वह स्मृति का आभास मात्र है।

इस प्रकार स्वप्न की देखी गयी वस्तुएँ मिथ्या होती हैं, क्योंकि उनमें वास्तविकता नहीं होती। जो बात दुनिया में कभी सम्भव नहीं है, वह भी स्वप्न में सच्ची दीख पड़ती है। यद्यपि स्वप्नावस्था में केवल मानसप्रत्यक्ष होता है और वह भी जगने के बाद झूठा ही साबित होता है, फिर भी कभी-कभी स्वप्न में मन की क्रिया इतनी तीव्र होती है कि उसका प्रभाव कर्मेन्द्रियों पर होता है, जिससे मनुष्य बोलने, रोने या हँसने लगता है। कई मनुष्य चलने भी लगते हैं। शृंगारिक भावों का प्रभाव भी मन द्वारा शरीर पर पड़ता है, जिससे वीर्य-स्खलन हो जाता है।

इसी प्रकार कर्मेन्द्रियों और मन का भी आकस्मिक संयोग हो जाता है, जिससे भ्रमात्मक ज्ञान होने लगता है। जैसे-पैर में ठंडक लगने पर मालूम पड़ता है कि शरीर कहीं पानी में पड़ा है। इसी प्रकार मूत्राशय में मूत्र भरा रहने पर नदी में तैरना या बाढ़ का दृश्य दिखायी देता है। एवं स्पर्श, शब्द तथा गन्ध भी प्रत्यक्ष होते हैं। इसलिए स्वप्नावस्था में भी मन द्वारा कर्मेन्द्रियाँ एवं ज्ञानेन्द्रियाँ प्रेरित होकर अपने विषयों का प्रत्यक्ष करती हैं, भले ही उनमें वास्तविकता नहीं होती, फिर भी इन्द्रियों का मन के साथ संयोग और उनका कार्य होना मानना चाहिए।

स्वप्नावस्था में इन्द्रियों द्वारा अपने विषयों का प्रत्यक्ष होना और उसके द्वारा किसी निष्कर्ष पर पहुँचना, यह भी आयुर्वेद का एक महत्वपूर्ण विषय है। चरकसंहिता के इन्द्रिय स्थान में स्वप्न और रोगों के सम्बन्ध का विस्तृत वर्णन है। वहाँ पर किस तरह के स्वप्न का रोग या रोगी पर क्या प्रभाव पड़ता है? यह स्पष्टतया बतलाया गया है। स्वप्नों से भावी परिणाम का ज्ञान करके रोगी के आयु के विषय में जानकारी प्राप्त होती है, कि कैसा स्वप्न देखे, तो उसे अल्पायु (अर्थात् वर्ष भर में, ६ महीने में, १ महीने में या सप्ताह भर में मरना) जानें, इत्यादि।

अतः स्वप्नावस्था में मानसप्रत्यक्ष के साथ ही ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों को भी कदाचित् अपने विषयों का प्रत्यक्ष होता है (विशेष विवरण—‘करण-विज्ञान’ में देखें) । स्वप्नावस्था में प्रत्यक्षज्ञान का होना इसलिए भी सिद्ध है, क्योंकि कुछ स्वप्न सत्य भी होते हैं ।^१

ज्ञानोत्पत्ति प्रकार—बुद्धि, उपलब्धि और ज्ञान यह पर्यायवाची शब्द हैं ।^२ ज्ञान व्यापार में, शब्द आदि इन्द्रियार्थों का संग्रह, विचार, चिन्तन, तर्क, कल्पना, स्मृति, परीक्षा, निर्णय और यथार्थ को जानना आदि का समावेश है । इस ज्ञान-व्यापार की प्रक्रिया को समझाने के लिए वाचस्पति मिश्र^३ ने एक सुन्दर उदाहरण दिया है—जैसे—‘ग्रामसभापति ग्राम के परिवारों से कर वसूल कर अमीन को देता है और अमीन तहसीलदार को और तहसीलदार जिलाधीश को; एवं वसूल किया हुआ कर राजकीय कोषागार में पहुँचकर सरकार को मिल जाता है । इसी प्रकार ज्ञानेन्द्रियाँ विषयों को ग्रहण कर मन को देती हैं, मन चिन्तन, तर्क और संकल्प करके अहंकार को देता है और अहंकार उनका अहंकार कर बुद्धि को देता है एवं इन्द्रिय, मन, अहंकार के माध्यम से बुद्धि को ज्ञान (निश्चयात्मक) होता है ।^४ यह सांख्य के अनुसार वर्णन है । ज्ञान किसको कैसे होता है ? इस विषय में दर्शनों में मतभेद है, इसलिए ‘सर्व-पारिषद्-शास्त्र’ आयुर्वेद का मत आगे की पंक्तियों में दिया जा रहा है ।

आचार्य चरक के अनुसार—मन के साथ युक्त होकर इन्द्रियाँ अपने-अपने शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध का ग्रहण करती हैं । इसके बाद मन उन विषयों के गुण या दोष की विवेचना करता है । इस प्रकार मन जब चिन्तन, विचार, तर्क-वितर्क और संकल्प कर लेता है, तो उसके विषय में जो निश्चयात्मक बुद्धि होती है, वही ज्ञान है, वही उपलब्धि है । उसके बाद पुरुष बुद्धि (ज्ञान) पूर्वक बोलने या कार्य करने में प्रवृत्त होता है ।^५

१. स्वप्नानुभवस्यापि कस्यचित् सत्यत्वम् ।

—न्यायकुसुमाञ्जलि

२. बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम् ।

—तर्कसंग्रह

३. सांख्यतत्त्वकौमुदी ।

४. सान्तःकरणाबुद्धिः सर्वं विषयमवगाहते यस्मात् ।

तस्मात् त्रिविधं करणं द्वारि द्वाराणि शेषाणि ॥

एते प्रदीपकल्पाः परस्परविलक्षणाः गुणविशेषाः ।

कृत्स्नं पुरुषस्यार्थं प्रकाशय बुद्धौ प्रयच्छन्ति ॥

—सां. का. ३५-३६

५. इन्द्रियेणन्द्रियार्थो हि समनस्केन गृह्यते ।

कल्प्यते मनसा तूर्ध्वं गुणतो दोषतोऽथवा ॥

इन्द्रिय-भेद से प्रत्यक्ष के भेद

जिस-जिस इन्द्रिय का आश्रय करके जो-जो प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, उस-उस इन्द्रिय के नाम से उस-उस ज्ञान का निर्देश होता है। जैसे—चक्षुज्ञान, नासाज्ञान, श्रोत्रज्ञान आदि। एवं मन के द्वारा प्राप्त ज्ञान को मनोबुद्धि कहा जाता है। इस प्रकार प्रत्यक्ष के ६ प्रकार का विवेचन हुआ।^१

इन्द्रियसन्निकर्ष के भेद^२

आत्मा, मन, इन्द्रियाँ और अर्थों के सन्निकर्ष की विभिन्नता से बहुत प्रकार के ज्ञान (बुद्धिबहुत्व) होते हैं। सुख-दुःखादि कार्यभेद, इन्द्रियभेद तथा अर्थभेद और उनसे होने वाले प्रभावभेद से नाना प्रकार के ज्ञान होते हैं। ज्ञान की अनेकता (बुद्धि-बहुत्व) को समझाने के लिए आचार्य चरक ने वीणा का उदाहरण दिया है—“जिस प्रकार अंगुलियों और वीणा के तन्तुओं के सन्निकर्ष के परिणामस्वरूप बहुत से स्वर उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार मन से संयुक्त पाँच इन्द्रियों के साथ उन इन्द्रियों के अर्थों का संयोग होने से विविध ज्ञान उत्पन्न होते हैं।^३ एवञ्च उनसे होने वाले सुख-दुःख, हर्ष-शोक आदि अनेक प्रकार के प्रभाव मनुष्यों पर पड़ते हैं।”

विविध यन्त्रादि की सहायता द्वारा प्रत्यक्षप्रमाण का विस्तार

ज्ञानेन्द्रियों द्वारा जिन शब्द, स्पर्श, रूप, रस आदि का ज्ञान नहीं किया जा सकता था, आज वह सब ज्ञान यान्त्रिक सुविधाओं के उपलब्ध होने से संभव हो गया है। चिकित्सा-विज्ञान के क्षेत्र में इन नैदानिक यन्त्रों की उपलब्धि ने प्रगति का मार्ग प्रशस्त कर दिया है। शरीर के तापमान को सहज ही ‘थर्मामीटर’ से देख लेते हैं। ‘स्टेथिस्कोप’ से हृदय और फुफुस के शब्दों को सुन लेते हैं। ‘रक्तभारमापक यन्त्र’ से रक्तचाप की परीक्षा कर ली जाती है। ‘अणुवीक्षण यन्त्र’ से अदृश्य कीटाणु अथवा अन्य वस्तुओं का निरीक्षण कर लेते हैं।

जायते विषये तत्र या बुद्धिर्निश्चयात्मिका ।

व्यवस्यति तथा वक्तुं कर्तुं वा बुद्धिपूर्वकम् ॥ —च. शा. १।२२-२३

१. या यदिन्द्रियमाश्रित्य जन्तोर्बुद्धिः प्रवर्तते ।

याति सा तेन निर्देशं, मनसा च मनोभवा ॥ —च. शा. १।३२

२. भेदात् कार्येन्द्रियार्थानां बह्व्यो वै बुद्धयः स्मृताः ।

आत्मेन्द्रियमनोऽर्थानामेकैका सन्निकर्षजाः ॥ —च. शा. १।३३

३. अङ्गुल्यङ्गुष्ठतलजस्तन्त्रीवीणानखोद्भवः ।

दृष्टः शब्दो यथा बुद्धिर्दृष्टा संयोगजा तथा ॥ —च. शा. १।३४

नेत्र-ज्योति-विस्तार के लिए विविध 'तालयन्त्र' (चश्मे) और बधिर व्यक्तियों के लिए श्रवण-शक्तिवर्धक यन्त्र उपलब्ध हैं । प्रकाश-विस्तार और ध्वनि-विस्तार सुगम हो गया है । विद्युत उपकरणों से स्वेदन आदि का प्रयोग सुगम हो गया है ।

शरीर के आन्तरिक अवयवों के चित्र (एक्स-रे) से अनेक जटिल समस्याओं का समाधान हो गया है । यन्त्रों की सहायता से अक्षम हृदय भी सक्षम कर दिया जाता है । अनेक वस्तुओं के गुरुत्व का परीक्षण तदर्थ बने यन्त्रों से कर लिया जाता है । रुग्ण व्यक्तियों की शारीरिक स्थिति के अनुसार अनेक प्रकार की शय्याएँ और कुर्सियाँ सुलभ हैं । चिकित्सालयों में प्रयोग के लिए, स्वच्छता, विसंक्रमण और वायु-शुद्धि के लिए यन्त्रों की सहायता उपलब्ध है ।

इस प्रकार प्रगति की ओर वर्धमान दृष्टिकोण के विस्तार से अब नग्न नेत्रों द्वारा अदृश्यमान वस्तुएँ सुगमतापूर्वक दृश्य हो गई हैं । शब्द आदि के श्रवण-यन्त्रों के आविष्कार से बहरे सुनने लग गये हैं; मूक, पंगु, बधिर और अन्धों को पुनर्जीवन प्रदान करने में सक्षम यन्त्रों के आविष्कार किये गये हैं और उत्तरोत्तर अपंग जनों को भी कृत्रिम अवयवों के सहारे कार्य-क्षम बनाने का प्रयास चल रहा है ।

विशेषकर चिकित्सा-जगत् में नव-नव यन्त्रों के आविष्कार ने प्रत्यक्ष ज्ञान की सीमा का अधिकाधिक विस्तार किया है, जिससे उज्ज्वल भविष्य की आशा की जाती है । इन अधुनातन उपकरणों के प्रयोग ज्ञान से अपने को परिचित कराना प्रत्येक चिकित्सक के लिए नितान्त उपयोगी और व्यवहार्य है ।

षष्ठ अध्याय

अनुमानप्रमाण-विज्ञान

अनुमान का स्वरूप

(Inference)

अनुमान एक महत्त्वपूर्ण प्रमाण है। इस प्रमाण से भूत-भविष्य और वर्तमान इन तीनों कालों के विषयों का ज्ञान होता है।^१ जैसे—(१) गर्भ को देखकर भूतकाल में किये गये मैथुन का अनुमान किया जाता है; (२) बीज के बोने से फल वाले वृक्ष की उत्पत्ति का होना देखकर, किसी बीज के बोने पर बीज के अनुकूल फल होगा, ऐसा भविष्यकालीन फलोत्पत्ति का अनुमान किया जाता है; एवं (३) लगातार उठते हुए धुएँ की पंक्ति को देखकर 'वहाँ अग्नि है', ऐसा वर्तमान-कालीन अनुमान किया जाता है। इस प्रकार तीनों कालों में अनुमान का किया जाना सिद्ध होता है। साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिए कि पूर्व में प्रत्यक्ष किये गये विषय का ही अनुमान होता है अर्थात् 'अनु' का अर्थ है—पश्चात् और 'मान' का अर्थ है—ज्ञान।

किसी चिह्न को देखकर उसके आधार पर जो बात प्रकट नहीं है, उसको भी जान लेना अनुमान है।^२

रोगों के निदान में बहुत-सी बातें अनुमान से जानी जाती हैं। जैसे—पाचन-शक्ति से अग्नि की समता, मन्दता, तीक्ष्णता अथवा विषमता का ज्ञान होता है। व्यायाम-शक्ति से बल का, शब्द-श्रवण से श्रोत्र का, चिन्तन-विचार आदि से मन का, द्रोह से क्रोध का, दीनता से शोक का, विषाद से भय का,

१. प्रत्यक्षपूर्वं त्रिविधं त्रिकालं चानुमीयते ।

वह्निर्निगूढो धूमेन मैथुनं गर्भदर्शनात् ॥

एवं व्यवस्यन्त्यतीतं बीजात्फलमनागतम् ।

दृष्ट्वा बीजात्फलं जातमिहैव सदृशं बुधाः ॥

—चरक. सूत्र. ११।२१-२२

२. अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः ।

—न्यायदर्शन १।१।४०

अनुमानं खलु तर्को युक्त्यपेक्ष्यः ।

—चरक. वि. ४।४

स्मरण से स्मृति का, अभिप्राय से श्रद्धा का, अभ्यास से शील का और प्रति-
षेध से द्वेष का अनुमान होता है।^१ किसी स्थान में अन्तःप्रविष्ट (प्रनष्ट)
शल्य का अनुमान उस स्थान की वेदना, गर्मी या पाक से किया जाता है।^२
अन्तःप्रविष्ट शल्य के स्थान पर जमा हुआ घी या चन्दन का लेप लगाने से
घी पिघल जाता है और चन्दन सूख जाता है, जिससे उस स्थान में शल्य होने
का अनुमान होता है।^३

‘कार्य-कारण भाव को युक्तिपूर्वक जानकर किसी अज्ञात विषय का ज्ञान
करना अनुमान कहलाता है।’ जैसे—घर में अग्नि और धुएँ को एक साथ
देखकर अग्नि और धुएँ के कार्य-कारण भाव को समझकर पर्वत पर धुआँ
देखने पर कार्य-कारण का स्मरण करके अदृष्ट अग्नि का ज्ञान कर लेना
‘अनुमान’ है।

अनुमान का लक्षण

जिससे अनुमिति की जाती है, उसे अनुमान कहते हैं।^४ लिङ्ग के परामर्श
से अनुमिति की जाती है, इसलिए लिङ्गपरामर्श ही अनुमान है^५ (जैसे—
लिङ्ग के ज्ञान से उस लिङ्ग को धारण करने वाली वस्तु (लिङ्गी) का ज्ञान=
पर्वत में धुएँ को देखकर पर्वत में अग्नि की सत्ता का ज्ञान लिङ्गपरामर्श है।
जिससे कोई वस्तु जानी जाये, उसे लिङ्ग कहते हैं^६—जैसे धुआँ अग्नि का
लिङ्ग है, क्योंकि ‘जहाँ-जहाँ धुआँ रहता है वहाँ-वहाँ अग्नि है’ इस धुएँ और
अग्नि के साहचर्य (व्याप्ति) का ज्ञान होने पर ही पर्वत में देखा हुआ धूम

१. इमे तु खल्वन्येऽप्येवमेव भूयोऽनुमानज्ञेया भवन्ति भावाः । तद्यथा—
अग्निं जरणशक्त्या, बलं व्यायामशक्त्या, श्रोत्रादीनि शब्दाद्यर्थग्रहणेन, मनोऽ-
र्थव्यभिचरणेन, विज्ञानं व्यवसायेन, रजः सङ्गेन, मोहमविज्ञानेन, क्रोधमभि-
द्रोहेण, शोकं दैन्येन, हर्षमामोदेन, प्रीतिं तोषेण, भयं विषादेन, धैर्यमविषादेन,
‘‘‘स्मृतिमभिप्रायेण, शीलमनुशीलनेन, द्वेषं प्रतिषेधेन’’’॥ —चरक. वि. ४।८

२. तत्र त्वक्प्रनष्टे शल्ये स्मिग्धस्विन्नायां त्वचि यत्र संरम्भो वेदना वा
भवति, तत्र शल्यं विजानीयात् । —सुश्रुत. सूत्र. २६।१२

३. स्त्यानघृतमृच्चन्दनकल्कैर्वा प्रदिग्धायां (त्वचि) शल्योष्मणाऽऽविसरति
घृतमुपशुष्यति वा लेपो यत्र-तत्र शल्यं विजानीयात् । —सुश्रुत. सूत्र. २६।१२

४. येन अनुमीयते तदनुमानम् ।

—तर्कभाषा

५. लिङ्गपरामर्शेनाऽनुमीयतेऽतो लिङ्गपरामर्शोऽनुमानम् ।

—तर्कभाषा

६. व्याप्तिबलेनार्थगमकं लिङ्गम् ।

—तर्कभाषा

अग्नि का अनुमान कराता है। एवं अग्नि और धूम के साहचर्य ज्ञान के साथ 'पर्वत में अग्नि से व्याप्य (साथ रहने वाला) धूम है' यह परामर्श होता है। बाद में लिङ्गपरामर्श से यह ज्ञान होता है कि 'पर्वत अग्नियुक्त है, क्योंकि इसमें धुआँ दिखाई देता है' यही अनुमान है।

अनुमान के पहले दो सीढ़ी हैं और तीसरी सीढ़ी पर अनुमान होता है। जैसे—(१) जब कोई व्यक्ति रसोई-घर में बार-बार यह देखता है, कि 'जहाँ धुआँ है वहाँ अग्नि है', तब उसे यह निश्चय होता है कि 'जहाँ-जहाँ धुआँ है, वहाँ-वहाँ अग्नि है' (यत्र-यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निः) यह अनुमान की पहली सीढ़ी है। बाद में (२) जब वह पर्वत के शिखर से लगातार उठती हुई धुएँ को पङ्क्ति देखता है, तो उसे धुएँ और अग्नि के साहचर्य-नियम (व्याप्ति) का स्मरण हो आता है, यह दूसरी सीढ़ी है। तदनन्तर (३) पर्वत पर धुएँ के लिङ्ग को देखकर 'पर्वत में अग्नि व्याप्य धूम है' इस तरह परामर्श करता है फिर यह 'लिङ्गपरामर्श' ही अनुमिति का साधकतम कारण (करण) है एवं लिङ्गपरामर्श ही अनुमान की तीसरी सीढ़ी है।

तर्कसंग्रह के अनुसार अनुमान का लक्षण—अनुमिति का करण (साधकतम कारण) 'अनुमान' है। परामर्शजन्य ज्ञान 'अनुमिति' है। व्याप्तिविशिष्ट पक्षधर्मता ज्ञान 'परामर्श' है। जैसे—'यह पर्वत वह्निव्याप्य धूमवान् है' यह ज्ञान परामर्श है। जहाँ-जहाँ धूम है वहाँ-वहाँ अग्नि है, यह साहचर्य नियम 'व्याप्ति' है। व्याप्य का पर्वत आदि में रहना पक्षधर्मता है।^२

व्याप्ति

व्याप्ति का लक्षण (अविनाभावसम्बन्ध)—जहाँ-जहाँ धूम है वहाँ वहाँ अग्नि है, इस साहचर्य नियम को 'व्याप्ति' कहते हैं। दूसरे शब्दों में स्वाभाविक सम्बन्ध को व्याप्ति कहते हैं। जैसे कोई व्यक्ति रसोई घर में बार-बार धुएँ को देखकर वहाँ अग्नि को भी देखता है, इसलिए वह धूम और अग्नि के साहचर्य को बार-बार देखकर धूम और अग्नि के स्वाभाविक संबन्ध

१. अयमेव लिङ्गपरामर्शः, अनुमिति प्रति करणत्वाच्च अनुमानम् ।

—तर्कभाषा

२. अनुमितिकरणमनुमानम् । परामर्शजन्यं ज्ञानमनुमितिः, यथा वह्नि-व्याप्यधूमवानयं पर्वत इति ज्ञानम् । 'यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निरिति साह-चर्यनियमो व्याप्तिः ।' व्याप्यस्य पर्वतादिवृत्तित्वं पक्षधर्मता । —तर्कसंग्रह

का निश्चय कर लेता है, कि 'जहाँ-जहाँ धूम है वहाँ-वहाँ अग्नि है' इसे ही व्याप्ति कहते हैं। व्याप्ति को अविनाभावसम्बन्ध^२ भी कहते हैं।

व्याप्ति के भेद—व्याप्ति के दो भेद होते हैं—(१) अन्वयव्याप्ति और (२) व्यतिरेकव्याप्ति।

(१) **अन्वयव्याप्ति**—जैसे—'जहाँ-जहाँ धुआँ है वहाँ-वहाँ अग्नि है' इसे अन्वयव्याप्ति कहते हैं। रसोई-घर में धूम और अग्नि इन दोनों की उपस्थिति होने से इसे 'अन्वयव्याप्ति'^३ कहा जाता है।

अन्वयव्याप्ति की परिभाषा—'हेतु में साध्य के अव्यभिचरित साहचर्य को अन्वयव्याप्ति कहते हैं।' जैसे—'पर्वतो वल्लिमान् धूमवत्त्वात्' यहाँ पर्वत का अग्नियुक्त होना साध्य है और धूमवत्त्व हेतु है। इस प्रकार धूम में अग्नि का अनिवार्य रूप से अस्तित्व का होना अन्वयव्याप्ति है।

(२) **व्यतिरेकव्याप्ति**^४—'जहाँ-जहाँ अग्नि नहीं है, वहाँ-वहाँ धूम भी नहीं है' जैसे—जलाशय में, क्योंकि जलाशय में अग्नि और धूम दोनों का अभाव है।

परिभाषा—साध्याभाव में हेत्वभाव का जो अव्यभिचरित साहचर्य होता है, उसे 'व्यतिरेकव्याप्ति' कहते हैं। जैसे—'यत्राग्निरनास्ति तत्र धूमोऽपि नास्ति' यथा—महाह्वदे। यह व्यतिरेकव्याप्ति है। यहाँ साध्य (अग्नि का न होना) का अभाव जलाशय में है, तो हेतु 'धूमवत्त्व' का भी उसमें निश्चितरूप से अभाव है।

१. प्रथमं तावन्महानसादौ भूयो भूयो धूमं पश्यन् वल्लि पश्यति, तेन भूयो दर्शनेन धूमाग्न्योः स्वाभाविकं सम्बन्धमवधारयति 'यत्र धूमस्तत्राग्निरिति।' धूमाग्न्योः स्वाभाविक एव सम्बन्धः, स्वाभाविकश्च सम्बन्धो व्याप्तिः।

—तर्कभाषा

२. जो वस्तु जहाँ जिसके बिना न रह सके, उन दोनों का सम्बन्ध परस्पर 'अविनाभावसम्बन्ध' कहलाता है—धूम का अस्तित्व तभी है जब कि अग्नि का अस्तित्व है, क्योंकि अग्नि के बिना धुएँ का अस्तित्व नहीं हो सकता।

३. यत्र यत्र धूमवत्त्वं तत्र तत्र अग्निमत्त्वं यथा—महानसे, इति अन्वय-व्याप्तिः, महानसे धूमाग्न्योरन्वयसद्भावात्।

—तर्कभाषा

४. यत्राग्निरनास्ति तत्र धूमोऽपि नास्ति यथा—महाह्वदे, इति इयं व्यतिरेकव्याप्तिः, महाह्वदे धूमाग्न्योर्व्यतिरेकस्य सद्भावदर्शनात्।

—तर्कभाषा

पक्ष, सपक्ष और विपक्ष^१

जिसमें 'साध्य' के होने का सन्देह हो, उसे 'पक्ष' कहते हैं। जैसे—पर्वत पक्ष है, क्योंकि पर्वत में धूम के वर्तमान होने से साध्य अग्नि के होने का सन्देह होता है।

जहाँ साध्य वस्तु का होना निश्चित हो, वह 'सपक्ष' होता है। जैसे—रसोई-घर (महानस) सपक्ष है, क्योंकि उसमें साध्य अग्नि का अस्तित्व निश्चित है।

जिसमें साध्य का अभाव होना निश्चित हो, उसे 'विपक्ष' कहते हैं। जैसे—जलाशय, क्योंकि उसमें साध्य (अग्नि) का अभाव निश्चित है।

पक्षधर्मता^२—व्याप्य (जिस वस्तु के साथ कोई वस्तु सदा ही रहती हो) का पर्वत आदि किसी स्थान पर वर्तमान होना 'पक्षधर्मता' कहलाता है। जैसे—'पर्वत में वह्निव्याप्य धूम है' इसमें पर्वत पक्ष है और उसमें वह्निव्याप्य धूम का होना 'धर्मपक्षता' है।

परामर्श^३—'जहाँ-जहाँ धूम है वहाँ-वहाँ अग्नि है' इस व्याप्ति के स्मरण के साथ-साथ 'पर्वत में वह्निव्याप्य धूम है' इस तरह पर्वत में धूम का ज्ञान 'परामर्श' कहलाता है।

करणम्^४—असाधारणकारण का नाम करण है।

कारणम्^५—जो अन्यथासिद्धि से शून्य हो और कार्य से पूर्व निश्चय ही वर्तमान रहता हो, उसे कारण कहते हैं।^६ जैसे—मिट्टी घट का कारण है, क्योंकि घट-निर्माण के पूर्व मिट्टी अवश्यमेव रहती है एवं मिट्टी घट का उपादान कारण है।

१. सन्दिग्धसाध्यवान् 'पक्षः', यथा—धूमानुमाने पर्वतः 'पक्षः'। निश्चित-साध्यवान् 'सपक्षः', यथा—धूमानुमाने महानसः सपक्षः। निश्चितसाध्या-भाववान् 'विपक्षः', यथा—जलाशयः।

२. व्याप्यस्य पर्वतादिवृत्तित्वं 'पक्षधर्मता'।

३. व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानं 'परामर्शः'।

४. असाधारणं कारणं करणम्।

५. कार्यनियतपूर्ववृत्ति कारणम्।

—सभी उद्धरण, तर्कसंग्रह

६. अन्यथासिद्धि शून्यस्य नियतं पूर्ववर्तिता।

कारणत्वं भवेत्तस्य त्रैविध्यं परिकीर्तितम् ॥ —कारिकावली १६

अन्यथासिद्धिशून्यत्वे सति कार्याव्यवहितप्राक्क्षणावच्छेदेन नियमेन वर्तमानत्वं कारणत्वम्।

साध्य और हेतु—जिस वस्तु को सिद्ध करना हो, उसे 'साध्य' कहते हैं। जिसके द्वारा साध्य को सिद्ध किया जाय, उसे 'हेतु' कहा जाता है। जैसे—पर्वत में धूम दिखाई देता है, इसलिए पर्वत वह्निमान् है 'पर्वतो वह्निमान् धूमवत्त्वात्' इस वाक्य में साध्य है—अग्नि और हेतु है—धूम। साध्य का दूसरा नाम है—व्यापक और हेतु के नाम हैं—व्याप्य, साधन तथा लिङ्ग।

अनुमान के भेद^१

अनुमान दो प्रकार का होता है—(१) स्वार्थानुमान और (२) परार्थानुमान।

(१) **स्वार्थानुमान^२**—पक्ष (पर्वत) में हेतु (धूम) को देखने से स्वयं की जानकारी के लिए साध्य का अनुमान करना 'स्वार्थानुमान' कहलाता है। जैसे—कोई मनुष्य स्वयं रसोई-घर (महानस) आदि में बार-बार धूम और अग्नि को साथ-साथ देखकर 'जहाँ-जहाँ धूम है वहाँ-वहाँ अग्नि है' इस ज्ञान का निश्चय करके पर्वत के समीप गया और वहाँ धूम को लगातार निकलते देखकर पर्वत में अग्नि होने का सन्देह करने लगा, फिर धूम की अटूट शृङ्खला को देखने पर उसे धूम और अग्नि के साहचर्य-नियम (व्याप्ति) का स्मरण जाग्रत हो उठा। उसके बाद वह सोचने लगा, कि यहाँ भी धूम है, इसलिए इस पर्वत में भी अग्नि है' यह उसका स्वयं का ज्ञान 'स्वार्थानुमान' कहलाता है।

(२) **परार्थानुमानम्^३**—जब कोई व्यक्ति स्वयं धूम से अग्नि का अनुमान कर दूसरे को समझाने के लिए पञ्चावयव अनुमान-वाक्य का प्रयोग करता है, तो उसे 'परार्थानुमान' कहते हैं। जैसे—(१) पर्वत वह्निमान् है (प्रतिज्ञा);

१. अनुमानं द्विविधं—स्वार्थं परार्थं च।

—तर्कभाषा

२. स्वार्थं स्वानुमिति हेतुः। तथा हि—स्वयमेव भूयोदर्शनेन यत्र धूमस्तत्राग्निरिति महानसादौ व्याप्तिं गृहीत्वा पर्वतसमीपं गतः, तद्गते चाग्नौ सन्दिहानः पर्वते धूमं पश्यन् व्याप्तिं स्मरति—यत्र धूमस्तत्राग्निरिति। तदनन्तरं 'वह्निव्याप्य धूमवानयं पर्वतः' इति ज्ञानमुत्पद्यते। अयमेव लिङ्गपरामर्श इत्युच्यते। तस्मात् पर्वतो वह्निमान् इति अनुमितिरुत्पद्यते। तदेतत्स्वार्थानुमानम्।

—तर्कसंग्रह

३. यत्तु स्वयं धूमादग्निमनुमाय परं प्रतिबोधयितुं पञ्चावयववाक्यं प्रयुङ्क्ते तत्परार्थानुमानम्। यथा—पर्वतो वह्निमान् धूमवत्त्वात्। यो यो धूमवान् स स वह्निमान्, यथा—महानसम्, तथा चायम्। तस्मात्तथा इति। अनेन वाक्येन प्रतिपादितालिङ्गात् परोऽप्यग्निं प्रतिपद्यते।

—तर्कसंग्रह

(२) क्योंकि इससे धूम उठ रहा है (हेतु); (३) जो-जो धूमवाला होता है, वह-वह अग्निवाला अवश्य होता है । जैसे—रसोईघर (दृष्टान्त); (४) यह पर्वत भी धूमवाला है (उपनय); अतः (५) यह वह्निमान् है (निगमन)—इन पाँच वाक्यों के सुनने से श्रोता को (वह्निव्याप्य धूमवाला यह पर्वत है, ऐसा) 'परामर्श' होकर जो (यह पर्वत वह्निमान् है, ऐसा) अनुमान होता है, वह परार्थानुमान कहलाता है ।

विमर्श—नैयायिकों के मत से पूर्वोक्त पञ्चावयवों के द्वारा परार्थानुमान (Demonstrative inferencce or Syllgism) का पूर्ण ज्ञान हो जाता है । जिस श्रोता को इनके द्वारा समझाना अभीष्ट होता है, वह श्रोता असन्दिग्ध रूप से विषय-वस्तु को समझ लेता है । तार्किक विद्वान् इस बारे में अपना कुछ अलग मत रखते हैं और उनका कहना है कि इन पञ्चावयवों की संख्या घटायी जा सकती है । जैसे—प्रतिज्ञा (Enunciation) और निगमन (Conclusion) में कोई वास्तविक भेद नहीं है, क्योंकि दोनों में एक ही बात को दुहराया जाता है । उपनय (Application of the general rule to the particular case) और हेतु (Reasion) को अलग-अलग मानने में भी कोई औचित्य नहीं है । क्योंकि व्याप्तिज्ञान (Generalization) हो जाने पर इनका कोई महत्त्व नहीं रहता ।

इस प्रकार १. प्रतिज्ञा, २. हेतु और ३. व्याप्ति यह तीन ही अवयववाक्य (Parts of Syllgism) रह जाते हैं । निगमन का प्रतिज्ञा में तथा उपनय और उदाहरण (दृष्टान्त) का व्याप्ति में अन्तर्भाव हो जाता है । इसीलिए उत्तरकालीन तर्कशास्त्री इन्हीं तीन अवयववाक्यों से अनुमान की सिद्धि का सिद्धान्त मानने लगे और वे इन तीन प्रतिज्ञा, हेतु और व्याप्तिज्ञान को परार्थानुमान की सिद्धि के लिए पूर्णतः समर्थ मानते हुए प्रतीत होते हैं ।

ये तीन अवयववाक्य पाश्चात्य तर्कशास्त्रियों के 'कन्क्लुजन' (Conclusion) 'माइनर प्रेमिस' (Minor Premise) और 'मेजर प्रेमिस' (Major Premise) से मिलते-जुलते हैं । किन्तु इनके क्रम में भिन्नता है । भारतीय न्यायशास्त्र में पहले प्रतिज्ञा, तब हेतु और बाद में उदाहरण का नाम आता है । जब कि पाश्चात्य तर्कशास्त्र में पहले मेजर प्रेमिस (जो व्याप्ति के समान है) तब माइनर प्रेमिस (जो हेतु के समान है) और अन्त में कन्क्लुजन (जो प्रतिज्ञा के समान है) का स्थान रखा गया है ।

अनुमान के पञ्चावयव—(१) प्रतिज्ञा (२) हेतु (३) उदाहरण

(४) उपनय और (५) निगमन—ये पाँच अनुमान के अवयव या पञ्चावयव कहे जाते हैं ।^१

(१) प्रतिज्ञा—साध्य का निर्देश करना 'प्रतिज्ञा' है ।

(२) हेतु—साध्य को जिसके द्वारा सिद्ध किया जाता है, उसे 'हेतु' कहते हैं ।

(३) उदाहरण और उसके भेद—विद्वान् या मूर्ख दोनों को समान रूप से समझ में आ जाय, ऐसे लोकप्रसिद्ध दृष्टान्त को उदाहरण कहते हैं, जो साधर्म्य-दृष्टान्त और वैधर्म्य-दृष्टान्त भेद से दो प्रकार का होता है ।^२ प्रथम उदाहरण—धूमवत्त्व हेतु का महानस है और दूसरे का (धूमवत्त्व हेतु का) जलाशय है ।

(४) उपनय—उदाहरण के अनुसार साध्य का समर्थन करना 'उपनय' कहलाता है ।

(५) निगमन—हेतु प्रदर्शित कर प्रतिज्ञा को दुहरा देना 'निगमन' है । जैसे—

(१) पुरुष नित्य है—यह प्रतिज्ञा है ।

(२) क्योंकि वह कृत (बनाया हुआ) नहीं है—यह हेतु है ।

(३) जैसे—आकाश कृत नहीं है और वह नित्य है—यह दृष्टान्त है ।

(४) जैसे—आकाश अकृतक है वैसे पुरुष भी अकृतक है—यह उपनय है ।

(५) इसलिए पुरुष नित्य है—यह निगमन है ।

पञ्चावयव वाक्यों का महत्त्व—किसी विषय के निर्णय करने में उसे बुद्धिगम्य सरल सुबोध शैली के माध्यम से प्रमाणों द्वारा पुष्ट करना पड़ता है । जैसे किसी 'वाद' में सर्वप्रथम सिद्धान्त की स्थापना की प्रतिज्ञा की जाती है । अनन्तर उसे हेतु, दृष्टान्त, उपनय और निगमन के द्वारा स्पष्ट रूप से समझाया जाता है । प्रतिज्ञा की स्थापना के बिना वाद-विवाद का निर्णय नहीं हो सकता, इसलिए पहले 'पक्ष' की प्रतिज्ञा का उल्लेख होता है । फिर युक्ति-युक्त ढंग से हेतु (Reason) प्रदर्शित कर उसकी (प्रतिज्ञा की) पुष्टि की

१. प्रतिज्ञाहेतुउदाहरणोपनयनिगमानि पञ्चावयवाः ।

—तर्कसंग्रह

साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा । उदाहरणसाधर्म्यात् साध्यसाधनं हेतुः । लौकिकपरीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः । उदाहरणापेक्षस्तथेत्युपनयः । हेत्वपदेशात् प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनम् ।

—न्यायदर्शन

२. दृष्टान्तो द्विविधः । एक साधर्म्यदृष्टान्तः द्वितीयस्तु वैधर्म्यदृष्टान्तः । यथा—धूमवत्त्वस्य हेतोर्महाह्लादः ।

—तर्कभाषा

जाती है। संभव है इतने पर भी श्रोता की शङ्का शान्त न हो पावे, तो फिर उदाहरण देकर उसे सन्तुष्ट करना होता है। सन्देह को हटाने के लिए की हुई 'प्रतिज्ञा' का हेतुओं के साथ सम्बन्ध स्थापित करते हुए यह चेष्टा करनी चाहिए, कि श्रोता स्थापित 'प्रतिज्ञा' को सही-सही समझ ले। कदाचित् श्रोता को फिर भी कहीं संशय बना रह जाय, तो उसके संशय का निराकरण करने के लिए 'उपनय' का सहारा लिया जाता है। यानी जिस साध्य को विचार-विमर्श के द्वारा सिद्ध किया जा रहा था, उसे व्यवहार द्वारा (by application) समझाते हैं।

उपनय के द्वारा साधक और साध्य के समवायसम्बन्ध को परिचित उदाहरणों के द्वारा बतला देने पर असन्दिग्ध रूप से प्रतिज्ञा की सिद्धि हो जाती है। 'निगमन' के द्वारा यह कहना अभीष्ट होता है, कि अब की हुई प्रतिज्ञा की सत्यता में कोई सन्देह नहीं रह गया है। 'निगमन' इन पञ्चावयवों की आत्मा है।

इस तरह किसी तथ्य को त्रिविध बुद्धि के व्यक्तियों के समझने लायक शैली में स्पष्ट करना इन पञ्चावयवों के प्रयोग के बिना संभव नहीं है। जब इनका प्रयोग करके वस्तु का प्रतिपादन किया जाता है, तो सन्देह रहित ढंग से वस्तु की जानकारी हो जाती है। अतः वस्तुतत्त्व के सुस्पष्ट अवबोध में इनका महान् योगदान है।

प्रकारान्तर से अनुमान के भेद

अनुमान प्रत्यक्षपूर्वक होता है। वह तीनों कालों में होता है। उसके तीन प्रकार होते हैं। लिङ्ग के दर्शन से लिङ्गी का ज्ञान होना अनुमान के प्रत्यक्ष-पूर्वकत्व को प्रमाणित करता है। वर्तमान, अतीत और भविष्य तीनों कालों में अनुमान होता है। जैसे—धूम को देखकर अदृश्य 'वर्तमान' बलि का अनुमान किया जाता है। गर्भ को देखकर 'अतीतकाल' में किये गये मैथुन का अनुमान होता है। इसी प्रकार बीज के सदृश ही फलोत्पत्ति का होना देखकर 'बीज से भविष्य में होने वाले' अनागत फल का अनुमान होता है।

अनुमान के तीन भेद होते हैं—(१) पूर्ववत् (२) शेषवत् और (३) सामान्यतो दृष्ट।

१. अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतो दृष्टम् ।

—न्यायदर्शन १।१।५

तत्पूर्वकं प्रत्यक्षपूर्वकम् । यत्र कारणेन कार्यमनुमीयते तत्पूर्ववत् । यथा मेघो-
न्नत्या वृष्टिरनुमीयते बीजाच्च फलम् । यत्र कार्येण कारणमनुमीयते तत् शेषवत्,

(१) पूर्ववत्—जहाँ कारण से कार्य का अनुमान किया जाता है, वहाँ 'पूर्ववत्' अनुमान होता है। जैसे—उमड़ते हुए बादल को देखकर वर्षा होने का अनुमान या बीज से तदनु रूप फल होने का अनुमान 'पूर्ववत्' अनुमान कहा जाता है। यह भविष्यत्कालीन फल का अनुमान कराता है।

(२) शेषवत्—जहाँ कार्य से कारण का अनुमान होता है, वहाँ 'शेषवत्' अनुमान होता है। जैसे—गर्भ को देखकर मैथुन का या फल को देखकर बीज का अनुमान करना 'शेषवत्' अनुमान कहा जाता है। इससे भूतकाल का ज्ञान होता है।

(३) सामान्यतो दृष्ट—कार्य और कारण से भिन्न अनुमान को 'सामान्यतो दृष्ट' अनुमान कहते हैं। जैसे—धूम से अग्नि का अनुमान सामान्यतो दृष्ट अनुमान है। यह वर्तमानकालीन ज्ञान कराता है।

हेतु का लक्षण

हेतु—उदाहरण की समानता से 'साध्य' को जिसके द्वारा सिद्ध किया जाय, उसे 'हेतु' कहते हैं।^१ व्यापक साध्य की उपलब्धि के कारण को हेतु कहते हैं।^२

हेतु के भेद

हेतु के भेद को समझने के लिए अन्वय और व्यतिरेक का जानना आवश्यक है।

अन्वय^३—एक के रहने पर दूसरे का भी निश्चित ही रहना 'अन्वय' है। जैसे—महानस (रसोईघर) में धूम है तो अग्नि भी है।

व्यतिरेक^४—एक के न रहने पर दूसरे का भी नहीं रहना 'व्यतिरेक' है। जैसे—जलाशय में अग्नि नहीं है तो धूम भी नहीं है।

यथा गर्भदर्शनात् मैथुनस्यानुमानम् । फलाद्वा बीजस्य । सामान्यतो दृष्टं कार्य-कारणभिन्नलिङ्गकम् । यथा धूमात् वह्नेरनुमानम् ।

—चरक. सूत्र. ११।२१, उपस्कारटीका ।

१. उदाहरणं साधर्म्यात् साध्यसाधनं हेतुः । —न्यायदर्शन १।१।३४

२. व्यापकस्य साध्यस्योपलब्धिकारणम् ।

—चरक. वि. ८।३३, चक्रपाणिटीका ।

पर्वतस्य वह्निमत्वं साध्यं धूमवत्वं हेतुः ।

—तर्कभाषा

३. तत्सत्त्वे तत्सत्त्वमन्वयः ।

—तर्कसंग्रह

४. तदभावे तदभावो व्यतिरेकः ।

—तर्कसंग्रह

हेतु तीन प्रकार का होता है—(१) अन्वयव्यतिरेकी (२) केवलान्वयी और (३) केवलव्यतिरेकी ।^१

(१) अन्वयव्यतिरेकी^२—जिस हेतु के साथ अन्वय और व्यतिरेक दोनों तरह की व्याप्ति हो, उसे 'अन्वयव्यतिरेकी' कहते हैं । जैसे—जहाँ-जहाँ धूम है वहाँ-वहाँ अग्नि है' जैसे—रसोईघर (महानस), यह 'अन्वयव्याप्ति' है । जहाँ अग्नि नहीं है वहाँ धूम नहीं है, जैसे—जलाशय, यह 'व्यतिरेकव्याप्ति' है । यहाँ धूमवत्त्व हेतु के साथ अन्वय और व्यतिरेक दोनों तरह को व्याप्ति होने से यह अन्वयव्यतिरेकी हेतु है ।

(२) केवलान्वयी^३—जिस हेतु के साथ केवल अन्वयव्याप्ति हो, वह 'केवलान्वयी' हेतु कहलाता है । जैसे—शब्द अभिधेय है, क्योंकि वह प्रमेय है । जो-जो प्रमेय होता है, वह-वह अभिधेय होता है । जैसे—घट शब्द प्रमेय है और वह अभिधेय होता है । यहाँ शब्द में अभिधेयत्व का साधक प्रमेयत्व हेतु केवलान्वयी है, क्योंकि जो-जो प्रमेय नहीं है वह-वह अभिधेय नहीं है, जैसे—अमुक । ऐसी व्यतिरेकव्याप्ति यहाँ नहीं है, क्योंकि संसार के सभी पदार्थ प्रमेय और अभिधेय दोनों ही हैं । ऐसा कोई उदाहरण नहीं है जो प्रमेय और अभिधेय न हो ।

(३) केवलव्यतिरेकी^४—जिस हेतु के साथ केवल व्यतिरेकव्याप्ति ही हो (अन्वयव्याप्ति न हो) उसका नाम 'केवलव्यतिरेकी' हेतु है । जैसे—पृथिवी और तत्त्वों (जलादि) से भिन्न है, क्योंकि इसका गुण गन्ध है । जो औरों से

१. लिङ्गं त्रिविधम्—अन्वयव्यतिरेकि, केवलान्वयि, केवलव्यतिरेकि चेति । —तर्कसंग्रह

२. अन्वयेन व्यतिरेकेण च व्याप्तिमदन्वयव्यतिरेकि । यथा—बह्वी साध्ये धूमवत्त्वम् । यत्र धूमस्तत्राग्निर्यथा महानसम्, इत्यन्वयव्याप्तिः । यत्र बह्विर्नास्ति तत्र धूमोऽपि नास्ति, यथा महाल्लह इति व्यतिरेकव्याप्तिः । —तर्कसंग्रह

३. अन्वयमात्रव्याप्तिकं केवलान्वयि । यथा घटोऽभिधेयः प्रमेयत्वात् पटवत् । अत्र प्रमेयत्वाभिधेयत्वयोर्व्यतिरेकव्याप्तिर्नास्ति सर्वस्य प्रमेयत्वाद-भिधेयत्वाच्च । —तर्कसंग्रह

४. व्यतिरेकमात्रव्याप्तिकं केवलव्यतिरेकि । यथा पृथिवीतरेभ्यो भिद्यते, गन्धवत्त्वात् । यदितरेभ्यो न भिद्यते न तद्गन्धवत् । यथा जलम् । न चेयं तथा । तस्मान्न तथेति । अत्र यद्गन्धवत्तदितरभिन्नमित्यन्वयदृष्टान्तो नास्ति, पृथिवी-मात्रस्य पक्षत्वात् । —तर्कसंग्रह

भिन्न नहीं, वह गन्धवाला भी नहीं, जैसे—जल । यहाँ पर इस प्रकार की अन्वयव्याप्ति—कि जो-जो गन्धवाला है वह वह औरों से भिन्न है—नहीं मिल सकती, क्योंकि पृथिवी के अतिरिक्त और कोई इस व्याप्ति का उदाहरण ही नहीं है । केवल पृथिवीतत्त्व ही ऐसा है, जिसका गुण गन्ध है ।

तीनों हेतुओं के सद्हेतुत्व पर विचार^१—इन तीनों (अन्वयव्यतिरेकी, केवलान्वयी और केवलव्यतिरेकी) हेतुओं में 'अन्वयव्यतिरेकी हेतु' पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षासत्त्व, अबाधितविषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्व' इन पाँच रूपों से युक्त होकर ही सद्हेतु होता है और अपने साध्य का साधन करता है । जैसे—अग्नि को सिद्ध करने वाला अन्वयव्यतिरेकी हेतु धूम के पर्वत में रहने के कारण पक्षसत्त्व से, महानस (रसोईघर) में रहने से सपक्षसत्त्व से, जलाशय में न रहने से विपक्षासत्त्व से, पक्ष में अपने विषय (साध्य) अग्नि के अभाव का दूसरे प्रमाण से निश्चय न होने के कारण अबाधितविषयत्व और अपने साध्य अग्नि के अभाव का साधक हेत्वन्तर के पक्ष में न रहने के कारण असत्प्रतिपक्षत्व से युक्त है । अतः वह सद्हेतु है तथा पर्वत में अग्नि को सिद्ध करता है ।

केवलान्वयी हेतु^२—यह विपक्षासत्त्व के अतिरिक्त उक्त चारों रूपों से युक्त होकर ही सद्हेतु होता है और साध्य को सिद्ध करता है, क्योंकि साध्याभाव की अप्रसिद्धि के कारण विपक्ष के न रहने से केवलान्वयी हेतु का विपक्ष में असत्त्व नहीं बन सकता है ।

केवलव्यतिरेकी हेतु^३—सपक्षसत्त्व के अतिरिक्त उक्त चार रूपों से युक्त होकर ही यह सद्हेतु होता है और अपने साध्य को सिद्ध करता है, क्योंकि पक्ष से अतिरिक्त में साध्य के न रहने के कारण सपक्ष के न रहने से केवलव्यतिरेकी हेतु का सपक्ष में सत्त्व नहीं हो सकता है ।

१. त्रयाणां मध्ये यो हेतुरन्वयव्यतिरेकी स पञ्चरूपोपपन्न एव स्वसाध्यं साधयितुं क्षमते । न त्वेकेनापि हीनः । तानि पञ्चरूपाणि तु पक्षधर्मत्वं, सपक्षे सत्त्वं विपक्षाद् व्यावृत्तिः अबाधितविषयत्वं असत्प्रतिपक्षत्वं चेति । —तर्कभाषा

२. केवलान्वयी चतुरूपोपपन्न एव स्वसाध्यं साधयति, तस्य हि विपक्षाद् व्यावृत्तिर्नास्ति विपक्षासत्त्वात् । —तर्कभाषा

३. केवलव्यतिरेकी च चतुरूपोपपन्न एव । तस्य हि सपक्षे सत्त्वं नास्ति सपक्षाभावात् । —तर्कभाषा

हेत्वाभासाः^१

पहले बताये हुए अन्वयव्यतिरेकी, केवलान्वयी और केवलव्यतिरेकी सत् (अच्छे) हेतु हैं, इनसे अन्य हेतु हेत्वाभास (असद्हेतु) हैं—

(१) सव्यभिचार (२) विरुद्ध (३) सत्प्रतिपक्ष (४) असिद्ध और (५) बाधित—ये पाँच हेत्वाभास हैं ।

(१) सव्यभिचार^२—इसका दूसरा नाम अनैकान्तिक है । दोनों पद समानार्थक हैं । व्यभिचार का अर्थ है—साध्य और हेतु का नियत साहचर्य न होना (जो कि अपने साध्य के साथ सर्वदा वर्तमान न रहे) । अनैकान्तिक—एकान्त का अर्थ है—नियत और अनैकान्तिक का अर्थ है—नियत न रहने वाला । जैसे—‘शब्द नित्य है’ स्पर्श का अभाव होने से । जहाँ-जहाँ अस्पर्श का अभाव अर्थात् स्पर्श है वहाँ-वहाँ अनित्यत्व है । जैसे—मिट्टी का घड़ा । इस अनुमान में स्पर्श का अभाव हेतु अनैकान्तिक है, क्योंकि ‘परमाणु’ स्पर्शगुण युक्त है तथा नित्य है । इसके विपरीत बुद्धि स्पर्शहीन है साथ ही अनित्य भी है । इस प्रकार चूँकि हेतु साध्य और साध्याभाव दोनों के साथ विद्यमान है । अतः आंशिक रूप से ही साध्य का सहचारी है, नियतरूप से (एकान्ततः) साध्य का सहचारी नहीं है । फलतः इस हेतु को अनैकान्तिक (सव्यभिचार) कहते हैं ।

सव्यभिचार तीन प्रकार का होता है—(क) साधारण, (ख) असाधारण और (ग) अनुपसंहारी ।

(क) साधारण^३—जो हेतु इतना साधारण (व्यापक) हो कि पक्ष, सपक्ष, और विपक्ष तीनों में रहे, उसे साधारण अनैकान्तिक कहते हैं । जैसे—शब्द नित्य है, क्योंकि वह प्रमेय है जैसे—आकाश । यहाँ प्रमेयत्व हेतु सर्वत्र (पक्ष, सपक्ष और विपक्ष में) रहने के कारण साधारण अनैकान्तिक है ।

(ख) असाधारण^४—यह साधारण से सर्वथा विपरीत है । यह सपक्ष

१. सव्यभिचार विरुद्धसत्प्रतिपक्षासिद्धबाधिताः पञ्च हेत्वाभासाः ।

—तर्कसंग्रह

२. सव्यभिचारोऽनैकान्तिकः । स त्रिविधः—साधारण-असाधारण-अनुप-संहारिभेदात् ।

—तर्कसंग्रह

३. साध्याभाववद्बुद्धिः साधारणोऽनैकान्तिकः । यथा—पर्वतो बल्लिमान् प्रमेयत्वादिति, प्रमेयस्य बल्लिभाववति ह्रदे विद्यमानत्वात् ।

—तर्कसंग्रह

४. सर्वसपक्षविपक्षव्यावृत्तिः पक्षमात्रवृत्तिः असाधारणः, यथा शब्दो नित्यः शब्दत्वादिति । शब्दत्वं सर्वेभ्यो नित्येभ्योऽनित्येभ्यो व्यावृत्तं शब्दमात्रवृत्तिः ।

—तर्कसंग्रह

या विपक्ष से नहीं रहकर केवल पक्ष में ही रहता है। साधारण व्यापक क्षेत्र में रहता है और यह संकुचित क्षेत्र में रहता है। इसलिए साधारण से विपरीत होने के कारण इसे 'असाधारण' कहा जाता है। जैसे—शब्द नित्य है, क्योंकि उसमें शब्दत्व है। इस अनुमान में प्रयुक्त शब्दत्व हेतु केवल शब्द में अर्थात् पक्ष में ही रहता है। यहाँ नित्य आकाश और आत्मा को सपक्ष तथा अनित्य घट और पट आदि को विपक्ष कहा जा सकता है, किन्तु यह शब्दत्व हेतु न तो आकाश या आत्मा (सपक्ष) के साथ रहता है, न ही घट और पट (विपक्ष) के साथ रहता है, एवं पक्षमात्र में होने से न तो सपक्षसत्त्व है न विपक्षसत्त्व है। अतः इसे 'असाधारण' हेत्वाभास कहते हैं।

(ग) अनुपसंहारी—यह हेतु उदाहरण न होने से उदाहरणसापेक्ष नहीं होता। इस हेतु के साथ न कोई अन्वय का दृष्टान्त होता है न व्यतिरेक का। अतः 'यह ऐसा है' या 'यह ऐसा नहीं है' इस प्रकार का उपसंहारात्मक उपनय न होने से इसे 'अनुपसंहारी' हेत्वाभास कहा जाता है। जैसे—'सब कुछ' अनित्य है प्रमेय होने के कारण। यहाँ 'सब कुछ' जब पक्ष हो गया तो सपक्ष या विपक्ष का दृष्टान्त नहीं मिल सकता।

सव्यभिचार हेत्वाभासों के परस्पर भेद—साधारण—इसका क्षेत्र व्यापक होता है, यह पक्ष, सपक्ष एवं विपक्ष तीनों में रहता है। असाधारण—इसका क्षेत्र संकुचित होता है, यह केवल पक्ष में रहता है। अनुपसंहारी—इसमें पक्ष सर्वव्यापी रहता है।

(२) विरुद्ध—जिस हेतु के साथ उसके साध्य का अभाव हो, वह हेतु 'विरुद्ध' कहलाता है। जैसे—'शब्द नित्य है' क्योंकि वह उत्पन्न होता है, जैसे—आत्मा। यहाँ 'उत्पन्न होना' हेतु विरुद्धहेतु है क्योंकि जो-जो जन्य होता है वह-वह अनित्य है, इसलिए जन्य नित्य नहीं हो सकता।

(३) सत्प्रतिपक्ष—साध्यविपरीत साधक हेत्वन्तर को 'प्रतिपक्ष'^३ कहते हैं। जिसमें प्रतिपक्ष (विरोधी हेतु) हो उसे 'सत्प्रतिपक्ष'^४ कहा जाता है। एवं प्रतिज्ञात अर्थ के विपरीत अर्थ का ज्ञापक हेतु जहाँ वर्तमान हो, उसे 'सत्प्रति-

१. अन्वयव्यतिरेकदृष्टान्तरहितोऽनुपसंहारी, यथा—सर्वमनित्यं प्रमेयत्वात् इति। अत्र सर्वस्यापि पक्षत्वात् दृष्टान्तो नास्ति। —तर्कसंग्रह

२. साध्याभावव्याप्ति हेतुविरुद्धः। यथा—शब्दोऽनित्यः कृतकत्वात् इति। कृतकत्वं हि नित्यत्वाभावेनानित्यत्वेन व्याप्तम्। —तर्कसंग्रह

३. प्रतिज्ञातार्थविपरीतज्ञापकहेतुः प्रतिपक्षः। —तर्कसंग्रह

४. प्रतिज्ञातार्थविपरीतार्थज्ञापकहेतुमान् हेतुः सत्प्रतिपक्षः। —तर्कसंग्रह

पक्ष' कहा जाता है अर्थात् जिस हेतु के मुकाबले में एक ऐसा हेतु वर्तमान हो, जो कि उसके साध्य के अभाव को सिद्ध करता हो, उसे 'सत्प्रतिपक्ष'^१ कहते हैं। जैसे—शब्द नित्य है, क्योंकि नित्यत्वबोधक धर्मसहित है, जैसे—आकाश। इस अनुमान में यदि ऐसा कहा जाय कि शब्द अनित्य है, क्योंकि वह कार्य है जैसे—घट, तो नित्यत्वबोधकधर्मसहितत्व हेतु सत्प्रतिपक्ष होगा। इसी को 'प्रकरणसम' भी कहते हैं।

(४) असिद्ध—जो हेतु स्वयं ही असिद्ध हो, उसे 'असिद्ध' कहते हैं। असिद्ध के तीन भेद होते हैं^२—(क) आश्रयासिद्ध, (ख) स्वरूपासिद्ध और (ग) व्याप्यत्वासिद्ध।

(क) आश्रयासिद्ध^३—जिस हेतु से साध्य का अनुमान करना हो, वह स्वयं मौजूद न हो, तो वह हेतु 'आश्रयासिद्ध' कहलाता है। जैसे—“गगनकमल सुगन्धवाला है, क्योंकि वह कमल है। जैसे—तालाब का कमल।” यहाँ पर गगनकमल अनुमान का आश्रय है और उसका स्वयं अस्तित्व नहीं है, इसलिए यह आश्रयासिद्ध है।

(ख) स्वरूपासिद्ध^४—पक्ष में जिस हेतु का अभाव हो, वह हेतु 'स्वरूपासिद्ध' है। जैसे—“शब्द गुण है, क्योंकि वह आँखों द्वारा दिखाई देता है।” यहाँ पर शब्द में आँख द्वारा दिखाई देने का गुण ही नहीं है, क्योंकि शब्द तो कान से सुनाई पड़ता है, न कि आँखों से देखा जाता है।

(ग) व्याप्यत्वासिद्ध—उपाधियुक्त हेतु का नाम 'व्याप्यत्वासिद्ध' है।^५ उपाधि—जो साध्य का व्यापक हो, किन्तु साधन का व्यापक न हो, उसे

१. यस्य साध्याभावसाधकं हेत्वन्तरं विद्यते स सत्प्रतिपक्षः। यथा—
शब्दो नित्यः श्रावणत्वात् शब्दत्ववदिति। शब्दोऽनित्यः कार्यत्वादघटवदिति।

—तर्कसंग्रह

२. असिद्धस्त्रिविधः—आश्रयासिद्धः स्वरूपासिद्धो व्याप्यत्वासिद्धश्चेति।

३. आश्रयासिद्धो यथा—गगनारविन्दं सुरभि सरोजारविन्दवत्। अत्र गगनारविन्दमाश्रयः स च नास्त्येव।

—तर्कसंग्रह

४. स्वरूपासिद्धो यथा—शब्दोऽनित्यश्चाक्षुषत्वाद् रूपवत्। अत्र चाक्षुषत्वं पक्षे नास्ति, शब्दस्य श्रावणत्वात्।

—तर्कसंग्रह

५. सोपाधिको हेतुर्व्याप्यत्वासिद्धः। साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वमुपाधिः। साध्यसमानाधिकरणात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वं साध्यव्यापकत्वम्। साधनवन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं साधनाव्यापकत्वम्। यथा पर्वतो बह्निमान् धूमवत्वादित्यत्राद्रन्धनसंयोग उपाधिः। तथाहि—यत्र धूमस्तत्राद्रन्धनसंयोग

‘उपाधि’ कहते हैं। जैसे—निषिद्धत्व। शास्त्रनिषिद्धत्व पापसाधनत्व का व्यापक है, क्योंकि जहाँ-जहाँ पापसाधनत्व है वहाँ-वहाँ शास्त्रनिषिद्धत्व है, जैसे—असत्यभाषण में। एवं शास्त्रनिषिद्धत्व हिंसात्व का अव्यापक है, क्योंकि जहाँ-जहाँ हिंसात्व है वहाँ-वहाँ शास्त्रनिषिद्धत्व नहीं है, जैसे—यज्ञीय पशु-हिंसा में, ‘वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति’। अतः शास्त्र-निषिद्धत्व उपाधि होने से हिंसात्व व्याप्यकत्वासिद्ध ही है।

(५) बाधित—पक्ष में जिस हेतु के साध्य का अभाव प्रत्यक्षादि प्रमाणों से निश्चित हो, वह हेतु ‘बाधित’ कहलाता है। जैसे—अग्नि अनुष्ण है (आग गरम नहीं है) क्योंकि वह द्रव्य है। यहाँ पर गरम न होना साध्य है और उसका अभाव (गरम होना) स्पर्श द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान से सिद्ध है। अतः इस साध्य को सिद्ध करने के लिए दिया गया हेतु ‘बाधित’ है।

तर्क

तर्क का स्वरूप—तर्क स्वतन्त्र प्रमाण नहीं है, अपितु वह प्रमाणों के लिए धरातल बनाता है। वह प्रमाणों का अनुग्राहक है। तर्क निर्णय नहीं लेता है। वह किसी बात में ‘ऐसा होना चाहिए’ इतना ही कह सकता है। तर्क परोक्ष ज्ञान नहीं है। आचार्य चरक ने युक्ति की अपेक्षा करने वाले तर्क को अनुमान कहा है और उसकी टीका में चक्रपाणि ने ‘अविनाभावज परोक्षज्ञान को अनुमान कहते हैं’ ऐसा अर्थ किया है।^१ किसी वस्तु के यथार्थ ज्ञान करने में तर्क अप्रत्यक्ष रूप से सहायक होता है। तर्क यथार्थज्ञान के लिए किया हुआ विचार है। किसी प्रश्न के अनुकूल और प्रतिकूल सब पक्षों का प्रमाणों के साथ विचार तर्क-व्यापार से होता है। इस प्रकार तर्क स्वयं प्रमाण नहीं है, किन्तु प्रमाणानुकूल तथा प्रमाणों का अनुग्राहक विचार व्यापार है।

इति साध्यव्यापकता, यत्र बल्लिस्तत्राद्रन्धनसंयोग इति नास्त्ययोगोलक आद्रन्धनसंयोगाभावादिति साधनाव्यापकता। एवं साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वादाद्रन्धनसंयोग उपाधिः। सोपाधिकत्वादबल्लिमतं व्याप्यत्वासिद्धम्।

—तर्कसंग्रह

१. यस्य साध्याभावः प्रमाणान्तरेण निश्चितः स बाधितः। यथा—बल्लिरनुष्णो द्रव्यत्वादिति। अत्रानुष्णत्वं साध्यं, तदभाव उष्णत्वं स्पर्शनप्रत्यक्षेण गृह्यत इति बाधितत्वम्।

—तर्कसंग्रह

२. अनुमानं खलु तर्को युक्त्यपेक्षः।—च. वि. ४।४, मूल तथा चक्रपाणि।

तर्क का महत्व—मनुष्य-जन्म की सफलता पुरुषार्थों (धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष) की उपलब्धि में निहित है । इन पुरुषार्थों के वास्तविक स्वरूपज्ञान के लिए 'प्रमाण-प्रमेयादि'^१ का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है । इनके ज्ञान का साधन तर्कशास्त्र है । 'तर्कशास्त्र' के तीन^२ उद्देश्य बतलाये गये हैं—(१) उद्देश (२) लक्षण और (३) परीक्षा । उद्देश का अर्थ है—वस्तु का नाम बतलाना । लक्षण का अर्थ है—वस्तुओं के असाधारण धर्म को बतलाना । जैसे—गाय का लक्षण है—'सास्नादिमत्त्व' अर्थात् गले में लटकती हुई चौड़ी मांसल त्वचा आदि का होना । एवं कही हुई वस्तु का जो लक्षण किया गया है वह सही (उपपन्न) है या नहीं, इस विचार करने की प्रक्रिया को परीक्षा कहते हैं ।

भौतिक या आध्यात्मिक सभी क्षेत्रों में उद्देश, लक्षण और परीक्षा की आवश्यकता पड़ती है । कहाँ क्या रहस्य है ? इसका सही-सही ज्ञान कराना ही तर्कशास्त्र का उद्देश्य है । जीवन के शास्त्रीय या व्यावहारिक सभी प्रसङ्गों में तर्क का महत्वपूर्ण स्थान है ।^३ तर्क से प्रतिभा का स्फुरण होता है । प्रमाणों की मान्यता सभी शास्त्रों में है और व्यवहार में भी उनकी महती उपयोगिता है । प्रमाणों का अनुग्राहक तर्क होता है । इसलिए तर्क का महत्व स्पष्ट है । अयथार्थ को यथार्थज्ञान की कसौटी पर कसने वाला तर्क ही होता है । अतः प्रत्येक दृष्टि से विचार करने पर तर्क एक बहुत उपयोगी विचारात्मक ज्ञान सिद्ध होता है ।

तर्क का लक्षण—“यथार्थ रूप में न जानी हुई किसी वस्तु के तत्त्व को सही-सही समझने के लिए कारण और उपपत्तिपूर्व ऊहापोह (विचार-विमर्श) करना 'तर्क'^४ कहलाता है ।” ऊहापोह एक प्रकार का विचारात्मक ज्ञान है । जब कि सन्दिग्ध विषय का निर्णय करने के लिए गुण-दोष का विचार कर परस्पर विरुद्ध दिशा में मन जाता है, तो जो विचार किसी एक दिशा में मन को ले जाता है, वह 'ऊह'^५ है । जैसे—गेहूँ के खेत में दूर से देखने पर जब

१. प्रमाण-प्रमेय-संशय-प्रयोजन-दृष्टान्त-सिद्धान्त-अवयव-तर्क-निर्णय-वाद-जल्प-वितण्डा-हेत्वाभास-छल-जाति-निग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः ।

—गौतमन्यायसूत्र १।१।१

२. त्रिविधा चास्य शास्त्रस्य प्रवृत्तिः—उद्देशो, लक्षणं, परीक्षा चेति ।

—तर्कभाषा

३. आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना ।

यस्तर्कज्ञानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः ॥ —मनु० १२।१०६ ।

४. अविज्ञाततत्त्वैर्धर्मैः कारणोपपत्तिस्तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः ।

—न्यायसूत्र १।१।४०

५. 'सप्तपदार्थी' (लेखक—शिवादित्य; पृष्ठ ६८) ।

एक ऊँची आदमकद वस्तु दिखाई देती है, तो मन में विचार उठता है—कि 'खम्भा है या आदमी' फिर विचार करके जब एक निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि 'नहीं' यह खम्भा नहीं है, आदमी है। इस एक विचार की प्रबलता का हो जाना ही ऊह का विचारात्मक ज्ञान है। ऊह की दो कोटियों (सन्देहों) में एक अधिक प्रबल होती है जो कायम रहती है और दूसरी ढावाँडोल रहती है, जो दब जाती है। प्राचीन दर्शन-ग्रन्थों में लगभग समानार्थक ऊह और तर्क शब्दों का प्रयोग पाया जाता है। इन दोनों में एक सामान्यधर्म तो अवश्य दीखता है, और वह है—विचारात्मक-ज्ञान-व्यापार।

कुछ लोग तर्क का संशय में अन्तर्भाव मानते हैं, किन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि संशय में किसी पदार्थ में एक ही समय में अनेक तरह का भ्रम उत्पन्न होता है, जैसे—यह वृक्ष है, खम्भा है या मनुष्य है ? यहाँ तीन कोटियाँ (सन्देह) एक साथ हैं, जबकि तर्क में एक ही कोटि होती है। तर्क किसी एक कोटि पर टिक जाता है, कि 'यह वृक्ष या खम्भा नहीं है अपितु यह मनुष्य है' ।^१

इस प्रकार संशय और तर्क का अन्तर स्पष्ट है और संशय में तर्क का अन्तर्भाव कथमपि नहीं किया जा सकता है।

तर्क के भेद^२—तर्क पाँच प्रकार का होता है—(१) आत्माश्रय, (२) अन्योन्याश्रय, (३) चक्रक, (४) अनवस्था, (५) अन्यबाधितार्थप्रसङ्ग।

१. अत्र कश्चिदाह—'तर्कः संशय एवान्तर्भवति' इति तन्न, एककोटि-निश्चितविषयत्वात् तर्कस्य। —तर्कभाषा

२. तर्कः पञ्चविधः, आत्माश्रयान्योन्याश्रयचक्रकानवस्थातदन्यबाधितार्थ-प्रसङ्गभेदात्। तत्र—स्वस्य स्वापेक्षित्वेऽनिष्टप्रसङ्ग आत्माश्रयः। स च—उत्पत्ति-स्थितिज्ञप्तिद्वारा त्रेधा, यथा यद्ययं घट एतद्घटजन्यः, एतद्घटवृत्तिर्वा, एतद्घटज्ञानाभिन्नो वा स्यात्तर्हि—एतद्घटभिन्नः स्यादिति। एवं—तदपेक्ष्य-पेक्षित्वनिबन्धनोऽनिष्टप्रसङ्गोऽन्योन्याश्रयः। सोऽपि च पूर्ववत् त्रेधा। एवं—तदपेक्ष्यपेक्ष्यपेक्षित्वनिबन्धनोऽनिष्टप्रसङ्गश्चक्रकम्। तदपि च पूर्ववत् त्रिविधम्। एवम्—अव्यवस्थितपरम्परोपाधीनानिष्टप्रसङ्गोऽनवस्था। यथा—यदि घटत्वं घटजन्यव्याप्यं स्यात्तर्हि तत्कपालसमवेतत्वव्याप्यं न स्यादिति। एवं—धूमो यदि बह्निव्यभिचारी स्तात्तर्हि स बह्निजन्यो न स्यादित्यादिः, तदन्यबाधितार्थ-प्रसङ्ग इति बोध्यम्।

—तर्कभाषा की रुद्रधर भ्मा-कृत तत्त्वालोक संस्कृतटीका

संशय

एक ही स्थल में अनेक विरुद्ध धर्मों की उपस्थिति प्रतीत होवे, तो उसे 'संशय'^१ कहते हैं। जैसे—यह खम्भा है या पुरुष ?

जिज्ञासाजनक ज्ञान को 'संशय' कहते हैं।^२

संशय का लक्षण—किसी सन्दिग्ध विषय में अनेक धर्मों के होने से अनेक कोटिक जो ज्ञान होता है वह संशय है।^३ संशय अनिश्चयात्मक (ज्ञान) होता है। जैसे—यह देखने में आता है, कि आयुष्मान् के लक्षण से युक्त होने और चिकित्सा की समस्त सुविधाओं के मिलने पर भी कुछ लोग अल्प आयु में ही कालकवलित हो जाते हैं। इसके विपरीत कुछ लोग जो आयुष्मान् के लक्षणों से हीन हैं एवं उनकी चिकित्सा व्यवस्था भी ठीक नहीं है, फिर भी वे दीर्घ-जीवी हैं, इसलिए संशय होता है कि अकालमृत्यु होती है या कालमृत्यु।

संशय का स्वरूप—आत्मा, मन, इन्द्रिय और विषय के संयोग होने पर एक ही पदार्थ में अनेक धर्मों के रहने के कारण जब उसके यथार्थस्वरूप का निश्चय नहीं हो पाता, तब जो चित्तव्यापार काम करते हैं, उनका नाम 'संशय'^४ है। यह एक अपूर्ण ज्ञान है। जब तक पदार्थ का निश्चयात्मक ज्ञान नहीं होता, तब तक मन, 'यह होगा कि वह होगा' इस प्रकार की सन्देहावस्था में एक ओर से दूसरी ओर दोलायमान होता रहता है।

संशय के भेद—संशय तीन प्रकार का होता है—(१) समानधर्म-दर्शनजन्य, (२) विप्रतिपत्तिजन्य और (३) असाधारणधर्मजन्य।^५

(१) समानधर्मदर्शनजन्य—इसमें सामने वर्तमान एक वस्तु में वृक्षत्व निश्चायक कोटर आदि तथा पुरुषत्व निश्चायक हाथ, शिर आदि के नहीं देखने

१. एकस्मिन् धर्मिणि विरुद्धनानार्थाविमर्शः संशयः। एकत्र विरुद्धानेक-कोट्यवगाहि ज्ञानं संशयः। —तर्कभाषा

२. जिज्ञासाजनकं ज्ञानं संशयः।

३. संशयो नाम सन्देहलक्षणानुसन्दिग्धैर्वर्षेषु अनिश्चयः। यथा—दृष्टा ह्यायुष्मल्लक्षणोपेताश्चानुपेताश्च तथा सक्रियाश्चाक्रियाश्च पुरुषाः शीघ्रभङ्गाश्चिर-जीविनश्च, एतदुभयदृष्टत्वात् संशयः, किन्तु खल्वकालमृत्युरस्ति उत नास्तीति ?

—चरक. वि. ८।४३

४. समानानेकधर्मोपपत्तेर्विप्रतिपत्तेरुपलब्धनुपलब्धव्यवस्थातश्च विशेषा-पेक्षो विमर्शः संशयः।

—न्यायसूत्र १।१।२३

५. तर्कभाषा।

से और वृक्ष पुरुष समानधर्म ऊँचाई आदि के देखने से 'यह वृक्ष है या पुरुष है?' ऐसा संशय होता है।

(२) विप्रतिपत्तिजन्य—यहाँ एक व्यक्ति के 'शब्द नित्य है' ऐसे वाक्य तथा दूसरे व्यक्ति के 'शब्द अनित्य है' ऐसे वाक्य के सुनने से 'शब्द नित्य है या अनित्य है?' ऐसा संशय होता है।

(३) असाधारणधर्मजन्य—यह वह संशय है जिसमें कि पृथिवी मात्र में गन्ध के जानने से और उसमें नित्यत्व या अनित्यत्व के निश्चायक किसी विशेष के न दीखने से 'पृथिवी नित्य है या अनित्य है?' ऐसा संशय होता है।

भ्रान्ति, विपर्यय, मिथ्याज्ञान तथा विवर्तभाव

किसी वस्तु में (अपने स्वरूप में रहते हुए) दूसरी वस्तु के होने की प्रतीति होना भ्रान्ति या मिथ्याज्ञान कहलाता है। जैसे—शुक्ति में चाँदी का ज्ञान 'भ्रान्ति' है। जो पदार्थ जैसा है वैसा न दीख पड़े (मालूम पड़े), बल्कि दूसरा ही मालूम पड़े, जैसे—रस्सी, रस्सी न जान पड़े और उसे सर्प समझ लिया जाय, तो यह भ्रान्ति है। भ्रान्ति (मिथ्याज्ञान) प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों में ही होती है। प्रत्यक्षज्ञान यद्यपि संशयरहित एवं निश्चयात्मक कहा गया है, फिर भी यह मानना पड़ेगा कि प्रत्यक्षज्ञान में न्यूनता होने पर भ्रान्ति होती है, चाहे वह इन्द्रियप्रत्यक्ष हो या मानसप्रत्यक्ष हो। भ्रान्ति भी एक प्रकार का चित्तव्यापार है, किन्तु वह यथार्थ नहीं होता, इसलिए यथार्थज्ञान से भ्रान्ति का नाश हो जाता है, जैसे—चमकती सीप को हम चाँदी समझकर उठाते हैं, परन्तु हाथ में लेते ही जब हमें मालूम होता है, कि यह सीप है तो उसे फेंक देते हैं।

न्यायवार्तिक में एक सुन्दर प्रश्न उठाया गया है कि भ्रान्ति का आश्रय कौन है? विपरीतज्ञान कहाँ है? अर्थ में या ज्ञान में?

कुछ लोग कहते हैं, कि वस्तु का अर्थ बदल जाता है, इसलिए ज्ञान भी विपरीत होता है, किन्तु यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि अर्थ तो ज्यों का त्यों रहता है। मरुस्थल में सूर्य की स्पन्दमान किरणों को देखकर पानी का जो ज्ञान होता है, वहाँ इस ज्ञान के अर्थ (विषय) में कोई परिवर्तन नहीं होता। किरणें वैसी ही स्पन्दनशील रहती हैं, परन्तु उनका ज्ञान विपरीत होता है,

१. विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्।

—योगसूत्र १।८

अतस्मिस्तदिति प्रत्ययो विपर्ययः।

—प्रशस्तपादभाष्य

मिथ्याज्ञानं विपर्ययः, तथा शुक्ताविदं रजतमिति। —तर्कसंग्रह

२. वस्तुनः स्वरूपापरित्यागेन वस्तुवन्तरमिथ्याप्रतीतिभ्रमः।—वेदान्तसार

क्योंकि वहाँ पानी मौजूद नहीं है, जो दीखता है। एवं पानी है ही नहीं फिर भी उसकी प्रतीति होती है, क्योंकि नेत्रेन्द्रिय द्वारा उन किरणों को देखने से द्रष्टा को विपरीत ज्ञान होता है। इस प्रकार विपर्यय 'ज्ञान' में होता है न कि अर्थ में।^१

आयुर्वेद में अनुमान का सर्वाधिक प्रयोग और अनुमान का महत्त्व

आयुर्वेदशास्त्र में अनुमान को अन्य प्रमाणों की अपेक्षा बहुत अधिक महत्त्व दिया गया है, क्योंकि 'प्रत्यक्ष' जितना दिखाई देता है उससे बहुत अधिक परोक्ष है,^२ जिसका ज्ञान अनुमान से किया जाता है। जिन इन्द्रियों से प्रत्यक्षज्ञान होता है, वे इन्द्रियाँ स्वयं अप्रत्यक्ष हैं, जिन्हें अनुमान से जाना जाता है।

आयुर्वेद ने मुख्यतः प्रत्यक्ष, अनुमान और आत्मोपदेश इन तीन प्रमाणों को माना है। इनमें से प्रत्यक्षज्ञान की सीमा थोड़ी है और आत्मोपदेश भी सीमित क्षेत्र तक ही ज्ञान करा सकता है, क्योंकि अनन्त सृष्टि के पदार्थों का संपूर्णरूप से आत्मोपदेश संभव नहीं है, जैसा कि चरकसंहिता के सूत्रस्थान में पचास कषाय द्रव्यों का वर्णन करने के बाद कहा गया है^३—कि विस्तार का कोई अन्त नहीं है, और अतिसंक्षेप में किसी वस्तु को कहने से अल्प बुद्धिवाले वैद्यों को ज्ञान नहीं हो पाता। इसलिए न अतिसंक्षेप न अधिक विस्तार से इन कषायों का यहाँ उपदेश किया गया है। इतना किया गया उपदेश अल्पबुद्धि वाले वैद्यों को चिकित्सा में व्यवहार के लिए पर्याप्त है। बुद्धिमान् व्यक्तियों के लिए भी न बतायी गयी औषधियों की जानकारी के लिए यह वर्णन पर्याप्त है, क्योंकि वे अनुमान के द्वारा उनका ज्ञान प्राप्त कर लेंगे।

इस सन्दर्भ से यह स्पष्ट हो जाता है, कि मनीषियों ने बहुत पहले से अनुमान की महत्ता को हृदयङ्गम कर लिया था। एवं अनुमान ही एक प्रमाण है जिसके द्वारा प्रत्यक्ष और आत्मोपदेश की पहुँच के बाहर के विषयों का ज्ञान

१. न्यायवार्तिक १।१।४।

२. प्रत्यक्षं ह्यल्पमनल्पमप्रत्यक्षमस्ति, यदागमानुमानयुक्तिभिरुपलभ्यते।
यैरेव तावदिन्द्रियैः प्रत्यक्षमुपलभ्यते, तान्येव सन्ति चाप्रत्यक्षाणि।

—चरक० सू० ११।७

३. नहि विस्तरस्य प्रमाणमस्ति, न चाप्यतिसङ्क्षेपोऽल्पबुद्धीनां सामर्थ्यायोप-
कल्पते, तस्मादनतिसंक्षेपेणानतिविस्तरेण चोपदिष्टाः। एतावन्तो ह्यल्प-
बुद्धीनां व्यवहाराय, बुद्धिमतां च स्वालक्षण्यानुमानयुत्तिकुशलानामनुक्तार्थ-
ज्ञानायेति।

—चरक० सूत्र० ४।२०

प्राप्त किया जा सकता है। जैसे—ऋषभक, जीवक, जीवन्ती आदि द्रव्य स्निग्ध शीत, मधुर तथा वृष्य आदि गुणों से युक्त होने के नाते 'आयु' को बढ़ाते हैं, इसी प्रकार इनमें निहित गुणों से सम्पन्न इनके जैसे अन्य द्रव्य दूध, मुनक्का, विदारी कन्द आदि भी आयुष्य कहे जा सकते हैं; ऐसा अनुमान द्वारा जाना जाता है।

पुनर्जन्म के समर्थन में भी अनुमानप्रमाण^१ का प्रयोग किया गया है—जैसे, एक ही माता-पिता की सन्तानों की बुद्धि, वर्ण, स्वर, आकृति और भाग्य भिन्न प्रकार की होती है। अबोध बालकों का रोना, हँसना, डरना, स्तनपान करना, पूर्वजन्म के वृत्तान्त का स्मरण होना, समान कार्य करने पर भी किसी को अधिक लाभ, किसी को कम लाभ या हानि आदि देखने से यह अनुमान किया जाता है, कि अपने अपने किए हुए कर्मों के फलस्वरूप इस जन्म में पूर्वोक्त फलोपभोग प्राप्त होते हैं, उसी को दैव या भाग्य कहते हैं। यह भी अनुमान किया जाता है, कि इस जन्म में इस शरीर से जो शुभाशुभ कर्म किये जाते हैं उसका फल दूसरे जन्म में भोगना पड़ेगा, जैसे फल से बीज का अनुमान किया जाता है और बीज से फल का अनुमान किया जाता है।

रोगों के ज्ञान के लिए जिन तीन प्रमाणों (प्रत्यक्ष, अनुमान और आप्तोपदेश) का उल्लेख आचार्य चरक ने किया है, उनमें भी अनुमान का विशिष्ट स्थान और उपयोगिता प्रकट की गयी है, क्योंकि अनुमान के द्वारा गूढलिङ्ग (जिनका लक्षण रहस्यमय और अव्यक्त है) व्याधियों की परीक्षा की जाती है। अनुमान द्वारा जिन-जिन भावों को जाना जाता है, उनकी भी लम्बी सूची दी हुई है।^२

१. मात्रापित्रोर्विसदृशान्यपत्यानि, तुल्यसम्भवानां वर्णस्वराकृतिसत्त्वबुद्धि-भाग्यविशेषाः प्रवरावरकुलजन्म, दास्यैश्वर्यं, सुखासुखमायुः, आयुषो वैषम्यम्, इहाकृतस्यावाप्तिः, अशिक्षितानां च रुदितस्तनपानहासत्रासादीनां प्रवृत्तिः जातिस्मरणम्, कर्मसादृश्ये फलविशेषः, मेघा क्वचित् क्वचित् कर्मण्यमेघा लक्षणोत्पत्तिः, इहागमनमितश्च्युतानां च भूतानां, समदर्शने प्रियाप्रियत्वम्।

अतएवानुमीयते—यत् स्वकृतमपरिहार्यमविनाशि पौर्वदेहिकं दैवसंज्ञकमानु-बन्धिकं कर्म, तस्यैतत् फलम्, इतश्चान्यद्भवविष्यतीति फलाद्वीजमनुमीयते फलं च बीजात्।

—चरक० सूत्र० ११।३०-३१

२. इमे तु खल्वन्येऽप्येवमेव भूयोऽनुमानज्ञेया भवन्ति भावाः। तद्यथा—अग्निं जरणशक्त्या परीक्षेत, बलं व्यायामशक्त्या, श्रोत्रादीनि शब्दाद्यर्थग्रहणेन, मनोऽर्थाव्यभिचरणेन विज्ञानं व्यवसायेन, रजः सङ्गेन, मोहमविज्ञानेन, क्रोध-मभिद्रोहेण, शोकं दैन्येन, हर्षमामोदेन, प्रीतिं तोषेण, भयं विषादेन, धैर्यमवि-

इस कथन का तात्पर्य यह है, कि रोगी की अन्तरात्मा में छिपे भावों का ज्ञान अनुमान के ही द्वारा किया जाता है। अनुमान ही वह साधन है, जिससे रोगी के शारीरिक और मानसिक धरातल के सम्बन्ध में विस्तृत ज्ञानोपलब्धि की संभावनाएँ होती हैं। जब तक रोगी के बाह्य और आभ्यन्तर का यथावद् अध्ययन नहीं हो जाता, तब तक चिकित्सा के सिद्धान्तों का निर्णय नहीं हो पाता है।^१ विशेष कर रोगी के मन की गहराई के ज्ञान में अनुमान का विशेष महत्त्व माना जाता है।

इस प्रकार प्रत्यक्ष और आत्मोपदेश की अपेक्षा रोग-निदान के क्षेत्र में अनुमान की विशिष्ट भूमिका है। क्योंकि रोग और रोगी के निदान पर चिकित्सा की समस्त पृष्ठभूमि आधारित होती है और रोग-निदान की प्रक्रिया में अनुमान का योगदान महान् और विलक्षण है। दोष-दूष्यसम्मुखता, छह क्रियाकाल आदि में प्रत्यक्ष और आत्मोपदेश से काम चलना सम्भव नहीं है, जब तक कि अनुमान का सहारा न लिया जाय। अनुमान के बल पर ही हम स्वास्थ्य-रक्षा या व्याधिपरिमोक्ष कर्म में समर्थ हो पाते हैं, इसी अभिप्राय से आचार्य चरक ने यह कहा है कि 'सूत्र रूप में कही हुई बातों में ज्ञान का विशाल भण्डार पड़ा हुआ है, अतः विद्वानों को चाहिए, कि ऊहापोह और तर्क के द्वारा उस ज्ञान का विस्तार करें।' आयुर्वेद के सभी आचार्यों ने अनुमान को निदान और चिकित्सा के क्षेत्र में विशिष्ट महत्त्व दिया है और उसे त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम) का साधक कहा है।

षादेन, वीर्यमुत्थानेन, अवस्थानमविभ्रमेण, श्रद्धामभिप्रायेण, मेधां ग्रहणेन, संज्ञां नामग्रहणेन, स्मृतिं स्मरणेन, ह्रियमपत्रपणेन, शीलमनुशीलेन, द्वेषं प्रतिषेधेन, उपाधिमनुबन्धेन, धृतिमलौल्येन, वश्यतां विधेयतया, वयोभक्ति-सात्म्यव्याधिसमुत्थानानि कालदेशोपशयवेदनाविशेषेण, गूढलिङ्गं व्याधिमुप-शयानुपशयाभ्यां, दोषप्रमाणविशेषमपचारविशेषेण, आयुषः क्षयमरिष्टैः, उप-स्थितश्रेयस्त्वं कल्याणाभिनिवेशेन, अमलं सत्वमविकारेण। —चरक. वि. ४।८

१. आत्मतश्चोपदेशेन प्रत्यक्षकरणेन च।

अनुमानेन च व्याधीन् सम्यग्विद्याद्विचक्षणः ॥

सर्वथा सर्वमालोच्य यथासम्भवमर्थवित्।

अथाध्यवस्येत्तत्त्वे च कार्ये च तदनन्तरम् ॥ —चरक. वि. ४।९-१०

सप्तम अध्याय

युक्ति-अनुमान-आप्तोपदेश-प्रभृति-विज्ञान

युक्तिप्रमाण का लक्षण—“युक्ति उस बुद्धि को कहते हैं, जो बहुत से कारणों के एकत्र होने से उत्पन्न हुए भावों को देखती है अर्थात् उनका ज्ञान करती है।” युक्ति एक ऊह है, जिसके द्वारा कारण की उपस्थिति में हम कल्पना करते हैं, कि ‘ऐसा होना चाहिए’। युक्ति के द्वारा भूत, भविष्य और वर्तमान इन तीनों कालों के विषय का ज्ञान होता है।

“विज्ञात^२ अर्थ में कारण और उपपत्ति को देखकर अविज्ञात अर्थ में भी उसका अवधारण युक्ति कहलाता है।” युक्ति से धर्म, अर्थ और काम की प्राप्ति होती है।

युक्ति का उदाहरण^३—जिस प्रकार जोती हुयी जमीन में ऋतु के अनुकूल काल में बीज बोकर ठीक ढंग से उसे जल से सींचने पर अच्छी फसल उत्पन्न होती है, उसी प्रकार शुद्ध गर्भाशय में ऋतुकाल में शुक्र और आर्तव का संयोग होने पर गर्भ की उत्पत्ति होती है। यह युक्ति है। एवं मध्य (नीचे का काष्ठ) मध्यक (मथने वाला पुरुष) और मंथान (ऊपर घूमने वाला काष्ठ) के संयोग से जिस प्रकार अग्नि की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार युक्तियुक्त चतुष्पाद अर्थात्—गुणवान् वैद्य, गुणवान् द्रव्य, गुणवान् परिचारक और गुणवान् रोगी के संयोग से रोग की निवृत्ति और आरोग्य की प्राप्ति होती है।

प्रमाणान्तर से युक्तिप्रमाण का वैशिष्ट्य—आयुर्वेद ने भावरूप या अभावरूप सभी प्रकार के पदार्थों की परीक्षा के लिए प्रत्यक्ष, अनुमान,

१. बुद्धिः पश्यति या भावान् बहुकारणयोगजान् ।

युक्तिस्त्रिकाला सा ज्ञेया त्रिवर्गः साध्यते यया ॥ —च. सू. ११।२५

२. विज्ञाते अर्थे कारणोपपत्तिदर्शनात् अविज्ञातेऽपि तदवधारणं युक्तिः ।

—च. सू. ११।२२ पर उपस्कार टीका ।

३. जलकर्षणबीजर्तुसंयोगात् शस्यसम्भवः ।

युक्तिः षड्धातुसंयोगाद् गर्भाणां सम्भवस्तथा ।

मध्यमन्थनमन्थानसंयोगादग्निसम्भवः ।

युक्तियुक्ताचतुष्पादसम्पद् व्याधिनिवर्हणी । —च. सू. ११।२३-२४

आप्तोपदेश और युक्ति इन चार प्रमाणों को स्वीकार किया है।^१ आयुर्वेद का सम्बन्ध चिकित्स्य पुरुष से है जिसमें शरीर और मन दोनों का समावेश होता है। शारीरिक और मानसिक रोगों की चिकित्सा के लिए युक्तिप्रमाण के आधार पर ही रोगों का निदान और युक्ति-युक्त चिकित्सा की व्यवस्था की जा सकती है।

वस्तुतः 'युक्ति' प्रमाणान्तर नहीं है। यह अनुमानप्रमाण की अनुग्राहिका मात्र है। यह व्याप्ति रूप से अनुमान की सहायता करती है। इस प्रकार युक्ति का अन्तर्भाव अनुमान के अन्दर हो जाता है। अनुमान में युक्ति की अपेक्षा होती है। जैसे—युक्ति में उन-उन कारणों की विचारणा होती है और बहुकारणयोग से होने वाले फल को देखकर, अविज्ञात स्थल में भी उसी आधार पर कारणों की उपपत्ति देखकर आगामी परिणाम का निष्कर्ष जान लेते हैं। एवं व्याप्तिग्रह तथा पक्षधर्मता का ज्ञान होने पर, अनुमान होता है।

इस तरह युक्तिप्रमाण से रोगों के निदान तथा चिकित्सा में महत्त्वपूर्ण सहायता मिलती है, किंवा अनुमान से ज्ञेय विषयों के ज्ञान के लिए भी युक्ति की अपेक्षा विशिष्ट स्थान रखती है तथा युक्ति से बहुत-सी गूढ़ परिस्थितियों में भी चिकित्सा-कर्म में सफलता की उपलब्धि होती है।

युक्तिप्रमाण का आयुर्वेद में विशेष उपयोग—आयुर्वेद व्यावहारिक शास्त्र है और 'स्वस्थ के स्वास्थ्य की रक्षा तथा रोगी के रोग को दूर करना' इसके दो मुख्य लक्ष्य हैं। इन लक्ष्यों की सिद्धि के लिए जो भी उपाय अपनाये जाते हैं, उन उपायों के औचित्य की परीक्षा 'युक्ति' पर ही निर्भर है। जब किसी व्यक्ति को 'समदोष', समग्नि, समघातु, सममलक्रिय, प्रसन्नात्मा, प्रसन्नेन्द्रिय और प्रसन्न मन' बनाने की योजना करनी होती है, तो सर्वप्रथम उस स्थिति का ज्ञान करना अपेक्षित होता है जो दोष, अग्नि आदि की समता स्थापित करती है। जैसे—आहार मात्रा का, गुरु-लघु द्रव्य का, देश-काल का, व्यक्ति की प्रकृति का, ऋतु का, व्यक्ति के बल का, उसके अभ्यास का विचार करना आवश्यक होता है, तब उसके हित और अहित का विवेचन 'युक्ति' के द्वारा किया जाता है। एवं स्वस्थ पुरुष की दिनचर्या, रात्रिचर्या,

१. द्विविधमेव खलु सर्वं सञ्चासच्च । तस्य चतुर्विधा परीक्षा—प्रत्यक्ष-मनुमानमाप्तोपदेशः युक्तिश्चेति ।
—च. सू. ११।१७

२. समदोषः समग्निश्च समघातुमलक्रियः ।

प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते ॥

—सु. सू. १५।४४

ऋतुचर्या आदि का विधान 'युक्ति' पर ही आधारित है और युक्ति-युक्त ङंग से उन-उन नियमों का पालन करने से स्वास्थ्य की रक्षा की सारी सफलता 'युक्ति' पर निर्भर करती है।

ऋतुओं^१ में होने वाले दोषों के संचय, प्रकोप और प्रशम के अनुसार, 'युक्तिपूर्वक' दोष जन्य विकारों से बचने का उपदेश किया गया है, जिससे कालज शारीरिक रोग उत्पन्न ही न हों। उसी प्रकार मानस^२ रोगों से बचने के लिए रज और तम के दुर्गुणों से बचने का उपदेश भी 'युक्ति' पर ही आधारित है।

दूसरे प्रयोजन अर्थात् चिकित्सा में भी 'युक्ति' को सर्वप्रथम स्थान दिया गया है। चतुष्पाद^३ (भिषग्, द्रव्य, परिचारक और रोगी) भी जब 'युक्ति युक्त' होता है, तभी वह रोग को दूर करने में सफल हो पाता है। वैद्य को 'स्मृतिमान्'^४ हेतुज्ञ, युक्तिज्ञ, जितेन्द्रिय और प्रतिपत्तिमान् (जो रोग जिस युक्ति से दूर किया जा सके, उस युक्ति का ज्ञान होना) होना चाहिये, तभी वह रोगानुसार औषधियों का योग बनाकर सफलतापूर्वक चिकित्सा कर सकता है। केवल औषध द्रव्यों के ज्ञान से चिकित्सा सफल नहीं होती है, अपि तु रोगी के दोष आदि के सूक्ष्म विवेचन के साथ-साथ तदनुसार युक्तियुक्त^५

१. हैमन्तिकं दोषचयं वसन्ते प्रवाह्यन् ग्रैष्मिकमध्रकाले ।

घनात्यये वार्षिकमाशु सम्यक् प्राप्नोति रोगान् ऋतुजान्न जातु ॥

—च. शा. २।४५

२. नरो हिताहारविहारसेवी समीक्ष्यकारी विषयेष्वसक्तः ।

दाता समः सत्यपरः क्षमावान् आतोपसेवी च भवत्यरोगः ॥

मतिर्वचः कर्मसुखानुबन्धं सत्त्वं विधेयं विशदा च बुद्धिः ।

ज्ञानं तपस्तत्परता च योगे यस्यास्ति तं नानुपतन्ति रोगाः ॥

—च. शा. २।४६-४७

३. भिषग् द्रव्याण्युपस्थाता रोगी पादचतुष्टयम् ।

गुणवत्कारणं ज्ञेयं विकारव्युपशान्तये ॥

—च. सू. १।३

४. स्मृतिमान् हेतुयुक्तिज्ञो जिज्ञात्मा प्रतिपत्तिमान् ।

भिषगौषधसंयोगैश्चिकित्सां कर्तुमर्हन्ति ॥

—च. सू. २।३६

५. मात्राकालाश्रया युक्तिः सिद्धिर्युक्तौ प्रतिष्ठिता ।

तिष्ठत्युपरि युक्तिज्ञो द्रव्यज्ञानवतां सदा ॥

—च. सू. २।१६

'युक्तियुक्ता चतुष्पादसम्पद् व्याघ्रनिवहंणी ।'

—च. सू. १।१२४

चिकित्सा की व्यवस्था से ही रोग दूर किया जा सकता है। 'प्राणाभिसर'^१ वैद्य (जो जाते हुए प्राण को लौटा दें) के लक्षण में भी कहा गया है, कि चिकित्सक को 'युक्त' होना चाहिए। बिना ऊहपोह, तर्क-वितर्क के न रोगी के शारीरिक रोग का निदान किया जा सकता है, न मानसिक रोगों का निदान सम्भव है। इसलिए 'युक्तिपूर्वक' ज्ञानबुद्धि^२ के प्रदीप से रोगी की अन्तरात्मा की पहचान करने पर ही चिकित्सा सफल होती है। जिस चिकित्सक में विद्या^३, वितर्क, विज्ञान, स्मृति, तत्परता और क्रिया होती है वह चिकित्सा का अधिकारी है। एवं यह सब 'युक्ति' के साधक हैं अतः चिकित्सा युक्ति पर निर्भर है। इस प्रकार आयुर्वेद के दोनों ही प्रयोजनों की सफलता 'युक्ति' पर आधारीत होने से आयुर्वेद में युक्ति का पुनः पुनः निर्देश किया गया है। जिससे वैद्य 'सुयुक्त'^४ होकर सफलतापूर्वक चिकित्सा का कार्य कर सके। इस प्रकार आयुर्वेद में युक्ति प्रमाण की उपयोगिता स्पष्ट है।

युक्ति प्रमाण का अनुमान में अन्तर्भाव नहीं—'युक्ति' अनुमान प्रमाण में सहायिका है, क्योंकि युक्ति से व्याप्तिज्ञान होता है, तदनन्तर अनुमान होता है। जैसे—क्षेत्र का जोता जाना, उचित समय पर बीज बोना और ठीक से सींचे जाने पर अंकुर का उगना, बढ़ना और फसल का तैयार होना देखकर पुनः पुनः कर्षण, बीजवपन, सिंचन आदि कार्य करने पर अनुमान होता है, कि समय आने पर फसल तैयार होगी।

इस प्रक्रिया में फसल तैयार होने के लिए जितने भी कारण होने चाहिये, उन सबको व्यवस्थित देखकर जो 'फसल' होने का एक ऊह होता है, वही युक्ति है और युक्ति होने पर अनुमान होता है। एवं युक्ति अनुमान की अनुग्राहिका मात्र है।

दूसरी बात यह है, कि 'जब एक काष्ठ को किसी काष्ठ पर रखकर कोई पुरुष जोर से रगड़ता है, तो मध्य, मन्यन और मन्यान के संयोग से अग्नि

१. तस्माच्छास्त्रेऽयं विज्ञाने प्रवृत्तो कर्मदर्शने ।

मिषक् चतुष्टये युक्तः प्राणाभिसर उच्यते ॥

—च. सू. ९।१८

२. ज्ञानबुद्धिप्रदीपेन यो नाविशति तत्त्ववित् ।

आतुरस्यान्तरात्मानं न स रोगांश्चिकित्सति ॥

—च. वि. ४।११

३. विद्या वितर्को विज्ञानं स्मृतिस्तत्परता क्रिया ।

यस्यैते षड्गुणास्तस्य न साध्यमतिवर्तते ॥

—च. सू. ९।२१

४. शास्त्रं ज्योतिः प्रकाशार्थं दर्शनं बुद्धिरात्मनः ।

ताभ्यां मिषक् सुयुक्ताभ्यां चिकित्सन्नापराध्यति ॥

—च. सू. ९।२४

उत्पन्न होती है, यह ज्ञान जिस बुद्धि को प्राप्त होता है, उस बुद्धि को 'युक्ति' कहते हैं। यहाँ पर युक्ति का व्यापार प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय है, एवं प्रत्यक्षतः गृहीत होता है, किन्तु अनुमान में ऐसा नहीं है, क्योंकि अनुमान वहाँ होता है जहाँ सन्दिग्धावस्था होती है और 'युक्ति' के लिए 'सन्दिग्धावस्था' की अपेक्षा आवश्यक नहीं होती है। इसलिए भी युक्ति का अनुमान में अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता है।

इस विषय में आचार्य शान्तिरक्षित ने कहा है, कि "जिन कारणों की उपस्थिति में कार्य होता है और उन कारणों के बिखर जाने पर कार्य नहीं होता, यही युक्ति है। चरक मुनि ने युक्ति को प्रमाणान्तर (अनुमान से पृथक्) कहा है। युक्ति को अनुमान इसलिए भी नहीं मान सकते, क्योंकि अनुमान के जो पाँच अवयव (प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन) होते हैं, वे युक्ति में नहीं अपेक्षित होते हैं। युक्ति में दृष्टान्त नहीं होता है।" आचार्य कमलशील ने उक्त कथन की व्याख्या में बतलाया है, कि "उन-उन कारणों के रहने पर उन-उन कार्यों का होना देखकर, जो यह ज्ञान होता है, कि उन कारणों की उपस्थिति के कारण से ही वह कार्य सम्पन्न हो पाया' यही प्रतीति 'युक्ति' है। चूँकि यह सविकल्पक है, इसलिए प्रत्यक्ष नहीं माना जा सकता और दृष्टान्त न होने से इसे अनुमान भी नहीं माना जा सकता है।" अतः युक्ति प्रमाणान्तर होने से अनुमान में इसका अन्तर्भाव नहीं है।

उपमान विचार

किसी प्रसिद्ध वस्तु के सादृश्य से किसी अप्रसिद्ध वस्तु के सादृश्य का मिलान कर उस अप्रसिद्ध वस्तु का ज्ञान प्राप्त कर लेना 'उपमान'^२ कहलाता

१. 'यस्मिन् सति भवत्येव न भवत्यसतीति च ।

तस्मादतो भवत्येतद् युक्तिरेषाऽभिधीयते ॥

प्रमाणान्तरमेवेदमित्याह चरको मुनिः ।

नानुमानमियं यस्माद् दृष्टान्तोऽत्र न विद्यते ॥

एतच्छान्तिरक्षितवचनं कमलशीलेन व्याख्यातं—तद्भाव-भावित्वेन या तत्कार्यताप्रतीतिरियं युक्तिः। इदं च सविकल्पकत्वान्न प्रत्यक्षं, नाप्यनुमानं दृष्टान्ताभावात्। तथाहि—दृष्टान्तोऽप्यत एव तद्भावभावित्वात् तत्कार्यता-प्रतिपत्तिः, तत्रापि दृष्टान्तोऽन्वेषणीयः, तत्राप्यपर-इत्यनवस्था स्यात्। तस्मात् प्रमाणान्तरं युक्तिः।

—चरक. सूत्र. ११।२५ पर चक्रपाणि टीका

२. औपम्यं नाम यदन्येन अन्यस्य सादृश्यमधिकृत्य प्रकाशनम्। यथा—दण्डेन दण्डकस्य, धनुषा धनुःस्तम्भस्य इष्वासेन आरोग्यदस्येति।

(चरक. वि. ८।४२)

है। जैसे—दण्ड को देखकर, शरीर को दण्ड की तरह अकड़कर स्तब्ध बना देने वाले 'दण्डक' रोग का और धनुष को देखकर शरीर को धनुषाकार बना देने वाले 'धनुःस्तम्भ' का ज्ञान होता है।

इसी प्रकार किसी सफल 'धनुर्धर' को देखकर आरोग्य प्रदान करने वाले कुशल वैद्य का प्रकाशन 'उपमान' द्वारा किया जाता है। 'जिस प्रकार एक अभ्यस्त धनुर्धर तीर मारकर अपने लक्ष्य के भेदन में कभी असफल नहीं होता, उसी प्रकार कुशल, वैद्यगुणयुक्त तथा अपने चिकित्सा के उपकरणों से समन्वित चिकित्सक किसी साध्यरोग को ठीक करने में कभी असफल नहीं होता है।'

प्रसिद्ध सादृश्य के बल पर जहाँ संज्ञा तथा संज्ञी का सम्बन्ध स्थापित किया जाता है, उसे 'उपमान'^२ कहते हैं। नाम और नामी में रहने वाले 'नामनामीभाव' सम्बन्ध के ज्ञान को उपमिति कहते हैं और उस उपमिति के करण (अतिदेशवाक्यार्थस्मरणसहकृतसादृश्य-वैलक्षण्यान्तरवस्तुज्ञान) को उपमान कहते हैं।^३

'गौ के सदृश गवय (घड़रोज-नीलगाय) होता है' इस सादृश्य प्रतिपादक वाक्य का स्मरण करके 'गवय' को देखकर गोसादृश्य का अनुभव होने पर जो 'गवय' का ज्ञान होता है, यही उपमान है। उपमान में दो तत्त्व होते हैं—(१) एक तो सादृश्य प्रतिपादक वाक्य का स्मरण और (२) दूसरा सादृश्य का ज्ञान होना।

उपमान के भेद—उपमान के दो भेद होते हैं—(१) साधर्म्योपमान और (२) वैधर्म्योपमान।

(१) **साधर्म्योपमान**—जो ज्ञान सादृश्यनिश्चय से होता है, उसे 'साधर्म्योपमान' कहते हैं। जैसे—गवय को नहीं जानने वाला कोई व्यक्ति किसी दूसरे से 'गौ के सदृश गवय होता है' ऐसा सुनने के बाद वन में जाकर 'गौ के सदृश गवय होता है' इस वाक्य के अर्थ का स्मरण करता हुआ

१. यथा हि योगज्ञोऽभ्यासनित्यः इष्वासः धनुरादाय इधुमस्यन् नाति-
विप्रकृष्टे महति काये नापराधवान् भवति, सम्पादयति चेष्टकार्यम्, तथा भिषक्
स्वगुणसम्पन्न उपकरणवान् वीक्ष्य कर्मरिभमाणः साध्यरोगमनपराधः सम्पादयत्ये-
वातुरमारोग्येण। (अत्र इष्वासस्य सादृश्येन आरोग्यदस्य वैद्यस्य ज्ञापनम्)।

—चरक सूत्र. १०।५

२. प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम्।

—न्यायदर्शन १।१।६

३. अतिदेशवाक्यार्थस्मरणसहकृतं गोसादृश्यविशिष्टपिण्डज्ञानमुपमानम्।

—तर्कभाषा

गोसदृश शरीर को देखकर जो यह ज्ञान करता है, कि 'यही गवय है' उस ज्ञान को साधर्म्योपमान कहते हैं।

(२) वैधर्म्योपमान—जो ज्ञान विलक्षणता के निश्चय से होता है, उसे 'वैधर्म्योपमान' कहते हैं। जैसे—ऊँट को नहीं जानने वाला व्यक्ति किसी व्यक्ति से 'ऊँट की आकृति अन्य पशुओं से विलक्षण होती है, उसकी गर्दन बहुत लम्बी होती है, वह काँटे को भी प्रेम से खाता है' इत्यादि सुनने के बाद जब मरुभूमि में जाकर सुने हुए वाक्य के अर्थ का स्मरण करता हुआ विलक्षण ऊँट को देखता है, तब उसे 'यही ऊँट है' ऐसा जो ज्ञान होता है, वही वैधर्म्योपमान है।

उपमान के स्वतन्त्र प्रमाण होने में युक्ति—प्रश्न है, कि गवय का ज्ञान प्रत्यक्ष से हो जाता है, इसलिए उपमान को लक्षण मानने की आवश्यकता नहीं है? इसके उत्तर में कहते हैं, कि गवय का प्रत्यक्ष होना मात्र गवय के ज्ञान में कारण नहीं है, अपितु गवय के प्रत्यक्ष होने पर 'गौ के सादृश्य का स्मरण' गवय के ज्ञान के प्रति कारण है। यहाँ प्रत्यक्ष की अपेक्षा सादृश्य ज्ञान का स्मरण अधिक महत्त्व रखता है। अतः उपमान को ज्ञान के प्रति स्वतन्त्र कारण मानना पड़ता है।

यदि यह कहें, कि उपमान का अनुमान में अन्तर्भाव हो जायेगा? तो यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि व्याप्तिज्ञान के बिना अनुमान नहीं हो सकता और उपमान में व्याप्ति होती ही नहीं है। जैसे—'गवय' और 'गौ' का कोई साहचर्य नियम या सम्बन्ध नहीं होता है। उपमान में तो सादृश्य प्रतिपादक या विलक्षणता बोधक वाक्य का अर्थज्ञान ही महत्त्व की वस्तु होती है।

यह शब्दप्रमाण के अन्तर्गत भी नहीं गतार्थ हो सकता? क्योंकि शब्द-प्रमाण में यह आवश्यक नहीं, कि जिसका ज्ञान करना है वह अर्थ जिज्ञासु प्रमाता को प्रत्यक्ष ही हो। अतः उपमान को स्वतन्त्रप्रमाण मानना चाहिए।

आयुर्वेद में उपमान प्रमाण का उपयोग—उपमान के लक्षण में यह स्पष्ट कर दिया गया है, कि सादृश्यज्ञान से रोगों का ज्ञान कैसे होता है और आयुर्वेद में कहाँ उपमान का प्रयोग या उपयोग किया गया है। उसके अतिरिक्त भी उपमान का अनेक स्थलों पर प्रयोग किया गया है। उपमान सादृश्यमूलक और वैधर्म्यमूलक भेद से दो प्रकार का होता है। जैसे—सामान्य या विशेष के वर्णन के प्रसङ्ग में दोनों ही तरह के उपमानों का प्रयोग किया गया है। द्रव्यों के विज्ञान के लिए गोपाल, तापस और बनवासी जनों द्वारा उपमान के द्वारा ही बहुत सी जानकारी की जाती है। औषधियों के वर्गीकरण में भी

‘उपमान’ सहायक होता है। रोगों के निदान एवं रसों तथा दोषों का साधर्म्य-वैधर्म्य ज्ञान भी उपमान के बिना संभव नहीं है।

पहले से जिस वस्तु को हम नहीं जानते या किसी से उसके विषय में कुछ सुने भी नहीं हैं, तो उस वस्तु के प्रत्यक्ष होने पर भी हम उसे नहीं जान सकते। रत्नों की पहिचान या किसी सामान्य वस्तु की भी पहिचान तभी हो सकती है, जब उन्हें देखने के पहले उन वस्तुओं के सादृश्य या वैलक्षण्य का ज्ञान हो। इसलिए यह सिद्ध होता है, कि प्रत्यक्ष ज्ञान के मूल में सादृश्य ज्ञान अवश्य ही कारण होता है, एवं उपमान प्रत्यक्ष ज्ञान का भी सहायक होता है।

यद्यपि आयुर्वेद में मूलतः तीन ही प्रमाण कहे गये हैं, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है, कि आयुर्वेद में उपमान की उपयोगिता नहीं मानी गयी है। आयुर्वेद वातादि दोषों के साथ मधुरादि षड्रसों के साधर्म्य-वैधर्म्य ज्ञान पर अधिक बल देता है।^१ अथ च दोषों^२ के चय, प्रकोप और प्रशम का काल के साथ, वय^३ के साथ एवं विभिन्न क्रियाओं के साथ सम्बन्ध का स्थापन आयुर्वेद शास्त्र में बतलाया गया है—कहीं पर सादृश्यमूलक और कहीं पर वैधर्म्यमूलक। इसी प्रकार उपशय और अनुपशय में भी सादृश्य और वैधर्म्य का ज्ञान नितान्त उपयोगी है।

चिकित्सा में बड़े हुए दोषों को घटाने और क्षीण दोषों को बढ़ाने के लिए वैधर्म्य और साधर्म्यज्ञान का महान् योगदान अपेक्षित है। दोष और रोग के विपरीत देश, काल और औषधि का प्रयोग हितकर होता है^४ तथा

१. तत्राद्या मारुतं घ्नन्ति त्रयस्तिक्तादयः कफम् ।

कषायतिक्तमधुराः पित्तमन्ये तु कुर्वन्ते ॥ —अष्टाङ्गहृदय सूत्र. १।१५

२. चयप्रकोपप्रशमा वायो ग्रीष्मादिषु त्रिषु ।

वर्षादिषु तु पित्तस्य श्लेष्मणः शिशिरादिषु ॥ —अ. ह. सूत्र. १२।२५

३. वायुः पित्तं कफश्चेति त्रयो दोषाः समासतः ।

विकृताऽविकृता देहं घ्नन्ति ते वर्तयन्ति च ॥

ते व्यापिनोऽपि हृन्नाभ्योरधोमध्योर्ध्वसंश्रयाः ।

वयोऽहो रात्रिभुक्तानां तेऽन्तमध्यादिगाः क्रमात् ॥ —अ. ह. सूत्र. १।६-७

४. विपरीतगुणस्तेषां स्वस्थवृत्तेर्विधिहितः ।

समसर्वरसं सात्म्यं समघातोः प्रशस्यते ॥ —चरक. सूत्र. ७।४१

तथा—

तान् दोषलिङ्गैरादिश्य व्याधीन् साध्यानुपचरेत् ।

व्याधिहेतुप्रतिद्वन्द्वमात्राकालौ विचारयन् ॥ —च. सू. ७।४४

रोग और दोष के साथ सादृश्य रखने वाले देश, काल, आहार और विहार तथा औषधि का प्रयोग अहितकर होने से नितान्त परित्याज्य कहा गया है ।

अतः यह निर्विवाद रूप से तथ्य है, कि आयुर्वेद शास्त्र में सदृश और विसदृश ज्ञानोपार्जन के लिए 'उपमान' की महती उपयोगिता स्वीकृत की गयी है । अतएव स्वास्थ्य की रक्षा और रोगी की चिकित्सा इन दोनों ही क्षेत्रों में सामान्य और विशेष की महत्ता को अङ्गीकार किया गया है ।

सादृश्यमूलक उपमान का प्रमाणान्तरों का उपजीव्यत्व—आत्मा, इन्द्रिय, इन्द्रियार्थ और मन के संयोग से उत्पन्न हुए ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं । इस ज्ञान को यथार्थ और तात्कालिक होना चाहिए ।^१ यहाँ प्रश्न यह उठता है कि पहले से न जाना हुआ या किसी के द्वारा निर्दिष्ट न किया हुआ कोई पदार्थ जब हमारे नेत्रों के सामने आता है, तो आत्मादिचतुष्टय का संयोग होने पर भी उस पदार्थ का यथार्थ प्रत्यक्ष नहीं हो पाता । हम उसे नहीं जान पाते, कि हम क्या देख रहे हैं ? इसी प्रकार घ्राणज, रासन, श्रोत्र और त्वाच प्रत्यक्ष में भी वास्तविक प्रत्यक्ष तब तक नहीं होता, जब तक कि उन-उन इन्द्रियार्थों का सादृश्य या बलक्षण्य न ज्ञात हो जाय । इस प्रकार यह सिद्ध होता है, कि सादृश्य-बलक्षण्यमूलक उपमान द्वारा ज्ञान होने के पश्चात् ही हमें वस्तुओं का प्रत्यक्ष ज्ञान हो पाता है, इसीलिए 'उपमान' प्रत्यक्ष प्रमाण का उपजीव्य है, यह सिद्ध होता है ।

एवं अनुमान प्रमाण में दो तत्त्व प्रधान हैं—व्याप्ति और पक्षधर्मता । "जहाँ-जहाँ धूम है वहाँ-वहाँ अग्नि है" इस साहचर्य नियम को 'व्याप्ति' कहते हैं । धूम का पर्वत में रहना 'पक्षधर्मता' है । इन दोनों के आधार पर अनुमान होता है । जैसे—रसोईघर में बार-बार यह देखा गया, कि जब भी वहाँ धूम उठते देखा गया, तब वहाँ अग्नि भी मौजूद थी, तो यह निश्चय हो गया, कि कहीं भी धूम होने पर वहाँ अग्नि अवश्य ही होगी । एवं जिस प्रकार रसोई-घर में अविच्छिन्न (अखण्ड-लगातार उठता हुआ) धूम था, वैसे ही पर्वत में धूम की अखण्ड रेखा को देख कर अनुमान होता है—कि धूम दिखाई दे रहा है इसलिए वहाँ अग्नि भी अवश्य होगी ? यह अनुमान तभी होता है, जब कि रसोईघर के धूम के साथ पर्वत से निकलने वाले धूम का सादृश्य-ज्ञान पहले से होता है ।

१. आत्मेन्द्रियमनोऽर्थानां सन्निकर्षात् प्रवर्तते ।

व्यक्ता तदात्वे या बुद्धिः प्रत्यक्षं सा निरुच्यते ॥

(चरक० सूत्र० ११।२०)

इस प्रकार यह सिद्ध होता है, कि अनुमान का भी उपजीव्य 'उपमान' होता है, क्योंकि बिना रसोईघर के धूम और पर्वत के धूम के सादृश्य के अनुमान नहीं हो सकता ।

शब्दप्रमाण में आप्तोपदेश के द्वारा पुनर्भव का उपदेश किया गया है ।^१ उस प्रसङ्ग में अनुमान के द्वारा कतिपय वस्तुओं के ज्ञान की बात कही गयी है । जैसे—एक ही माता-पिता के पुत्र या पुत्रियाँ परस्पर एक दूसरे से भिन्न होती हैं । बिना उद्योग किये ही फल की प्राप्ति, दो व्यक्तियों के देखे जाने पर एक के प्रति प्रेम और दूसरे के प्रति द्वेष की भावना का होना, यह सब बातें देखने में आती हैं, इसलिए अनुमान करते हैं, कि पूर्वजन्म के किये हुए कर्मों के अनुसार ही शरीर, धन, बुद्धि या विचार इस जन्म में मिलते हैं । इस अनुमान का उद्बोधक प्रत्यक्ष होता है यह तो स्पष्ट है, किन्तु साथ ही माता-पिता के एक होने पर उनकी सन्तानों में सादृश्य या वैलक्षण्य का जो ज्ञान होता है वह 'उपमान' के द्वारा ही होता है ।

इस प्रकार शब्द प्रमाण में भी 'आप्तोपदेश' के तथ्य को जानने के लिए 'उपमान' उपजीव्य होता है, यह बात सिद्ध होती है ।

अतः उपमान, प्रत्यक्ष, अनुमान और आप्तोपदेश इन तीनों प्रमाणों का उपजीव्य है, यह सिद्ध होता है ।

आप्तोपदेश, आगम, शब्दप्रमाण अथवा ऐतिह्य

इस प्रमाण के जो विभिन्न नाम दिये गये हैं, वे सब परस्पर पर्याय हैं, फिर भी इसका 'शब्दप्रमाण' नाम व्यापक है । इसका एक नाम आप्तोपदेश है इसलिए यहाँ 'आप्त' के स्वरूप का परिचय आवश्यक है, क्योंकि आप्तजनों के उपदेश को ही 'आप्तोपदेश' कहते हैं ।

आप्त का लक्षण (Signs of Authorities)—अपनी तपस्या और ज्ञान के बल से जो लोग रज और तम से मुक्त हो गये हैं । जिन्हें भूत, भविष्य और वर्तमान इन तीनों कालों का ज्ञान निर्बाध रूप से होता रहता है । जिनकी ज्ञानशक्ति कभी भी नहीं रुकती, ऐसे व्यक्तियों को 'आप्त', 'शिष्ट' और 'विबुद्ध' कहा जाता है । ऐसे आप्तजनों के बचन या उपदेश सन्देह रहित तथा

१. व्यपगतभयरागद्वेषलोभमीहमानैराप्तैः कर्मविद्धिरनुपहतसत्त्वबुद्धिप्रचारैः पूर्वैः पूर्वतरैः महर्षिभिर्दिव्यचक्षुभिर्दृष्ट्वोपदिष्टः पुनर्भवः ।

प्रत्यक्षमपि चोपलभ्यते मातापित्रोर्विसदृशान्यपत्यानि, तुल्यसम्भवानां वर्णस्वराकृतिसत्त्वबुद्धिभाग्यविशेषाः इहाकृतस्यावाप्तिः कर्मसादृश्ये फलविशेषः समदर्शने प्रियाप्रियत्वम् । —चरक० सूत्र० ११।२९-३०

सत्य होते हैं। वे आप्त पुरुष रज और तम से शून्य होने के कारण सदा सत्य ही बोलते हैं। जब उनमें रजोगुण और तमोगुण होते ही नहीं, तो उनके असत्य बोलने का प्रश्न ही नहीं उठता? यथार्थ-भूत अर्थ, विषयवस्तु के उप-देष्टा को 'आप्त' कहते हैं। आप्तों का ज्ञान निश्चयात्मक, अनुभवपूर्ण एवं सर्वाङ्गीण होता है तथा राग और द्वेष का उनमें लेश भी नहीं होता^१।

विमर्श—आप्त के लक्षण और उनके द्वारा किये गये उपदेश की सत्यता का उल्लेख करने से 'आप्तोपदेश' का स्पष्टीकरण हो जाता है। आप्तोपदेश से वेद, उपनिषद्, पुराण, धर्मशास्त्र और स्मृतिग्रन्थों का ग्रहण होता है, क्योंकि इनके उपदेष्टा असत्य उपदेश नहीं कर सकते, क्योंकि रज और तम से मुक्त होने के कारण उन्हें न किसी से प्रेम था न तो द्वेष था।

'आप्त' के अर्थ में शिष्ट और विबुद्ध शब्दों का प्रयोग किया गया है, इसलिए यहाँ इन पर्यायवाची आप्त, शिष्ट और विबुद्ध शब्दों का निर्वचन करना आवश्यक है।

आप्त^२—जिन्होंने धर्म का साक्षात्कार कर लिया है और जो जिस वस्तु (जिस सत्य) को जिस रूप में देखते हैं उसको उसी यथार्थ रूप में प्रकट करते हैं। विषयों के साक्षात्कार का नाम 'आप्ति' है और उस आप्ति के द्वारा जो कर्म करने में प्रवृत्त होता है, उसे आप्त कहते हैं।

शिष्ट^३—अपनी तपस्या, ज्ञान और शक्ति के बल से जो कार्य-अकार्य, हित-अहित और नित्य-अनित्य में प्रवृत्ति तथा निवृत्ति के उपदेश द्वारा विषयों (अर्थों) के शासन करने में प्रवृत्त होते हैं, उन्हें शिष्ट कहते हैं।

१. (क) रजस्तमोभ्यां निर्मुक्तास्तपोज्ञानबलेन ये।

येषां त्रिकालममलं ज्ञानमव्याहतं सदा ॥

आप्ताः शिष्टा विबुद्धास्ते तेषां वाक्यमसंशयम्।

सत्यं वक्ष्यन्ति ते कस्मादसत्यं नीरजस्तमाः ॥

—चरक० सूत्र० ११।१८-१९

(ख) आप्ता हि अवितर्क-स्मृति-विभागविदः निष्प्रीत्युपतापदर्शिनश्च।

—चरक० वि० ४।४

(ग) आप्तस्तु यथाभूतस्यार्थस्य उपदेष्टा पुरुषः। —तर्कभाषा

२. 'आप्तः खलु साक्षात्कृतधर्मा यथादृष्टार्थस्य चिख्यापयिषया प्रयुक्त उपदेष्टा' तथा च—साक्षात्करणमर्थस्याप्तिः, तथा प्रवर्तत इत्याप्तः।

—वात्स्यायन-न्यायभाष्य

३. स्वशक्तिबलेन कार्याकार्ये हिताहिते नित्यानित्ये प्रवृत्तिनिवृत्त्युपदेशस्य चिकीर्षया प्रयुक्तो यथार्थशासनमर्थस्य शिष्टिः, तथा प्रवर्तन्ते ये ते शिष्टाः।

विबुद्ध—जो अपनी विशिष्ट बुद्धि द्वारा ग्राह्य विषयों का विशेष ज्ञान प्राप्त कर कर्म में प्रवृत्त होता है, उसे विबुद्ध कहते हैं ।

आप्तोपदेश प्रमाण को न्यायवार्तिककार ने 'शब्द' कहा है, यथा—'आप्तोपदेशः शब्दः' एवं 'आप्तवाक्यं शब्दः' (तर्कसंग्रह) । शब्द प्रमाण को ही 'ऐतिह्य' और 'आगम' प्रमाण भी कहा जाता है । शब्द लौकिक, अलौकिक और साधारण भेद से तीन प्रकार का होता है और ये तीनों प्रमाण माने जाते हैं । दूसरे मत से दृष्टार्थ, अदृष्टार्थ, सत्य और अनृत ये शब्द के चार भेद होते हैं, इनमें दृष्टार्थ, अदृष्टार्थ और सत्य शब्द प्रमाण तथा दृष्टार्थ एवं अदृष्टार्थ अनृत शब्द अप्रमाण माने जाते हैं ।

ऐतिह्य और आगम—आप्तजनों के उपदेश को ही 'ऐतिह्य' कहते हैं^१ । इसे ही 'आगम प्रमाण' भी कहते हैं ।^३ इसका नाम 'शब्दप्रमाण' भी है । इस प्रकार आप्तवाक्य में पदज्ञान के बाद शक्ति के द्वारा उन-उन पदों से उन-उन पदार्थों का ज्ञान होना ही 'शब्दप्रमाण' है । शब्दप्रमाण का फल है—'शाब्दबोध, का होना ।

शाब्दबोध की प्रक्रिया^४—शाब्दबोध में पदज्ञान करण, पदार्थ ज्ञान व्यापार, पद और अर्थ में रहने वाले सम्बन्धविशेष (अभिधा-लक्षणा आदि शक्ति) का ज्ञान सहकारी कारण होता है, एवं इन सबसे शाब्दबोध रूप फल प्राप्त होता है । प्रत्यक्ष और अनुमान से जिन पदार्थों का ज्ञान नहीं हो पाता, उनका ज्ञान शब्दप्रमाण से होता ।

रोगों के ज्ञान के लिए आयुर्वेद के मनीषियों ने रोगों के विषय में विशेष उपदेश दिये हैं, क्योंकि जब तक आप्तोपदेश का ज्ञान नहीं होगा, तब तक हम प्रत्यक्ष दृश्यमान 'गौ' का भी ज्ञान नहीं कर सकते हैं न तो अनुमान का ही कोई आधार बन पायेगा । अतः सर्वप्रथम ज्ञान का साधक 'आप्तोपदेश' ही होता है । अत एव यह बतलाया गया है—कि अमुक रोग में अमुक दोष का प्रकोप, अमुक कारण, अमुक लक्षण, अमुक-अमुक वेदनाएँ, अमुक उपद्रव, अमुक परिणाम होते हैं तथा अमुक रोग की अमुकदशा में चिकित्सा करनी चाहिए या

१. विशिष्टा यथार्थभूता बुद्धिः, तथा प्रवर्तन्ते ये ते विबुद्धाः ।

२. ऐतिह्यं नाम आप्तोपदेशो वेदादिः ।

—चरक० वि० ८।४१

३. आगमः शास्त्रमाप्तानाम् ।

४. पदज्ञानं तु करणं द्वारं तत्र पदार्थधीः ।

शाब्दबोधः फलं तत्र शक्तिधीः सहकारिणी ॥

—कारिकावली, शब्दखण्ड

नहीं करनी चाहिए यदि करनी चाहिए, तो कौन सा उपचार करना चाहिए ?^१ इत्यादि । एवं कुरु देश उत्तर में है ? स्वर्ग में अप्सराएँ रहती हैं ? यज्ञ करने से स्वर्ग मिलता है ? यह सब ज्ञान तो 'शब्दप्रमाण' द्वारा ही होता है । मन्त्र और आयुर्वेद के शब्द प्रमाणों के फलों को देखकर वेदों में विस्तृत विषयों का उपदेश किया गया है और कहा गया है कि 'मन्त्रायुर्वेदवत्प्रामाण्यम्' अर्थात् मन्त्र और आयुर्वेद की तरह ये वचन भी प्रामाणिक मानने चाहिए ।

इस प्रकार न्याय, सांख्य, योग, मीमांसा, वेदान्त और आयुर्वेद ये सभी यथार्थज्ञान के लिए 'शब्दप्रमाण' को एक स्वतन्त्रप्रमाण मानते हैं ।

अनुपलब्धि

वेदान्ती 'अनुपलब्धि' (अभाव) को भी प्रमाण मानते हैं । इस प्रमाण से अभावात्मक वस्तु का ज्ञान होता है । जैसे—'मेज पर दावात नहीं है' इत्यादि । किन्तु नैयायिक इस तरह के ज्ञान को प्रत्यक्ष के अन्तर्गत मानते हैं । वे कहते हैं, कि 'जिस इन्द्रिय द्वारा जिस अर्थ का ग्रहण होता है, उसी इन्द्रिय से उसके अभाव का भी ग्रहण होता है । एवं अनुपलब्धि को अलग प्रमाण मानने की आवश्यकता नहीं है ।

इतिहास (ऐतिह्य)

यह एक परम्परा है, जो अतीत काल से चली आ रही है । पौराणिक ऐतिह्य को ज्ञान का साधन मानते हैं । यह परम्परागत ज्ञान है । नैयायिक इसे 'शब्द' मानते हैं और परम्परागत आत्मोपदेश होने के नाते यह इसे शब्द प्रमाण मानते हैं ।

चेष्टा

चेष्टा के द्वारा भी ज्ञान की उपलब्धि होती है । जैसे—किसी गूँगे की चेष्टा को देखकर यह ज्ञान होता है कि यह भूखा है, आकार प्रकार से विचार जाने जाते हैं ।

परिशेष

इस प्रमाण से किसी अर्थ समुदाय से अनभीष्ट अर्थों को हटाकर अभीष्ट अर्थों का ज्ञान प्राप्त करते हैं । जैसे किसी समुदाय से किसी अपरिचित व्यक्ति

१. तदेदमुपदिशन्ति बुद्धिमन्तः—रोगमेकैकमेवं प्रकोपणमेवं योनिमेव-
मुत्थानमेवमात्मानमेवमधिष्ठानमेवं वेदनमेवं संस्थानमेवं शब्दस्पर्शरूपरसगन्ध-
मेवमुपद्रवमेवं वृद्धिस्थानक्षयसमन्वितमेवमुदकमेवं नामानमेवं योगं विद्यात् ।
तस्मिन्नियं प्रतीकारार्था प्रवृत्तिरथवा निवृत्तिरित्युपदेशाज्ज्ञायते ।

को ढूढ़ने के लिए सभी परिचित व्यक्तियों को उस समुदाय से हटाकर अपरिचित को ढूढ़ निकालना 'परिशेष' है ।

सम्भव

उस वस्तु का ज्ञान सम्भव प्रमाण द्वारा होता है, जो किसी वस्तु में जुड़ा रहता है । जैसे—चाकू के ज्ञान से चाकू में जुड़े हुए बेंट का ज्ञान होता है ।

इतिहासप्रामाण्य

जिस प्रकार ज्ञान-विज्ञान के विविध विषयों के विश्वस्त और प्रामाणिक ज्ञान के लिए कुछ निश्चयात्मक आधार तथा साधन होते हैं; उसी प्रकार इतिहासकार भी यथार्थ ऐतिहासिक साधनों से वास्तविक तथ्यों का ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् ही किसी काल का इतिहास लिखते हैं ।

प्राचीन इतिहास के ज्ञान के लिए निम्नलिखित साधन हैं, जिनके आधार पर इतिहास के वृत्तान्तों एवं परिस्थितियों पर प्रकाश पड़ता है—

१—धार्मिक वाङ्मय, २—लौकिक वाङ्मय, ३—मुद्राएँ, ४—पर्यटकों के विवरण, ५—अभिलेख और ६—पुरातत्त्व ।

(१) धार्मिक वाङ्मय—(क) वेद—(i) ऋग्वेद (ii) यजुर्वेद (iii) सामवेद (iv) अथर्ववेद ।

(ख) (i) उपनिषद् (ii) ब्राह्मणग्रन्थ तथा (iii) आरण्यक ग्रन्थ । (तैत्तिरीय, ऐतरेय, शतपथ आदि)

इन ग्रन्थों से प्राच्य भारत का सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक सांस्कृतिक तथा सम्यता सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त होता है ।

(ग) पुराणसाहित्य—पुराणों की संख्या अठारह है, इनमें विष्णुपुराण, वायुपुराण, ब्रह्मपुराण, मत्स्यपुराण और श्रीमद्भागवत पुराण प्रमुख हैं । इन पुराणों के अध्ययन से पर्याप्त रूप से इतिहास की सामग्री उपलब्ध होती है ।

(घ) बौद्धसाहित्य—विनयपिटक, अभिधम्मपिटक, सुत्तपिटक, दीघनिकाय, दीपवंश, महावंश आदि ।

(ङ) जैनसाहित्य—कल्पसूत्र और परिशिष्टपर्वन् आदि ।

बौद्ध एवं जैन साहित्य से तत्कालीन राजनीतिक घटनाओं पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है ।

(२) लौकिक वाङ्मयम्—(क) रामायण महाकाव्य और महाभारत ।

(ख) कौटिल्य का अर्थशास्त्र, पाणिनीय अष्टाध्यायी, हर्षचरित, नवसाह-

साङ्कचरित, विक्रमाङ्कदेवचरित, मुद्राराक्षस (नाटक), भोजप्रबन्ध और राजतरङ्गिणी आदि ।

इन ग्रन्थों से महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक ज्ञान प्राप्त होता है । 'राजतरङ्गिणी' में कश्मीर का प्रारम्भ से बारहवीं शताब्दी तक का इतिहास है, जो अतिशय महत्त्व का है ।

(३) मुद्रा—

- (क) यूनानी राजाओं की मुद्रा ।
- (ख) गुप्तकालीन स्वर्णमुद्रा ।
- (ग) समुद्रगुप्त की मुद्रा ।
- (घ) सीथियन तथा पार्थियन मुद्राएँ ।

इन मुद्राओं के सूक्ष्म अध्ययन से तत्कालीन प्रशासकों की रुचि, उनके व्यक्तित्व, उनकी आर्थिक स्थिति, सामाजिक परिवेश और काल का परिचय प्राप्त होता है ।

(४) पर्यटकों के विवरण—

(क) यूनानी पर्यटक—हेरोडोटस, स्ट्रैबो, प्लिनी, एरियन, मेगस्थनीज आदि ।

(ख) चीनी पर्यटक—फाहियान, ह्वेनसांग, इत्सिंग आदि ।

(ग) अरबी पर्यटक—अलबेरुनी आदि ।

इन पर्यटकों के विवरणों से तत्कालीन जनजीवन, सामाजिक, आर्थिक स्थिति और शासनव्यवस्था आदि की महत्त्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है ।

(५) अभिलेख—

(क) अशोक के शिलालेख (खरोष्ठी और ब्राह्मी लिपि) ।

(ख) स्तम्भों, मन्दिरों और गुफाओं के अभिलेख ।

(ग) राजपूत राजाओं के लेख ।

इन अभिलेखों से विभिन्न कालों की सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और आर्थिक परिस्थितियों का परिज्ञान होता है ।

(६) पुरातत्त्व

(क) हड़प्पा और मोहनजोदड़ो ।

(ख) बौद्धस्तूप ।

(ग) गुप्तकालीन मन्दिर और चित्रकला ।

(घ) जावा, कम्बोडिया आदि के मन्दिर ।

(ङ) सारनाथ, कुशीनगर, तक्षशिला, पाटलिपुत्र और नागार्जुनीकोण्डा आदि ।

उपर्युक्त विभिन्न स्थलों की खुदाई में भूगर्भ से प्राप्त कलाकृतियाँ, स्तूप, विहार आदि प्राचीन भारतीय सभ्यता और संस्कृति के विषय में प्रचुर परिचय देते हैं। हड़प्पा और मोहनजोदड़ो की खुदाई से प्राप्त सामग्रियों से प्राचीन भारत की विकसित सभ्यता के कतिपय नवीन सन्दर्भ उजागर हुए हैं और तरकालीन सामाजिक परिस्थिति और सभ्यता की जानकारी में वृद्धि हुई है।

इस प्रकार पर्याप्त अन्वेषण के पश्चात्, यथार्थबोध हो जाने के बाद एवं निश्चयात्मक अवधारणा होने पर ही इतिहासकार किसी काल की घटनाओं, परिस्थितियों और तथ्यों को लिपिबद्ध करता है। इतिहास की प्रामाणिक अवधारणाएँ किसी देश की गौरवगाथा की निधि हैं, जिससे प्रेरणा ग्रहण कर, देश के प्रति निष्ठा का भाव जाग्रत होता है।

ऊपर बतलाये गये आधार पर, वास्तविक स्थिति का आकलन करके यथार्थ तथ्य-परक लिखित इतिहास की प्रामाणिकता मान्य और ग्राह्य होती है।

कारण

कारण का लक्षण—‘कार्य से पहले जो निश्चित रूप से रहता हो और जो अन्यथा सिद्ध न हो, उसे ‘कारण’ कहते हैं। अर्थात्—किमी कार्य के प्रति कारण वही हो सकता है, जो उस कार्य के अधिकरण में कार्य से पहले रहता हो और उसका रहना नियत हो तथा अन्यथासिद्ध न हो। जैसे—तन्तु, वेमा आदि पट के कारण हैं।

प्रश्न—अन्यथा सिद्ध कौन है ? **उत्तर**—अन्य प्रकार से जो सिद्ध है वह अन्यथासिद्ध है। अर्थात्—किसी कार्य के अधिकरण में उस कार्य के पहले जिसका नियमतः रहना आवश्यक है, उससे भिन्न का जो नियमतः रहना वह उस कार्य के प्रति अन्यथासिद्ध है। एवं “अन्यथासिद्ध रहते हुए जो वस्तु सदा ही कार्य के उत्पन्न होने के पूर्व वर्तमान रहती है, उसको उस कार्य का ‘कारण’ कहते हैं।”

कारण के भेद^२—कारण तीन प्रकार के होते हैं—१. समवायिकारण, २. असमवायिकारण और ३. निमित्त कारण।

१. अन्यथासिद्धिःशून्यस्य नियता पूर्ववतिता।

कारणत्वं भवेत्तस्य.....॥

‘अन्यथासिद्धिःशून्यत्वे सति कार्याव्यवहितप्राक्क्षणावच्छेदेन नियमेन विद्यमानत्वं कारणत्वम्।’

—कारिकावली

अनन्यथासिद्ध ‘कार्यनियतपूर्ववृत्तिः कारणम्’।

—तर्कसंग्रहः

२. कारणं त्रिविधं—समवायि, असमवायि, निमित्तभेदात्। —तर्कसंग्रहः

(१) समवायिकारण^१—जिसमें समवाय सम्बन्ध से रहता हुआ कार्य उत्पन्न हो, उस कार्योत्पत्ति के कारण को समवायिकारण कहते हैं। जैसे—तन्तु वस्त्र के प्रति समवायिकारण होते हैं, क्योंकि तन्तुओं में ही समवाय सम्बन्ध से रहता हुआ वस्त्र पैदा होता है। इसी प्रकार वस्त्र अपने रूप का समवायिकारण है।

(२) असमवायिकारण^२—जो समवायिकारण न हो, किन्तु जिसके कार्य अथवा कारण के साथ एक ही वस्तु में समवाय सम्बन्ध से रहने पर कार्य की उत्पत्ति होती हो, उसे असमवायिकारण कहते हैं। जैसे—तन्तुसंयोग वस्त्र का, और तन्तुरूप का असमवायिकारण है।

(३) निमित्तकारण—“समवायिकारण और असमवायिकारण से भिन्न जो कारण वह निमित्तकारण है।” जैसे—वस्त्र के समवायि तन्तु से और असमवायिकारण तन्तु संयोग से भिन्न तुरी, वेमा (वयति अनेन इति वेमा, जिससे जुलाहे कपड़ा बुनते समय सूत बराबर किया करते हैं) आदि वस्त्र के कारण, वस्त्र के प्रति निमित्त कारण हैं।

कार्य

कार्य का लक्षण—किसी कारण का ‘कार्य’ वही हो सकता है, जिसका उस कारण के अधिकरण में उस कारण के बाद रहना नियत हो और वह रहना किसी अन्य प्रकार से सिद्ध न हुआ हो। जैसे—घट का दण्ड के अधिकरण में दण्ड के बाद रहना नियत है और वह रहना किसी अन्य प्रकार से सिद्ध नहीं है, इसलिए दण्ड का कार्य घट है।

प्रमाणों का फल—यथार्थज्ञान के साधन को प्रमाण कहते हैं। ऐह-लौकिक और पारलौकिक वस्तुओं के यथार्थज्ञान के लिए प्रमाणों की आवश्यकता होती है। एवं आध्यात्मिक दृष्टि से सम्यक् ज्ञान की उपलब्धि और अविद्या का नाश प्रमाणों का फल माना गया है। ‘वेदान्त’ में आत्मज्ञान की प्राप्ति को ही प्रमाणों का सर्वोत्कृष्ट फल कहा गया है ‘न्याय’ और ‘वैशेषिक’ के आचार्यों ने वस्तु विषयक याथार्थ्यज्ञान को लौकिक दृष्टि से प्रमाणों का फल माना है। सांख्य ने परम पुरुषार्थ मोक्ष को प्रमाणों का फल माना है। न्यायवैशेषिक और मीमांसक आदि फल को प्रमाण से भिन्न मानते हैं। जैसे—इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य ज्ञान प्रत्यक्षप्रमाण है न कि प्रत्यक्षप्रमाण का फल। बौद्धदर्शन प्रमाण तथा फल को अभिन्न तथा जैनदर्शन भिन्नाभिन्न

१. यत्समवेतं कार्यमुत्पद्यते तत्समवायिकारणम् । यथा—तन्तवः पटस्य, पटश्च स्वगतरूपादेः । —तर्कसंग्रहः

२. कार्येण कारणेन वा सह एकस्मिन्नर्थे समवेतत्वे सति कारणम्, असमवायिकारणम् । यथा—तन्तुसंयोगः पटस्य, तन्तुरूपं पटरूपस्य । —तर्कसंग्रहः

मानता है। बौद्धमत में इन्द्रिय व्यापार के बाद होने वाले सन्निकर्ष से लेकर हान-उपादान-उपेक्षा बुद्धि तक के क्रमिक फलों की परम्परा को फल कहते हुए भी, उस परम्परा से पूर्व फल को उत्तर फल की अपेक्षा प्रमाण भी कहते हैं। जैनमत में—इन्द्रिय व्यापार के अनन्तर होने वाले फल को फल ही मानते हैं और उस ज्ञान के आधार पर उत्तरकालीन होने वाली हेय-उपादान बुद्धि के प्रति उसे प्रमाण नहीं मानते हैं। इस तरह प्रमाण और फल भिन्न हैं, किन्तु उनका मत अनेकान्तवादी है, इसलिए वे इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य प्रत्यक्षप्रमाण से जो हेयोपादेयोपेक्षा बुद्धि होती है, उस हेयोपादेयोपेक्षा बुद्धि को प्रत्यक्ष का फल तथा उस बुद्धि से जायमान जो ज्ञान, उस ज्ञान से उत्पन्न फल की अपेक्षा उस बुद्धि को प्रमाण भी मानते हैं।

आयुर्वेद का प्रयोजन है—व्याधिपरिमोक्षण और स्वास्थ्य संरक्षण^१। इन दोनों के समाधान के लिए ही चार प्रकार के प्रमाणों का उल्लेख किया गया है।^२ प्रमाण रोगज्ञान के साधन^३ हैं और रोगज्ञान के बिना चिकित्सा सफल नहीं होती, अतः आयुर्वेददृष्ट्या प्रमाणों का फल है 'रोगविज्ञान'। जो परीक्ष्यकारी होता है, वही चिकित्सा में कुशल हो सकता है^४ और परीक्षा के साधन होते हैं प्रमाण। इसीलिए आयुर्वेद में रोग विज्ञान, दोष, भेषज, बल, शरीर-साम्य आदि भावों के ज्ञान के क्षेत्र में प्रमाणों का महान् योगदान और फल है।^५

१. इह खल्वायुर्वेदप्रयोजनं—व्याध्युपसृष्टानां व्याधिपरिमोक्षः स्वस्थस्य रक्षणं च । —सुश्रुत० सूत्र० १।१४

२. द्विविधमेव खलु सर्वं सच्चासच्च । तस्य चतुर्विधा परीक्षा—आप्तोपदेशः, प्रत्यक्षमनुमानं युक्तिश्चेति । —चरक० सूत्र० १।१।७

३. त्रिविधं खलु रोगविशेषविज्ञानं भवति—आप्तोपदेशः, प्रत्यक्षमनुमान-श्चेति । —चरक० विमान० ४।३

४. परीक्ष्यकारिणो हि कुशला भवन्ति । —चरक० सूत्र० १।१।५

५. आप्ततश्चोपदेशेन प्रत्यक्षकरणेन च ।

अनुमानेन च व्याधीन् सम्यग्विद्याद्विचक्षणः ॥

सर्वथा सर्वमालोच्य यथासम्भवमर्थवित् ।

अथाध्यवस्येत्तत्त्वे च कार्ये च तदनन्तरम् ॥

कार्यतत्त्वविशेषज्ञः प्रतिपत्तौ न मुह्यति ।

अमूढः फलमाप्नोति यदमोहनिमित्तजम् ॥

ज्ञानबुद्धिप्रदीपेन यो नाविशति तत्त्ववित् ।

आतुरस्थान्तरात्मानं न स रोगांश्चिकित्सति ॥ —चरक० वि० ४।९-१२

अष्टम अध्याय

द्रव्य-विज्ञान

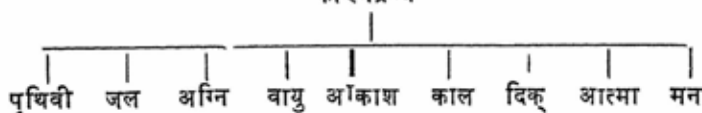
द्रव्य का लक्षण^१—कार्य के समवायिकारण और गुण तथा कर्म के आश्रयभूत पदार्थ को 'द्रव्य' कहते हैं—'गुणकर्माश्रयः समवायिकरणं द्रव्यम्' ।

द्रव्यशब्द की व्युत्पत्ति—'द्रवति गच्छति परिणामम् इति द्रव्यम्' अथवा 'द्रवति गच्छति संयोगविभागादिगुणान् इति वा द्रव्यम्' । जो परिणाम को प्राप्त हो अथवा संयोग विभाग को प्राप्त हो, उसे द्रव्य कहते हैं । 'द्रु गतौ' धातु से 'यत्' प्रत्यय करने पर द्रव्यशब्द बनता है ।

द्रव्य के भेद—(१) कारणद्रव्य और (२) कार्यद्रव्य भेद से द्रव्य दो प्रकार के होते हैं ।

(१) **कारणद्रव्य**—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन ये नव कारणद्रव्य होते हैं ।

कारणद्रव्य



इनमें से (१) आकाश (२) काल (३) दिक् (४) आत्मा और (५) मन ये पाँच नित्य द्रव्य हैं तथा (१) पृथिवी (२) जल (३) अग्नि और (४) वायु ये चार द्रव्य परमाणु रूप में नित्य एवं कार्यरूप में अनित्य हैं ।

(२) **कार्यद्रव्य**^२—यह (१) चेतन (सेन्द्रिय) और (२) अचेतन (निरिन्द्रिय) भेद से दो प्रकार का होता है ।

(अ) **चेतन द्रव्य**—ये इन्द्रिय सहित होने से जीवित शरीर वाले होते हैं और इनमें जीवन का लक्षण 'चैतन्य' होता है । जैसे—मनुष्य आदि तथा उद्भिज्ज 'वृक्ष' वनस्पति आदि चेतन द्रव्य हैं ।

१. क्रियागुणवत् समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम् ।

—सुश्रुत सू. ४०।२ तथा वैशे. द. १।१५

तथा

यत्राश्रिताः कर्मगुणाः कारणं समवायि यत् । (तद् द्रव्यम्) ।

—चरक० सू० १।५०

२. सेन्द्रियं चेतनं द्रव्यं निरिन्द्रियमचेतनम् ।

—च० सू० १।४८

(ब) अचेतन द्रव्य—ये इन्द्रिय रहित होने से मृत शरीर वाले होते हैं और इनमें 'चेतन्य' नहीं होता है। जैसे—निर्जीव सुवर्ण, पार्थिव, खनिज आदि अचेतन होते हैं।

चेतन द्रव्य के भेद^१—ये भी दो प्रकार के होते हैं—(१) अन्तश्चेतन और (२) बाह्याभ्यन्तर चेतन।

(१) अन्तश्चेतन—इनमें भीतर से ज्ञान तथा सुख-दुःख का अनुभव होता है, परन्तु वे उसे व्यक्त नहीं कर पाते और अपने ऊपर होने वाले आक्रमण का निराकरण करने में असमर्थ होते हैं। कुछ द्रव्यों में अन्तश्चेतना प्रत्यक्ष देखी जा सकती है। जैसे—

१. 'लज्जावन्ती' (लजैनी) छूने पर सिकुड़ जाती है, उसे स्पर्शज्ञान होता है।

२. 'सूर्यमुखी' का फूल सूर्य की गति की दिशा के अनुसार घूमता रहता है, जिससे उसकी दर्शनज्ञान की प्रतीति होती है।

३. 'लवली' में मेघगर्जन से फल लगता है, जिससे उसके श्रवणशक्ति होने का ज्ञान होता है।

४. 'बिजौरा नीबू' के वृक्ष की जड़ में शृगाल आदि की बसा डालने से उसमें फल लगता है, अतः उसकी घ्राणेन्द्रिय का होना सिद्ध होता है।

५. 'अशोक' वृक्ष में कामिनी के चरणाघात से स्तवक (गुच्छे) खिलते हैं, जिससे उसकी स्पर्श इन्द्रिय की क्रिया का ज्ञान होता है।

६. 'वकुल' (मौलिश्री) वृक्ष पर रजस्वला स्त्री जब पानी का कुल्ला डालती है, तब उसमें फूल आ जाते हैं।

इन उदाहरणों से उन-उन वनस्पतियों में होने वाली प्रतिक्रियाओं से उनकी अन्तश्चेतनता स्पष्ट है।

अन्तश्चेतन वर्ग में—(१) वनस्पति—वट, गूलर आदि। (२) वानस्पत्य—आम, जामुन आदि, (३) औषध—जौ, गेहूँ आदि, और (४) वीरुध—गुरुच आदि चार प्रकार होते हैं—

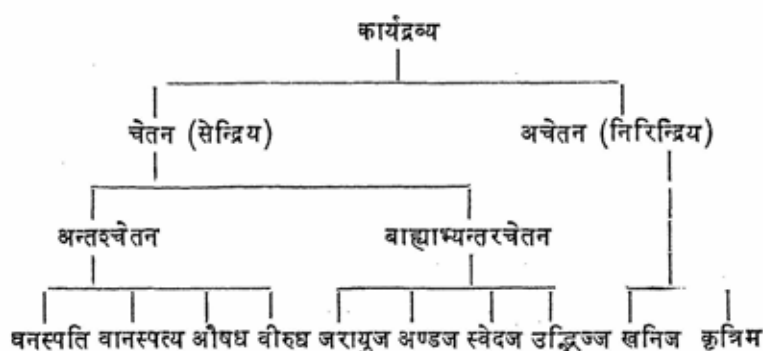
फलैर्वनस्पतिः पुष्पैर्वानस्पत्यः फलैरपि।

औषध्यो फलपाकान्ताः प्रतानैर्वीरुधः स्मृताः ॥

(२) बाह्याभ्यन्तर चेतन—इसमें (१) जरायुज—मनुष्य आदि (२) अण्डज—सर्प आदि (३) स्वेदज—कृमि, यूका, लिक्षा आदि और (४) उद्भिज्ज—इन्द्रगोप (बीरबहूटी) आदि, ये चार प्रकार के होते हैं—

१. चेतनमपि द्विविधम् अन्तश्चेतनं बाह्याभ्यन्तरचेतनञ्च।

च० सू० १।४८ जल्पकल्पतरुटीका



कार्यद्रव्य की उत्पत्ति—आकाश आदि नव कारण द्रव्यों से ही सभी चेतन या अचेतन कार्यद्रव्य उत्पन्न होते हैं। इनमें पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु परमाणुरूप से तथा आकाश व्यापक रूप से जड़ द्रव्यों की उत्पत्ति में उपादान कारण होता है और काल तथा दिक् निमित्त कारण होते हैं। इसी प्रकार जब उपादान तथा निमित्त कारण के साथ आत्मा और मन का संयोग होता है, तब चेतन द्रव्य की उत्पत्ति होती है।

विमर्श—स्पष्ट शब्दों में द्रव्य उसे कहते हैं, जिसमें कर्म और गुण रहते हों एवं जो कर्म और गुण का समवायि कारण हो। अपने में समवाय सम्बन्ध से रहने वाले कार्य का जो आरम्भक होता है, उसे समवायिकारण कहा जाता है। जैसे—मिट्टी अपने में समवाय सम्बन्ध से रहने वाले घटरूपी कार्य की उत्पादक होती है। उसी प्रकार सभी द्रव्य अपने में समवाय सम्बन्ध से रहने वाले कर्म और गुण के उत्पादक होते हैं। अतः द्रव्य को गुण और कर्म का समवायिकारण माना जाता है। गुण और कर्म द्रव्य के अतिरिक्त और कहीं भी नहीं पाये जाते हैं। कर्म और गुण पदार्थान्तर होते हुए भी द्रव्य में ही उपलब्ध होते हैं। पदार्थ के रूप में गुण और कर्म की स्वतन्त्र सत्ता होते हुए भी ये सदा द्रव्य के ही आश्रित रहते हैं। गुण और कर्म कभी द्रव्य से अलग नहीं होते हैं। इसी तात्पर्य से वैशेषिक दर्शन में—कार्य का समवायिकारण तथा गुण और कर्म का आश्रयभूत पदार्थ द्रव्य कहा जाता है—‘क्रिया गुणवत् समवायिकारणं द्रव्यम् ।’

द्रव्यों का परिगणन'

आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, आत्मा, मन, काल और दिशा ये नव द्रव्य हैं। इनमें वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी ये चार द्रव्य अनित्य हैं तथा आकाश, आत्मा, मन, काल और दिशा ये पाँच द्रव्य नित्य हैं।

पृथ्वी आदि का द्रव्यत्व—(१) पृथ्वी द्रव्य है और पृथ्वी का कर्म घट उत्पन्न करना आदि है। गुण गन्ध है। कर्म घट और गुण, गन्ध का आश्रय पृथ्वी है। इन दोनों का समवायि कारण भी पृथ्वी है। (२) जल एक द्रव्य है, उसका कर्म पिण्डीकरण और गुण शीत है। किसी वस्तु को गीला या द्रव करना, जल का कार्य है, जिसका समवायिकारण जल है, इसलिए जल द्रव्य है। (३) अग्नि का कर्म है—जलाना और उष्णता उसका गुण है, इन दोनों का समवायि कारण अग्नि है, अतः अग्नि द्रव्य है। (४) वायु का कर्म है—शोषण करना और स्पर्श उसका गुण है, इन दोनों का समवायिकरण होने से वायु द्रव्य है। (५) आकाश का अप्रतिघात (रुकावट न डालना) कर्म है और शब्द गुण है, इनका समवायिकारण आकाश है, अतः आकाश द्रव्य है। (६) आत्मा का कर्म है—निमेष, उन्मेष आदि और गुण है सुःख-दुःख, इच्छा, द्वेष आदि, इनका समवायि कारण होने से आत्मा द्रव्य है। (७) मन का कर्म है—इन्द्रियों का तथा स्वयं का नियंत्रण करना, ऊहापोह करना, विचार करना आदि और गुण है अणुत्व तथा एकत्व। इनका समवायिकारण मन है। अतः मन एक द्रव्य है। (८) काल का कर्म है—प्राणियों का संहार करना या भूत, वर्तमान आदि व्यवहार को बताना तथा उसका गुण है, नित्यत्व, ज्ञापकत्व, शीतोष्ण वर्षा का होना इनका समवायि कारण काल है, अतः काल द्रव्य है। (९) दिक् का पूरव, पश्चिम आदि व्यवहार बताना आदि कर्म और व्यापक होना गुण है, इनका समवायिकरण होने से दिक् द्रव्य है।

जल का द्रव्यत्व—एक प्रश्न उठता है ? कि जल (H_2O) दो वायुओं के संयोग से बनता है, अतः वह पृथक् द्रव्य नहीं है ? वह वायु में ही गतायं है ? जिसका समाधान यह है, कि जिन वायुओं के संयोग से जल की उत्पत्ति होती है, उनमें सूक्ष्म जल पहले से विद्यमान है। वायुओं के संयोग से वह प्रकट होता है। वायु के ग्रहण से जल का ग्रहण नहीं हो सकता। अतः जल को पृथक् द्रव्य मानना सर्वथा उचित है।

तम का दशम द्रव्यत्व—प्रश्न है, कि तम (अन्धकार) में नीलरूप गुण और अपसरणात्मक (हटना) कर्म होने के कारण इसे द्रव्य मानना चाहिए ? एवं किसी दूसरे द्रव्य में उसका अन्तर्भाव भी नहीं किया जा सकता, क्योंकि उन द्रव्यों के कर्म और गुण इसमें नहीं हैं। इसलिए तम को दसवाँ द्रव्य क्यों न माना जाय ? तम को दसवाँ द्रव्य नहीं माना जा सकता, क्योंकि तम में नील रूप गुण की प्रतीति भ्रम है (वह तेजः सामान्य का अभाव है) और अपसरण की क्रिया भी प्रकाश के आगमन पर निर्भर है अतः नीलरूप गुण और अपसरण

क्रिया दोनों औपाधिक (आरोपित) होने से तम में द्रव्यत्व की कल्पना अप्रामाणिक है ।

विमर्श—कर्म और गुण का आश्रय तथा कर्म और गुण का समवायिकारण जो होता है, उसे द्रव्य कहते हैं इस परिभाषा के अनुसार तम भी एक द्रव्य सिद्ध होता है, क्योंकि उसमें नील रूप का होना गुण है और प्रकाश की उपस्थिति में प्रकाशस्थल से हट जाना (अपसरण) यह कर्म है । एवं इन गुण कर्मों का तम समवायिकारण है, अतः तम को दशम द्रव्य क्यों न माना जाय ? यदि कहा जाय कि उक्त नव द्रव्यों में ही तम का अन्तर्भाव हो जाने से इसे दसवाँ द्रव्य नहीं माना जा सकता, तो यह कहना अनुचित है, क्योंकि नव द्रव्यों में तम का अन्तर्भाव सम्भव नहीं है ? जैसे—(१) पृथ्वी में तम का अन्तर्भाव नहीं हो सकता, क्योंकि पृथ्वी के गुण कर्म गन्धवत्त्व और स्पर्शवत्त्व तम में नहीं हैं । (२) जल में तम का अन्तर्भाव इसलिए नहीं होगा, कि तम में शीत स्पर्श और शुक्ल रूप का अभाव है । (३) अग्नि में तम का अन्तर्भाव नहीं हो सकता, क्योंकि तम में उष्ण स्पर्श और भास्वर (चमकीला) रूप का अभाव है । (४) वायु में तम का अन्तर्भाव नहीं होगा, क्योंकि तम में सदा गतिमत्त्व और स्पर्श नहीं है । (५) आकाश में भी तम का अन्तर्भाव इसलिए नहीं हो सकता, कि आकाश में कोई रूप नहीं होता और तम में रूप होता है ।

इसी प्रकार आत्मा, मन, काल और दिशा में भी तम का अन्तर्भाव नहीं होगा, क्योंकि तम में रूप है और आत्मा, मन, काल, दिशा में रूप नहीं होता । इसलिए तम को अतिरिक्त दसवाँ द्रव्य मानना चाहिए ? उपर्युक्त ढंग से वकालत करने पर भी तम को दशम द्रव्य नहीं माना जा सकता ? क्योंकि तम कोई द्रव्य नहीं है, अपितु वह तेज का अभाव है । यदि यह कहा जाय कि क्यों नहीं तेज को ही तम का अभाव मानें और तम को द्रव्य माना जाय ? तो यह कथन भी अनुभव के विरुद्ध है, क्योंकि तेज का अनुभव स्पष्ट है और नेत्र तथा स्पर्श इन दो इन्द्रियों से तेज ग्राह्य है एवं तेज का दहन-पचन प्रभृति कर्म भी प्रत्यक्ष है, जब कि तम मात्र नेत्र से ग्राही है । दूसरी बात यह है, कि नेत्रग्राह्य होने के कारण तम को रूपवान् द्रव्य कहा जा सकता है ? तो फिर जो रूपवान् द्रव्य होता है उसका ज्ञान प्रकाश में अवश्यमेव होता है ।

किन्तु तम का अस्तित्व प्रकाशशून्य स्थान में ही पाया जाता है । अतः इसे रूपवान् द्रव्य भी नहीं कहा जा सकता है और नील रूप की प्रतीति होने से रूपरहित द्रव्य भी नहीं कहा जा सकता, ऐसी स्थिति में तम को प्रकाश का अभाव ही मानना युक्तिसंगत प्रतीत होता है । वास्तविकता तो यह है, कि

तम का नील रूप और इसमें चलन क्रिया ये दोनों ही ज्ञान भ्रान्तिपूर्ण है। सच तो यह है कि तम प्रकाशाभाव है और चलन क्रिया भी प्रकाश में ही होती है। इस प्रकार तम के नीलरूप गुण और चलन कर्म के औपाधिक होने से तम को दशम द्रव्य मानने में कोई प्रमाण नहीं है।

पृथ्वी-निरूपण—पृथ्वी का लक्षण^१—‘तत्र गन्धवती पृथिवी’ अर्थात् गन्ध के साथ एक अधिकरण में रहने वाली द्रव्यत्व की साक्षात् व्याप्य जाति वाली को पृथ्वी कहते हैं। नाना^२ रूपों वाली पृथ्वी गन्ध का हेतु है। उसमें छह रस हैं। सुरभि और असुरभि दो गन्ध हैं। इसका स्पर्श अनुष्णाशीत (न ठंडा न गरम) होता है। यह नित्य अनित्य भेद से दो प्रकार की होती है। परमाणुरूपा पृथ्वी नित्य और कार्यरूपा अनित्य है। वह अवयववाली है। अवयववती कार्यरूपा पृथ्वी तीन^३ प्रकार की है—१. शरीर, २. इन्द्रिय और ३. विषय।

पृथ्वी में रूप, रस, गन्ध और स्पर्श होता है, इसलिए वैशेषिक में ‘रूप-रस-गन्ध-स्पर्शवती पृथिवी’ (२. १. १.) यह लक्षण किया गया है।

१. गन्धसमानाधिकरणद्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्यजातिमत्वम्, पृथिवीत्वम्।

२. तत्र क्षितिर्ज्ञानहेतुर्नानारूपवती मता ।

षड्विधस्तु रसस्तत्र गन्धस्तु द्विविधो मतः ॥

स्पर्शस्तस्यास्तु विज्ञेयो ह्यनुष्णाशीतपाकजः ।

नित्यानित्या च सा द्वेधा नित्या स्यादणुलक्षणा ॥

अनित्या तु तदन्या स्यात् सैवावयवयोगिनी ।

सा च त्रिधा भवेद्देहमिन्द्रियं विषयस्तथा ॥ —कारि. प्र. ३५-३७ ।

३. शरीर संज्ञक कार्यं योनिज और अयोनिज भेद से दो होते हैं। अयोनिज कार्य में शुक्रशोणित संयोग की अपेक्षा नहीं होती। जैसे—देवता तथा ऋषियों का शरीर धर्म विशिष्ट अणुओं के संयोग से उत्पन्न होता है। शुक्रशोणित से योनिज प्राणियों की उत्पत्ति होती है। योनिज शरीर भी १. जरायुज २. अण्डज भेद से दो प्रकार के होते हैं। मनुष्य, पशु, मृग आदि जरायुज हैं और पक्षी, सर्प आदि अण्डज हैं। अयोनिज स्वदेज और उद्भिज्ज भेद से दो प्रकार के होते हैं। २. इन्द्रिय-संज्ञक कार्यं—गन्ध का व्यञ्जक होता है, जैसे—पार्थिव, अवयवों से घ्राण (नासिका) की उत्पत्ति। ३. विषयसंज्ञक कार्यं—द्रव्यणुकादि क्रम से उत्पन्न तीन प्रकार के होते हैं, जैसे—१. मृत् २. पाषाण और ३. स्थावर। इनमें भूमि, ईंट आदि मृत् (मिट्टी) के प्रकार हैं। उपल, मणि, वज्र, पत्थर आदि पाषाण के तथा वृक्ष, लता, औषध आदि स्थावर के प्रकार हैं। (मुक्तावली कारिका ३८)।

रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व और संस्कार^१ ये चौदह गुण पृथ्वी में समवाय सम्बन्ध से रहते हैं। सुश्रुत ने पृथ्वी को तमोगुण विशिष्ट कहा है, 'तमोबहुला पृथ्वी।'।

विमर्श—तैत्तिरीय उपनिषद् के द्वितीय वल्ली के प्रथम अनुवाक् में यह उल्लेख है, कि जल से पृथ्वी की उत्पत्ति हुई—'अदभ्यः पृथ्वी।' मनु ने भी लिखा है, कि जल से गन्धगुण वाली पृथ्वी उत्पन्न हुई। बृहदारण्यकोपनिषद् में भी कहा गया है, कि जल के सरोवर में स्वाभाविक रूप से फेन की उत्पत्ति हुई और वह फेन जमकर घना एवं कठोर हो गया। इस प्रकार पृथ्वी की उत्पत्ति का कारण जलतत्त्व है। इस कठिनीभावसम्पन्न पृथ्वी में सभी स्थूल और मूर्त पदार्थों की उत्पत्ति हुई है। यह पृथ्वी संसार के सभी चराचर द्रव्यों के स्थिर, गुरु, स्थूल आदि संघातात्मक भावों की प्रधान कारण है, क्योंकि वह संघात गुणयुक्त है और रूप, रस, गन्ध, स्पर्श गुणवाली है। उसमें स्थिरत्व, गुरुत्व, स्थूलत्व आदि भावों से युक्त पृथ्वीत्व है।

जल-निरूपण—जल द्रवत्व, स्निग्धता तथा रूप, रस, स्पर्श गुणयुक्त होता^२ है। जल में सत्त्व एवं तमोगुण का आधिक्य होता^३ है। जल में शुक्ल वर्ण, मधुर रस, शीतल स्पर्श, स्नेह तथा सांसिद्धिक (स्वाभाविक) द्रवत्व भी होता है। यह नित्य (परमाणुरूप) अनित्य (द्वचणुकादि कार्यरूप) भेद से दो प्रकार का होता है। अनित्य जल तीन प्रकार का होता है। १. शरीर, २. इन्द्रिय और ३. विषय। जलीय शरीर अयोनिज है। इन्द्रिय रसना (जिह्वा) है और समुद्र, नदी, नद, हिम आदि विषयसंज्ञक^४ हैं। रूप, रस, स्पर्श, द्रवत्व, स्नेह, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व और संस्कार—ये चौदह गुण जल में होते हैं।^५

तेजनिरूपण—तेज^६ में रूप तथा स्पर्श गुण रहता है। तेज^७ में सत्त्व

१. प्रशस्तपादभाष्यम्।

२. वैशेषिक दर्शन २।१।२ ॥

३. सत्त्वतमोबहुला आपः।

—सुश्रुत

४. वर्णः शुक्लो रसस्पर्शौ जले मधुरशीतलौ।

स्नेहस्तत्र द्रवत्वं तु सांसिद्धिकमुदाहृतम् ॥

नित्यतादि पूर्ववत्तु किन्तु देहमयोनिजम्।

इन्द्रियं रसनं सिन्धु हिमादिविषयो मतः ॥

—कारिकावली

५. प्रशस्तपादभाष्यम्।

६. वैशेषिक दर्शन २।१।३ ॥

७. सत्त्वरजो बहुलोऽग्निः।

—सुश्रुत

और रजोगुण की अधिकता रहती है। इसका स्पर्श उष्ण और रूप भास्वर शुक्ल है। द्रवत्व उसका नैमित्तिक गुण है। नित्य, अनित्य भेद से यह दो प्रकार का होता है। तैजस इन्द्रिय नेत्र है, अग्नि, स्वर्ण आदि उसके विषय^१ हैं। रूप, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, द्रवत्व और संस्कार ये ग्यारह गुण^२ तेज के हैं।

तेज के भेद—प्रकृति के सत्त्व और रजोगुण के आधिक्य से तेज की उत्पत्ति होती है। सूर्यादिकों में भी अग्नितत्त्व के आधिक्य के कारण इन्हें तेज कहते हैं। यह अग्नितत्त्व सभी द्रव्यों में प्रविष्ट होकर तद्रूप हो जाता है, ऐसा कठोपनिषत्^३ में भी कहा गया है। यह उष्ण, तीक्ष्ण, सूक्ष्म, लघु गुण-युक्त होने से दहन, पचन, प्रकाश, प्रभा, भास्वर रूप आदि भावों का कारण है। यह सभी रूप द्रव्यों में प्रविष्ट है—जल में, पुरुष में, पाषाण में, औषध में और वनस्पति में अग्नि का अस्तित्व अथर्ववेद में बतलाया गया है^४।

पाश्चात्य दार्शनिक हर्वर्ट स्पेन्शर का कहना है, कि जब वेग (गति) की रुकावट होती है, तो उससे अग्नि के विभिन्न रूप प्रकट होते हैं। जैसे—प्रकाश, विद्युत्, चुम्बक एक ही अग्नि तीन भागों में विभक्त हो जाती है। उपनिषद्^५ ने भी अग्नि, आदित्य, और वायुरूप में अग्नि को स्वीकार किया है। वैज्ञानिक भी प्रकाश, विद्युत् और चुम्बक में परस्पर सादृश्य मानते हैं। आयुर्वेद में जिन त्रयोदश अग्नियों का वर्णन है, वे भी तेजोभेद ही हैं। जठराग्नि से बलप्राप्त करके ही अन्य अग्नियाँ कार्य करती हैं। शरीर में ओज, तेज, प्राण,

१. उष्णः स्पर्शस्तेजसस्तु स्याद्रूपं शुक्लभास्वरम् ।

नैमित्तिकं द्रवत्वं तु नित्यतादि च पूर्ववत् ॥

इन्द्रियं नयनं वह्निः स्वर्णादिविषयो मतः । —कारिकावली

२. प्रशस्तपादभाष्यम् ।

३. अग्निर्यैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ॥ —कठोपनिषद्

४. ये अग्नयो अप्सु वृत्रे पुरुषेषु ये अश्वमसु आविवेश, ओषधीर्वा वनस्पती-
स्तेऽग्निभ्यो हुतमस्त्वे तत् । —अथर्व० १६।५।७ ।

५. इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका ।

६. स त्रेधा आत्मानं व्याकुरुत आदित्यं द्वितीयं वायुं तृतीयम् ।

—बृहदारण्यकोपनिषद् १।२

७. आयुर्वर्णो बलं स्वास्थ्यमुत्साहोपचयी प्रभा ।

ओजस्तेजोऽग्नयः प्राणाश्चोक्ता देहाग्निहेतुकाः ॥

—चरक० चिकित्सा० १५।३

आयु, बल, वर्ण, पुष्टि और उत्साह यह सब जठराग्नि पर निर्भर हैं। यास्क ने भी निरुक्त में विद्युत् रूप अग्नि का वर्णन किया है।

वायु-निरूपण—रूपरहित होने पर भी विलक्षण स्पर्श, शब्द के होने से, रुई आदि हल्की चीजों के उड़ने और वृक्ष, लता आदि के कम्पन को देखने से वायु का अनुभव होता है। वायु में रजोगुण की अधिकता रहती है।^१ इसमें अपाकज^२ अनुष्णाशीतस्पर्श गुण होता है। यह तिरछे बहता है, इसको स्पर्श आदि के द्वारा जानते हैं। नित्य, अनित्य भेद से यह दो प्रकार का होता है—परमाणु रूप नित्य और कार्य रूप अनित्य है। अनित्य भी तीन प्रकार का होता है। १. शरीरसंज्ञक २. इन्द्रियसंज्ञक और ३. विषयसंज्ञक। १. शरीर अयोनिज है, जैसे—पिशाच आदि का। २. इन्द्रियसंज्ञक—देहव्यापी त्वचा है, और ३. विषय संज्ञक—प्राण आदि महावायु हैं। वायु में स्पर्श, संख्या, परिमाण पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व और संस्कार ये ९ गुण हैं^३। वायु ही लोक या पुरुष की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश का कारण^४ है। वायु रजोबहुल होने के कारण संसार (संसरति इति संसारः) को संसरणशील एवं जगत् (गच्छति इति जगत्) को गमनशील बनाता है। यह संसार वायु के द्वारा ही संचालित होता है। “वा गतो” घातु से वायु (वाति इति वायुः) शब्द बना है, जिसका अर्थ है—चलने वाला, “प्राकृत वायु प्रतिक्षण शीर्यमाण शरीर में नव-नव निर्माण द्वारा आपूरण करके आयु को कायम रखता है और विकृत होने पर प्राणावरोध कर देता है”^५।

आकाश-निरूपण—आकाश का विशेष गुण शब्द है और उसकी इन्द्रिय श्रोत्र है। एक होने पर भी कर्णशङ्कुली आदि उपाधियों के भेद से श्रोत्र आदि

१. रजोबहुलो वायुः।

—सुश्रुत

२. अपाकजोऽनुष्णाशीतस्पर्शस्तु पवने मतः।

तिर्यग्गमनवानेष ज्ञेयः स्पर्शादिलिङ्गकः॥

पूर्ववन्नित्यताद्युक्तं देहव्यापि त्वगिन्द्रियम्।

प्राणादिस्तु महावायुपर्यन्तो विषयो मतः॥

—कारिकावली

३. स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्वापरत्व, संस्कारवान्।

—प्रशस्तपादभाष्य

४. स्थित्युत्पत्तिविनाशेषु भूतानामेष कारणम्।

५. आयुषोऽनुवृत्तिप्रत्ययभूतः।

—चरक० सू० १२।८

६. प्राणांश्रोपहरणद्वि।

—चरक० सू० १२।८

रूप में आकाश भिन्न-भिन्न माना जाता^१ है। आकाश में सत्त्वगुण की अधिकता रहती है।^२

आकाश से ही इस लोक के सभी स्थावर, जङ्गम पदार्थ उत्पन्न हुए हैं और आकाश में ही लीन होते हैं। इसलिए आकाश सब पदार्थों में श्रेष्ठ और सभी भूतों का आश्रय है।^३ सृष्टि के अन्त में पृथ्वी जल में, जल अग्नि में, अग्नि वायु में और वायु आकाश में विलीन हो जाता है।^४ सत्त्व बहुल और लघु एवं सूक्ष्म होने से आकाश विभु (सर्वगत) है। पृथ्वी का जीवनभूत सूर्य का प्रकाश, विद्युत्, चुम्बक तथा आकर्षण शक्ति आकाश द्वारा ही एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते हैं। भारतीय दार्शनिकों ने आकाश को भावात्मक और अतिसूक्ष्म तत्त्व माना है।

आधुनिक वैज्ञानिक भी यह मानते हैं, कि आकाश का ही परिणाम द्रव्य है, अर्थात् द्रव्य आकाश का रूपान्तर मात्र है। ऐटम के घटक घनविद्युत् पिण्ड (प्रोटान) और ऋजुविद्युत् पिण्ड (एलेक्ट्रान) के मध्य में भी आकाश रहता है। भूतों का आरम्भक होने से आकाश 'कारणाकाश' और पञ्चभौतिक मूर्त द्रव्यों में निर्दिष्ट 'कार्याकाश' कहलाता है।

पञ्चमहाभूत-विचार

पञ्चमहाभूत और उनके नैसर्गिकगुण—भूत शब्द 'भू सत्तायाम्' धातु से बना है। इसलिए जो यथार्थ में हो, उसे भूत कहते हैं। आकाश, वायु, अग्नि जल तथा पृथ्वी ये पाँच महाभूत हैं^५। ये महाभूत संसार की सभी वस्तुओं में व्याप्त हैं, अतः इन्हें महाभूत कहते हैं। इनमें आकाश का नैसर्गिकगुण शब्द है,

१. आकाशस्य तु विज्ञेयः शब्दो वैशेषिको गुणः ।

इन्द्रियन्तु भवेच्छ्रोत्रमेकः सन्नप्युपाधितः ॥

—कारिकावली

२. सत्त्वबहुलमाकाशम् ।

—सुश्रुत

३. सर्वाणि वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते, आकाशं प्रत्यस्तं यान्ति, आकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायानाकाशः परायणम् ।

—छान्दोग्योपनिषद्

४. मही संलीयते तोये तोयं संलीयते रवौ ।

रविः संलीयते वायौ वायुर्नभसि लीयते ॥

पञ्चतत्त्वाद् भवेत् सृष्टिः तत्त्वे तत्त्वं विलीयते ॥

—निर्वाणतन्त्र

५. महाभूतानि खं वायुरग्निरापः क्षितिस्तथा ।

शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च तद्गुणाः ॥

—च. शा. १।२७

वायु का स्पर्श, अग्नि का रूप, जल का रस और पृथ्वी का गन्ध नैसर्गिक गुण है ।^१

महाभूतों के भूतान्तरानुप्रवेशकृत गुण—^२सब भूतों का सब में परस्पर संसर्ग होने से, परस्पर अनुग्रह होने से और परस्पर एक का दूसरे में प्रवेश होने से, सब भूतों का सभी में सान्निध्य होता है, किन्तु जिसमें जिस भूत का आधिक्य होता है, उसी के नाम से उसका ग्रहण होता है । उन-उन भूतों में अपना गुण उत्कर्ष में होता है और अन्य भूतों के गुण भी अपकर्ष (कम मात्रा में) से होते हैं । इस प्रकार उनमें प्रथम भूत (आकाश) एक गुण वाला है और आगे एक-एक गुण की वृद्धि होती जाती है । जैसे—आकाश में केवल एक गुण शब्द, वायु में शब्द, स्पर्श, अग्नि में शब्द, स्पर्श, रूप, जल में शब्द, स्पर्श, रूप और रस तथा पृथ्वी में शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पाँचों गुण अपकर्ष तथा उत्कर्ष से वर्तमान हैं ।^३

पञ्चमहाभूतों के भौतिक गुण^४—पृथ्वी का खरत्व, जल का द्रवत्व, वायु का चलत्व, अग्नि का उष्णत्व और आकाश का अप्रतीघातत्व (रुकावट न होना) ये भौतिक गुण हैं । ये सभी लक्षण स्पर्शेन्द्रिय से जाने जाते हैं । महाभूतों के लक्षणों का ज्ञान केवल स्पर्शेन्द्रिय द्वारा होता है—अर्थात्—खर होना, द्रव होना, चंचल होना, उष्ण होना यह सब त्वचा के स्पर्श से जाना जाता है । आकाश का लक्षण है—अप्रतीघातत्व (रुकावट का न होना) यह ज्ञान भी त्वचा के ही द्वारा होता है, क्योंकि स्पर्शेन्द्रिय से स्पर्शन ज्ञान के साथ ही स्पर्श

१. शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च तद्गुणाः । —च. शा. १।२७

२. परस्परसंसर्गात्, परस्परानुग्रहात्, परस्परानुप्रवेशाच्च सर्वेषु सर्वेषां सान्निध्यमस्ति, उत्कर्षापिकर्षात्तु ग्रहणम् । —सु. सू. ४२

३. तेषामेकगुणः पूर्वो गुणवृद्धिः परे परे ।

पूर्वः पूर्वगुणश्चैव क्रमशो गुणिषु स्मृतः ॥ —च. शा. १।२८

आकाशपवनदहनतोयभूमिषु यथा संख्यमेकोत्तरपरिवृद्धाः शब्दस्पर्शरूपरस-
गन्धाः । —सु. सू. ४२।१

नोट—पञ्चमहाभूतों (पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश) का विशेष विवरण पिछले पृष्ठों में किया जा चुका है, जिसे वहाँ देख लें ।

४. खरद्रवचलोष्णत्वं भूजलानिलतेजसाम् ।

आकाशस्याप्रतीघातो दृष्टं लिंगं यथाक्रमम् ॥

लक्षणं सर्वमेवैतत् स्पर्शेन्द्रियगोचरम् ।

स्पर्शेन्द्रियविज्ञेयः स्पर्शोऽपि सविपर्ययः ॥ —च. शा. १।२९-३०

के अभाव का भी ज्ञान होता है। जैसे—उष्ण स्पर्श के ज्ञान के साथ ही यह भी ज्ञान होता है, कि यह शीत रहित है। यह सिद्धान्त है, कि जिस इन्द्रिय से जिस भावपदार्थ का ज्ञान होता है, उसी इन्द्रिय से उसके अभाव का भी ज्ञान होता है। जैसे—किसी वस्तु के प्रतीघात का ज्ञान स्पर्शेन्द्रिय से होता है, तो प्रतीघात का अभाव भी उसी स्पर्शेन्द्रिय से जाना जाता है। इस प्रकार पञ्चमहाभूतों के ये सभी लक्षण स्पर्शेन्द्रिय द्वारा ही जाने जाते हैं।

पञ्चमहाभूतों की उत्पत्ति—सृष्टिक्रम में बतलाया है, कि अव्यक्त से महान् और महान् से अहंकार की उत्पत्ति होती है। अहंकार तीन प्रकार का होता है—१. वैकारिक २. तैजस, ३. भूतादि। इनमें भूतादि अहंकार ही पंच महाभूतों का आदि है, इसलिए उसकी संज्ञा भूतादि पड़ी है। सुश्रुत ने कहा है—कि तैजस अहंकार की सहायता पाकर भूतादि अहंकार से पाँच तन्मात्राएँ उत्पन्न होती हैं और तन्मात्राओं से इन पञ्चमहाभूतों की उत्पत्ति होती है।

अतिसूक्ष्म होने से शून्य रूप आकाश प्रथम महाभूत है। आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी की उत्पत्ति हुई है। दार्शनिक लोग पदार्थों की पाँच अवस्थायें बतलाते हैं—जैसे १. गुण, २. अणु, ३. रेणु ४. स्कन्ध ५. सत्त्व। शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध ये क्रमशः महाभूतों के गुण हैं। इन्हें ही पञ्चतन्मात्रा भी कहते हैं। पञ्चतन्मात्रा का दूसरा नाम अविशेष या सूक्ष्म भूत है। इन्हीं सूक्ष्म भूतों से सूक्ष्म शरीर बनता है। जब तक 'भूत' इन्द्रियग्राह्य नहीं है, तब तक वह तन्मात्रा है और इन्द्रियग्राह्य होने पर वह भूत है। यह सारी सृष्टि भूतमय है और यह विश्व भूतों के खेल का मैदान है।

पञ्चमहाभूतों का संगठन (पञ्चीकरण-प्रकार) परस्परानुप्रवेश—

पाँचों ही महाभूतों में पाँचों महाभूतों के भाग मिले हुये हैं। पाँचों महाभूत पञ्चात्मक हैं। इस बात को समझने के लिए पञ्चीकरण प्रकार जानना जरूरी है।

पञ्चीकरण-प्रकार—प्रत्येक महाभूत को पहले दो भागों में करें इस प्रकार उनका दश भाग हो जायेगा, फिर उन दश भागों में से पहले पाँचों भागों के पुनः चार-चार भाग करें। इस प्रकार सबके पाँच पाँच भाग हो गये—(एक अर्द्धांश तथा चार अष्टमांश)। अब उन सब भागों में से अपने-अपने एक-एक अर्द्धांश भाग को छोड़कर एक-एक (अष्टमांश) भाग दूसरे-दूसरे चारों में

१. भूतादेरपि तैजससहायात् तल्लक्षणान्येव पञ्चतन्मात्राणि उत्पद्यन्ते...
..... तैम्यो भूतानि व्योमानिलानलजलोर्ध्वः । —सु. शा. १

मिला दें। इस प्रकार प्रत्येक महाभूत में आधा अंश अपना और अष्टमांश दूसरे-दूसरे महाभूतों का मिल जाने से प्रत्येक आकाशादि महाभूत पाँच-पाँच महाभूतों से संयुक्त हो जाते हैं। उदाहरण—

कल्पना कीजिये कि पाँच व्यक्तियों के पास एक-एक रुपया है, प्रत्येक ने अपने-अपने रुपये की दोनों अठन्नियाँ भँजा लिये और एक-एक अठन्नी अपने पास रखकर दूसरी अठन्नी की चार दुअन्नियाँ भँजा लीं, फिर उन चारों दुअन्नियों को शेष चारों व्यक्तियों को दे दिया। यही काम पाँचों ने किया—अपनी-अपनी अठन्नी अपने पास रखकर दुअन्नी को चारों में बाँट दिया। इस तरह प्रत्येक के पास आठ-आठ आने और आ जाने के कारण सबके पास एक-एक रुपया पूरा हो गया। एवम् आकाश आदि महाभूतों का अपना-अपना अर्द्धांश तथा चार भूतों का अष्टमांश मिलाकर पञ्चीकृत महाभूत बनते हैं।^१

छान्दोग्योपनिषद्^२ में पहले अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी की उत्पत्ति बतलाकर इनके त्रिवृत्करण (प्रत्येक के आधे तथा शेष दो के चतुर्थांश चतुर्थांश) द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति बतलायी गयी है। उससे इस पञ्चीकरण का विरोध नहीं है, क्योंकि उपनिषद् का त्रिवृत्करण इस पञ्चीकरण का उप-लक्षण^३ है—अर्थात् अपना और पञ्चीकरण दोनों का बोधक है।

१. द्विधा विधाय चैकैकं चतुर्धा प्रथमं पुनः ।

स्वस्वेतरद्वितीयांशैर्योजनात् पञ्च पञ्च ते ॥

—पञ्चदशी

२. छान्दोग्योपनिषद् ६।३।३

३. स्वबोधकत्वे सति स्वेतरबोधकत्वम् उपलक्षणत्वम् ।

नवम अध्याय आत्म-विज्ञान

आत्मा का लक्षण और गुण

उच्छ्वास-निःश्वास, निमेष-उन्मेष, जीवन, मन की गतियाँ (मन का जिस किसी परोक्ष या सुदूर प्रदेश, नगर आदि में चला जाना) मन का एक इन्द्रिय को छोड़कर दूसरी इन्द्रिय में चला जाना, मन का इन्द्रियों को कार्य करने की प्रेरणा देना, इन्द्रियों को अनिष्ट विषयों की ओर जाने से रोकना, स्वप्नावस्था में देशान्तरगमन करना, शरीर में पञ्चमहाभूतमात्र का रह जाना, दक्षिण नेत्र से देखी हुई वस्तु को वाम नेत्र से देखने पर 'यह वही वस्तु है' ऐसा ज्ञान होना, सुखकर वस्तुओं को प्राप्त करने की इच्छा, दुःखकर वस्तुओं के प्रति द्वेष का होना, अभिमत (अनुकूल-प्रिय) वस्तुओं के प्राप्त होने पर सुख, प्रतिकूल (अप्रिय) वस्तुओं की प्राप्ति पर दुःख, इष्ट की प्राप्ति तथा अनिष्ट की अप्राप्ति के लिए प्रयत्न, ज्ञानेन्द्रियों द्वारा अपने विषयों का ग्रहण, धैर्य धारण करना, ज्ञान का होना, स्मृति, अहंकार आदि का होना ही आत्मा के लक्षण हैं ।^१ इन्हीं लक्षणों को चरक^२ सुश्रुत, गौतम^३ और कणादि^४ ने आत्मा का लक्षण या गुण कहा है ।

१. प्राणापानी निमेषाद्या जीवनं मनसो गतिः ।

इन्द्रियान्तरसञ्चारः प्रेरणं धारणं च यत् ॥

देशान्तरगतिः स्वप्ने पञ्चत्वग्रहणं तथा ।

दृष्टस्य दक्षिणेनाक्षणा सव्येनावगमस्तथा ॥

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं प्रयत्नश्चेतना धृतिः ।

बुद्धिः स्मृतिरहङ्कारो लिङ्गानि परमात्मनः ॥

—चरक० शा० १।७०-७२

२. तस्य सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नः प्राणापानी उन्मेषनिमेषौ बुद्धिर्मनः
सङ्कल्पो विचारणा स्मृतिर्विज्ञानमध्यवसायो विषयोपलब्धिश्च गुणाः ॥

—सुश्रुत० शा० १।१७

३. इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गानि ।

—न्यायसूत्र १।१०

४. प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तर्विकाराः,

सुखदुःखेच्छाप्रयत्नाश्चात्मनो लिङ्गानि ।

—वैशेषिक सूत्र ३।२।४

विमर्श—यहाँ मूल में आये हुए कुछ शब्दों की व्याख्या करना अपेक्षित है। 'उच्छ्वास और निःश्वास' शब्द प्राण और अपान के लिए प्रयोग किये गये हैं,^१ जो चक्रपाणि सम्मत है। मुख तथा नाक से भीतर फुफ्फुसों में जाने वाली वायु को प्राण तथा फुफ्फुसों से बाहर निकलने वाली वायु को अपान कहते हैं^२। आँख के दोनों पलकों को बन्द करना 'निमेष' और खोलना 'उन्मेष' कहलाता है। शारीरिक क्रियाओं का यथावत् संचालन, अङ्गों का पोषण और उनकी वृद्धि आदि होते रहना 'जीवन' है। स्वप्न में भिन्न-भिन्न भूभागों में भाग दौड़ करना और मृत्यु का होना आदि शरीर से अतिरिक्त आत्मा के अस्तित्व के लक्षण हैं। 'प्रयत्न'^३ का अर्थ है कायिक; वाचिक और मानसिक क्रियाओं का किया जाना। इन्द्रियों के द्वारा भूतकाल में प्राप्त किये हुए किसी ज्ञान का स्मरण हो आना 'स्मृति'^४ है। मैं धनी हूँ, बलवान् हूँ, सुन्दर हूँ यह अहं-भाव रखना 'अहंकार'^५ है।

किसी विषय को अच्छी तरह सोचना 'मनःसंकल्प' है। जब मन में उत्तम धार्मिक, सांस्कृतिक या मानवीय विचार उठते हैं तो उन्हें 'संकल्प' कहते हैं। प्रमाणों के द्वारा किसी विषय या कार्य से हानि-लाभ आदि का तर्क-वितर्क करना 'विचारणा' है। 'इदमेव कर्तव्यम्' यही कार्य करना चाहिए यह निश्चय करना 'अध्यवसाय'^६ है।

आत्मा के जो लक्षण कहे गये हैं, वे आत्मा की सत्ता का बोध कराते हैं, क्योंकि जब तक पुरुष जीवित है, जब तक उसमें आत्मा का निवास है तभी तक ये लक्षण पाये जाते हैं, मृत शरीर में ये लक्षण नहीं दीख पड़ते, अत एव ये आत्मा के लक्षण या गुण कहे जाते हैं।^७

१. 'प्राणापानौ उच्छ्वासनिःश्वासौ' —चरक० शा० १।७० पर चक्रपाणि

२. प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ। —गीता ५।२७

३. प्रवृत्तिस्तु चेष्टा कार्यार्था, सैव क्रिया, कर्म, यत्नः, कार्यसमारम्भश्च।

—चरक० विमान० ८।७७

४. दृष्टश्रुतानुभूतानां स्मरणात् स्मृतिरुच्यते'। —चरक० शा० १।१४९

अनुभूतविषयासम्प्रभोषः स्मृतिः। —यो० सू० वा० १

५. आद्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।

यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः॥ —गीता १६।१५

६. व्यवस्यति तथा वक्तुं कर्तुं वा बुद्धिपूर्वकम्। —चरक० शा० १।२३

७. यस्मात् समुपलभ्यन्ते लिङ्गान्येतानि जीवतः।

न मृतस्यात्मलिङ्गानि तस्मादाहुर्मनीषिणः॥ —चरक० शा० १।७३

आत्मा के ज्ञत्व का प्रतिपादन

आत्मा 'ज्ञ' (चेतन) है, किन्तु जब वह करणों (मन, बुद्धि और इन्द्रियों) के साथ होता है, तभी उसे ज्ञान होता है। जब आत्मा मन के साथ, मन इन्द्रियों के साथ और इन्द्रियाँ इन्द्रियाथों (शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध) के साथ होती हैं, तब ज्ञान होता है^१। प्रश्न यह उठता है ? कि जब आत्मा 'ज्ञ' है तो उसे ज्ञान सर्वदा क्यों नहीं होता ? ऐसा देखा जाता है, कि कभी ज्ञान होता है और कभी ज्ञान नहीं होता है ? इस प्रश्न का उत्तर आचार्य चरक ने दिया है—कि जब मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ विकारग्रस्त होती हैं या आत्मा के साथ इनका संयोग नहीं हो पाता, ऐसी स्थिति में ज्ञान नहीं होता है। जैसे—आइना यदि मलिन (गन्दा) होता है तो उसमें रूप नहीं दिखाई देता है। इसी प्रकार कलुषित (गदला) जल में प्रतिबिम्ब नहीं दिखाई देता है^२।

करणों^३ के साथ होने पर ही आत्मा में सक्रियता होती है। मन, बुद्धि, ज्ञानेन्द्रिय (श्रोत्र-त्वक्-चक्षु-जिह्वा-घ्राण), कर्मेन्द्रिय (वाक्-पाणि-पाद-पायु और उपस्थ) ये करण कहे गये हैं। कर्ता (आत्मा) का करणों के साथ संयोग होने पर उसकी क्रियाशीलता होती है, तभी उसे वेदना (सुख-दुःख का अनुभव) और बुद्धि (ज्ञान) होती है। वह अकेले किसी कार्य में नहीं प्रवृत्त होता है। करणों के संयोग के होने पर आत्मा के सभी कार्य होते हैं और यदि संयोग न हो, तो कोई कार्य नहीं हो सकता।

तमोगुण से प्रभावित होने पर इन्द्रियाँ विकल^४ हो जाती हैं, जिसके

१. आत्मा मनसा संयुज्यते, मन इन्द्रियेण, इन्द्रियमर्थेन ततो ज्ञानम्।

—न्यायभाष्य

२. आत्मा ज्ञः करणैर्योगात् ज्ञानं त्वस्य प्रवर्तते।

करणानामवैमल्यादयोगाद् वा न वर्तते ॥

पश्यतोऽपि यथाऽऽदर्शो संक्लिष्टे नास्ति दर्शनम्।

तत्त्वं जले वा कलुषे चेतस्युपहृते तथा ॥

—च० शा० १।५४-५५

३. करणानि मनोबुद्धिर्बुद्धिकर्मेन्द्रियाणि च।

कर्तुः संयोगजं कर्म वेदना बुद्धिरेव च ॥

नैकः प्रवर्तते कर्तुं भूतात्मा नाश्नुते फलम्।

संयोगाद्वर्तते सर्वं तमूते नास्ति किञ्चन ॥

—चरक० शा० १।५६-५७

४. करणानां तु वैकल्ये तमसाऽभिप्रवर्धते।

अस्वप्ननपि भूतात्मा प्रसुप्त इव चोच्यते ॥ —सुश्रुत० शा० ४।३६

कारण उनका आत्मा के साथ संयोग नहीं हो पाता या संयोग होने पर उनकी विकलता के कारण आत्मा को ज्ञान की अनुभूति नहीं होती और वह जाग्रत अवस्था में भी सोता हुआ सा प्रतीत होता है ।

विमर्श—आत्मा के स्वयं निर्विकार होने के कारण उसके ऊपर न तम का प्रभाव पड़ता है, न उसमें निद्रा की विकृति उत्पन्न हो सकती है, परन्तु व्यवहार में आत्मा सोता है इस प्रकार की बात सुनने में आती है, जो कुछ अंश तक ठीक है । आत्मा जब शरीर में आबद्ध होता है तो उसका ज्ञान तथा बोध इन्द्रियों के ऊपर निर्भर होता है । जब इन्द्रियाँ उसके साथ नहीं होती, तो उसे ज्ञान नहीं होता । जब इन्द्रियाँ विकृत होती हैं तब आत्मा का ज्ञान खण्डित होता है और ठीक-ठीक ज्ञान नहीं हो पाता है । एवं जब इन्द्रियाँ तम द्वारा आवृत होती हैं, तब आत्मा प्रसुप्त की तरह आभासित होता है ।^१

जीवात्मा का लक्षण और उसका अनेकत्व

आत्मा का स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म है, उसका स्वरूप सूर्य के समान प्रकाश-मय (विज्ञानमय) है । वह संकल्प और अहंकार इन दोनों से युक्त रहता है, अतः संकल्प रूप मन के गुण (विषय) से एवं अन्तःकरण और इन्द्रियों के धर्म से तथा अहंता रूप अपने गुण से अर्थात् अहंता ममता आदि से सम्बद्ध होता है । वह सुई की नोक के समान सूक्ष्म आकार वाला है और परमात्मा से भिन्न है ।^२

जीवात्मा के सूक्ष्मरूप को उपमा देकर बतलाया गया है कि “बाल” की नोक को सौ टुकड़ों में बाँट दिया जाय और उनमें से एक टुकड़े को पुनः सौ टुकड़ों में बाँटा जाय फिर वह एक टुकड़ा जितना सूक्ष्म हो सकता है अर्थात् बाल की नोक के दस हजार भाग करने पर उनमें से एक भाग जितना सूक्ष्म हो सकता है, उसके समान जीवात्मा का स्वरूप जानना चाहिए ।” वह इतना

१. करणानां तु वैकल्ये तमसाऽभिप्रवर्धिते ।

अस्वपन्नपि भूतात्मा प्रसुप्त इव चोच्यते ॥

—सुश्रुत० शा० ४।३६

२. अङ्गुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः सङ्कल्पाहङ्कारसमन्वितो यः ।

बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रो ह्यपरोऽपि दृष्टः ॥

३. बालाग्रशतभागस्य शतघ्रा कल्पितस्य च ।

भागो जीव इति ज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते ॥

—श्वेताश्वरोपनिषद् ५।८९

सूक्ष्म होने पर भी अनन्त भावों से युक्त होने में समर्थ है वह असीम हो सकता है, किन्तु अपने संस्कार, संचित कर्म और अहंकार से युक्त होने के कारण एक देशीय बन कर किसी एक शरीर के भीतर ही निवास करता है। पुरुष अत्यन्त सूक्ष्म अणुप्रमाण होने के कारण चर्मचक्षुओं से अग्राह्य है, परन्तु लक्षणों के आधार पर उसकी सत्ता का अनुभव होता है, उसके कार्य ही उसके परिचायक होते हैं। वह अनुमान से जाना जाता है।^१

जीवात्मा न तो स्त्री है, न पुरुष है और न नपुंसक ही है। वह जब जिस शरीर को ग्रहण करता है, उस समय उससे संयुक्त होकर वैसा ही बन जाता है। जो जीवात्मा आज स्त्री है, वही दूसरे जन्म में पुरुष हो सकता है, जो पुरुष है वह स्त्री हो सकता है। वस्तुतः स्त्री, पुरुष और नपुंसक आदि भेद शरीर को लेकर हैं, जीवात्मा इन भेदों से रहित है उसमें ये सब उपाधियाँ नहीं होती हैं।^२

जीवात्मा ज्ञान का अधिकरण है। वह परमात्मा का एक अंश है। जैसे—महाकाश सर्वत्र व्याप्त है और जब वह किसी खाली घड़े में होता है तो उसे 'घटाकाश' कहते हैं, उसी तरह जब अलग अलग शरीर में आत्मा सन्निविष्ट होता है, तब उसे 'जीवात्मा' कहते हैं।^३ जीवात्मा प्रतिशरीर में भिन्न है, क्योंकि एक के सुखी या दुःखी होने से दूसरा सुखी या दुःखी नहीं होता है। यदि सब शरीरों में एक ही जीवात्मा होता, तो एक के सुखी या दुःखी होने पर सभी सुखी या दुःखी होते, किन्तु ऐसा नहीं होता है।^४ अतः जीवात्मा प्रतिशरीर में भिन्न तथा अनन्त है।

१. (क) सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिर्नाभावात् कार्यतस्तदुपलब्धेः ।

—सां० का० ७

(ख) त एतेऽनुमानग्राह्याः परमसूक्ष्माश्चेतनावन्तः शाश्वता लोहित-
रेतसोः सन्निपातेष्वभिष्वज्यन्ते ।

—सुश्रुत० शा० १।१७

२. नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसकः ।

यद् यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स युज्यते ॥

—श्वेताश्वतरोपनिषद् ५।१०

३. ज्ञानाधिकरणमात्मा । स द्विविधः परमात्मा जीवात्मा च । जीवात्मा
प्रतिशरीरं भिन्नो विभुर्नित्यश्च ।

—तर्कसंग्रह

४. देही सर्वगतोऽप्यात्मा स्वे स्वे संस्पर्शनेन्द्रिये ।

सर्वाः सर्वाश्चस्थास्तु नात्माऽतो वेत्ति वेदनाः ॥

—चरक० शा० १।७९

श्री शाङ्कराचार्य के अनुसार शरीर तथा इन्द्रियसमूह के अध्यक्ष और कर्म-फल के भोग करने वाले आत्म चैतन्य को 'जीवात्मा' कहते हैं ।^१ यह चेतनत्व ही हमारे अनुभव का आधार है । अपने मूलरूप में जीव भी ब्रह्म का ही अंश है,^२ परन्तु मायासंवलित होने के कारण उसके अनुभव और ज्ञान का क्षेत्र सीमित है । रजोगुणी होने के कारण यह जीव कर्ता और भोक्ता बनता है । इसीलिए वह अपने किये हुए कर्मों के फलोपभोग के लिए संसार में पुनः जन्म लेने के बन्धन में আবদ্ধ होता है ।^३ जब इसके कर्म क्षीण हो जाते हैं, तो स्वात्मानुभव होने से सात्त्विक बुद्धि (सत्या बुद्धि) का उदय होता है और जीवात्मा मुक्त होकर परमपद को प्राप्त कर लेता है ।^४

विमर्श—सुश्रुताचार्य ने कहा है कि जीवात्मा (पुरुष) शुभ या पुण्यकर्मों के द्वारा दैवयोनि (ब्राह्म, प्राजापत्य, ऐन्द्र, पैत्र, गान्धर्व, याक्ष, राक्षस तथा पैशाच) में, अशुभ या पापकर्मों के करने से तिर्यग्योनि (पशु, पक्षी, मृग, सर्प, वृक्ष आदि) में और शुभाशुभ मिश्रित कर्मों के करने से मनुष्ययोनि में जन्म ग्रहण करता है ।^५ मनुष्ययोनि एक तरह की होती है ।

जीवात्मा के विभिन्न योनियों में सञ्चरण में तीन प्रकार की गतियाँ होती हैं—(१) उत्क्रान्ति—एक देह का त्याग । (२) गति—परलोकगमन । (३) आगति—दूसरे जन्म में प्रवेश करना ।^६

१. अस्ति आत्मा जीवाख्यः शरीरेन्द्रियाध्यक्षः कर्मफलसम्बन्धी ।

—शाङ्करभाष्य

२. कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः ।

कार्यकारणतां हित्वा पूर्णबोधोऽवशिष्यते ॥ —अ० प्र० १०।६१

३. वशी तत् कुरुते कर्म यत् कृत्वा फलमश्नुते । —चरक० शा० १।७८

४. वशी चेतः समाधत्ते वशी सर्वं निरस्यति ।

तथा—

यावन्तोत्पद्यते सत्या बुद्धिर्नैतदहं यया ।

नैतन्ममेति विज्ञाय ज्ञः सर्वमतिवर्तते ॥ —चरक० शा० १।७८, १५३

५. आयुर्वेदशास्त्रेष्वसर्वगताः क्षेत्रज्ञा नित्याश्च, निर्यग्योनिमानुषदैवेषु

सञ्चरन्ति धर्माधर्मनिमित्तम् ।

—सुश्रुत० शा० १।१७

तथा—

अष्टविकल्पो दैवस्तैर्यग्योन्श्च पञ्चधा भवति ।

मानुष्यश्चैकविधः समासतो भौतिकः सर्गः ॥ —सां० का० ५३

६. उत्क्रान्ति गत्यागतीनाम् ।

—ब्रह्मसूत्र २।३।१९

जीवात्मा का परिमाण

विभिन्न आचार्यों ने अपने-अपने ढंग से पुरुष के परिमाण का विवेचन किया है।

१. जैन दार्शनिक जीवात्मा को 'माध्यम परिमाण' मानते हैं अर्थात् जिस शरीर में जीवात्मा रहता है वह उस समूचे शरीर में व्याप्त रहता है। किन्तु इस मत के मानने में यह आपत्ति है, कि यदि ऐसा मान लिया जाय तो पुरुष (जीवात्मा) भिन्न-भिन्न योनियों में कैसे भ्रमण कर सकता है अर्थात् कर्मफल के अनुसार यदि उसे मनुष्य देह से हाथी के देह में जाना होगा तो वह हाथी जैसा विशाल कैसे हो जावेगा या हाथी के देह से चींटी के देह में जाना होगा तो वह कैसे इतना छोटा हो जावेगा इसलिए जीवात्मा को मध्यम परिमाण का नहीं माना जा सकता।

इसीलिए श्री शङ्कराचार्य ने लिखा है कि 'एवं चात्माऽकात्स्न्यम्' (ब्रह्म-सूत्र० १।२।३४) अर्थात् जीवात्मा सम्पूर्ण शरीर में फैला हुआ उस शरीर के आकार का नहीं होता है, न तो उसका कोई एक जैसा आकार ही होता है, अपितु मनुष्य में मनुष्याकार हाथी में हाथी जितना बड़ा और जिस-जिस शरीर में वह जाता है तदाकार हो जाता है।

२. जीवात्मा विभु है ? यदि आत्मा को विभु मानते हैं तो उनकी जो तीन प्रकार की गतियाँ^१ बतलायी गयी हैं वह नहीं घट सकता हैं—जैसे पूर्व-देहपरित्याग, अपरदेहगमन और परलोकगमन इत्यादि।

३. अतएव आचार्य सुश्रुत ने जीवात्मा को अणुपरिमाण^२ और अविभु^३ माना है।

परमात्मा और जीवात्मा

ये दोनों साथ-साथ रहनेवाले दो पक्षियों की तरह हैं। ये दोनों इस शरीर-

१. उत्क्रान्ति गत्यागतीनाम् (ब्रह्मसूत्र २।३।१९) पर शाङ्करभाष्य-उत्क्रान्ति गत्यागतिश्रवणानि तु जीवस्य परिच्छेदं प्रापयन्ति । आसां उत्क्रान्ति-गत्यागतीनां श्रवणात्परिच्छिन्नास्तावज्जीव इति प्राप्नोति । न विभोश्चलन-मवकल्प्यत इति ।

२. बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च ।

भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते ॥

—श्वेताश्वतरोपनिषद् ५।९

३. न चायुर्वेदशास्त्रेषूपदिश्यन्ते सर्वगताः क्षेत्रज्ञा नित्याश्च ।

—सुश्रुत. शा. १।१६

रूपी वृक्ष पर एक साथ ही हृदय रूपी घोंसले में निवास करते हैं। शरीर में रहते हुए प्रारब्ध के अनुसार जो सुख-दुःखरूपी कर्मफल प्राप्त होते हैं वे ही मानों शरीर-वृक्ष के फल हैं। इन फलों को 'जीवात्मा' रूप एक पक्षी तो स्वादपूर्वक खा रहा है अर्थात् वह हर्ष-शोकादि का अनुभव करते हुए कर्मफल भोग रहा है। दूसरा परमात्मा रूपी पक्षी इन फलों को नहीं खाता है वह मात्र देखता रहता है अर्थात् शरीर में प्राप्त सुख-दुःखादिकों को देखता मात्र है भोगता नहीं, केवल तटस्थ भाव से उनका साक्षी बना रहता है।^१

यह जीवात्मा जब तक अपने साथ रहने वाले परम सुहृद् परमात्मा की ओर नहीं देखता, तब तक इस शरीर में ही आसक्त होकर मोह में निमग्न रहता है अर्थात् शरीर के प्रति ममत्व बुद्धि से उसके द्वारा उपभोगों का भोग करने में तल्लीन रहता है। जब जीव पर परमात्मा की अहैतुकी कृपा होती है, तब वह अपने से भिन्न, अपने ही साथ रहने वाले, परम मित्र, परम प्रिय, परमात्मा को पहचान लेता है और उस परमेश्वर की जगत् में विभिन्न रूपों में प्रकट आश्चर्यमयी महिमा को जान लेता है, उस स्थिति में उसकी समस्त चिन्ताएँ और शोक नष्ट हो जाते हैं।^२

देहातिरिक्त आत्मा के सद्भाव का निरूपण

मनुष्य अपनी विभिन्न इन्द्रियों के द्वारा विभिन्न विषयों (शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध) को ग्रहण करता है, किन्तु इन कारणों (ज्ञान साधनों या

१. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया

समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।

तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्य-

नश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥

२. समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नो

जीशया शोचति मुह्यमानः ।

जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीश—

मन्यस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥

तथा

एष देवो विश्वकर्मा महात्मा

सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः ।

हृदा मनीषा मनसाभिवृद्धो

य एतद् विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥

—श्वेताश्वतरोपनिषद् ४।६, ७, १७

कर्म साधनों) की विभिन्नता होने पर भी उन-उन क्रियाओं को सम्पादित करनेवाला कर्ता एक है और वही आत्मा है। जैसे एक व्यक्ति कभी बड़ई-गिरी करने के लिए लकड़ी काटने का हथियार, कभी लोहा काटने के लिए लोहा काटने का हथियार अथवा वह जो भी कार्य करना चाहता है, उसके अनुरूप अलग-अलग साधनों का प्रयोग करता है।

इसी प्रकार सभी कर्मों को करने वाला आत्मा है, इस शरीर में वही चेतनावान् है और जो चेतन होता है, वही क्रियावान् होता है। वह आत्मा अपने द्वारा किये हुए कर्मों का फल भोगने के कारण भोक्ता है तथा इन्द्रियों द्वारा नाना प्रकार के कर्म करने से कर्ता कहा जाता है। काल नित्यगतिवाला है। शरीरावयवों का नाश निमेष भर मात्र में ही हो जाता है या उससे भी कम समय में हो जाता है। हम देखते हैं, कि टूटे हुए अवयव पुनः जुट जाते हैं और उनका संरोहण हो जाता है। इसलिए देह के अतिरिक्त आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है।

यदि 'क्षणिक परिणामवाद' मानते हैं तो इसका अर्थ यह होगा—कि दूसरे ने कर्म किया और उसका फल दूसरे को प्राप्त हुआ 'मजा मारे गाजी मियां, मार खाये डफाली।' 'एक ने जो भोजन किया दूसरे ने उसका वमन किया' ऐसा मानना युक्ति विरुद्ध और असंगत है। ऐसा देखा जाता है, कि प्रत्येक प्राणी किसी स्वार्थ को लेकर ही किसी कार्य में प्रवृत्त होता है। यदि

१. (क) करणान्यान्यता दृष्टा कर्तुः कर्ता स एव तु ।
कर्ता हि करणैर्युक्तः कारणं सर्वकर्मणाम् ॥
निमेषकालाद् भावानां कालः शीघ्रतरोऽत्यये ।
भग्नानां न पुनर्भावः कृतं नान्यमुपैति च ॥
मतं तत्त्वविदामेतद् यस्मात्तस्मात् स कारणम् ।
क्रियोपभोगे भूतानां नित्यः पुरुषसंज्ञकः ॥

—चरक० शा० १।४९-५१

- (ख) शरीरस्य न चैतन्यं मृतेषु व्यभिचारतः ।
तथात्वं चेन्द्रियाणामुपघाते कथं स्मृतिः ॥
मनोऽपि न तथा ज्ञानाद्यनध्यक्षं तदा भवेत् ।
धर्माधर्माश्रयोऽध्यक्षो विशेषगुणयोगतः ॥
प्रवृत्त्याद्यनुमेयोऽयं रथगत्येव सारथिः ।
अहंकारस्याश्रयोऽयं मनोमात्रस्य गोचरः ॥

—कारिकावली प्र० ४८-५०

‘आत्मा’ नहीं मानेंगे तो अपने लिए भोजन पकाने वाले व्यक्ति का पका पकाया तैयार भोजन दूसरा ग्रहण कर लेगा,^१ तो फिर इस स्थिति में कोई क्यों दूसरे के लिए भोजन पकावेगा। मनुष्य जो भी कार्य करता है, यदि फलोप-भोग में उसको हिस्सा नहीं मिले, तो वह किसी भी कार्य के करने में प्रवृत्त ही नहीं होगा।

अतः कोई ऐसा तत्त्व है, जो शरीर में यावज्जीवन रहता है और जिसके रहने से ही शरीर विविध प्रकार के व्यापारों में रुचि लेता है एवं वह फलोप-भोग के प्रति भी आस्थावान् होता है, वही आत्मा है।

देहातिरिक्त ‘चेतना’ के होने के ही कारण अहंकार, कर्म, कर्मफल, देहान्तर-गति, स्मृति आदि की सत्ता देखी जाती है।^२ पुनर्जन्म के सम्बन्ध में जो आत्मोपदेश, प्रत्यक्ष, अनुमान और युक्ति प्रमाणों^३ का उल्लेख किया गया है, उनसे भी ‘देहातिरिक्त आत्मा के अस्तित्व’ की सिद्धि होती है।

१. तेषामन्यैः कृतस्यान्ये भावा भावैर्नवाः फलम्।

भुञ्जते सदृशाः प्राप्तं यैरात्मा नोपदिश्यते ॥

—चरक० शा० १।४८

२. अहंकारः फलं कर्म देहान्तरगतिः स्मृतिः।

विद्यते सति भूतानां कारणे देहमन्तरा ॥ —चरक० शा० १।५२

३. (क) प्रत्यक्षमपि चोपलभ्यते मातापित्रोर्विसदृशान्यपत्यानि, तुल्य-सम्भवानां वर्णस्वराकृतिसत्त्वबुद्धिभाग्यविशेषाः प्रवरावरकुलजन्म, दास्यैश्वर्यं, सुखासुखमायुः, आयुषो वैषम्यम्, इहाकृतस्यावाप्तिः अशिक्षितानां च रुदितस्तन-पानहासत्रासादीनां प्रवृत्तिः, लक्षणोत्पत्तिः, कर्मसादृश्ये फलविशेषः, मेघा क्वचित्, क्वचित्कर्मण्यमेघा, जातिस्मरणम्, इहागमनमितश्च्युतानां च भूतानां समदर्शने प्रियाप्रियत्वम्।

(ख) अत एवानुमीयते—यत् स्वकृतमपरिहार्यमविनाशि पौर्वदेहिकं देव-संज्ञकमानुबन्धिकं कर्म यस्यैतत् फलम्, इतश्चान्यद्भविष्यतीति फलादबीजमनु-मीयते फलं च बीजात्।

(ग) युक्तिश्चैषा—षड्धातुसमुदयाद् गर्भजन्म, कर्तृकरणसंयोगात् क्रिया, कृतस्य कर्मणः फलं नाकृतस्य, नाङ्कुरोत्पत्तिरबीजात्, कर्मसदृशं फलं नान्य-स्माद् बीजादन्यस्योत्पत्तिः; इति युक्तिः।

(घ) एवं प्रमाणैश्चतुर्भिरुपदिष्टे पुनर्भवे धर्मद्वारेष्ववधीयेत, तद्यथा—गुरु-शुश्रूषायामध्ययने... देहवाङ्मानसे कर्मण्यविलष्टे देहेन्द्रियमनोऽर्थबुद्ध्यात्म-परीक्षायां मनःसमाधाविति, यानि चान्यान्यप्येवंविधानि कर्माणि सतामवि-

जीवात्म-परमात्म-भेद से पुरुष-पञ्चक

परमात्मा के पाँच प्रकार—१-भूतात्मा, २-इन्द्रियात्मा, ३-प्रधानात्मा
४-जीवात्मा, ५-परमात्मा,

(१) भूतात्मा—पञ्चमहाभूतात्मक शरीर को धारण करने के कारण आत्मा को 'धाता'^१ कहा गया है। जब आत्मा का गर्भ में अवतरण होता है तब वह सूक्ष्मभूतों के साथ ही गर्भ में प्रवेश करता है,^२ इसलिए पांचभौतिक गर्भशरीर के निर्माणकर्ता होने तथा उसमें रहने के कारण उसे 'भूतात्मा' कहा जाता है।^३

यह आत्मा जब एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में प्रवेश करता है, तब वह सूक्ष्मभूतों (पञ्चतन्मात्राओं) के साथ ही प्रवेश करता है।^४ सूक्ष्म-शरीर लिङ्गशरीर और भूतात्मा ये तीनों पर्यायवाचक शब्द हैं। जीव के साथ जब तक वासना (कर्मफल) का लगाव होता है, तब तक वह अपने कर्मों का फल भोगने के लिए नाना योनियों में भ्रमण करता रहता है और वह लिङ्गशरीर से सम्बद्ध रहता है।^५ लिङ्गशरीर या सूक्ष्मशरीर किंवा भूतात्मा बुद्धि, अहङ्कार, मन, दश इन्द्रिय तथा पञ्चतन्मात्रा का समुदाय है।^६ इसमें ये अठारह तत्त्व रहते हैं।

वेदान्त के अनुसार पञ्चतन्मात्रा या 'देहबीजभूत सूक्ष्म' को 'भूतात्मा' गहितानि स्वर्ग्याणि वृत्तिपुष्टिकराणि विद्यात् तान्यारभेत कर्तुं, तथा कुर्वन्निह चैव यशो लभते प्रेत्य च स्वर्गम्।

—चरक० सूत्र० ११।३०-३३

१. क्षेत्रज्ञो वेदयिता.....धाता.....आदिभिः पर्यायवाचकैर्नाभिभरिभि-
धीयते।

—सु० शा० ३।४

२. भूतात्मना सहान्वक्षं.....गर्भाशयमनुप्रविश्यावतिष्ठते।

—सु० शा० ३।४

३. तस्मादात्मस्थसूक्ष्मभूतादेव बीजरूपात् शुक्रशोणितयुक्ताद् गर्भजन्मेति।

—च० शा० २।३६ पर चक्रपाणि

४. भूतैश्चतुर्भिः सहितः सुसूक्ष्मैर्मनोजवो देहमुपैति देहात्।

—च० शा० २।३१

५. अतीन्द्रियैस्तैरतिसूक्ष्मरूपैरात्मा कदाचिन्न विद्युत्तरूपः।

न कर्मणा नैव मनोमतिभ्यां न चाप्यहङ्कारविकारदोषैः॥

—च० शा० २।३७

६. महदहङ्कारैकादशेन्द्रियपञ्चतन्मात्रपर्यन्तम्। एषां समुदायः सूक्ष्मं
शरीरम्।

—सांख्यतत्त्वकोमुदी

कहते हैं। मनुस्मृति में कर्म करने वाले (आत्मा) को 'भूतात्मा' कहा गया है।^१ सांख्यशास्त्र में इसे 'लिङ्ग' कहा गया है। सत्त्व, रज एवं तम इन गुणों के कारण, धर्म-अधर्म-ज्ञान-अज्ञान-वैराग्य-अवैराग्य-ऐश्वर्य-अनैश्वर्य ये आठ भाव 'लिङ्गशरीर' में पुष्प में गन्ध और वस्त्र में रंग की तरह प्रविष्ट हो जाते हैं, एवं इन्हीं भावों के अनुसार वह पूर्व-पूर्वशरीरों को छोड़कर नये-नये शरीरों में प्रवेश करता रहता है।^२ आचार्य सुश्रुत ने भी 'कर्मपुरुष' के विषय में यह कहा है—कि वह धर्म-अधर्म के कारण पशु, पक्षी, मनुष्य या देवयोनि में संचरण करता है। आयुर्वेद का यह नित्य पुरुष ही 'भूतात्मा' है।^३ चरकाचार्य ने कहा है, कि मन-बुद्धि इन्द्रिय रूपकरण से रहित 'भूतात्मा' न कर्म करता है न फलोपभोग करता है,^४ अपितु जब वह करणयुक्त होता है तब सभी कर्मों का कारण होता है।^५

(२) इन्द्रियात्मा—जिस प्रकार परमशान्त सन्यासी रागद्वेष आदि से रहित होकर संसार का द्रष्टामात्र होता है, उसी तरह 'परमात्मा' निर्विकार होता है। वह स्वयं अकेले साक्षी, द्रष्टामात्र होता है, वह किसी भी प्रकार के विकार से ग्रस्त नहीं होता है। यह 'चेतनाधातु' एकधातुक पुरुष है।^६ आत्मा के साथ पर विशेषण लगने से सूक्ष्म और श्रेष्ठ आत्मा (परमात्मा) का बोध होता है।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि जब परमात्मा निर्विकार है तो ज्ञानरूपी विकार भी उसमें है या नहीं? जिसका समाधान करते हुए आचार्य चरक ने कहा है, कि जब आत्मा के साथ मन, महाभूतों के गुण, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध तथा श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, घ्राण इन ज्ञानेन्द्रियों का साहचर्य होता है, तब आत्मा में चैतन्य की अभिव्यक्ति होती है।^७ आत्मा की चेतनता उसके

१. यः करोति तु कर्माणि स भूतात्मोच्यते बुधैः । —मनुस्मृति

२. पूर्वोत्पन्नमसक्तं नियतं महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम् ।

संसरति निरुपभोगं भावैरधिवासितं लिङ्गम् ॥ —सांख्यकारिका ४०

३. आयुर्वेदशास्त्रसिद्धान्तेष्वसर्वंगताः क्षेत्रज्ञा नित्याश्च, तिर्यग्योनिमानुष-
देवेषु सञ्चरन्ति धर्माधर्मनिमित्तम् । —सु० शा० १।१७

४. नैकः प्रवर्तते कर्तुं 'भूतात्मा' नाश्नुते फलम् । —च० शा० १।५७

५. कर्ता हि करणैर्युक्तः कारणं सर्वकर्मणाम् । —च० शा० १।४९

६. चेतनाधातुरप्येकः स्मृतः पुरुषसंज्ञकः । —च० शा० १।१६

७. निर्विकारः परस्त्वात्मा सत्त्वभूतगुणेन्द्रियैः ।

चैतन्ये कारणं, नित्यो द्रष्टा पश्यति हि क्रियाः ॥ —च० सू० १।५६

इन्द्रियों, मन एवं बुद्धि से संयुक्त होने पर होती है ।^१ इस प्रकार आत्मा को ज्ञानवान्, साक्षी,^२ चेतन तथा कर्ता के रूप में अभिव्यक्त करने में इन्द्रियों की प्रमुख भूमिका होने के कारण परमात्मा की एक संज्ञा 'इन्द्रियात्मा' है ।

इसी आशय से सुश्रुत ने स्प्रष्टा, घ्राता, द्रष्टा, श्रोता, रसयिता और वक्ता आदि नामों को आत्मा का पर्यायवाची कहा है ।^३ आत्मा को 'वक्ता' नाम से कहने से 'बोलनेवाला' यह अर्थ निकलता है । 'वक्ता' यह उपलक्षण^४ है, जिससे कर्मेन्द्रियों (वाक्, पाणि, पाद, गुद और उपस्थ) के क्रमशः वचन, आदान, विहरण, उत्सर्ग तथा आनन्द कर्मों का भी आत्मा ही हेतु है, यह समझना चाहिए । इन्द्रिय और आत्मा परस्पर आश्रित हैं ।

एवञ्च ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों के समस्त व्यापार का जनक होने से परमात्मा 'इन्द्रियात्मा' कहा जाता है ।^५

(३) प्रधानात्मा—दर्शन शास्त्र में शरीर को क्षेत्र कहते हैं—इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते । (भगवद्गीता १३।१) । इस शरीर का जो ज्ञाता या साक्षी है, वह क्षेत्रज्ञ कहलाता है—अव्यक्तमस्य क्षेत्रस्य क्षेत्रज्ञमृषयो विदुः (च० शा० १।६५) । क्षेत्रज्ञ के लिए ज्ञ, आत्मा, पुरुष आदि पर्याय शब्द प्रयुक्त होते हैं । आत्मा की सत्ता आयुर्वेद के सभी प्रसङ्गों में प्रधान रूप से प्रतिपादित है ।

पुरुष (एकधात्विक, षड्धात्विक, चतुर्विंशतिक, पंचविंशतिक) त्रिदण्ड, (सत्त्वमात्मा शरीरश्च त्रयमेतत् त्रिदण्डवत्—च० सू० १।४६) आयु,^६ आदि

१. आत्मा ज्ञः करणैर्योगात् ज्ञानं त्वस्य प्रवर्तते । —च० शा० १।५४

(करणानि मनोबुद्धिर्बुद्धिकर्मेन्द्रियाणि च । च० शा० १।५६)

२. ज्ञः साक्षीत्युच्यते नाज्ञः साक्षी त्वात्मा यतः स्मृतः ॥

—च० शा० १।८३

३. सु० शा० ३।४

४. (वक्ता) एतेन कर्मेन्द्रियाणामपि वचनादानविहरणोत्सर्गदिश्चाप्यय-
मेव हेतुः । —सु० शा० ३।४ पर डल्हणटीका

५. न कर्तुरिन्द्रियाभावात् कार्यज्ञानं प्रवर्तते ।

या क्रिया वर्तते भावैः सा विना तैर्न वर्तते ॥

ज्ञानमपि मृदोऽभावात् कुम्भकृत् प्रवर्तते ॥ —च० शा० १।२७-२८

६. शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोगो धारि जीवितम् ।

नित्यगश्चानुबन्धश्च पर्यायैरायुरुच्यते ॥ —च० सू० १।४२

के वर्णन में आत्मा की प्रधानता सर्वोपरि मानी गयी है। 'सांख्यशास्त्र'¹ में आत्मा की प्रधानता के विषय में निम्नलिखित युक्तियाँ दी गयी हैं—(१) जगत् के समस्त पदार्थ संघातमय हैं, घर ईंट, पत्थर, चूना, सुर्खी, बालू, सीमेन्ट आदि वस्तुओं का समुदाय है। वल्ल अनेक तन्तुओं का समूह है। संगठित वस्तुओं का यह स्वभाव है, कि वे किसी अन्य व्यक्ति के उपभोग के लिए हुआ करती हैं, और वह जगत् से विलक्षण 'आत्मा' है। (२) त्रिगुणमय प्रकृति से भिन्न त्रिगुणातीत आत्मा है। (३) अचेतन प्रकृति में चेतन आत्मा अधिष्ठित है, तभी वह प्रवृत्तिमय है, अतः उसमें आत्मा का अस्तित्व है। (४) संसार के समस्त पदार्थ भोग्य हैं, इनका भोक्ता जगत् के पदार्थों से भिन्न आत्मा है। (५) इस संसार में कुछ मानव ऐसे भी दीख पड़ते हैं जो दुःखों से व्यथित होकर मुक्ति पाने के लिए प्रयत्नशील है। मुक्ति के लिए प्रवृत्ति इस बात की सूचना देती है, कि कोई वस्तु ऐसी अवश्य है जो चेतनावान् तथा विवेकशील है, वह वस्तु आत्मा है।

आत्मा में चैतन्य होने के कारण उसकी प्रधानता निर्विवाद है।² इस शरीर का मूल्य आत्मा के अधिष्ठान होने के कारण है। जब यह आत्मा शरीर से अलग हो जाता है, तब यह शरीर अचेतन होता है एवं शरीर को मृत कहा जाता है और शरीर में उपलब्ध आत्मा के गुण नहीं मिलते।³

इस प्रकार चतुर्विंशति या पञ्चविंशति तत्त्वों से निर्मित यह शरीर आत्मा का घर होने के कारण ही जीवित रहता है, अतः आत्मा की ही प्रधानता होने के कारण आत्मा को 'प्रधानात्मा'⁴ कहा जाता है।

(४) जीवात्मा—चिकित्सा का अधिकरण पुरुष, संयोगपुरुष, कर्मपुरुष, राशिपुरुष आदि शब्दों से 'जीवात्मा' को जाना जाता है। यह परमात्मा का ही अंश है। यह प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न है और अनेक है। यह अपने कर्मों के फल स्वरूप विभिन्न योनियों में जन्म लेता है, मरता है, पुनः जन्म लेता है।

१. संघातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात्।

पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेः॥

—सांख्यकारिका १७

२. चेतनावान् यतश्चात्मा ततः कर्ता निरुच्यते।

—च० शा० १।७६

३. शरीरं हि गते तस्मिन् शून्यागारमचेतनम्।

पञ्चभूतावशेषत्वात् पञ्चत्वं गतमुच्यते॥ —च० शा० १।७४

४. तत्र प्रधानमसक्तं सर्वसन्ताननिवृत्तौ निवर्तते इति।

—च० शा० ७।१८

उसका यह सिलसिला तब तक बना रहता है जब तक वह कर्मों के बन्धन से मुक्त नहीं हो जाता ?^१

पुरुषो राशिसंज्ञस्तु मोहेच्छाद्वेषकर्मजः । (च० शा० १।५३)

यह प्राणियों को जीवित रखता है । जब तक शरीर में यह रहता है उतने ही काल तक वह प्राणी जीवित रहता है । एवं जीवन का आधार होने के कारण इसे 'जीवात्मा' कहते हैं । यह जीवात्मा, आत्मज्ञान इन्द्रियव्यापार, प्राण-अपान, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, चेतना, छृति, बुद्धि, स्मृति तथा अहङ्कार आदि का मूल कारण है ।^२ यह सगुण है और कर्मफलोपभोक्ता होता है । जब यह एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में जाता है तो यही इसकी मृत्यु कही जाती है, वस्तुतः न यह मरता है न तो जन्म लेता है—'नायं भ्रियते जायते वा कदाचित्' ।

(५) परमात्मा—परमात्मा अनादि है । इसका कोई कारण नहीं है । जो सत् और कारणरहित होता है, वह नित्य होता है ।^३ यह निर्विकार होता है ।^४ प्राण, अपान, निमेष, उन्मेष, जीवन, मन की गति, इन्द्रियान्तरसंचार या विकार, प्रेरण, धारण, स्वप्न में देशान्तरगमन, मरण, दायीं आँख से देखे हुए का बायीं आँख से ज्ञान, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, प्रयत्न, चेतना, धैर्य, बुद्धि, स्मृति, अहंकार, मनःसंकल्प, विचारणा, विज्ञान, अध्यवसाय और विषयग्रहण ये सब परमात्मा के गुण और चिह्न हैं ।^५

१. रजस्तमोभ्यां हि मनोऽनुबद्धं ज्ञानाद्विना तत्र हि सर्वदोषाः ।

गति प्रवृत्त्योस्तु निमित्तमुक्तं मनः सदोषं बलवच्च कर्म ॥

—च० शा० २।४८

२. आत्मज्ञानं मन इन्द्रियाणि.....स्मृतिरहंकारः प्रयत्नश्चेत्यात्मजानि ।

—सु० शा० ३।१६

३. प्रभवो नह्यनादित्वाद्विद्यते परमात्मनः ।

अनादिः पुरुषो नित्यो (विपरीतस्तु हेतुजः) ।

सदकारणवन्नित्यं (दृष्टं हेतुजमन्यथा) ॥ —च० शा० १।५३, ५९

४. निर्विकारः परस्त्वात्मा सत्त्वभूतगुणेन्द्रियैः ।

चैतन्ये कारणं नित्यो द्रष्टा पश्यति हि क्रियाः ।

५. प्राणापानौ निमेषाद्या जीवनं मनसो गतिः ।

इन्द्रियान्तरसंचारः प्रेरणं धारणं च यत् ॥

देशान्तरगतिः स्वप्ने पञ्चत्वग्रहणं तथा ।

दृष्टस्य दक्षिणेनाक्षणा सव्येनावगमस्तथा ॥

परमात्मा का निरूपण

परमात्मा अनादि है क्योंकि इसकी किसी से उत्पत्ति नहीं होती है ।^१ इसका अस्तित्व सदैव रहता है । अनादि और कारणरहित होने के कारण वह नित्य है ।^२ उसे अव्यक्त, आत्मा क्षेत्रज्ञ, शाश्वत, विभु और अव्यय कहा गया है ।^३

शरीर में धातुवैषम्य होने को विकार कहते हैं और विकार का प्रभाव शरीर और मन पर तो पड़ता है, किन्तु आत्मा पर उसका कोई प्रभाव नहीं होता । अत एव आत्मा मन और शरीर से पर (उत्कृष्ट) होने के नाते उसे परात्मा या परमात्मा कहते हैं ।^४

आत्मगत चेतना परमप्रकाशरूपा है । आत्मा स्वयं सत् चित् आनन्द है । वह सांसारिक राग भोग से सर्वथा निर्लिप्त रहता है । अविद्यारूपी अन्धकार से अतीत और सूर्य की भाँति स्वयंप्रकाश स्वरूप है ।^५ वह सर्वश्रेष्ठ है, वह सूक्ष्म से सूक्ष्म और महान् से महान् है । वह पाणि-पाद से रहित होकर भी सभी वस्तुओं का ग्रहीत है उसमें तीव्रवेग है । वह समस्त ज्ञेय भावों को जानता है, दृश्य को देखता है, श्रव्य को सुनता है, उसे जानने वाला कोई नहीं है, जो उसके ऐश्वर्य की इयत्ता का परिसीमन कर सके ।^६ वह जरा-मृत्यु के विकारों से रहित है, उससे खाली तिल भर भी जगह नहीं है । वह निर्विकार परमात्मा परमशान्त यति (संन्यासी) की तरह सांसारिक क्रियाओं का द्रष्टामात्र है, उसके ऊपर सुख, दुःख, रागद्वेषादि का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है ।

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं प्रयत्नश्चेतना घृतिः ।

बुद्धिः स्मृतिरहंकारो लिङ्गानि परमात्मनः ॥—च० शा० १।७०-७२

१ प्रभवो न ह्यनादित्वाद् विद्यते परमात्मनः । —च. शा. १।५३

२. अनादिः पुरुषो नित्यो विपरीतस्तु हेतुजः । —च. शा. १।५९

३. अव्यक्तमात्मा क्षेत्रज्ञः शाश्वतो विभुरव्ययः । —च. शा. १।६१

४. निर्विकारः परस्त्वात्मा सत्त्वभूतगुणेन्द्रियैः ।

चैतन्ये कारणं नित्यो द्रष्टा पश्यति हि क्रियाः ॥ —च. सू. १।५६

५. वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।

तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥

—श्वेताश्वतरोपनिषद् ३।८

६. अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः ।

स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुर्ग्रथं पुरुषं महान्तम् ॥

—श्वेताश्वतरोपनिषद् ३।१९

निर्विकार परमात्मा ज्ञान, कर्म, रोग, राग, द्वेष आदि समस्त विकारों से परे निर्गुण निरीह तथा तटस्थ भाव से रहता है। वह शरीर में होने वाले या बाह्य जगत् में होने वाले कार्यों का निलिप्त भाव से द्रष्टामात्र है, उसके ऊपर उनका कोई असर नहीं होता।

उस परमात्मा में चैतन्य की अभिव्यक्ति तब होती है, जब वह मन, पंच—महाभूतों के गुण, शब्द, स्पर्श, रूप रस और गन्ध तथा इन्द्रियों के साथ होता है।^१ परमात्मा में रज-तम का कोई प्रभाव नहीं होता है, इसलिए न वह किसी से प्रेम करता है न द्वेष करता है। आत्मा सर्वगत और महान् है अतः आत्मा को व्यापक माना गया है।^२ व्यापक होते हुए भी आत्मा जब अकेला होता है एवं उसका महाभूत या मन एवं इन्द्रिय का साथ नहीं होता, तो उसे किसी भी प्रकार की वेदना की अनुभूति नहीं होती।^३ आत्मा के जो लक्षण कहे गये हैं—सुख-दुख आदि, वे भी चतुर्विंशतितत्त्वात्मक पुरुष के समझने चाहिए, क्योंकि अकेले परमात्मा की अभिव्यक्ति का कोई लक्षण नहीं प्राप्त होता है।^४ आयुर्वेद में 'रोगों का अधिष्ठान मात्र शरीर और मन है'^५ ऐसा कहने का यही तात्पर्य है, कि परमात्मा निर्विकार, निर्मल, प्रकाशस्वरूप, ज्ञानस्वरूप, निरवद्य और निरञ्जन है।^६

परमेश्वर-विचार

आयुर्वेद शास्त्र में परमात्मा, (च. शा. १।५३) पुरुष (च. शा. १।५९)

१. 'सत्त्वभूतगुणेन्द्रियैः चैतन्ये कारणम् ।' —च. सू. १।५६
चक्रपाणि टीका—सत्त्वं मनः, भूतगुणाः शब्दादयः, इन्द्रियाणि चक्षुरादीनि एतैः करणभूतैश्चैतन्ये कारणं भवत्यात्मा, चैतन्यं चात्मनि जायते व्यज्यते वा; अत एव सत्त्वादीनां ज्ञानकारणानां सर्वत्रासम्भवात्सर्वगतोऽप्यात्मनि न सर्वत्र ज्ञानं भवति ।
२. विभुत्वमत एवास्य यस्मात् सर्वगतो महान् । —च. शा. १।८०
३. संयोगपुरुषस्येष्टो विशेषो वेदनाकृतः । —च. शा. १।८५
४. नैकः कदाचिद्भूतात्मा लक्षणैरुपलभ्यते ।
विशेषोऽनुपलभ्यस्य तस्य नैकस्य विद्यते ॥ —च. शा. १।८४
५. शरीरं सत्त्वसंज्ञं च व्याधीनामाश्रयो मतः । —च. सू. १।५५
६. न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥
निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम् ।
अमृतस्य परं सेतुं दग्धेन्धनमिवानलम् ॥—श्वेताश्वतरोपनिषद् ६।१४, १९

ब्रह्म (च. शा. १।१५५) भूतात्मा (च. शा. १।८४) आदि पदों से परमेश्वर के सम्बन्ध में विचार प्रस्तुत किया गया है। आत्मा के दो भेद होते हैं—(१) परमात्मा (२) जीवात्मा। इनमें जीवात्मा का वर्णन 'पुरुषपञ्चक' शीर्षक में किया जा चुका है। यहाँ परमात्मा का विचार करना अभीष्ट है।

आयुर्वेद शास्त्र सर्वविधज्ञान का सामञ्जस्य उपस्थित करता है, इसलिए इसमें दार्शनिक विषय भी पर्याप्त रूप में वर्णित है। परमात्मा शब्द से 'परमेश्वर' को ही समझना चाहिए। परमेश्वर (परमात्मा) निर्विकार होता है।^१ वह अनादि होने से नित्य है।^२ ब्रह्मरूप में वह अज्ञेय, अलक्षण, अक्षर, अव्यय, अमृत आदि पर्यायों से सम्बोधित किया गया है।^३ यह परमेश्वर महाभूतों से असंयुक्त होने के कारण अनुपलभ्य और अज्ञेय होता है।^४ गीता में ब्रह्म (परमेश्वर) को परम अक्षर (अविनाशी) कहा गया है।^५ अनादि और निर्गुण होने से परमेश्वर अव्यय है।^६ परमेश्वर का न कोई रूप है, न आदि है, न अन्त है।^७ सूर्य, चन्द्र या अग्नि की प्रभा उसे नहीं प्रकाशित करती।^८ वस्तुतः क्षर और अक्षर ये पुरुष (आत्मा) के दो भेद होते हैं। उनमें कूटस्थ परम सन्तुष्ट 'अक्षर' (परमेश्वर) है और जीवात्मा, जो अपने कर्मों के फलोपभोग के लिए नानायोनियों में जन्म लेता फिरता है, वह 'क्षर' है। इन दोनों में अक्षररूपी पुरुष उत्तम है, अत एव वह पुरुषोत्तम, ईश्वर, परब्रह्म परमेश्वर आदि नामों से कहा जाता है।^९

१. निर्विकारः परस्त्वात्मा ।

—च. सू. १।५६

२. अनादिः पुरुषो नित्यः ।

—च. शा. १।५८

३. याति ब्रह्म यथा नित्यमजरं शान्तमव्ययम् ॥

तथा—

विपापं विरजः शान्तं परमक्षरमव्ययम् ॥

च. शा. ५।१९, २३

४. नैकः कदाचिद् भूतात्मा लक्षणैरुपलभ्यते ।

—च. शा. १।८४

५. अक्षरं ब्रह्म परमम् ।

—गीता ८।३

६. अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः ।

—गीता १३।३१

७. न रूपमस्येह तथोपलभ्यते, नान्तो न चादिः...

—गीता १५।३

८. न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।

—गीता १५।६

९. द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।

क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।

यो लोकत्रयमाविश्य विभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥

—गीता १५।१६-१७

परमेश्वर के विषय में कहा गया है—‘अपाणिपादो जवनो ग्रहीता, पश्यत्य-
चक्षुः स शृणोत्यकर्णः’ अर्थात् ‘विनु पग चलै, सुनै विनु काना । कर विनु कर्म
करै विधि नाना’ ॥ वह परमात्मा एक है परन्तु सभी रूपों में उसका ही प्रति-
बिम्ब झलक रहा है—‘रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव’ । चन्द्र, सूर्य तारा विद्युत्
और अग्नि की प्रभा उसे नहीं प्रकाशित करती, अपि तु वह स्वयं प्रकाशमान्
है और उसके ही प्रकाश से प्रकाश ग्रहण कर सूर्य, चन्द्र, तारागण और
विजलियाँ चमकती हैं ।^१

वह सच्चिदानन्द परात्पर परब्रह्मा परमेश्वर आनन्द की राशि है । वह
अणु से भी अति सूक्ष्म (अणीयान्) और महान् से भी महत्तम है । उसे वही
देख सकता है जो शोक आदि विकारों से रहित है और वह जिसे स्वयं ही
ही अपनी झलक दिखा देवे—‘सो जानइ जेहि देहु जनाई’ ।^२

उस परमेश्वर का ही अंश ‘जीवात्मा’ के रूप में सभी प्राणियों में भिन्न-
भिन्न रूपों में रहता है, वह भोक्ता और कर्ता आदि उपाधि धारण करता है,
क्योंकि पूर्वकृत कर्मों का फल भोगने के लिए जन्म ग्रहण करता है और पुनः कर्म
करता है, जिससे संचित कर्म के अनुसार नये नये शरीर धारण करता है ।^३

जीवात्मा का परमेश्वर से मिलन

जब जीवात्मा की बुद्धि सत्वगुणसम्पन्न होती है तो वह धैर्य पूर्वक आत्म
नियन्त्रण करने में समर्थ होता है । शब्दादि इन्द्रियविषयों को छोड़कर राग-द्वेष
के बन्धन को छिन्न-भिन्न कर एकान्तवासी हो जाता है । वह लघु आहार ग्रहण
करता है, मात्र जीवित रहने के लिए । वह देह, मन और वाणी पर नियन्त्रण
रखता है । वह वैराग्य धारण कर ध्यानयोग में लीन हो जाता है । इस प्रकार
अहंकार, काम, क्रोध और ममता तथा संचय की प्रवृत्तियों से मुक्त होकर

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः

सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।

साक्षी चेता केवलो निगुणश्च ॥

—श्वेताश्वतरोपनिषद् ६।११

१. न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।

तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥

—कठोपनिषद् २।२।१५

२. अणोरणीयान्महतो महीयानात्माऽस्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् ।

तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुप्रसादान्महिमान्मात्मनः ॥

—कठोपनिषद् १।२।२०

३. ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।

—गीता १५।७

‘परमेश्वर’ (ब्रह्म) में विलीन हो जाता है ।^१ तब वह प्रसन्नात्मा परब्रह्म में एकाकार हो जाने से सभी प्रकार की उपधा (तृष्णा) से मुक्त हो जाता है ।^२

यही परम पुरुषार्थ, निर्वाण, मोक्ष, अमृत, ब्रह्म और शान्ति है,^३ इस चरम सन्यास की स्थिति में समस्त तत्त्वज्ञान और समस्त वेदनाएँ समूल नष्ट हो जाती हैं ।^४

आयुर्वेद में परमेश्वर-स्मरण का विधान

आयुर्वेद चतुर्विंशतितत्त्वात्मक पुरुष^५ की चिकित्सा का शास्त्र है । चौबीस तत्त्वों का मूल ‘अव्यक्त’ है और वह अव्यक्त ही परमात्मा या परमेश्वर है । वह क्षेत्रज्ञ है शाश्वत तथा अव्यय है—‘अव्यक्तमात्मा क्षेत्रज्ञः शाश्वतो विभुरव्ययः (च. शा. १।६१) । वह अतीन्द्रिय है और अनुमान से जाना जाता है—‘लिङ्गग्राह्यमतीन्द्रियम्’ (च. शा. १।६२) ।

प्राचीन आयुर्वेद मनीषियों ने नास्तिक्य बुद्धि के परित्याग और पुनर्जन्म के प्रति सन्देह भावना को छोड़ने के लिए विस्तारपूर्वक सप्रमाण उपदेश किया है ।^६ नास्तिकता को घोर पातक कहा गया है^७ और परमेश्वर की पूजा बतलाता है । गर्भ आत्मज है ? इस विषय के प्रतिपादन के प्रसङ्ग में ‘जीव’ को शाश्वत अरुज-अजर-अमर-अक्षय-अभेद्य-अच्छेद्य-अलोढ्य-विश्वरूप-विश्वकर्मा-

१. अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।

विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥

—गीता १८।५३

२. उपधा हि परो हेतुर्दुःखदुःखाश्रयप्रदः ।

त्यागः सर्वोपधानां च सर्वदुःखव्यपोहकः ॥

—च. शा. १।९५

३. अमृतं ब्रह्म निर्वाणं पर्यायैः शान्तिरुच्यते ।

—च. शा. ५।२३

४. तस्मिंश्चरमसन्यासे समूलाः सर्ववेदनाः ।

ससंज्ञाज्ञानविज्ञाना निर्वृत्तिं यान्त्यशेषतः ॥

—च. शा. १।१५४

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।

प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥

—गीता ९।१८

५. पुनश्च धातुभेदेन चतुर्विंशतिकः स्मृतः ।

मनो देशेन्द्रियाण्यर्थाः प्रकृतिश्चाष्टधातुकी ॥

—च. शा. १।१७

६. तस्माद् बुद्धिमान् नास्तिक्यबुद्धिं जह्याद्विचिकित्सां च । कस्मात् ?

प्रत्यक्षं ह्यल्पः अनल्पमप्रत्यक्षमस्ति, यदागमानुमानयुक्तिभिरुपलभ्यते । यैरेव तावदिन्द्रियैः प्रत्यक्षमुपलभ्यते, तान्येव सन्ति चाप्रत्यक्षाणि ।

—च. सू. १।१७

७. पातकेभ्यः परं चैतत्पातकं नास्तिक्यग्रहः ।

—च. सू. १।१५

अनादि-अनिघन और अक्षर कहा गया है। यह भी कहा गया है, कि 'अनादि' होने से आत्मा का जन्म नहीं होता है। यह सब कथन 'परमेश्वर' को इंगित करता है।^१

'सत्याबुद्धि' के उदय होने से तत्त्वज्ञान हो जाने पर जब सभी प्रकार के कर्मों का बन्धन छूट जाता है, तब ब्रह्मपद की उपलब्धि हो जाती है जो अजर शान्त और अव्यय है। यहाँ भी 'ब्रह्म' पद 'परमेश्वर' में ही संकेतित है।^२

जब गुणवान् पुत्र या गुणवती कन्या के जन्म की लालसा से स्त्रीपुरुष यथोचित विधि-विधान से सहवास करें, उस समय ब्रह्मा, बृहस्पति, विष्णु, सोम, सूर्य, अश्विनीकुमार, भग और मित्रावरुण की प्रार्थना का मन्त्र पढ़ने का निर्देश किया गया है। यहाँ विष्णु 'परमेश्वर' हैं, जो सर्वप्रमुख देव है।^३

एवञ्च प्रसवकाल में निविघ्न, पीडारहित, प्रसव कराने के लिए किसी अनुरक्त स्त्री द्वारा प्रसवित्री के कान में 'विष्णु' आदि देवताओं की प्रार्थना के मन्त्रपाठ का निर्देश किया गया है—(यहाँ भी 'विष्णु' शब्द परमेश्वर के ही अर्थ का बोधक है)

'क्षितिर्जलं वियत्तेजो वायुर्विष्णुः प्रजापतिः ।

सगर्भा त्वां सदा पान्तु वैशत्यं च दिशन्तु ते ॥ —च. शा. ८।४२

शरीर को बलशाली बनाने के लिए 'विष्णु'^४ (परमेश्वर) की प्रार्थना का विधान है। ज्वर को दूर करने के लिए विष्णुसहस्रनाम^५ का पाठ करने का निर्देश है। औषधपानमन्त्र में भी परमेश्वर की प्रार्थना की गयी है।^६

१. आत्मजश्चायं गर्भो गर्भात्मा ह्यन्तरात्मा यः, तं जीव इत्याचक्षते शाश्वत-मरुजमजरममरमक्षयमभेद्यमच्छेद्यमलोड्यं विश्वरूपं विश्वकर्माणमव्यक्तमनादि-मनिघ्नमक्षरमपि । यस्य पुनरात्मनो जन्मानादित्वात्त्रोपपद्यते ।

—च. शा. ३।१४

२. याति ब्रह्म यया नित्यमजरं शान्तमव्ययम् ।

(विद्या सिद्धिर्मतिर्मेषा प्रज्ञा ज्ञानं च सा मता) ॥ —च. शा. ५।१९

३. ब्रह्मा बृहस्पतिर्विष्णुः सोमः सूर्यस्तथाश्विनौ ।

भगोऽथ मित्रावरुणौ पुत्रं वीरं दधातु मे ॥

—च. शा. ८।९

४. 'विष्णुर्मे बलमादधातु' ।

—च. सू. ८।२८

५. विष्णुं सहस्रमूर्धानं चराचरपतिं विभुम् ।

स्तुवन्नामसहस्रेण ज्वरान् सर्वानपोहति ॥

—च. चि. ३।३१२

६. ॐ ब्रह्मादक्षाश्विरुद्रेन्द्रभूचन्द्रार्कनिलानलाः ।

ऋषयः सौषधिग्रामा भूतसंघाश्च पान्तु ते ॥

गंगा जल को औषध और नारायण (परमेश्वर) को वैद्य कहा गया है ।^१

अच्युतानन्द, गोविन्द के रूप में परमेश्वर का स्मरण करने से सभी प्रकार के रोग नष्ट हो जाते हैं ।^२

इस प्रकार विविध रूपों में स्वास्थ्य एवं चिकित्सा की सफलता के लिए 'परमेश्वर' के ऐश्वर्य का पुनः पुनः स्मरण विधान किया गया उपलब्ध होता है । चिकित्सा का एक प्रकार 'दैवव्यपाश्रय'^३ चिकित्सा है, जिसमें परमेश्वर के विविधरूपों की पूजा के अनेकशः प्रकार बतलाये गये हैं । आयुर्वेद आस्तिक्य भावना प्रधान शास्त्र है, इसलिए इस शास्त्र में प्रवीणता के लिए तथा सफल चिकित्सक बनने के लिए परमेश्वर की विभूति का स्मरण एक अनिवार्य कर्तव्य है ।

रसायनमिवर्षीणां देवानाममृतं यथा ।

सुधेवोत्तमनागानां भैषज्यमिदमस्तु ते ॥

—च. क. १।१४

१. भेषजं जाह्नवीतोयं वैद्यो नारायणो हरिः ।

—सूक्ति

२. अच्युतानन्द गोविन्द नामोच्चारणभेषजात् ।

नश्यन्ति सकला रोगाः सत्यं सत्यं वदाम्यहम् ॥

—सूक्ति

३. दैवव्यपाश्रयं नाम—मन्त्रौषधमणिमङ्गलवत्युपहारहोमनियमप्रायश्चित्तो-
पवासस्वस्त्ययनप्रणिपातगमनादि ।

—च. सू. ११।५४

दशम अध्याय

मनोविज्ञान

मन का निरूपण

मन का ज्ञानेन्द्रियों से बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है। जब मन साथ होता है, तभी ज्ञानेन्द्रियाँ अपने विषयों को ग्रहण करती हैं। इन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान का संकल्प-विकल्प मन ही करता है और वही कर्मेन्द्रियों द्वारा कार्य करता है। मन की गणना ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों में होती है, क्योंकि वह ज्ञानेन्द्रियों द्वारा अपना-अपना व्यापार तथा कर्मेन्द्रियों द्वारा अपना-अपना कर्म कराता है। बिना मन के न ज्ञानेन्द्रियाँ अपने विषयों का ज्ञान कर सकती हैं न कर्मेन्द्रियाँ अपनी क्रियाएँ कर सकती हैं। यतः मनःपुरःसर इन्द्रियाँ अपने कार्यों में प्रवृत्त होती हैं 'मनःपुरःसराणि इन्द्रियाणि अर्थग्रहणसमर्थानि भवन्ति' (चरक सूत्र ८।७)। अतः मन ज्ञान-कर्मेन्द्रिय (उभयात्मक) है। इसकी उत्पत्ति अन्य इन्द्रियों की तरह ही होती है। मन की गणना अन्तःकरण में भी की गयी है।

मन का स्वरूप—आत्मा के चैतन्य में मन की प्रमुख भूमिका रहती है। जब आत्मा मनःसंयुक्त होता है और मन इन्द्रिय संयुक्त होता है एवं इन्द्रिय अपने विषय से संयुक्त होती हैं तभी विषय का ज्ञान होता है। इस प्रकार मन की परिभाषा है—“सुख दुःख आदि के साक्षात्कार की साधनभूत इन्द्रिय को मन कहते हैं।”^१

मन का लक्षण

आत्मा इन्द्रिय और इन्द्रियार्थ का सम्बन्ध होते हुए भी कभी किसी विषय का ज्ञान होता है और कभी नहीं होता है। यह ज्ञान का होना या न होना किसी ज्ञानसाधक कारण को सूचित करते हैं और यह ज्ञानसाधक कारण 'मन' है, एवम् “ज्ञान का सद्भाव और ज्ञान का अभाव होना मन का लक्षण कहा गया है।”^२

१. सुखाद्युपलब्धिसाधनमिन्द्रियं मनः।

—तर्कसंग्रह

२. आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षे ज्ञानस्य भावोऽभावश्च मनसो लिङ्गम्।

—वै. द. ३।२।१

आत्मा का सब इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध होने पर भी एक काल में एक ही विषय का ज्ञान होना और दूसरे विषय का ज्ञान न होना मन की सिद्धि में प्रमाण है।

मन की निरुक्ति

मन्यतेऽनेन इति मनः (मन ज्ञाने) मनुते इति मनः (मनु अवबोधने) इन धातुओं से 'मन' शब्द बनता है। एवम् जिससे ज्ञान होता है, उसको मन कहते हैं।

मन के भेद (सात्त्विकादिभेद से)

सिद्धान्ततः मन एक है किन्तु उपाधिभेद से अनेकत्व की प्रतीति होती है। अनेकत्व प्रतीति के कई कारण हैं; जैसे—मन के विषयों की अनेकता, इन्द्रियों के विषयों की अनेकता और नाना प्रकार के संकल्प-विकल्प। इसके अतिरिक्त सत्त्व, रज और तम के संयोग से भी मन अनेक प्रकार का प्रतीत होता है।^१

मन जब धर्म की चिन्ता करता है, तब धार्मिक कहा जाता है और जब अधर्म की चिन्ता करता है, तब उसे अधार्मिक कहते हैं, एवं काम के चिन्तन में लगा हुआ मन कामुक कहलाता है। मन के एक विषय को छोड़कर दूसरे विषय को ग्रहण करने की प्रवृत्ति का नाम व्यभिचरण है। अतः जब वह रूप को ग्रहण करता है तो रूपग्राही होता है और जब वह रूप का व्यभिचरण करके गन्ध को ग्रहण करने लगता है, तब गन्ध ग्राहक कहलाता है। इसी प्रकार कभी उपकारक, कभी अपकारक, कभी गुणग्राही और कभी दोषग्राही होता है। जब मन में सत्त्वगुण की अधिकता होती है, तो वह धार्मिक एवं सत्य, शौच, सन्तोष, तपः, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान, तथा नियमव्रत सम्पन्न होने से सात्त्विक कहा जाता है। जब उसमें रजोगुण की अधिकता होती है, तो काम, क्रोध, मान, ईर्ष्या, द्वेष, लोभ, मोह आदि होने से राजस, और तमोगुण की अधिकता होने पर मोह, शोक, अज्ञानादि से अस्त होने के कारण तामस कहा जाता है। वास्तविकता यह है, कि संकल्प की विविधता, विभिन्न

लक्षणं मनसो ज्ञानस्याभावो भाव एव च ।

सति ह्यात्मेन्द्रियार्थानां सन्निकर्षे न वर्तते ॥

वैवृत्यान्मनसो ज्ञानं सान्निध्यात्तच्च वर्तते । —च० शा० १।१८-१९

१. स्वार्थेन्द्रियार्थसङ्कल्पव्यभिचरणाच्चानेकमेकस्मिन् पुरुषे सत्त्वं रजस्तमः सत्त्वगुणयोगाच्च; न चानेकत्वं; अनेकमेककालमनेकेषु प्रवर्तते, तस्मान्नैककाला सर्वेन्द्रियप्रवृत्तिः ।

—च. सू. ८।५

इन्द्रियार्थों में व्यभिचरण, तथा त्रिगुणों का संयोग होने के कारण उसमें अनेकत्व का भ्रम होता है, परमार्थतः मन एक है। अत एव एक काल में वह एक ही इन्द्रिय के साथ रहता है। जैसे—भिन्न-भिन्न कार्य करने के कारण एक ही व्यक्ति का अलग-अलग नाम पड़ जाता है, उसी प्रकार अनेक कार्यों में प्रवृत्त होने के कारण मन की भी अनेक संज्ञाएँ हो जाती हैं, फलतः वह राजस, तामस, सात्त्विक, धार्मिक, अधार्मिक, आदि नाम धारण करता है।

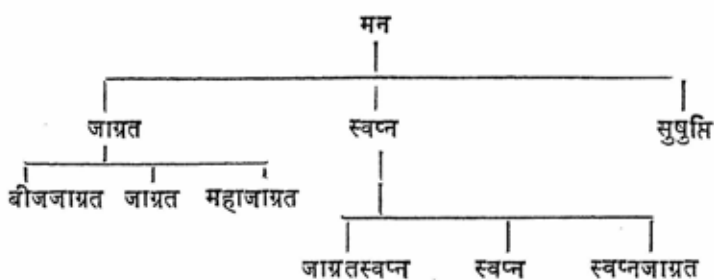
आन्तर और बाह्य भेद से मन का विश्लेषण

वैज्ञानिकों ने मन की तुलना समुद्र में तैरते हुए बर्फ की चट्टान से की है। जिस तरह बर्फ की चट्टान का अधिकांश भाग पानी के नीचे रहता है और पानी की सतह के ऊपर रहने वाला भाग सम्पूर्ण चट्टान का थोड़ा सा भाग ही होता है, इसी तरह हमारे मन का अधिक हिस्सा इतना छिपा हुआ है कि वह चेतन मन की पहुँच के बाहर है। मन का अधिकांश भाग अव्यक्त मन है। जिस प्रकार व्यक्त मन सक्रिय है, उसी प्रकार अव्यक्त मन भी सक्रिय है।

व्यक्त और अव्यक्त मन को समझने के लिए नाट्यशाला की व्यवस्था से तुलना की जाती है। जिस तरह अभिनय के समस्त पात्र एक साथ मंच पर नहीं आते इसी तरह हमारे अव्यक्त मन की समस्त भावनाएँ या वासनाएँ एक साथ व्यक्त मन के समक्ष नहीं आती। चेतन मन की क्रियाओं का संचालन भी अव्यक्त मन से होता है। जिस प्रकार नाट्यशाला के तीन विभाग हैं—(१) पर्दे के सामने वाले पात्र (२) पर्दे के पीछे वाले पात्र और (३) सूत्रधार, इसी तरह (१) चेतनमन, (२) अचेतनमन, और (३) नियन्तामन, ये मन के तीन भाग किये जा सकते हैं। नियन्ता मन ही व्यवस्थाक्रम से उन-उन पात्रों को स्टेज पर लाता है।

उन तीन भागों की कल्पना अलग-अलग प्रकार से वैज्ञानिकों ने की है, कुछ ने उन्हें चेतन, अर्धचेतन और अचेतन नाम दिया है। इन्हीं बातों को 'योगवाशिष्ठ' में अतीव सुन्दर ढंग से विस्तार पूर्वक कहा गया है। उसमें बतलाया गया है, कि मन एक होने पर भी भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में भिन्न-भिन्न वृत्ति का होने के कारण असंख्य कहा गया है और उसकी प्रधान तीन अवस्थाओं का वर्णन किया गया है, जिसका विवरण नीचे की सारिणी में दिया जा रहा है।

वाशिष्ठ ने मन के स्वरूप भी विभिन्न अवस्थाओं का सूक्ष्मतम विवेचन के विषय में किया है। (उन सबका विस्तार जानने के लिए योगवाशिष्ठ का स्वाध्याय करना चाहिए)।



मनोविज्ञान-विवेक

मन तथा मन की विभिन्न वृत्तियों के सम्बन्ध में विचार करने वाले शास्त्र को मनोविज्ञान कहते हैं। मन के सम्बन्ध में भारतीय दर्शनों में विशद वर्णन किया गया है, विशेषकर योगदर्शन में मन और मन की वृत्तियों का विस्तृत वर्णन पाया जाता है। योगवाशिष्ठ में मन को संसारचक्र का नाभि कहा गया है 'चित्तं नाभिः किलस्येहमायाचक्रस्य सर्वतः।' मन के विषय में विचार करने वाले दर्शनों को मनोविज्ञानशास्त्र कहते हैं। मन की परिस्थिति पर ही संसार के आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक सभी विचार निर्भर करते हैं। इस प्रकार मन उस विराट्, अनन्त, और अगाध चैतन्य के सृजन कर्म के एक निश्चित स्पन्दन के समान है। आयुर्वेद में सत्त्वसंशकमन को शुद्ध और निर्दोष माना गया है, किन्तु जब उसमें रज और तम बढ़ जाते हैं, तो वह इस संसार की नाट्यशाला में विविध रूप और नाम को धारण कर अनेक प्रकार की लीलाएँ करने लग जाता है।

विमर्श—मनोविज्ञान एक स्वतन्त्र विषय है, जिसका सर्वाङ्गीण वर्णन उस स्वतन्त्रशास्त्र में ही सम्पूर्णतया हो सकता है। मन भारतीय दर्शनों का एक प्रमुख प्रतिपाद्य विषय है, उन सब दर्शनों का निचोड़ है—'मन के हारे हार है, मन के जीते जीत' क्योंकि मनुष्य का मन ही उसे संसार के विविध प्रपञ्चों में आवद्ध करता है और मनुष्य तब तक उन बन्धनों से छुटकारा नहीं पाता जब तक मन स्वयं उसे बन्धनमुक्त करना न चाहे। जब तक मन का विकल्प दूर होकर सत्संकल्प की ओर मन की प्रवृत्ति नहीं होती, तब तक मानव कल्याण के पथ का पथिक नहीं बन पाता। 'योगवाशिष्ठ' मनोविज्ञान के अध्ययन के लिए एक विशिष्ट ग्रन्थ है—उसमें कहा गया है कि मन ही समस्त विचारों का मूल है। मन सर्वशक्तिमान् विराट् चेतना की इच्छा का एक स्वरूप है। जब परमेश्वर एकान्त जीवन से ऊबकर 'एकोऽहं बहु स्याम प्रजायेय' का संकल्प कर सृष्टि की ओर उन्मुख होता है, तो उसकी संकल्प शक्ति से ही मन का सृजन होता है—

अनन्तस्यात्मतत्त्वस्य सर्वशक्तेर्महात्मनः ।

संकल्पशक्तिरचितं यदरूपं तन्मनो विदुः ॥

मन शुद्ध चेतना का स्फुरणमात्र (Vibration of pure consciousness) है, जो विषयों के सम्पर्क से पुण्यमय या पापमय, आभासित होता है । यह चेतना का एक स्पन्दनशील और परिवर्तनशील रूप है । जो ज्ञान तथा कर्म दोनों के सम्पर्क में आता रहता है । 'योगवाशिष्ठ' का मन विषयक सन्दर्भ मनन करने योग्य है—

सम्पन्ना कल्पना नाम्नी सङ्कल्पानुविधायिनी ।

सङ्कल्पनं मनो बुद्धिः सङ्कल्पात्तन्न भिद्यते ॥

परस्य पुंसः सङ्कल्पमयत्वं चित्तमुच्यते ।

चित्तिः स्पन्दो हि मलिनः कङ्कविकलान्तरम् ॥

मन इत्युच्यते राम ! न जडं न च चिन्मयम् ।

जडाजडदृशोर्मध्ये दोलारूपं स्वकल्पनम् ॥

चर्चितो म्लानरूपिण्यास्तदेतन्मन उच्यते ।

चित्ते यच्चेत्यकलनं तन्मनस्त्वमुदाहृतम् ॥

मनो हि भावनामात्रं भावना स्पन्दधर्मिणी ॥

अर्थात् मन परमात्मा की कल्पना का केन्द्र है जिसके द्वारा इस जगत् का भान होता है । किसी विषय की ओर प्रवृत्ति और उसका ग्रहण या ज्ञान मन के ही द्वारा होता है । मनन करते रहने के कारण वह मन कहलाता है, और चिन्तन करते रहने के कारण उसे चित्त कहा जाता है । मन भावात्मक है और भावना स्पन्दनधर्म वाली होती है, अतः मन इस विराट्, अनन्त एवं अगाध चैतन्य के सृजनकर्म के एक निश्चित स्पन्दन (Definite wave) के समान है ।

आधुनिक दृष्टिकोण—रेशनल मिस्टीसिज्म (Rational Mysticism)
नामक पुस्तक में मन के विषय में यह कहा गया है कि 'मन एक निश्चित केन्द्र है, जिसमें आत्मा इस संसार को निर्देश देने के लिए अपने को केन्द्रित कर सकता है ।'^१

'योगवाशिष्ठ' में मन और आत्मा को एक साथ अनुस्यूत बतलाया गया है, फिर भी दोनों का भिन्नत्व भी प्रदर्शित है । जैसे 'सोने के बने कटक, कुण्डल केयूरादि आभूषण सोने से भिन्न न होने पर भी पृथक् समझे जाते हैं, उसी

1. The mind is, as it were a definite centre in which the self which in itself is universal and absolute can itself see to particularise a world.

प्रकार मन भी आत्मा का एक निश्चित अंश समझा जाता है। विषय-वासना से रहित चेतन को चित्त कहते हैं। जिस प्रकार वात तथा वातस्पन्दन, शून्य तथा आकाश में कोई भेद नहीं होता, उसी प्रकार मन तथा शुद्ध चेतन (ब्रह्म) में वस्तुतः कोई भेद नहीं होता है।^१

बौद्ध विद्वान् अश्वघोष ने भी इसी तरह की चर्चा की है—सत्त्वसंज्ञक मन (विराट्मन) नित्य शुद्ध तथा दोष रहित होता है, परन्तु अविद्या का प्रभाव उसे संकुचित बना देता है। अविद्या के कारण मन के संकुचित न होने पर मन अपने आप में शुद्ध, स्वच्छ, नित्य तथा अपरिणामी है। यद्यपि वह स्वयं अविशेष (free from personalization) तथा अपरिणामी है तथापि वह परिस्थितिवश भिन्न-भिन्न रूपों को धारण कर लेता है। (—महायान श्रद्धोत्पाद-शास्त्र) ।

आयुर्वेद में भी आचार्य चरक ने शुद्धसात्त्विक मन को अदोष बतलाया है, क्योंकि विकार का अंश (रज-तम) न होने से वह कल्याणकारक होता है 'तत्र शुद्धमदोषमाख्यातं कल्याणांशत्वात्' (च० शा० ४।३६) ।

वशिष्ठ के अनुसार शुद्ध मन परम चेतन स्वरूप है, जो सृजन कर्म के रूप में अपने को व्यक्त करता है। यह पूर्ण ब्रह्म से भिन्न नहीं होता, किन्तु भिन्न-भिन्न दृष्टियों से देखा जाता है। वशिष्ठ ने उसे चिदणु (An atom of consciousness or monad) कहा है। यह कथन आधुनिक परमाणु सिद्धान्त से साम्य रखता है। किंग्सलैण्ड^२ (Kingsland) नामक वैज्ञानिक का कहना है, कि वास्तविक अणु (परमाणु) सूक्ष्मातिसूक्ष्म होने के बदले वह महान्

१. यथा कटककेयूरैर्भेदो हेम्नो विलक्षणः ।

तथात्मनिश्चितो रूपं भावयन्त्याः स्वमांशिकम् ॥

किञ्चिदामृष्टरूपं यद् ब्रह्म तच्च स्थिरं मनः ।

चेत्येनरहिता यैषा चित्तब्रह्म सनातनम् ॥

चेत्येनसहिता चैषा चित्तस्थेयं कलनोच्यते ।

वातस्य वातस्पन्दस्य यथा भेदो न विद्यते ॥

शून्यत्वस्त्वोपमेयश्चिन्मात्राहं यतस्तथा ॥ —यो० वा०

2. The real atom instead of being smallest of the small, is the largest of large, for every so called atom is nothing less in substance than the one substance which the only thing in the universe which can not be divided or cut.

—Rational Mysticism

से भी महान् है। क्योंकि प्रत्येक तथाकथित परमाणु द्रव्यत्वरूपेण उस द्रव्य से किसी प्रकार न्यून नहीं है, जो विश्व में एक ही वस्तु के रूप में वर्तमान है और जिसका कोई विभाग नहीं हो सकता।

‘सर ओलिवर लाज (Oliver Lodge) ने भी इसी तरह का विचार प्रस्तुत किया है, कि परमाणु में अनन्त शक्ति का संचय है। वे कहते हैं—“इथेरिक स्पेस के प्रत्येक क्यूबिक मिलीमीटर में इतनी शक्ति का संचय है कि करोड़ों अश्वबल (Horse-power) समूह चालीस करोड़ वर्ष तक उससे लगातार कार्य कर सकते हैं।”’

बाह्य एवं आभ्यन्तर संसार की विविधता मन से विविध रूपों के फल-स्वरूप है। इन्द्रियाँ, भौतिक शरीर तथा सूक्ष्म शरीर मन के ही भिन्न-भिन्न रूप तथा नाम हैं। जिस प्रकार नर्तक नाट्यशाला में आवश्यकतानुसार विभिन्न रूप धारण करता है, वैसे ही मन भी विभिन्न कार्यों के अनुसार विभिन्न रूप धारण करता रहता है।

मन के दो गुण

अणुत्व और एकत्व मन के दो गुण कहे गए हैं।^१ यदि मन को महत् और अनेक मानें तो व्यापक तथा अनेक इन्द्रियों से एक समय सम्पर्क होने के कारण एक समय में अनेक ज्ञान होने लगेंगे, परन्तु ऐसा नहीं होता है। अतः मन एक तथा अणुपरिमाण है। कभी-कभी मिठाई खाते समय उसके रूप, रस, गन्ध आदि का एक ही समय में ज्ञान होने से मन के महान् एवं अनेक होने का भ्रम होता है, किन्तु सच यह है, कि मन की गति चंचल है, इसलिए एक ही काल में रूप, रस, गन्धादि का ज्ञान होने का आभास होता है। वस्तुतः उस ज्ञान में क्रम है और एक के बाद ही दूसरा ज्ञान होता है—जैसे कमल के सौ पत्तों को ऊपर नीचे रखकर एक सुई से छेदे जाने पर ऐसा आभास होता है, कि सभी पत्ते एक ही साथ छिद गये, किन्तु कमल के पत्ते क्रमशः छिदते हैं और उनसे छिदने में समय का अन्तर सूक्ष्म होने के कारण उनके एक साथ छिदे जाने का भ्रम होता है एवं मन एक बार में एक ही इन्द्रिय के साथ रहता है और चंचलता के कारण वह अतिसूक्ष्म काल में ही दूसरी, तीसरी इन्द्रियों के साथ हो जाता है। मन की क्रियाएँ क्रमशः होती हैं भले

1. In every cubic milimeter of etheric space there is so much energy as to furnish a million horse-power working continually for forty million years. —Oliver Lodge

२. अणुत्वमय चैकत्वं द्वौ गुणौ मनसः स्मृती ।

—चरक शा. १।१९

ही काल की सूक्ष्मता के कारण मन की विविध क्रियाओं के एक कालिक होने का आभास होता है।

मन के विषय

चिन्तन करना, गुण दोष का विचार करना, तर्क, ध्यान; संकल्प तथा सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष आदि मन के विषय हैं। उन्हें ही मन का अर्थ भी कहते हैं।^१

विमर्श—चिन्तन का अर्थ है विषय के ग्राह्य या अग्राह्य होने के विषय में सोचना, विचार का तात्पर्य है—किसी भी कार्य के विषय में यह सोचना कि इस कार्य से क्या हानि या क्या लाभ है। तर्क या ऊह का अर्थ है—किसी कार्य के सम्पन्न होने की सम्भावना का विचार करना। संकल्प का तात्पर्य है, गुण, दोष विवेचन करना और अच्छे कर्म की ओर प्रवृत्त होने की प्रेरणा, मन में जो विषय हैं उनको ग्रहण करने के लिए उसे किसी इन्द्रिय की सहायता की अपेक्षा नहीं होती है।

काम क्रोधादि मनोवृत्तियाँ

मुख्य रूप से मनोवृत्तियाँ दो हैं—१. इच्छा और २. द्वेष।^२ जिन विषयों में अतिशय अभिलाषा होती है वे इच्छा के अन्तर्गत आते हैं। नाना वस्तुओं के प्रति अनेक प्रकार की विभिन्न इच्छाएँ, हर्ष, काम, लोभ आदि इच्छा के ही प्रकार हैं। द्वेष में विषयों से अप्रीति होती है, क्रोध, भय, विषाद, ईर्ष्या असूया और मात्सर्य, द्वेष के अन्तर्गत आते हैं। आचार्य सुश्रुत ने मानसिक भावों को बतलाते हुए क्रोध, शोक, भय, हर्ष, विषाद, ईर्ष्या, अभ्यसूया, दैन्य, मात्सर्य, काम, लोभ आदि को इच्छा और द्वेष के भेदों से गिनाया है।

विमर्श—‘क्रोध’—किसी अन्य के साथ द्रोह की भावना को कहते हैं। ‘शोक’—इष्ट, धन, सम्पत्ति पुत्रादि वियोगजन्य चित्त की उद्विग्नता को कहते हैं। दूसरे प्राणियों से अहित होने की धारणा को ‘भय’ कहते हैं। मन के आनन्द की स्थिति को ‘हर्ष’ कहते हैं। ‘विषाद’ उस स्थिति का नाम है जब अभीष्ट कार्यों में सफलता न मिलने के कारण कार्य करने की प्रवृत्ति में ह्रास हो जाता है। दूसरे की सम्पत्ति के प्रति असहिष्णुता को ‘ईर्ष्या’ कहते हैं। दूसरों के गुणों में छिद्रान्वेषण करने को ‘असूया’ कहते हैं। मन की खिन्नता

१. चिन्त्यं विचारंमूहं च ध्येयं सङ्कल्पमेव च।

यत्किञ्चिन्मनसो ज्ञेयं तत्सर्वं ह्यर्थसंज्ञकम् ॥ —चरक शा. १।२०

२. मानसास्तु-कामशोकभयहर्षविषादेर्ष्याभ्यसूयादैन्यमात्सर्यकामलोभप्रभृतय इच्छाद्वेषभेदैर्भवन्ति।

—सु. सू. १।२५।३

को 'दैन्य' कहते हैं। दूसरे के गुणों के प्रति जलन या क्रूर भाव होना 'मात्सर्य' कहलाता है। इन्द्रियों के विषय शब्द-स्पर्श आदि की अभिलाषा को 'काम' कहते हैं। दूसरे के धन को प्राप्त करने की इच्छा को 'लोभ' कहते हैं। इसी प्रकार मान, मद, दम्भ, मोह आदि भी मानसिक विकार होते हैं।

मन के कर्म

इन्द्रियों में अधिष्ठित होकर उन्हें अपने-अपने विषयों में प्रवृत्त करना तथा अहित विषयों से उन्हें रोकना तथा स्वयं अपने को अहित विषयों में जाने से नियन्त्रित करना, किसी कार्य की सम्भावनाओं के प्रति तर्क-वितर्क करना, और हित-अहित का विचार करना ये सब मन के कर्म हैं।^१

विमर्श—इन्द्रियाँ मन के साथ होने पर ही अपने विषयों को ग्रहण करती हैं। और मन ही उनका नियन्त्रण करता है, इस प्रकार इन्द्रियों को वश में रखना और अपने को भी नियमित रखना मन का कार्य है। मन के नियन्त्रण के लिए धैर्य की आवश्यकता पड़ती है, बिना धैर्य को वह न तो अपना नियन्त्रण कर सकता है और न इन्द्रियों का ही नियन्त्रण कर सकता है। 'विषयप्रवर्णं चित्तं धृतिभ्रंशान्न शक्यते। नियन्तुमहितादथाद् धृतिर्हि नियमात्मिका' ॥ (चरक० शा० १।१००)। मन के विचार करने का स्वरूप यह है, कि वह सोचता है कि यह वस्तु हानिकारक है या लाभकर, इसे ग्रहण करें या नहीं? आदि। इस प्रकार के विचार के कारण चार प्रकार के माने जाते हैं। (१) बाह्य इन्द्रिय, (२) मन, (३) अहंकार और (४) बुद्धि, इन चारों में इन्द्रियाँ निर्विकल्प रूप से विषय को ग्रहण करती हैं। मन यह विचार करता है—कि यह वस्तु दोष-युक्त होने ने त्याज्य है या उपादेय? अहंकार अपने अधिकार से त्याग करने या ग्रहण करने को सोचता है, तब बुद्धि यह निश्चय करती है, कि यह दोषयुक्त है अतः इसे त्याग दूँ या गुणयुक्त है अतः इसे ग्रहण करूँ। ऊह करना बाह्य इन्द्रियों का विषय है, फिर भी बिना मन की सहायता के ऊहापोह नहीं होता। एवं अन्तःकरण (मन और अहंकार) के साथ बुद्धि सभी विषयों को ग्रहण करती है, अतः प्रधान रूप से तीन ही करण होते हैं। बाह्य इन्द्रियाँ अप्रधान (सहायक) रूप में होती हैं, इसी विषय को 'सांख्यकारिका' में कहा गया है कि 'ये बाह्य इन्द्रियाँ और अन्तः इन्द्रियाँ आपस में विलक्षण होती हुई गुण-विशेषता से दीपक की तरह कार्य करती हैं। जैसे—दीपक से वर्ति स्नेह लेकर

१. इन्द्रियाभिग्रहः कर्म मनसः स्वस्य निग्रहः।

ऊहो विचारश्च परं ततः बुद्धिः प्रवर्तते ॥ —च० शा० १।२१

अग्नि को देती है, जिससे प्रकाश होता है, उसी प्रकार बाह्य इन्द्रियाँ^१ विषय को लेकर मन को देती हैं, मन संकल्प कर अहंकार को देता है अहंकार अपना अधिकार स्थापित कर उसे बुद्धि को देता है—

एते प्रदीपकल्पाः परस्परविलक्षणा गुणविशेषाः ।

कृत्स्नं पुरुषस्यार्थं प्रकाशय बुद्धौ प्रयच्छन्ति ॥ (सां० का० ३६)

और तब बुद्धि अध्यवसाय (निश्चय) करके उस गृहीत ज्ञान का बोध कराती है तो फिर पुरुष की प्रवृत्ति होती है । 'मन' के सम्बन्ध में आचार्य चरक^२ ने कहा है—कि "मन अतीन्द्रिय है । मन का व्यापार अपने सुख दुःख आदि विषय और आत्मा की सम्पत्ति के अधीन है । मन सभी इन्द्रियों की चेष्टाओं का प्रधान कारण है, क्योंकि मन की प्रेरणा से, मन के साथ रहने पर ही इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों को ग्रहण करने में समर्थ होती हैं ।"^३ यहाँ मन अतीन्द्रिय कहा गया है । अतीन्द्रिय शब्द के दो अर्थ हैं (१) इन्द्रियों को अतिक्रमण करने वाला और (२) इन्द्रियों से अतिरिक्त—“इन्द्रियातिक्रान्त-मिन्द्रियातिरिक्तं वा ।” आयुर्वेद में इन्द्रियों को भौतिक कहा गया है 'भौतिकानि चेन्द्रियाण्यायुर्वेदे वर्ण्यन्ते' । किन्तु मन को भौतिक नहीं कहा गया है, इस प्रकार मन में इन्द्रियों को अतिक्रान्त करने का उसका विशिष्ट धर्म है और उसमें इन्द्रियातिक्रान्तत्व स्पष्ट है । दूसरी बात यह है, कि प्रत्येक इन्द्रिय का विषय नियत है जैसे—कान का शब्द, त्वचा का स्पर्श, नेत्र का रूप, रसना का रस और घ्राण का गन्ध, परन्तु मन का विषय नियत नहीं है । एवं मन अपने विषयों (चिन्त्य, विचार्य आदि) को तो ग्रहण करता ही है, साथ-साथ इन्द्रियों के विषयों को भी ग्रहण कर लेता है और इन्द्रियाँ^४ बिना मन के अपने

१. इन्द्रियेणेन्द्रियार्थो हि समनस्केन गृह्यते ।

कल्प्यते मनसा तूर्ध्वं गुणतो दोषतोऽथवा ॥

जायते विषये तत्र या बुद्धिर्निश्चयात्मिका ।

व्यवस्यति तया वक्तुं कर्तुं वा बुद्धिपूर्वकम् ॥

—चरक० शा० १।२२-२३

२. अतीन्द्रियं पुनर्मनः सत्त्वसंज्ञकं चेत् इत्याहुरेके, तदर्थमसम्पत्तदायत्त-चेष्टं चेष्टाप्रत्ययभूतमिन्द्रियाणाम् ॥

—चरक० सूत्र० ८।४

३. अतीन्द्रियं तु मनः सर्वार्थैरन्वयात् तद्योगेन पञ्चेन्द्रियाणामर्थप्रवृत्तेः बुद्धिकर्मिन्द्रियोभयकत्वाच्च ।

—अष्टाङ्गसंग्रह

४. चक्षुः पश्यति रूपाणि मनसा न तु चक्षुषा ।

मनसि व्याकुले चक्षुः पश्यन्नपि न पश्यति ॥

विषय को ग्रहण करने में समर्थ नहीं होतीं, इस दूसरे पक्ष के निरूपण से मन का इन्द्रियातिक्रान्तत्व स्पष्ट है। अथ च मन बुद्धीन्द्रिय ही नहीं कर्मेन्द्रिय भी है, क्योंकि वह दोनों का प्रयोजक है अतः तीसरे पक्ष से भी वह इन्द्रियातिक्रान्त सिद्ध हो जाता है।

चरकाचार्य ने मन को एक माना है अनेक नहीं ?^१ यद्यपि एक पुरुष में मन अनेक-सा दिखलायी देता है—क्योंकि मन अपने अनेक विषयों में, नेत्रेन्द्रिय आदि इन्द्रियों के नाना विषयों में, विविध संकल्पों तथा सत्त्व, रज और तम इन गुणों में दिखलायी पड़ता है, तथापि वास्तविकता यह है, कि मन एक और अणु है। एवं अणु और एक होने से वह एक समय में अनेक विषयों को एक साथ नहीं ग्रहण करता। अत एव नेत्र आदि सभी इन्द्रियाँ एक समय में एक ही साथ अपने-अपने विषयों को नहीं ग्रहण कर पाती हैं। मन एक और अणु परिमाणवाला है। यदि मन को महत् और अनेक माना जाय तो महत् (व्यापक) होने तथा अनेक होने से अनेक इन्द्रियों से एक साथ सम्पर्क होने पर एक समय में ही अनेक ज्ञान होना चाहिए, पर ऐसा होता नहीं है। अतः मन को अणु परिमाण वाला तथा एक माना जाता है, महर्षि गौतम ने भी इसी कारण से मन को एक माना है। 'ज्ञानायोगपद्यादेकं मनः' (—न्याय द० ३।२।६)। कणाद ने भी यही माना है। 'प्रयत्नायौगपद्याज्ञानायौगपद्याच्चैकमिति। (—वै० द० ३।२।३)। अर्थात् एक समय में एक ही प्रयत्न और एक ही ज्ञान होने के कारण मन एक है। इसी आधार पर आचार्यों ने मन का लक्षण भी किया है कि 'एक साथ सभी ज्ञानों' अर्थात् इन्द्रियों की प्रवृत्ति का न होना ही मन का लक्षण है। 'युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मानसो लिङ्गम्'। यही बात योगवाशिष्ठ में भी कही गयी है।

यथा गच्छति शैलूषो रूपाण्येकस्तथैव हि।

मनो नामान्यनेकानि धत्ते कर्मान्तरं ब्रजत् ॥ (यो० वा०)

मन के दोष

मानस दोष रज और तम होते हैं।^२ इन दोनों में रज प्रधान होता है, क्योंकि रज ही प्रवृत्तिजनक है और बिना रज के तम की प्रवृत्ति नहीं होती। शारीरिक दोषों में जो स्थान वायु का है, मानस दोषों में वही स्थान रज का है। अतः रज का उल्लेख पहले करके तब तम की गणना की जाती है।

१. स्वार्थेन्द्रियार्थसङ्कल्पव्यभिचरणाच्चेकमेकस्मिन् पुरुषे सत्त्वं, रजस्तमः सत्त्वगुणयोगाच्च, न चानेकत्वं, न ह्येकं ह्येककालमनेकेषु प्रवर्तते; तस्मान्नैककाला सर्वेन्द्रियप्रवृत्तिः ॥

—चरक० सू० ८।५

२. मानसः पुनरुद्दिष्टो रजश्च तम एव च ॥

—च. सू. १।५७

विमर्श—सत्त्व को मन का गुण कहा गया है, क्योंकि वह निर्दोष और हितकर होता है। वह प्रकाशरूप ज्ञान का विकास करने वाला एवं सुख देने वाला होता है 'सत्त्वं सुखे सञ्जयति' (गीता १४।९)। सत्त्व निर्मल होने से प्रकाशक और आरोग्य देने वाला होता है^१।

मन का इन्द्रियत्व और भौतिकत्व

आचार्य सुश्रुत ने मन को ज्ञान-कर्मेन्द्रिय^२ कहा है, क्योंकि वह इन दोनों (ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रिय) के साथ रहता है। इन्द्रियाँ अपने विषयों को तभी ग्रहण कर सकती हैं या तभी अपना कार्य कर सकती हैं जब मन उनके साथ हो। इस प्रकार मन ज्ञानेन्द्रिय के साथ ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय के साथ कर्मेन्द्रिय का कार्य करता है।

आचार्य चरक ने मन को अतीन्द्रिय^३ कहा है, जिसका तात्पर्य यह है, कि वह इन्द्रियों का अतिक्रमण करने वाला या इन्द्रियों के अतिरिक्त है। वह इन्द्रियों की अपेक्षा विशिष्ट शक्ति सम्पन्न है। जैसे— इन्द्रियाँ प्रतिनियतविषयक होती हैं, जब कि मन के विषय सीमातीत और त्रैकालिक हैं। मन अपने विशाल कर्तृत्व के कारण, ज्ञान-कर्मेन्द्रिय दोनों का प्रयोजन होने के कारण तथा इन्द्रियों की अपेक्षा विशेषता रखने के कारण अतीन्द्रिय कहा जाता है, वस्तुतः मन एक 'उभयात्मक' (ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय) इन्द्रिय है (विशेष विवरण मनो-विज्ञान शीर्षक में देखें और 'भौतिकत्व' इन्द्रियों का भौतिकत्व शीर्षक में इसी ग्रन्थ में देख लें)।

मन का कर्तृत्व

शरीर में मन ही इन्द्रियों के साथ मिलकर सभी क्रियाएँ करता है। मन और इन्द्रियों की क्रियाओं में आत्मा की विद्यमानता मात्र है। चेतन होते हुए भी आत्मा निष्क्रिय है। अचेतन द्रव्यों में भी आत्मा के सान्निध्य होने पर क्रियाएँ होती हैं। इस शरीर में ज्ञान और कर्मरूप विविधकर्मों का कर्ता मन ही है। मन की क्रियाओं को जानने के कारण 'सत्त्वसार' का लक्षण तथा मन के सात्त्विक, राजस और तामस भेदों का वर्णन करना आवश्यक है।

१. तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्।

सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ॥

—गीता १४।६

२. उभयात्मकं मनः।

—सु. शा. १।६

३. अतीन्द्रियं पुनर्मनः सत्त्वसंज्ञकं चेत इत्याहुरेके, तदर्थमसम्पदायत्तचेष्टं चेष्टा प्रत्ययभूतमिन्द्रियाणाम्।

—च. सू. ८।४

सत्त्वसार^१ का लक्षण

सत्त्व का अर्थ है मन और सत्त्वसार का अर्थ है—मनोबल सम्पन्न व्यक्ति । जिस व्यक्ति का मन उत्तम कोटि का होता है वह स्मृति शक्ति सम्पन्न होता है । वह भक्तियुक्त, कृतज्ञ, बातों को बारीकी के साथ समझने वाला, उत्साही, शूर, पराक्रमी, विषादरहित, कार्यों को दक्षता के साथ शीघ्र पूरा करने वाला और व्यवस्थित विचार का होता है । सत्त्वसार व्यक्ति अपने सभी कार्यों को यथासमय सम्पन्न कर लेता है । वह कल्याणकारी कार्यों में रुचि रखता है और पवित्र आचार वाला होता है । वह दुःख के क्षणों में भी गम्भीर और संयत रहता है ।^२

सात्त्विक मन—सात्त्विक मन का व्यक्ति दयालु होता है, उसमें अक्रूरता होती है और वह भोज्य पदार्थों या उपभोगयोग्य वस्तुओं को बाँट कर खाता है या उपभोग करता है । वह क्षमाशील, सत्यवादी, प्राणियों का हित चाहने वाला, शरीर, मन तथा वाणी से उत्तम व्यवहार करने वाला, प्रतिभासम्पन्न, आस्तिक, मेधावी, स्मृतिमान्, धैर्यधर और निःस्पृह होता है ।^३

राजस मन—राजस मन का पुरुष दुःखीस्वभाव का और घुमक्कड़ होता है । उसमें अहंकार मिथ्याभाषण, अधैर्य निन्द्यता और पाखण्ड की प्रवृत्ति होती है । वह कामुक, क्रोधी तथा मान सम्मान के लिए उत्सुक रहता है ।^४

तामस मन—तमोगुणी व्यक्ति शोकग्रस्त, अधर्माचरण करनेवाला,

१. (क) स्मृतिभक्तिप्रज्ञाशौचशौर्योपेतं कल्याणाभिनिवेशिनं सत्त्वसारं विद्यात् ।

(ख) स्मृतिमन्तो भक्तिमन्तः कृतज्ञाः प्राज्ञाः शुचयो महोत्साहाः दक्षाः धीराः समरविक्रान्तयोधिनस्त्यक्तविषादाः सुव्यवस्थितगतितगम्भीरबुद्धिचेष्टाः कल्याणाभिनिवेशिनश्च सत्त्वसाराः ।
—च. वि. ८।११०

२. सत्त्ववान् सहते सर्वं संस्तभ्यात्मानमात्मना ।

राजसः स्तभ्यमानोऽन्यैः सहते नैव तामसः ॥ —सु. सू. ३५।३८

३. सात्त्विकास्तु—आनृशंस्यं संविभागरुचिता तितिक्षा सत्यं धर्मं आस्तिक्यं ज्ञानं बुद्धिर्मेधा स्मृतिर्धृतिरनभिषङ्गश्च ।
—सु. शा. १

४. राजसास्तु—दुःखबहुलताऽटनशीलताऽधृतिरहंकार-आनृतिकत्वमकारुण्यं दम्भो मानो हर्षः कामः क्रोधश्च ।
—सु. शा. १

५. तामसास्तु—विषादित्वं नास्तिक्यमधर्मशीलता बुद्धेनिरोधोऽज्ञानं दुर्मेधस्त्वमकर्मशीलता निद्रालुत्वं चेति ।
—सु. शा. १।१८

नास्तिक. बुद्धिहीन, अज्ञानी, आलसी, अकर्मण्य और निद्रालु स्वभाव का होता है। मन के कार्य उसके सत्त्व-रज और तम इन तीन गुणों पर निर्भर करते हैं। मन ही संसार की सभी प्रवृत्तियों का जनक है। सुख, दुःख का कारण मन ही है। मन में संचित कर्मों के अनुसार ही विविध योनियों में जन्म ग्रहण करना पड़ता है।^१ शरीर में मन गर्भावस्था में पूर्वजन्म के संस्कारों के साथ प्रवेश करता है और मृत्यु के समय शरीर से अलग हो जाता है एवं शरीर में सब क्रियाएँ वस्तुतः मन ही करता है।

मन का अधिष्ठान

आयुर्वेदीय मत के अनुसार मन का स्थान हृदय है और यह हृदय दोनों स्तनों के बीच में उरःकोष्ठ में स्थित है।^२ इस हृदय से प्राणवह^३ धमनियाँ निकलती हैं, इसके दोनों ओर फुफ्फुस और नीचे प्लीहा और यकृत हैं। यह रक्त परिचालक यन्त्र है, जो सुषिर, मांसपेशीमय और अधोमुख कमल^४ के आकार का होता है, इसे अंग्रेजी में हार्ट (Heart) कहते हैं। आयुर्वेद में वक्षस्थ हृदय को बुद्धि मन और चेतना का स्थान कहा गया है।

आचार्य चरक ने सगुण आत्मा और चित्त (मन) का स्थान हृदय बतलाया है।^५ सुश्रुत ने स्पष्ट शब्दों में हृदय को चेतना का स्थान कहा है।^६

१. अस्ति खलु सत्त्वमौपपादुकं, यज्जीवं स्पृक्शरीरेणाभिसंबध्नाति । यस्मिन्नपगमनपुरस्कृते शीलमस्य व्यावर्तते, भक्तिर्विपर्यस्यते, सर्वेन्द्रियाण्युपतप्यन्ते, बलं हीयते, व्याधय आप्यायन्ते, यस्माद्धीनः प्राणाञ्जहाति, यदिन्द्रियाणामभिग्राहकं च मन इत्यभिधीयते । —च. शा. ३।१९

२. सत्त्वादिधाम हृदयं स्तनोरःकोष्ठमध्यगम् । —अष्टाङ्गहृदय शा. ४

३. शोणितकफप्रसादजं हृदयं यदाश्रया हि धमन्यः प्राणवहाः ।

—सुश्रुत. शा. ४।३१

४. मांसपेशीचयोरुक्तपद्माकरमधोमुखम् ।

—अष्टाङ्ग हृ. १२।१५ सर्वाङ्गसुन्दरी टीका

५. षडङ्गमङ्गविज्ञानमिन्द्रियाण्यर्थपञ्चकम् ।

आत्मा च सगुणश्चेतश्चिन्त्यं च हृदि संस्थितम् ॥ —च. सू. ३०

६. हृदयं चेतनास्थानमुक्तं सुश्रुत देहिनाम् । —सुश्रुत. शा. ४।३३

अष्टाङ्गहृदय, शार्ङ्गधरसंहिता,^१ काश्यपसंहिता^२ एवं उपनिषदों^३ के वचनों से निःसन्देह वक्षस्थ हृदय ही मन का अधिष्ठान है।

उरःस्थ हृदय को मन का स्थान मानने में अन्य भी अनेक मत हैं, जिन सबका उल्लेख विस्तार भय से नहीं किया जा रहा है, किन्तु हृदय से 'हार्ट' ही समझना चाहिए, इसमें कतिपय युक्तियों का उल्लेख आवश्यक होने से किया जा रहा है—१. आयुर्वेद में हृदय शब्द का एकवचन^४ में प्रयोग है, इससे शरीर में हृदय केवल एक है, यह अभिप्राय प्रकट होता है। २. शरीर के छह अंग होते हैं चार शाखायें, शिर और मध्य शरीर (धड़) इनमें से मध्य में (कोष्ठ में) हृदय की स्थिति कही गयी है।^५ ३. अन्तःसुषिर मांस-पेशीमय, अधोमुख कमलकलिकाकार हृदय का वर्णन किया गया है।^६ इन सब उल्लेखों से 'हार्ट' ही हृदय साबित होता है। ४. कोष्ठस्थ उपाङ्गों के साथ हृदय का वर्णन^७ करने से भी हृदय हार्ट का ही बोधक प्रतीत होता है। ५. मर्मों के वर्णन में^८ हृदय के अलावे शिर के मर्मों का वर्णन किये जाने से यह सिद्ध होता है, कि हृदय शिर में नहीं है।

उपर्युक्त वर्णन से सर्वथा वक्षस्थ रक्तवह संस्थान (रक्त परिचालक यन्त्र) को ही हृदय कहते हैं यह बात पुष्ट होती है और यही बात समस्त

१. नाभिस्थः प्राणपवनः स्पृष्ट्वा हृत्कमलान्तरम् ।

कण्ठादबहिर्विनिर्याति पातुं विष्णुपदामृतम् ॥ —शार्ङ्गधर

२. नाभिः प्लीहा यकृत् क्लोम हृद्वृक्को गुदवस्तयः ।

क्षुद्रान्त्रमथ च स्थूलमामपक्वाशयौ तथा । कोष्ठाङ्गानि ॥

—काश्यपसंहिता

३. स एष योऽन्तर्हृदय आकाशः । तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमयः ।

—तैत्तिरीयोपनिषद् १।६

४. तस्य पुनः संख्यानं—त्वचः कला घातवो मला दोषा यकृत्प्लीहानी
फुस्फुस उण्डुको हृदयमाशयाः । —सुश्रुत. शा. ४।४

५. पञ्चदश कोष्ठाङ्गानि—तद्यथा, नाभिश्च हृदयं च क्लोम च यकृच्च-
प्लीहा च' । —भेल० शा० ७

६. मांसपेशीमयो रक्तपद्माकारमधोमुखम् ।

—अष्टाङ्गहृदय १२।१५ पर सर्वाङ्गसुन्दरीटीका

७. 'हृदयस्याधो वामतः प्लीहा दक्षिणतो यकृत्' । —सुश्रुत० शा० ५

८. सप्तोत्तरं मर्मशतं यदुक्तं शरीरसंख्यामधिकृत्य तेषु ।

मर्माणि वस्तिर्हृदयं शिरश्च प्रधानभूतानि भवन्ति देहे ॥

—चरक० चि० २६।३

भारतीय वाङ्मय में प्रतिपादित है। आयुर्वेद में कोष्ठस्थ हृदय को बुद्धि, अहंकार और मन का स्थान होने से चैतन्य का स्थान माना गया है। हृदय^१ में आत्मा का निवास होने से आयुर्वेद हृदय को ही मन बुद्धि का स्थान मानता है एवं हृदय से निकले हुए संज्ञावह, चेतनावह या मनोवह स्रोतसों के द्वारा समस्त शरीर को चेतनता प्राप्त होती है और दोषों (वात-पित्त-कफ) के द्वारा हृदय तथा संज्ञावह स्रोतसों की दृष्टि होने से हृदय या मन के विकारों (मानस रोगों) की उत्पत्ति होती है।

मनोवहस्रोत—आचार्य चरक ने कहा है, कि 'हृदय^२ में ही इन्द्रियाँ, उनके विषय, आत्मा, मन और मन के विषय आश्रित हैं।' मन की क्रिया 'वात' के अधीन है^३ और वात का (प्राणवायु का) केन्द्र मस्तिष्क में है और उसका कार्य क्षेत्र समस्त शरीर है। इन्द्रियाँ भी शिरःस्थ बतलायी गयी हैं—'शिरसि इन्द्रियाणि इन्द्रियप्राणवहानि च स्रोतांसि' (चरक०)। वात की प्रेरणा से मन का इन्द्रियों से सम्बन्ध होता है^४ और इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों को ग्रहण करती हैं। यहाँ पर पूर्वोक्त कथन से मन का स्थान हृदय और कार्यालय मस्तिष्क तथा कार्यक्षेत्र समूचा शरीर समझना चाहिए।

मन और इन्द्रियों के कर्म वायु की सहायता पर निर्भर हैं। सुश्रुत ने ज्ञानेन्द्रियों या कर्मेन्द्रियों द्वारा ज्ञानार्जन अथवा कर्मसम्पादन में रक्त-संचार-क्रिया को विशेष महत्त्वपूर्ण कारण बतलाया है।^५ इसी तरह मद, मूर्च्छा और संन्यास रोगों की सम्प्राप्ति में कहा गया है—कि 'वात आदि दोषों से संज्ञावाही

१. अर्थे दश महामूला समासक्ता महाफलाः।

महच्चार्थश्च हृदयं पर्यायैरुच्यते बुधैः॥

षडङ्गमङ्गविज्ञानमिन्द्रियाण्यर्थपञ्चकम् ।

आत्मा च सगुणश्चेतश्चिन्त्यं च हृदि संश्रितम् ॥

—चरक० सूत्र० ३०।३-४

२. षडङ्गमङ्गविज्ञानमिन्द्रियाण्यर्थपञ्चकम् ।

आत्मा च सगुणश्चेतश्चिन्त्यं च हृदि संस्थितम् ॥

—चरक० सूत्र० ३०।४

३. नियन्ता प्रणेता च मनसः।

—च० सू० १२।८

४. सर्वेन्द्रियाणामुद्योजकः

—च० सू० १२।८

५. धातूनां पूरणं वर्णं स्पर्शज्ञानमसंशयम्।

स्वाः सिराः सञ्चरद् रक्तं कुर्याच्चान्यान् गुणानपि ।—सु० शा० ७।१४

नाडियों के आवृत हो जाने पर मनुष्य का विवेक नष्ट हो जाता है और वह छिन्नमूल वृक्ष की तरह निरवलम्ब होकर धराशायी हो जाता है' ।^१

चरकाचार्य ने नाडी शब्द का अर्थ किसी विशेष वस्तु के लिए न करके धमनी, सिरा, स्रोत, रसायनी, मार्ग, छिद्र, आशय प्रभृति को नाडी शब्द से समानार्थक कहा है ।^२ अन्यत्र भी नाडी से धमनी-सिरा का ग्रहण किया गया है 'नाडी तु धमनी सिरा' ।

चरकसंहिता में मद-मूर्च्छा-संन्यास रोगों का वर्णन 'विधिशीणितीय' अध्याय में किया गया है, जिसका तात्पर्य यह है—कि रक्तसंवहन की क्रिया में व्यतिक्रम या अन्य रक्तविकारों से ही ये रोग होते हैं । इन रोगों की गणना मानस रोगों में की जाती है, क्योंकि इनमें संज्ञानाश की स्थिति हो जाती है और मनुष्य किसी भी प्रकार की वेदना का अनुभव नहीं करता । चरक^३ ने कहा है, कि रस-रक्त तथा चेतनावाही स्रोतों में अवरोध के कारण चित्त के दुर्बल स्थान को वायु आक्रान्त करके तत्रस्थ मन को क्षुब्ध कर संज्ञा का संमोहन कर देता है । इस तरह मूर्च्छा का विशेष सम्बन्ध रक्तसंवहन और मस्तिष्क दोनों से ही सिद्ध होता है । हृदय के यथावत् स्वाभाविक रूप से रक्त

१. संज्ञावहासु नाडीषु पिहितास्वनिलादिभिः ।

तमोऽभ्युपैति सहसा सुखदुःखव्यपोहकृत् ॥

सुखदुःखव्यपोहाच्च नरः पतति काष्ठवत् ।

मोहो मूर्च्छेति तामाहुः.....

॥ —सुश्रुत० उ० ४६।६-७

२. स्रोतांसि सिरा धमन्यः रसायन्यः रसवाहिन्यः नाड्यः पन्थानः, मार्गाः शरीरच्छिद्राणि संबृतासंवृतानि स्थानानि आशयाः निकेताश्चेति शरीरधात्वव-काशानां लक्ष्यालक्ष्याणां नामानि भवन्ति । —चरक० विमान० ५।९

३. यदा तु रक्तवाहीनि रससंज्ञावहानि च ।

पृथक् पृथक् समस्ता वा स्रोतांसि कुपिता मलाः ॥

मलिनाहारशीलस्य रजोमोहादृतात्मनः ।

प्रतिहत्यावतिष्ठन्ते जायन्ते व्याघ्रयस्तदा ॥

मदमूर्च्छासंन्यासास्तेषां विद्याद्विचक्षणः ।

यथोत्तरं बलाधिक्यं हेतुलिङ्गोपशान्तिषु ॥

दुर्बलं चेतसः स्थानं यदा वायुः प्रपद्यते ।

मनो विभ्रोभयन् जन्तोः संज्ञां सम्मोहयेत्तदा ॥

—च० सू० २४।२५-२८

संवहन के व्यापार पर ही सम्पूर्ण शरीर और मस्तिष्क की क्रियाएँ ठीक से होती रहती हैं ।^१

स्पर्शज्ञान का आधार सुश्रुत ने रक्तसंवहन को बतलाया है और स्पर्शनेन्द्रिय सभी इन्द्रियों में प्रधान और व्यापक कही गयी है,^२ क्योंकि नेत्र आदि इन्द्रियाँ स्पर्श करके ही रूप आदि विषयों का ज्ञान करती हैं । जब इन्द्रियों का अपने विषयों से स्पर्श नहीं हो पाता तो उनके विषय का ज्ञान नहीं होता है 'नास्पृष्टो वेत्ति वेदनाः' । स्पर्शनेन्द्रिय में वायु की प्रधानता होती है और मन को भी प्रेरणा देने वाला वायु ही है, इससे स्पर्शनेन्द्रिय और मन दोनों का प्रेरक वायु है । यह स्पष्ट है एवं मन और स्पर्शनेन्द्रिय का समवाय सम्बन्ध है अर्थात् जहाँ जहाँ स्पर्शनेन्द्रिय से रूप आदि किसी भी विषय का प्रत्यक्षज्ञान होता है, वहाँ वहाँ मन तथा वायु की उपस्थिति अवश्यमेव रहती है । मन भी अपने चिन्त्य आदि विषयों का ज्ञान तभी कर पाता है जब मन का अपने विषयों से मानस स्पर्श होता है ।^३

इन्द्रियाँ मनःपुरःसर होकर ही अपने विषयों का ज्ञान करती हैं ।^४ वायु के प्रयत्न से ही मन और इन्द्रियाँ अपने व्यापार में प्रवृत्त होती हैं, इस तरह मन और इन्द्रियों के व्यापार में वायु की प्रधान भूमिका है ।^५

आयुर्वेद में जो 'बात' के कर्म कहे गये हैं आधुनिक क्रियाशरीर के विद्वान् उन कर्मों को नाडी संस्थान या मस्तिष्क का कार्य मानते हैं । नाडी संस्थान के

१. देहस्य रुधिरं मूलं रुधिरैर्णैव धार्यते ।

तस्माद्यत्नेन संरक्ष्यं रक्तं जीव इति स्थितिः ॥

—सुश्रुत० सूत्र० १४।४४

तथा

तद्विशुद्धं हि रुधिरं बलवर्णसुखायुषा ।

युनक्ति प्राणिनं प्राणः शोणितं ह्यनुवर्तते ॥ —चरक० सूत्र० २४।४

२. तत्रैकं स्पर्शनेन्द्रियमिन्द्रियाणामिन्द्रियव्यापकं चेतःसमवायि स्पर्शन-
व्याप्तेर्व्यापकमपि च चेतः ।

—चरक० सूत्र० ११।३८

३. स्पर्शनेन्द्रियसंस्पर्शः स्पर्शो मानस एव च ।

द्विविधः सुखदुःखानां वेदनानां प्रवर्तकः ॥ —चरक० शा० १।१३३

४. मनःपुरःसराणीन्द्रियाण्यर्थग्रहणसमर्थानि भवन्ति ।

—चरक० सूत्र० ८।७

५. सर्वेन्द्रियाणामुद्योजकः, सर्वेन्द्रियार्थानामभिवोढा ।

—चरक० सूत्र० १२।८

दो कार्य हैं—शरीर में होने वाली समस्त क्रियाओं का संचालन और परिस्थिति के अनुसार उन क्रियाओं में विविध परिवर्तन करना। प्रथम प्रकार की नाडियाँ बाह्यसृष्टि सम्बन्धी ज्ञान को तथा शरीरावयवों में होने वाली शुभ अशुभ वेदनाओं को अपने केन्द्रों तक पहुँचाती हैं। दूसरे प्रकार की नाडियाँ केन्द्रों की ओर से यथायोग्य चेष्टाओं का आदेश अवयवों की ओर ले जाती हैं। इनमें पहले प्रकार की नाडियाँ 'संज्ञावह' और दूसरे प्रकार की नाडियाँ 'मनो-वह' कहलाती हैं। यद्यपि संज्ञा और चेष्टा दोनों क्रियाओं में मन का वहन होता है, क्योंकि बिना मन के क्रिया नहीं होती है तथापि आत्मास्थित इच्छा को शरीरावयवों तक पहुँचाने के कार्य में, चेष्टाओं को उन-उन अंगों तक संवहन कर उन-उन चेष्टाओं के सम्पादन में मन का व्यापार विशेष परिलक्षित होता है, इसलिए चेष्टावह को मनोवह की संज्ञा दी जाती है।

आयुर्वेद में इन्द्रियों के दो विभाग किये गये हैं—ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय। इन दोनों ही का कार्य बात से प्रेरित मन द्वारा होता है^१।

आधुनिक क्रियाशारीरविद् नाडीसंस्थान के दो कार्य अर्थात् ज्ञान तथा कर्म के वेगों का वहन करना बताते हैं। प्राचीन आचार्यों ने ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों का विभाग इसी बात को ध्यान में रखकर किया होगा, ऐसा प्रतीत होता है।

निष्कर्ष यह है कि शरीर की संज्ञा-चेष्टा का कार्य मन करता है और वह सम्पूर्ण शरीर में जहाँ तक संज्ञा या चेष्टा का व्यापार है वहाँ तक व्याप्त है और उसी तरह जैसे 'वायु'। इसी बात को आचार्य चरक ने कहा है—“कि सम्पूर्ण शरीर में चलने वाले वात-पित्त-कफ के लिए सभी स्रोत अयन (मार्ग) भूत हैं, उसी प्रकार अतीन्द्रिय (इन्द्रियों से अग्राह्य) मन आदि का सम्पूर्ण चेतना से युक्त शरीर मार्ग और आश्रय है”^२।

१. मनश्चेष्टापुरःसरमेव विषयप्रवृत्तेः मनसोऽपि वाताप्रयत्नाद्विनाऽभाविनी प्रवृत्तिः।वातप्रयत्नादात्ममनःपुरःसराणीन्द्रियाणि अर्थोपादानार्थमभिप्रवर्तन्ते।

—सुश्रुत० नि० १।१५ पर गयदास

२. वातपित्तश्लेष्मणां पुनः सर्वशरीरचराणां सर्वाणि स्रोतांस्ययनभूतानि तद्वदतीन्द्रियाणां पुनः सत्त्वादीनां केवलं चेतनावच्छरीरमयनभूतमधिष्ठानभूतं च।

—चरक० वि० ५।६

तथा

मनोवहस्रोतांसि यद्यपि पृथङ् नोक्तानि, तथापि मनसः केवलमेवेदं शरीरमयनभूतम्' इत्यभिधानात् सर्वशरीरस्रोतांसि गृह्यन्ते।

—चरक० इन्द्रिय० ५।४१ पर चक्रपाणि

सुश्रुताचार्य ने ऊर्ध्वग धमनियों के कार्य बतलाते हुए “शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, प्रश्वासोच्छ्वास, जम्भाई, छींक, हँसना, बोलना इत्यादि विशेषों का वहन करती हुई धमनियाँ शरीर को धारण करती हैं”^१ ऐसा कहा है।

धमनियों की क्रिया वायु से सम्बद्ध है, जब प्रत्येक अंग की रक्तवाहिनी में अविकृत वायु संचरण करती रहती हैं तब उसका कार्य ठीक से होता रहता है। धमनियों के जो कार्य बतलाये गये हैं उन सबका सम्बन्ध इन्द्रियों से है इस कथन से सिद्ध होता है कि शरीर के जितने भाग में रक्त संवहन होता है उतने भाग में इन धमनियों की क्रिया होती रहती है और रक्तसंवहन में व्यतिक्रम होने पर रोग उत्पन्न होने लगते हैं और ऐसे रोग मानस या वात रोग की सीमा में गिनाये गये हैं, इससे वात, मन और धमनियों का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध प्रतीत होता है। इस मान्यता को सुश्रुत ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है और इन्द्रियों तथा मन के कार्य को धमनी के आश्रित बतलाया है, जिसका स्पष्ट प्रमाण है वह श्लोक जिसमें यह कहा गया है—कि ‘पंच ज्ञानेन्द्रियों में फैली हुई धमनियाँ मन के साहचर्य से पञ्चेन्द्रिय पुरुष को क्रमशः पाँच इन्द्रियाथों में संयोजित करती हैं और वे धमनियाँ जीवनपर्यन्त पञ्चेन्द्रिय पुरुष या जीवात्मा को इन्द्रियाथों का ज्ञान कराती रहती हैं और विनाशकाल में शरीर से आत्मा के निकल जाने पर स्वयं पंचत्व को (विनाश को) प्राप्त हो जाती हैं।’^२

इस श्लोक में धमनियों के बारे में दो महत्वपूर्ण बातें बतलायी गयी हैं। पहली बात यह है, कि आत्मा के ज्ञान की साधन जो इन्द्रियाँ हैं ‘आत्मा ज्ञः करणैर्योगात् ज्ञानं त्वस्य प्रवर्तते’ (चरक० शा० १), उनका आत्मा के साथ सम्बन्ध जोड़ने का काम धमनियाँ ही करती हैं। आत्मा हृदय में रहता है। (यह पहले कहा जा चुका है) और मन का भी स्थान हृदय है। वह हृदय में से निकलने वाली धमनियों में से होकर इन्द्रियों तक पहुँचता है और उसके साथ होने से इन्द्रियाँ अपने इन्द्रियार्थ को ग्रहण कर आत्मा को उसका ज्ञान कराती हैं।

१. ऊर्ध्वगाः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धप्रश्वासोच्छ्वासजृम्भितक्षुद्रसितकथित-
रुदितादीन् विशेषानभिवहन्त्यः शरीरं धारयन्ति । —सुश्रुत० शा० ९।४

२. पञ्चाभिभूतास्त्वथ पञ्चकृत्वः

पञ्चेन्द्रियं पञ्चसु भावयन्ति ।

पञ्चेन्द्रियं पञ्चसु भावयित्वा

पञ्चत्वमायान्ति विनाशकाले ॥ —सुश्रुत० शा० ९।१०

इसलिए ये धमनियाँ मनोवह भी कहलाती हैं। इस सन्दर्भ में चक्रपाणि का निम्नाङ्कित उद्धरण मननीय है।

“मनोवहानि स्रोतांसि यद्यपि पृथङ् नोक्तानि, तथापि ‘मनसः केवलमेवेदं शरीरमयनभूतम्’ इत्यभिधानात् सर्वशरीरस्रोतांसि गृह्यन्ते, विशेषेण तु हृदया-श्रितत्वान्मनसस्तदाश्रया दश धमन्यो मनोवहा अभिधीयन्ते’ (चरक० इन्द्रिय० ५।४१ में चक्रपाणि) अर्थात् यद्यपि मनोवह स्रोत अलग नहीं कहे गये हैं फिर भी ‘मन का सम्पूर्ण शरीर ही स्रोत या मार्ग है’ इस कथन से शरीर के सभी स्रोतों का ग्रहण हो जाता है, विशेषकर मन के हृदय में आश्रित होने से हृदय से निकलने वाली दशधमनियाँ मनोवह स्रोत कही जाती हैं।

दूसरी बात यह है, कि शरीर के विनाशकाल की सूचना धमनियों द्वारा ही मिलती है। जीवनभर धमनियों की स्पन्दन क्रिया होती रहती है, जब धमनियों की स्पन्दन क्रिया बन्द होने लगती है, तो विनाशकाल का ज्ञान हो जाता है। जैसा कि चरक ने इन्द्रियस्थान में लिखा है, कि लगातार स्पन्दन-शील अंगों में स्पन्दन न होना एवं ग्रीवा स्थित मन्या धमनियों का स्पर्श करने पर यदि स्पन्दन न मालूम पड़े, तो उस व्यक्ति को मृत समझना चाहिए ‘तस्य चेन्मन्ये परिमृश्यमाने न स्पन्देयातां, परासुरिति विद्यात् (चरक० इन्द्रिय० ३।६)।

इस प्रकार हृदय को चेतना का स्थान, ओज और प्राण का एवं चैतन्य का स्थान कहा गया है^१। इस हृदय से धमनियों द्वारा समस्त शरीर के समस्त धातुओं को अंग प्रत्यंग को प्राणयुक्त (चैतन्ययुक्त) जीवरक्त मिलता है जिससे कि सम्पूर्ण शरीर चैतन्ययुक्त हो जाता है। हृदय के एक दो सेकेण्ड काम न करने से आँखों के सामने चिनगारियाँ आ जाती हैं, चक्कर आता है, शरीर में कम्पन होने लगता है, प्राण के निकल जाने का भय होने लगता है। इन बातों को ध्यान में रखकर ही हृदय को प्राणादि का स्थान माना गया और वह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण यन्त्र है। चेतना की दृष्टि से भी विचार करने पर पूर्वोक्त तथ्य स्पष्ट होते हैं।

एवं उपर्युक्त सन्दर्भों से शरीर के समस्त स्रोतों में मनोवह स्रोत मानने पर भी हृदयस्थ धमनियाँ विशेषरूप से मनोवह स्रोत कही जाने योग्य हैं।

१. यद्धि तत्स्पर्शविज्ञानं धारि तत्तत्र संस्थितम् ॥

तत्परस्योजसः स्थानं तत्र चैतन्यसङ्ग्रहः ।

हृदयं महदर्थश्च तस्मादुक्तं चिकित्सकैः ॥

इसी बात को स्पष्ट करने के अभिप्राय से चेतना का अधिष्ठान बतलाते हुए आचार्य चरक ने कहा है कि “केश, लोम, नखों का अग्रभाग, अन्न, मल, मूत्र और शब्दादि विषयों को छोड़कर इन्द्रियों समेत समस्त शरीर चेतना का अधिष्ठान है—

वेदनानामधिष्ठानं मनो देहश्च सेन्द्रियः ।

केशलोमनखाग्रान्नमलद्रवगुणैर्विना ॥ —चरक० शा० १।१३६

संज्ञावह स्रोत और मनोवह स्रोत के भेद से वेदना का ज्ञान करानेवाली दो प्रकार की नाडियाँ मानी गई हैं । संज्ञावह स्रोत केशादि के अतिरिक्त शरीर में सर्वत्र व्याप्त है । इनका रूपादि विषयों से स्पर्श होता है ।^१ इन संज्ञावहाओं में बात सदैव स्थित रहता है । उसकी प्रेरणा से मन संज्ञावहों द्वारा आत्मा को ज्ञान की प्राप्ति कराता है ।

मन का पोषण—मन एक इन्द्रिय है और अन्य इन्द्रियों की अपेक्षा वह श्रेष्ठ है, क्योंकि किसी भी इन्द्रिय का कार्य विना मन के सहकार के नहीं होता है । दूसरी बात यह है, कि इन्द्रियों के जो दो विभाग किये गये हैं १. ज्ञानेन्द्रिय और २. कर्मेन्द्रिय, इनमें दस इन्द्रियाँ आती हैं और सभी दसों इन्द्रियाँ किसी निश्चित विषय को ग्रहण करती हैं या किसी निर्धारित कर्म को करती हैं, किन्तु मन इन दोनों प्रकार की इन्द्रियों के समस्त व्यापार के साथ रहता है, इसके अतिरिक्त मन के व्यापार की सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती । मन त्रैकालिक विचार, चिन्तन, ऊहापोह करने के लिए स्वतन्त्र है । मन के इस महत्त्व के ही कारण आयुर्वेद में किसी व्यक्ति को तब तक स्वस्थ

१. ज्ञानोत्पत्ति का यह प्रकार आधुनिक क्रियाशारीर से सामञ्जस्य रखने वाला है—

The sense of touch may be regarded as a modification of common sensation; and all parts of the body which are supplied with sensory nerves are to a certain extent organs of touch.
—Human Physiology, P. 251

सभी ज्ञानेन्द्रियों के स्पर्शात्मक होने से संस्कृत में विषयों का एक नाम स्पर्श भी है । जैसे—

‘बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा ।’

‘ये हि संस्पर्शजा योगाः ।’

‘मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।’

—गीता

नहीं माना जाता, जब तक वह शारीरिक और मानसिक दोनों ही दृष्टियों से स्वस्थ न हो—

समदोषः समग्निश्च समधातुमलक्रियः ।

प्रसन्नतात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते ॥ —सु. सू. १५।४४

दशविध परीक्ष्य (चरक० विमान० अ० ८) के वर्णन के प्रसङ्ग में 'चरक' ने जो धातुसाम्य के लक्षण गिनाये हैं, उसमें भी मानसिक स्वस्थता की बात कही गयी है । 'मन, बुद्धि और इन्द्रियों का सभी तरह से कष्ट रहित होना' धातुसाम्य का लक्षण कहा गया है—

कार्यं धातुसाम्यं, तस्य लक्षणं विकारोपशमः । परीक्षा चास्य रुगुपशमनं... सर्वाकारैर्मनोबुद्धीन्द्रियाणां चाव्यापत्तिरिति ।' (च० वि० ८।८९)

शरीर और मन का बड़ा ही घनिष्ठ सम्बन्ध है, जब दोनों में से कोई एक रोगी होता है तो दूसरे पर भी उसका प्रभाव पड़ता है और वह भी रुग्ण हो जाता है—'शरीरमनुविधीयते सत्त्वं, सत्त्वञ्च शरीरम्' । (चरक)

शरीर के पोषण के लिए जिन आहार द्रव्यों को श्रेष्ठ बतलाया गया है वे ही आहारद्रव्य मन, बुद्धि तथा इन्द्रियों के भी पोषक कहे गये हैं । आहार से जैसे शरीर की धातुओं का पोषण होता है उसी तरह मन का भी पोषण होता है ।

मनोनुकूलता आहार का एक विशेष गुण है क्योंकि आहार की उपयोगिता तभी है जब वह सम्यग् विपक्व होकर शरीर की उन-उन धातुओं का पोषण कर सके और मानसिक प्रभाव भी अनुकूल हो । मन में ईर्ष्या-भय-क्रोध-लोभ और द्वेष की भावना होने की स्थिति में किया हुआ भोजन नहीं पचता है^१ ।

आहार का मन पर प्रभाव पड़ता है और मन के तीनों गुण—सत्त्व, रज और तम भी आहार से प्रभावित होते हैं । जब मनोऽनुकूल वर्ण, गन्ध, रस तथा स्पर्शयुक्त आहार को ग्रहण किया जाता है तो वह आहार मन को पोषित कर उसे बल प्रदान करता है और इन्द्रियों को भी सबल, स्वस्थ और प्रसन्न बनाता है ।^२ जब मन को प्रिय लगनेवाला आहार किया जाता है, तो उस

१. ईर्ष्याभयक्रोधपरिप्लुतेन लुब्धेन रुद्दैन्यनिपीडितेन ।

प्रद्वेषयुक्तेन च सेव्यमानमन्नं न सम्यक् परिपाकमेति ॥ —माधवनि०

२. इष्टवर्णगन्धरसस्पर्श विधिविहितमन्नपानं प्राणिनां प्राणिसंज्ञकानां प्राण-माचक्षते कुशलाः, प्रत्यक्षफलदर्शनात्, तदिन्द्रिया ह्यन्तरग्नेः स्थितिः, तत् सत्त्वमूर्जयति, तच्छरीरधातुव्यूहबलवर्णेन्द्रियप्रसादकरं यथोक्तमुपसेव्यमानं, विपरीतमहिताय सम्पद्यते ।

—चरक० सूत्र० २७।३

अन्नपान से मन में सन्तोष, बल और रुचि की वृद्धि होती है साथ ही शरीर का बल आरोग्य और आयु बढ़ती है—

मनसोऽर्थानुकूल्याद्धि तुष्टिरूर्जा रुचिर्बलम् ।

सुखोपभोगता च स्याद् व्याधेश्चातो बलक्षयः ॥

—चरक० चि० ३०।३३३

सत्त्व-रज-तम को प्राण कहा गया है “अग्निः सोमो वायुः सत्त्वं रजस्तमः पञ्चेन्द्रियाणि भूतात्मेति प्राणाः” (सु० शा० ४।३) । डल्हण ने कहा है, कि सत्त्व-रज-तम ये मन के रूप हैं ‘सत्त्वं रजस्तमश्च मनोरूपतया परिणतम् । (सु० शा० ४।३) इस प्रकार मन की प्राणसंज्ञा है और प्राण अन्न पर निर्भर होने से मन की स्थिति भी अन्न के ऊपर है एवं मन का भी पोषण उसी आहार से होता है, जिससे शरीर के सभी धातु आदि का पोषण होता है । अत एव चरक ने यह स्पष्ट उल्लेख किया है कि प्रसन्नता, प्रतिभा, सुख, बुद्धि इन सबकी उपलब्धि अन्न से ही होती है ।^१ शरीर के शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध भी अन्न द्वारा ही पोषित होते हैं और इन्द्रियों का भी पोषण अन्न से ही होता है ।^२

आहार की ही तरह औषध द्रव्य या कल्पित औषधि-योग भी मन का पोषण करते हैं और मन को कर्मठ बनाते हैं । आसवों के गुण-वर्णन के प्रसङ्ग में कहा गया है कि आसव मन, शरीर और अग्नि के बल को बढ़ाने वाले और अनिद्रा, शोक तथा अरुचि को नष्ट करने वाले एवं मन को प्रसन्न करने वाले होते हैं ।^३

मन में संचित तमोदोष से मन बुद्धि के आवृत हो जाने पर संज्ञानाश की स्थिति हो जाती है जिसे दूर करने के लिए तमोदोष को हटाने के लिए

१. प्राणाः प्राणभृतामन्नमन्नं लोकोऽभिधावति ।

वर्णः प्रसादः सौस्वर्यं जीवितं प्रतिभा सुखम् ॥

तुष्टिः पुष्टिर्बलं मेघा सर्वमन्ने प्रतिष्ठितम् ।

लौकिकं कर्म यद् वृत्तौ स्वर्गतौ यच्च वैदिकम् ॥

कर्मापवर्गे यच्चोक्तं तच्चाप्यन्ने प्रतिष्ठितम् ॥

—च० सू० २७।३४९-५१

२. अन्नमिष्टं ह्युपकृतमिष्टैर्गन्धादिभिः पृथक् ।

देहे प्रीणाति गन्धादीन् घ्राणादीनिन्द्रियाणि च ॥—च० चि० १५।१२

३. मनः शरीराग्निबलप्रदानामस्वप्नशोकारुचिनाशनानाम् ।

संहर्षणानां प्रवरासवानामशीतिरुक्ता चतुस्तरैषा ॥

—च० सू० २६।५०

उष्णवीर्य औषधियों का प्रयोग किया जाता है और आहार में मेध्य^१ द्रव्य, जैसे—शंखपुष्पी, जटामासी, ब्राह्मी, वच, हींग, पुराना घी आदि का प्रयोग करते हैं। इससे भी यह बात सिद्ध है, कि औषधि द्रव्यों के आहार से मन का पोषण होता है। चरक^२ में और सुश्रुत^३ में भी मेध्य रसायन योगों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है और यह सब इस बात के लिए साक्ष्य है, कि आहारद्रव्यों से मन का पोषण होता है।

मन के तीन गुणों का आहार से सम्बन्ध बतलाते हुए गीता में कहा गया है, कि “सात्त्विक पुरुष को वही आहार प्रिय होता है, जो आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य और प्रीति को बढ़ाने वाला तथा स्निग्ध स्थिर एवं मन की रुचि के अनुकूल होता है।” राजसपुरुष कड़वे, खट्टे लवणयुक्त, अत्युष्ण, अतितीक्ष्ण, रूक्ष, विदाही तथा दुःख, चिन्ता और रोगोत्पादक आहार में रुचि रखनेवाले होते हैं। एवं नीरस, अर्धपक्व, बासी, अपवित्र और उच्छिष्ट भोजन में तामस पुरुष की रुचि होती है।^४

१. हिगुकैड्यारिमेदाबचाचोरकवयस्था गोलोमी जटिलापलङ्कषाशोक-रोहिण्य इति दशेमानि संज्ञास्थापनानि भवन्ति ॥ —च० सू० ४।४८

२. (i) जराव्याधिप्रशमनं बुद्धीन्द्रियबलप्रदम् । (ब्राह्मरसायन)

(ii) स्वयं चास्योपतिष्ठन्ते श्रीर्वेदावाक् च रूपिणी । (आमलकरसायन)

(iii) धीमान् यशस्वी वाक्सिद्धः श्रुतधारी... । (लौहादिरसायन)

(iv) मेधास्मृतिज्ञानहराश्च रोगाः शाम्यन्त्यनेनातिबलाश्च वाताः ।

(एन्द्रसायन)

(v) मेध्यानि चैतानि रसायनानि मेध्या विशेषेण च शंखपुष्पी ।

—च. चि. १।३

३. श्रुतनिगादी स्मृतिमानरोगो वर्षशतायुर्भवति ।

मेधावी वर्षशतायुर्भवति ।

श्रुतधरः पञ्चवर्षशतायुर्भवति ।

मेध्यमारोग्यमायुष्यपुष्टिसौभाग्यवर्धनम् । —सु० चि० २।१३-५, १७

४. आयुः सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।

रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।

आहारा राजसस्येष्टा दुःख शोकामयप्रदाः ॥

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।

उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥

इस प्रकार भोजन के साथ मानसिक गुणों का भी परस्पर सम्बन्ध स्पष्ट होता है। 'छान्दोग्योपनिषद्' में कहा गया है, कि जो अन्न खाया जाता है, उसका तीन भाग बनता है—जो स्थूल अंश होता है, उससे मन बनता है, जो मध्य अंश होता है, उससे मांस आदि बनते हैं तथा जो अणु (सूक्ष्म) अंश होता है, उससे मन का पोषण होता है।^१ इस कथन से भी आहार से मन के पोषित होने की बात स्पष्ट होती है।

मन की गणना पाँच ज्ञानेन्द्रियों के साथ की गयी है और मधुर रस को पञ्चज्ञानेन्द्रिय तथा मन को सन्तुष्ट करने वाला कहा गया है^२, इस उक्ति से आहार से मन का पोषण होना सिद्ध होता है। एवं ज्ञान, विज्ञान, धैर्य, स्मृति-समाधि भी मन के पोषक होते हैं।^३

१. अन्नमशितं त्रेधा विधीयते, तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तस्य पुरीषं भवति; यो मध्यमस्तन्मांसं, योऽणिष्ठस्तन्मन इति । —छान्दोग्य० ६।५।१

२. मधुरो रसः.....षडिन्द्रियप्रसादनः ।

'षडिन्द्रियाणि मनसा समम्' । —चरक० सूत्र० २६।४३ चक्रपाणि ।

३. मानसो ज्ञानविज्ञानधैर्यस्मृतिसमाधिभिः ।

—च० सू० १।५८

एकादश अध्याय

काल-दिक्-विज्ञान

काल-निरूपण

काल^१ ऐश्वर्यशाली है, स्वयम्भू है, अनादि और मध्यरहित है। वह मधुर आदि रसों की वृद्धि या हानि का कारण और मनुष्यों के जीवन एवं मरण का भी हेतु है। वह जरा भी नहीं रुकता, सूक्ष्म कला भर भी नहीं ठहरता, इसीलिए उसे काल कहते हैं अथवा सभी प्राणियों का संकलन करता है, इस कारण उसे काल कहते हैं। भगवान् सूर्य अपनी शक्तिविशेष से— निमेष, काष्ठा, कला, मूर्हत, अहोरात्र, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, वर्ष और युग के नाम से काल का विभाग करते हैं।

काल उत्पन्न होने वाले पदार्थों का जनक, जगत् का आश्रय और परत्व तथा अपरत्व बुद्धि का हेतु है।^२ एक होने पर कार्य द्रव्यों के आरम्भ, उत्पत्ति, विनाश आदि उपाधि भेद से, एक ही काल की आरम्भकाल, उत्पत्तिकाल, विनाशकाल आदि अनेक संज्ञाएँ हैं। संज्ञा भेद से सेकेण्ड, मिनट, घण्टा, दिन, रात आदि काल की उपाधियाँ हैं। वस्तुतः काल एक है। काल, भूत, भविष्यत् और वर्तमान व्यवहार का निमित्त कारण है।^३ संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग काल के गुण हैं।

महाभारत में काल-निरूपण

काल की महिमा का वर्णन करते हुए भगवान् वेदव्यास ने कहा है^४—

१. कालो हि नाम भगवान् स्वयम्भूः अनादिमध्यनिघनः। अत्र रस-व्यापत्सम्पत्ती जीवितमरणे च मनुष्याणामायत्ते। स सूक्ष्मामपि कलां न लीयते इति कालः, सङ्कलयति संहरणादेकराशीकरोति भूतानि इति कालः।

तस्य संवत्सरात्मनो भगवान् आदित्यो गतिविशेषेण निमेष-काष्ठा-कला मूर्हत-अहोरात्र-पक्ष-मास-ऋतु-अयन-संवत्सर-युगप्रविभागं करोति।

२. जन्यानां जनकः कालो जगतामाश्रयो मतः।

परापरत्वधीहेतुः क्षणादिः स्यादुपाधितः॥

—कारिकावली

३. अतीतादिव्यवहारहेतुः कालः।

—तर्कसंग्रह

काल के अध्ययन के लिए देखिये—‘श्रीमद्भागवत’ १०।२

४. महाभारत : शान्तिपर्व, राजधर्मानुशासनपर्व २५।५-१२

न तो कर्म करने से, नहीं चिन्ता करने से किसी को कोई वस्तु मिलती है और न कोई दाता ही देता है, अपितु यह काल की ही महिमा है, कि समय आने पर मनुष्य को कोई वस्तु प्राप्त हो जाती है। बुद्धि के बल से अथवा शास्त्र के अध्ययन से भी असमय में किसी को कोई वस्तु नहीं मिलती, जब तक कि 'काल' अनुकूल न हो, क्योंकि कभी-कभी अकर्मण्य मूर्ख-जन भी अभीष्ट पदार्थों को प्राप्त कर लेते हैं। अतः किसी वस्तु की प्राप्ति या कार्य-सिद्धि में काल ही कारण होता है। जब विपत्ति काल होता है, तो कलाएँ (शिल्प आदि) मन्त्र और औषध भी निष्फल होते हैं और उन्नति के समय में वे सब जब 'काल' की प्रेरणा पाते हैं, तब फलप्रद और सहायक हो जाते हैं।

'काल' के प्रभाव से ही वायु में द्रुतगमन की शक्ति आती है, मेघ जल बरसाते हैं, जल में कमल के फूल खिलते हैं और वन के वृक्षों में फूल तथा फल लगते हैं। 'काल' से ही अँधेरी और उजियारी रातें होती हैं, काल से ही चन्द्रमा अपनी समस्त कलाओं से परिपूर्ण होता है और असमय में वृक्षों में फूल और फल नहीं लगते, न तो असमय में नदियों के प्रवाह में वेग होता है।

लोक में पक्षी, सर्प, जंगली मृग, हाथी और पहाड़ी मृग भी समय आये बिना मतवाले नहीं होते हैं। असमय में स्त्रियों के गर्भ नहीं रहते और बिना समय के सर्दी, गर्मी और वर्षा भी नहीं होती है। बालक समय आये बिना न जन्म लेता है, न मरता है और न असमय में बोलता ही है। बिना समय के जवानी नहीं आती और बिना समय के बोया हुआ बीज भी नहीं उगता है। असमय में न सूर्य का उदय होता है, न तो वह समय आये बिना अस्ताचल को जाता है। असमय न तो चन्द्रमा घटता-बढ़ता है, और न समुद्र में ऊँची-ऊँची तरंगें ही उठती हैं। इस प्रकार काल एक सर्वोपरि प्रभावकारी सत्ता है, जिसके प्रभाव से सृष्टि का समस्त क्षेत्र आक्रान्त है।

श्रीमद्भागवत में काल-निरूपण

काल-विभाग—जो काल प्रपञ्च की परमाणु जैसी सूक्ष्म अवस्था में व्याप्त है वह अत्यन्त सूक्ष्म है और जो सृष्टि से लेकर प्रलयपर्यन्त उसकी सभी अवस्थाओं का भोग करता है वह परम महान् है।

तथा—आसनं शयनं यानमुत्थानं पानभोजनम् ।

नियतं सर्वभूतानां कालेनैव भवत्युत ॥

वैद्याश्चाप्यातुराः सन्ति बलवन्तश्च दुर्बलाः ।

श्रीमन्तरचापरे षण्ढा विचित्रः कालपर्ययः ॥

दो परमाणुओं^१ के मिलने से एक 'अणु' बनता है और तीन अणुओं के मिलने से एक 'त्रसरेणु' बनता है, जो झरोखे में से आयी हुई सूर्य की किरणों के प्रकाश में आकाश में उड़ता हुआ दिखायी देता है। ऐसे तीन त्रसरेणुओं को पार करने में सूर्य को जितना समय लगता है उतने समय की एक 'त्रुटि' होती है। ऐसी सौ त्रुटि के बराबर एक 'वेध' होता है और तीन वेध का 'लव' होता है। तीन लव का एक 'निमेष' और तीन निमेष का एक 'क्षण' होता है। पाँच क्षण के बराबर एक 'काष्ठा' और पन्द्रह काष्ठा का एक 'लघु' होता है। पन्द्रह लघु की एक 'नाडिका' तथा दो नाडिका (दण्ड) के बराबर एक 'मुहूर्त' होता है। प्रहर को ही याम भी कहते हैं।

नाडिका — छः पल (२४ तोला) तबि का एक ऐसा पात्र बनाया जाय जिसमें एक प्रस्थ (६४ तोला) जल अट सके और चार मासे सोने की एक चार अंगुल लम्बी सलाई बनाकर उस पात्र के पेंदे में छेद करके उसे पानी भरे टब में डाल दें। जितने समय में उस पात्र में एक प्रस्थ जल भर जाय और वह डूब जाय, इतने समय को एक 'नाडिका' कहते हैं। ऐसी ही दो नाडिका के बराबर एक मुहूर्त होता है। मनुष्यों के दिन और रात चार-चार प्रहर के होते हैं।

पन्द्रह दिन का एक पक्ष होता है, जो शुक्ल और कृष्ण भेद से दो प्रकार का होता है। दो पक्षों के बराबर पितरों का एक दिन-रात होता है। दो पक्षों का एक मास होता है। दो मास की एक ऋतु और तीन ऋतु (छ मास) का एक अयन होता है। अयन उत्तरायण और दक्षिणायन भेद से दो प्रकार का होता है। ये दोनों अयन मिलकर एक वर्ष होते हैं जो देवताओं के एक दिन-रात के बराबर होता है। मनुष्यों की आयु एक सौ वर्ष कही गयी है।

चन्द्रमा आदि ग्रह, आश्विनी आदि नक्षत्र और समस्त तारामण्डल के अधिष्ठाता कालस्वरूप भगवान् सूर्य परमाणु से लेकर संवत्सर पर्यन्त काल में द्वादश राशिरूप सम्पूर्ण भुवनकोश की निरन्तर परिक्रमा किया करते हैं।

१. जो पृथिवी आदि कार्यद्रव्यों का सूक्ष्मतम अंश है और जिसका विभाग नहीं हो सकता एवं जो कार्यरूप में परिणत न हुआ हो, न जिसका अन्य परमाणुओं से संयोग हुआ हो, ऐसे अविभाज्य सूक्ष्मतम अंश को 'परमाणु' कहते हैं—

चरमः सद्विशेषाणामनेकोऽसंयुतः सदा ।

परमाणुः स विज्ञेयो नृणामैक्यभ्रमो यतः ॥ —श्रीमद्भागवत ३।१।१

सूर्य, बृहस्पति, सवन, चन्द्रमा और नक्षत्र-सम्बन्धी महीनों के भेद से वर्ष ही संवत्सर, परिवत्सर, इडावत्सर अनुवत्सर और वत्सर कहा जाता है ।^१

—श्रीमद्भागवत स्कन्ध ३ अ० ११

श्रीमद्भागवत के अनुसार काल का महत्त्व

परब्रह्म परमात्मा का अद्भुत प्रभाव सम्पन्न स्वरूपविशेष तथा जगत् के नानाविधवैचित्र्य का हेतुभूत तत्त्व ही 'काल' के नाम से विख्यात है । भगवान् काल ब्रह्मादि का भी प्रभु है और वह यज्ञों का फल देने वाला विष्णु है, वह सबका आश्रय होने के कारण समस्त प्राणियों में अनुप्रविष्ट होकर उनका संहार करता है । काल ही जगत् का शासन करता है ।

काल का न कोई मित्र है न शत्रु, न तो कोई सगा-सम्बन्धी ही है । यह सर्वदा सजग रहता है और अपने स्वरूपभूत भगवान् को भूलकर भोगरूप प्रमाद में पड़े हुए प्राणियों पर आक्रमण करके उनका संहार करता है । इसी के भय से वायु चलता है, इसी के भय से सूर्य तपता है, उसी के भय से इन्द्र वर्षा करता है और इसी के भय से तारे चमकते हैं । इसी से भयभीत होकर

१. कालो हि नाम भगवान् स्वयम्भूरनादिमध्यनिघ्नोऽत्र रसव्यापत्सम्पत्ती जीवितमरणे च मनुष्याणामायत्तं । स सुक्षमामपि कलां न लीयत इति कालः । सङ्कलयति कालयति वा भूतानीति वा कालः ।

तस्य संवत्सरात्मनो भगवानादित्यो गतिविशेषेण निमेष-काष्ठा-कला-मुहूर्ताहोरात्र-पक्ष-मासत्वेयनसंवत्सरयुगप्रविभागं करोति । तत्र लघ्वक्षरोच्चारणमात्रोऽक्षिनिमेषः, पञ्चदशाक्षिनिमेषाः काष्ठा, त्रिशत्काष्ठाः कला, विंशतिकलो मुहूर्तः, कलादशभागश्च, त्रिंशन्मुहूर्तमहोरात्रं, पञ्चदशाहोरात्राणि पक्षः, स च द्विविधः—शुक्लः कृष्णश्च, तो मासः ।

तत्र माघादयो द्वादशमासाः संवत्सरः । द्विमासिकं ऋतुं कृत्वा षडृतवो भवन्ति, ते शिशिरवसन्तग्रीष्मवर्षाशरद्धेमन्ताः, तेषां तपस्तपस्यौ शिशिरः, मधुमाघवौ वसन्तः, शुचिशुक्रौ ग्रीष्मः, नभोनभस्यौ वर्षा, इषोजौ शरत्, सहसहस्यौ हेमन्त इति ।

—सुश्रुत० सूत्र० अ० ६।३-६

इह तु वर्षा शरद्धेमन्तवसन्तग्रीष्मप्रावृषः षड्ऋतवो भवन्ति, दोषोपचय-प्रकोपोपशमनिमित्तं; ते तु भाद्रपदाद्येन द्विमासिकेन व्याख्याताः । तद्यथा—भाद्रपदाश्वयुजौ वर्षाः, कार्तिकमार्गशीर्षौ शरत्, पौषमाघौ हेमन्तः, फाल्गुन-चैत्रौ वसन्तः, वैशाखज्येष्ठौ ग्रीष्मः, आषाढश्रावणौ प्रावृडिति ।

—सुश्रुत० सूत्र० ६।१०

औषधियाँ और लताएँ समय-समय पर सुन्दर सौरभ से भरे पुष्प और सरस फलों को धारण करती हैं ।

इसी के डर से नदियाँ बहती हैं और समुद्र अपनी मर्यादा से बाहर नहीं जाता । इसी के भय से अग्नि प्रज्वलित होता है और पर्वतों सहित पृथ्वी जल में नहीं डूबती । इसी के शासन से यह आकाश जीवित प्राणियों को स्वास-प्रस्वास के लिए अवकाश देता है । इस काल के ही भय से सत्त्वादि गुणों के नियामक विष्णु आदि देवगण युगक्रम से जगत् की रचना आदि कार्यों में तत्पर रहते हैं । यह अविनाशी काल स्वयं अनादि किन्तु दूसरों का आदि कर्ता है, स्वयं अनन्त होकर दूसरों का अन्त करने वाला है ।

यह सारे संसार की संरचना करता है और अपनी संहार-शक्ति मृत्यु के द्वारा यमराज की भी मृत्यु कराकर उसका अन्त कर देता है । इसकी छाया से समस्त सृष्टि आक्रान्त है । इसका ऐश्वर्य विलक्षण और वर्णनातीत है ।

सोजन्तोऽन्तकरः कालोऽनादिरादिकृदव्ययः ।

जनं जनेन जनयन्मारयन्मृत्युनाऽन्तकम् ॥

—श्रीमद्भागवत तृतीय स्कन्ध २९।३७-४५

दिक्-निरूपण

इसकी अपेक्षा यह दूर है और यह निकट है इस प्रकार के ज्ञान का कारण दिक् है—अर्थात् परत्वापरत्व (दूरत्व-समीपत्व) ज्ञान के हेतु को दिक् कहते हैं । वह एक और नित्य है । एक होने पर भी उपाधि भेद से प्राची (पूरब) आदि नाम से कही जाती है ।^१ संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग ये पाँच दिक् के गुण हैं^२ । उपाधि भेद से दश हैं—प्राची, प्रतीची, उदीची, अवाची, ऊर्ध्व, अधः तथा पूर्व-दक्षिणा, दक्षिण-पश्चिमा, पश्चिमोत्तरा और उत्तर-पूर्वा कुल मिलकर दश दिशाएँ होती हैं ।

सूर्योदय की समीपवर्ती दिशा को प्राची तथा दूरवर्ती दिशा को प्रतीची कहते हैं । पूर्वमुख खड़े पुरुष के बायें हाथ की दिशा को उदीची और दायें हाथ की दिशा को अवाची (दक्षिण) कहते हैं । ऊपर की दिशा ऊर्ध्व और नीचे को अधः कहते हैं, इन छह दिशाओं के अतिरिक्त चार कोण होते हैं—जिनका नाम ऊपर गिनाया गया है । स्पष्ट शब्दों में—१. पूरब, २. पश्चिम ३. उत्तर ४. दक्खिन ५. ईशान कोण ६. वायव्य कोण ७. नैऋत्य कोण ८. आग्नेय कोण और ९. ऊर्ध्व १०. अधः ये १० दिशाएँ हैं ।

१. दूरान्तिकादिधीहेतुः एका नित्या दिगुच्यते ।

उपाधिभेदादेकापि प्राच्यादिव्यपदेशभाक् ॥ —कारिकावली ४६।४७

२. संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभागगुणवती । —तर्कभाषा

द्वादश अध्याय

गुण-विज्ञान

गुण का लक्षण

द्रव्य का समवायी, द्रव्य में आधेय रूप से नित्य रहने वाला, चेष्टारहित, गुणरहित और जो स्वसमान गुण की उत्पत्ति में कारण हो, उसे 'गुण'^१ कहते हैं । (भूमि, जल, अग्नि आदि द्रव्यों में जो गन्ध, द्रवता और उष्णता आदि गुण नित्यसम्बन्ध से रहते हैं, इस नित्यसम्बन्ध को ही समवाय कहते हैं) । गुण द्रव्य के आश्रित रहता है और वह निर्गुण तथा निष्क्रिय होता है^२ । एक गुण में दूसरा गुण नहीं रहता ।^३ मधुर रस में जो शीत, स्निग्ध, गुरु आदि गुण कहे गये हैं, उससे ऐसा नहीं समझना चाहिए कि गुण में गुण रहते हैं, अपितु वे द्रव्य के ही गुण हैं, क्योंकि गुण द्रव्याश्रित होते हैं । फिर भी द्रव्यों के गुणों को मधुरादि रसों का गुण जो कहा गया है, उसका कुछ विशेष अभिप्राय है, जैसे कि किसी द्रव्य के बारे में केवल इतना ज्ञान हो जावे कि यह मधुर है, तो फिर उसके स्निग्ध, शीत और गुरु गुणयुक्त होने की बात बतलाने की आवश्यकता नहीं होती ? क्योंकि मधुर रस के होने पर उस द्रव्य में शीत, स्निग्ध, गुरु आदि गुण स्वतः ही सिद्ध हो जाते हैं ।

गुणों की संख्या

शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध (वैशेषिक) ५, गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध, रुक्ष, स्थिर, सर, मृदु, कठिन, मन्द, तीक्ष्ण, विषाद, पिच्छिल, श्लक्ष्ण, खर, स्थूल, सूक्ष्म, सान्द्र, द्रव (सामान्यगुण) २०, बुद्धि, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, प्रयत्न (आध्यात्मिक गुण) ६, तथा परत्व, अपरत्व, युक्ति, संख्या, संयोग,

१. समवायी तु निश्चेष्टः कारणं गुणाः ।

—च० सू० १।५१

२. अथ द्रव्याश्रिताः ज्ञेयाः निर्गुणाः निष्क्रियाः गुणाः । —कारिकावली
तथा च—

क्रियाहीनत्वेन कर्तृत्वाभावात् अप्राधान्येन गौणत्वाच्च तस्य गुण इति संज्ञा ।

३. गुणा गुणाश्रया नोक्तास्तस्माद् रसगुणान् भिषक् ।

विद्यात् द्रव्यगुणान् कर्तुरभिप्रायाः पृथग्विधाः ॥

—च० सू० २६।३६

विभाग, पृथक्त्व, परिमाण, संस्कार और अभ्यास (सामान्य गुण) १०, ये ४१ गुण कहे गये हैं ।^१

गुणों के भेद

आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी इनके शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध एक-एक विशेष गुण हैं । इसलिए शब्द आदि पाँच गुण विशेष गुण होने के कारण 'वैशेषिक' गुण कहे जाते हैं (ये ही श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, घ्राण इन पाँच ज्ञानेन्द्रियों के अर्थ कहे जाते हैं) । गुरु से लेकर द्रव तक २० गुण सामान्य गुण कहे जाते हैं, क्योंकि पाँचों महाभूतों में ये सामान्यतः रहते हैं । परत्व से लेकर अभ्यास तक १० सामान्य गुण ही हैं, किन्तु गुरु-लघु आदि की अपेक्षा ये कम महत्त्व के हैं, इसलिये ये अलग गिने जाते हैं । बुद्धि, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख और प्रयत्न ये ६ आध्यात्मिक गुण हैं । कुछ विद्वान् चरक में लिखे 'सार्थाः' शब्द से मन के चिन्त्य, विचार्य ऊह्य, ध्येय और संकल्प्य इन पाँच अर्थों को आध्यात्मिक गुण मानते हैं जिससे गुणों की संख्या ४६ हो जाती है ।

इस प्रकार गुणों के तीन प्रकार होते हैं—१. वैशेषिक २. सामान्य और ३. आध्यात्मिक । वैशेषिक पाँच हैं, सामान्य ३० और आध्यात्मिक ६ या ११ हैं एवं गुणों का योग ४१ अथवा ४६ माना गया है ।

वैशेषिकदर्शन में गुण

'वैशेषिकसूत्र'^२ में रूप, रस, स्पर्श, गन्ध, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न इन १७ गुणों का उल्लेख है ।

न्यायशास्त्र में गुण^३

रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, धर्म, अधर्म और शब्द ये २४ गुण होते हैं ।

१. सार्था गुर्वादयो बुद्धिः प्रयत्नान्ताः परादयः ।

गुणाः प्रोक्ताः, ॥ —च० सू० १।४९

२. रूप-रस-स्पर्श-संख्या-परिमाणानि, पृथक्त्वं, संयोगविभागौ, परत्वा-परत्वे बुद्धयः सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नाश्च गुणाः । —वैशेषिकसूत्र

३. अथ गुणाः रूपं रसो गन्धस्ततः परम् ।

स्पर्शः संख्या परिमितिः पृथक्त्वं च ततः परम् ॥

विमर्श—आचार्य चरक ने गुण का लक्षण करते हुए कहा है—‘समवायी तु निश्चेष्टः कारणं गुणः ।’—अर्थात् जो समवायसम्बन्ध वाला, चेष्टारहित और ग्रहण किये जाने में कारण हो, उसे ‘गुण’ कहते हैं। गुण द्रव्य के आश्रित रहता है और जब तक द्रव्य की स्थिति रहती है, वह उसमें रहता है। पृथक् न होने को समवाय कहते हैं, एवं ‘गुण’ समवायसम्बन्धवाला है। गुण स्वयं कोई चेष्टा (व्यापार, कर्म, क्रिया) नहीं करता, इसलिए वह निश्चेष्ट होता है। जब कोई व्यक्ति किसी द्रव्य का ग्रहण करता है, तो उस द्रव्य के गुणों को ही देखकर ग्रहण करता है ‘गुणाः पूजास्थानम्’ इसलिए ग्रहण करने में गुण कारण हैं। जब कोई आदमी किसी पुष्प का ग्राहक बनता है, तो उसमें कारण है—पुष्प का रूप और गन्ध और ये दोनों ही गुण हैं। इस प्रकार ‘गुण’ समवायी, निश्चेष्ट और अपनी ग्राह्यता का कारण होता है।

इस समवायी का अर्थ है—समवाय का आधेय। इस कथन से विस्तृत और व्यापक आकाशादि में गुण का लक्षण नहीं जायेगा, क्योंकि आकाशादि द्रव्य समवाय के आधार हैं, न कि आधेय।

निश्चेष्ट कहने से चेष्टारूप कर्म में यह लक्षण नहीं आवेगा तथा क्रिया के आधार मूर्त द्रव्यों से भी गुण का अलगाव प्रकट हो जाता है। इसी प्रकार कारण कहने से अकारण जो सामान्य, विशेष और समवाय हैं, उनसे गुण का अलगाव स्पष्ट हो जाता है।

द्रव्य, गुण और कर्म का आश्रय होता है, परन्तु गुण स्वसमान गुण और कर्म का आश्रय नहीं होता, इसलिए द्रव्य से गुण अलग कहा गया है।

चरकोक्त गुणों का न्यायोक्त गुणों में समन्वय

‘चरकसंहिता’ और ‘न्यायदर्शन’ के गुणों का वर्णन पहले किया जा चुका है। वस्तुतः न्यायोक्त २४ गुण ही प्रधान हैं और इन्हीं २४ गुणों में आयुर्वेद के ४१ गुणों का समावेश हो जाता है। आयुर्वेद में न्यायोक्त गुणों के अतिरिक्त गुर्वादि २० गुण, अभ्यास और युक्ति, ये २२ गुण अधिक माने गये हैं।

अभ्यास को संस्कार में समाविष्ट करते हैं, क्योंकि अभ्यास और संस्कार परस्पर अनुस्यूत हैं। युक्ति का संयोग में समन्वय होता है, क्योंकि युक्ति और

संयोगश्च विभागश्च परत्वं चापरत्वकम् ।

बुद्धिः सुखं दुःखमिच्छा द्वेषो यत्नो गुह्यत्वकम् ॥

द्रवत्वं स्नेह संस्कारावदृष्टं शब्द एव च ।

(अदृष्ट शब्द का अर्थ है—धर्म और अधर्म)

—कारिकावली

संयोग दोनों का घनिष्ठ अभेद सम्बन्ध है। गुर्वादि गुणों के गुरु, द्रव और स्नेह को गुरुत्व, द्रवत्व एवं स्नेह में समाविष्ट करते हैं। शेष गुणों को संस्कार एवं धर्म में समाविष्ट किया जाता है। गुर्वादि गुण सांसिद्धिक (स्वभावजन्य) और नैमित्तिक (कारणजन्य) इन दो प्रकारों से प्राप्त होते हैं। जब इनकी प्राप्ति स्वभावतः होती है, तब 'यह द्रव्य का धर्म है' ऐसा कहा जाता है और वह औषध का धर्म (स्वभावतः कर्म) अदृष्टजन्य होता है, ऐसी दशा में इसका समावेश धर्म में किया जाता है जब निमित्तों के द्वारा इन गुणों की प्राप्ति होती है तब इनका समावेश संस्कार में कर लिया जाता है।

इस प्रकार आयुर्वेद के ४१ गुणों का समन्वय न्यायोक्त २४ गुणों के साथ हो जाता है।

गुणों का परस्पर साधर्म्य और वैधर्म्य

साधर्म्य—जो गुण परस्पर भिन्न होते हुए भी किन्हीं अर्थों में समानता रखते हैं उनका परस्पर साधर्म्य होता है। जैसे—१. सभी गुणों में गुणत्व जाति रहती है। २. सभी गुण द्रव्य के आश्रित रहते हैं। ३. सभी गुण निर्गुण होते हैं। ४. सभी गुण क्रियाहीन (निश्चेष्ट) होते हैं।

इस प्रकार पूर्वोक्त समानता के कारण गुणों का साधर्म्य प्रकट होता है।

वैधर्म्य—१. रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, परत्व, अपरत्व और गुर्वादि २० गुण मूर्त हैं अर्थात् जिनका स्थूल स्वरूप होता है उन्हीं द्रव्यों में ये पाये जाते हैं।

२. बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार, शब्द ये अमूर्त गुण हैं, जो उन द्रव्यों में पाये जाते हैं, जिनका कोई स्थूल स्वरूप नहीं होता, जैसे—आत्मा और आकाश।

३. संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग ये मूर्त तथा अमूर्त गुण हैं और सभी द्रव्यों में पाये जाते हैं।

४. संयोग और विभाग कभी भी एक द्रव्य में नहीं पाये जाते, किन्तु संख्या कभी एक द्रव्य में कभी अनेक द्रव्यों में पायी जाती है।

५. शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार और गुर्वादि २० गुण, इन्हें विशेष गुण कहते हैं, क्योंकि इन गुणों के आधार पर ही एक वस्तु दूसरे से अलग समझी जाती है। (जो अलगाव (पृथक्त्व) बतलावे, उसे विशेष कहते हैं—'विशेषस्तु पृथक्त्वकृत्'—तदनुसार ये विशेष गुण हैं।)

६. संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व और द्रवत्व ये सामान्य गुण हैं—अर्थात् ये अनेक द्रव्यों में एक साथ ही पाये

जाते हैं और इनके द्वारा एक वस्तु दूसरी वस्तु से अलग नहीं की जा सकती है, इसलिए ये सामान्य गुण कहे जाते हैं ।

(१) शब्द-निरूपण

शब्द का लक्षण—कर्णेन्द्रिय से प्रत्यक्ष (ग्रहण) करने योग्य गुण को 'शब्द' कहते हैं ।^१ वह दो प्रकार का होता है १. वर्णात्मक और । २. ध्वन्यात्मक ।

१. वर्णात्मक—वह है, जो उरः, कण्ठ, शिर, जिह्वामूल, दन्त, नासिका और तालु से उत्पन्न अकारादि स्वर तथा ककारादि व्यञ्जन हैं ।^२ वर्णात्मक शब्द श्रोत्रद्वारा सुना जाता है और बुद्धि से अच्छी तरह ग्रहण करने योग्य होता है । वाणी से बोलने पर उसका सही ज्ञान होता है और उसका स्थान आकाश होता है ।^३

२. ध्वन्यात्मक—नगाड़ा, मृदंग आदि पर आघात या बाँस के पोर को (गाँठ) फाड़ने से उत्पन्न होता है ।

शब्द की उत्पत्ति

संयोग, विभाग और शब्द से शब्द की उत्पत्ति होती है ।^४ भेरी आदि में संयोग, बाँस की गाँठ का विभाग तथा 'बीची-तरंग न्याय' द्वारा शब्द से शब्द की उत्पत्ति होती है । पाणिनीय शिक्षा में बतलाया गया है, कि प्रथम अनुभव किये हुए वर्ण की स्मृति द्वारा आत्मा मन के साथ होकर वर्ण के उच्चारण की इच्छा करता है । फिर आत्मा के प्रयत्न से प्रेरित मन कायाग्नि को प्रेरित करता है और तब अग्नि प्रेरित उदान वायु उरःप्रदेश में संचरण करता हुआ ऊपर की ओर जाकर कण्ठ-तालु आदि स्थानों से टकराता है तो इन स्थानों में वायु के टकराने से वर्णात्मक शब्द की उत्पत्ति होती है ।^५

१. श्रोत्रग्राह्यो गुणः शब्दः ।

—तर्कभाषा

२. अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठः शिरस्तथा ।

जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च ॥ —पाणिनीय शिक्षा

३. श्रोत्रोपलब्धिर्बुद्धिनिर्ग्राह्यः प्रयोगेणाभिज्वलित आकाशदेशः शब्दः ।

—व्याकरणमहाभाष्य

४. संयोगात् विभागात् शब्दाच्च शब्दनिष्पत्तिः । —वैशे० सू० २।२।३१

५. आत्मा बुद्ध्या समेत्यर्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया ।

मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मास्तम् ॥

शब्द से शब्द की उत्पत्ति

इस बात को समझने के लिए दो तरह के उदाहरण दिये जाते हैं—
१. वीची-तरंग न्याय, २. कदम्ब-मुकुल न्याय। पहले का तात्पर्य यह है, कि जैसे—जल में जब कंकड़ फेंकते हैं, तो उसके जल में गिरने से एक गोल लहर उठती है, उससे दूसरी लहर पैदा होती है और दूसरी से तीसरी आदि लहरों के पैदा होने का सिलसिला बंध जाता है। क्रमशः आखिरी लहर तट तक पहुँच जाती है, ऐसे ही एक शब्द से दूसरा, दूसरे से तीसरा और चौथा, पाँचवाँ आदि शब्दों की परम्परा बन जाती है और वह अनन्त आकाश में तैरता हुआ हमारे कानों तक पहुँचता है, इसी को 'वीची-तरंग न्याय' कहते हैं।

'कदम्ब-मुकुल न्याय' का तात्पर्य यह है, कि जैसे—कदम्ब के फूल में एक साथ ही चारों दिशाओं में केशर शिखाएँ निकल जाती हैं, वैसे ही एक शब्द के उत्पन्न होने पर उस शब्द से दशों दिशाओं में शब्द उत्पन्न होते हैं। इस तरह अनन्त आकाश में शब्दधारा चल पड़ती है।

यहाँ एक बात का और विशेष ध्यान रखना चाहिए, कि जब उत्पन्न हुए शब्द दश दिशाओं में फैल जाते हैं, तब वहाँ केवल 'वीचीतरंग न्याय' से शब्द की उत्पत्ति नहीं होती, किन्तु 'कदम्ब-मुकुल न्याय' से होती है—अर्थात्—जैसे कदम्बपुष्प के विकास के समय में पुष्प-केशर एक ही साथ दशों दिशाओं में विकसित हो जाते हैं वैसे ही भेरी आदि से उत्पन्न हुआ शब्द एक काल में ही दश दिशाओं की ओर फैल जाता है और बाद में 'वीची तरंग न्याय' से दश दिशाओं में पूर्व-पूर्व शब्द से उत्तरोत्तर शब्द की उत्पत्ति होती रहती है।

श्रोत्र (शब्द) प्रत्यक्षोत्पत्तिप्रकार

श्रवणेन्द्रिय से शब्द किस प्रकार सुनायी देता है, यह ज्ञान तभी हो सकता है, जब हम इस इन्द्रिय की रचना का ज्ञान उपलब्ध कर लें। इसलिए संक्षेप 'कर्ण' का वर्णन करना अपेक्षित है।

श्रोत्र

जिस कर्ण से शब्द ग्रहण होता है, वह तीन भागों में विभक्त है—(१) बाह्य-कर्ण (२) मध्यकर्ण और (३) अन्तःकर्ण।

मास्तस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वरम् ।

... ..

सोदीर्णो मूर्धन्यभिहतो वक्रमापद्य मास्तः ॥

वर्णान् जनयते तेषां विभागः पञ्चधा स्मृतः ।

—पाणिनीय शिक्षा

(१) बाह्यकर्ण^१—इसके दो भाग हैं (क) कर्णशङ्कुली^२ और (ख) कर्णगुहा^३ या कर्णाञ्जली ।

(क) कर्णशङ्कुली—इसका आकार बाहर दीखता है जो सीपी जैसा है । इसका निचला भाग पोला, मोटा और मुलायम होता है । इसे कर्णपाली कहते हैं, इसमें सौत्रिक तन्तु और वसा का भाग रहता है, इसे ही छेदकर वाली पहनते हैं । शेष भाग में कार्टिलेज होता है, जिसके दोनों तल विषमाकार हैं और वह कई जगह मुड़ा होता है । कर्णशङ्कुली के बीच में सीपी की तरह का एक गढ़ा होता है जिसके तल भाग से कर्णाञ्जली का आरम्भ होता है । इस गढ़े को कर्णकुहर कहते हैं ।

(ख) कर्णगुहा—यह नली है जो एक सवा इञ्च लम्बी होती है । इसका बाहरी १/२ भाग कार्टिलेज की दीवार से बना है और शेष भाग अस्थिकृत है । समस्त नली में त्वचा लगी रहती है जिसमें बहुत-सी छोटी-छोटी ग्रन्थियाँ होती हैं और इन्हीं ग्रन्थियों में कर्ण-मल बनता है जिसके सञ्चय से या कान में पानी घुसकर उसके फूल जाने से कर्णशूल होने लगता है ।

कर्णपटह^४—कर्णगुहा की भीतरी सामने की दीवार एक पतली झिल्ली से बनी हुई है, जिसे कर्णपटह, श्रुतिपटह या कान का पर्दा कहते हैं । जब हम किसी चीक आदि से कान की मल निकालने की कोशिश करते हैं तब कभी-कभी उस चीक का स्पर्श कर्णपटह से हो जाया करता है, अधिक दबाव से उसे हानि भी हो जाती है ।

कर्णपटह बाह्यकर्ण को मध्यकर्ण से पृथक् करता है । कर्णगुहा कुछ टेढ़ी होने से पटह दिखलायी नहीं देता है । स्वस्थ दशा में यह मोती की सीप के समान चमकदार होता है । मध्यकर्ण में शोषादि होने पर यह लालवर्ण का हो जाता है । कर्णदर्शक यन्त्र से देखने पर कर्णपटह के मध्यभाग में एक गढ़ा सा दिखलायी देता है, इसे पटहनाभि कहते हैं, जो मध्यकर्ण की ओर दबा हुआ रहता है ।

(२) मध्यकर्ण^५—यह एक छोटी सी गुहा है जो प्रायः अस्थिमय है । इसकी चौड़ाई १/४ इञ्च और लम्बाई अथवा ऊँचाई लगभग १/२ इञ्च होती है । इसकी बाहर की दीवार कर्णपटह से बनती है । भीतरी दीवार से अन्तः-कर्ण का प्रारम्भ होता है । मध्यकर्ण में तीन छोटी-छोटी अस्थियाँ रहती हैं ये अस्थियाँ परस्पर बन्धनों द्वारा बंधी रहती हैं, इनके बीच में चल सन्धियाँ हैं ।

१. External ear—एक्सटर्नल ईयर ।

२. Pinna—पिन्ना ।

३. External auditory meatus—एक्सटर्नल आडिटरी मीएटस ।

४. Tympanic membrane ।

५. Middle ear ।

सबसे बाहर कर्णपटह के पास जो अस्थि रहती है, उसे मुद्गरक^१ कहते हैं। यह सम्पूर्ण लम्बाई में कर्णपटह से संलग्न रहती है। इसका आकार मुद्गर या हथौड़े के तरह का होने से इसे मुद्गरक कहते हैं। बीच की अस्थि को शूर्मिका^२ कहते हैं इसका आकार सोनार की नेहाई के सदृश होता है। तीसरी अस्थि अन्तःकर्ण के पास होती है, इसकी आकृति रकाब^३ (पाँव दानी) की तरह होती है, इसलिए इसे रकाब कहते हैं, इसे ही धरणक भी कहते हैं।

तीनों अस्थियों के बीच में सन्धियाँ होती हैं जिनके कारण वे एक दूसरे के सहारे गतिशील होती हैं। मुद्गरास्थि कर्णपटह से लगी है और रकाब अन्तःकर्ण के एक छिद्र से, इस कारण जब कर्णपटह हिलता है तब ये सब अस्थियाँ हिलती हैं। एवं शब्द की लहरियाँ कर्णपटह से टकराकर क्रमशः इन अस्थियों को आन्दोलित करती हुई 'रकाब' द्वारा अन्तःकर्ण में प्रविष्ट हो जाती हैं।

जब तक मध्यकर्ण की अस्थियाँ अच्छी तरह गति करती हैं तब तक हम अच्छी तरह श्रवण करते रहते हैं। जब मध्यकर्ण की अस्थियों की सन्धियाँ खराब हो जाती हैं या विकृत या चेष्टाशून्य हो जाती हैं तब श्रवणशक्ति में ह्रास हो जाता है। वृद्धावस्था में ये सन्धियाँ विकृत हो जाती हैं, तो सुनाई देना कम हो जाता है या बन्द हो जाता है।

कण्ठकर्णी या पटहपूरणिका—नेजल फेरिस (नासिका-गल) से पटहपूरणिका नामक एक सूक्ष्म प्रणाली मध्यकर्ण में आती है। इसके माध्यम से कण्ठ की श्लैष्मिक कला मध्यकर्ण की श्लैष्मिक कला से मिली रहती है। पटहपूरणिका की लम्बाई १/३ इंच के लगभग होती है। इस प्रणाली द्वारा बाह्यवायु मध्यकर्ण में प्रवेश करती है और कुछ अंश में विद्यमान रहती है। इस अन्तःप्रविष्ट वायु और बाह्यकर्ण गुहा के वायु के दबाव से कर्णपटल स्वस्थ दृढ़ तथा अक्षिथिल रहा करता है। कदाचित् गले में शोथ प्रतिश्याय, टॉन्सिल (तुण्डिकेरी) आदि के कारण पटहपूरणिका में भी शोथ हो जाता है, जिसके कारण अल्पकालिक रोगज बधिरता हो जाती है।

(३) **अन्तःकर्ण**^४—इसका निर्माण विलक्षण ढंग का है। इसके तीन भाग हैं—मध्यकर्ण के सामने एक गुहा है, यह बीच का भाग है। इस गुहा के पीछे के भाग में तीन अर्धचन्द्राकार मुड़ी हुई नालियाँ जुड़ी हैं जिनसे अन्तःकर्ण का पिछला भाग बनता है। गुहा के सामने घड़ी की कमानी की तरह एक

१. Malleus (मैलिअस) ।

२. Incus (इन्कस) ।

३. Stapes (स्टेपीन) ।

४. Internal ear ।

मुड़ा हुआ भाग होता है जिसकी शकल शंख या घोंघा से बहुत कुछ मिलती है, इसी कारण इसको 'कोक्लिया' (Cochlea) कहते हैं। इस प्रकार अन्तः-कर्ण के निम्नाङ्कित तीन भाग हैं—

- (१) तीन अर्धचन्द्रकार मुड़ी हुई नालियाँ^१
- (२) बीच की गुहा या कर्णकुटी^२ और
- (३) कोक्लिया^३।

वस्तुतः अन्तःकर्ण ही शब्देन्द्रिय है। श्रुतिनाड़ी (अष्टम शीर्षण्य नाड़ी) के प्रतान इसमें व्याप्त होते हैं शब्द की लहरियाँ पूर्वोक्त क्रम से इन प्रतानों में होकर मस्तिष्क के वल्क में स्थित श्रवणकेन्द्र में पहुँचती हैं और शब्द ग्रहण कराती हैं।

ऊपर कहे गये तीन भाग अस्थिकृत होते हैं और ये अस्थिमय होते हैं इन तीनों भागों के भीतर कलामय (झिल्लीकृत) अन्तःकर्ण रहता है। अस्थिमय नालियों के भीतर कलामय नालियाँ रहती हैं। अस्थिमय नालियों में कलामय कोष्ठ होते हैं। अस्थिमय कोकला में कलामय कोकला रहता है। अस्थि के आवरण से भीतर में स्थित कलामय कोष्ठ की रक्षा होती है। इस प्रकार अन्तःकर्ण को दो भागों में स्थित समझना चाहिए—

- (१) अस्थिमय अन्तःकर्ण और
- (२) कलामय अन्तःकर्ण।

अन्तःकर्ण के तीन अवयवों में 'शम्बूक' या कोकला प्रथम है। यह घोंघे के समान आवर्तमय होता है। शब्द के ग्रहण करने में यह अनिवार्य और प्रधान है। श्रुतिनाड़ी के अतिसंवेदी (ग्रहणशील) प्रतान इसमें व्याप्त होते हैं। शम्बूक के बाहर स्थित द्रव, शब्द की क्रम से आयी हुई लहरियों से आन्दोलित होकर अन्तःस्थ द्रव को आन्दोलित करता है। यह आन्दोलन श्रुतिनाड़ी के प्रतानों द्वारा ग्रहण किया जाकर मस्तिष्क में पहुँचाया जाता है जिसके फलस्वरूप हमें शब्द का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है।

दूसरा अवयव कर्णकुटी, उपाङ्ग तुम्बिका या वेस्टिब्यूल है इसके मध्य एक छिद्र होता है जिसमें धारणकास्थ टिकी होती है।

तीसरा अवयव उपाङ्गशुण्डिकाएँ हैं, ये तीन अर्ध गोलाकार प्रणालियाँ हैं। इनका छिद्रों द्वारा तुम्बिका से सम्बन्ध होता है।

१. Semi-circular canals । २. Vestibule of Internal ear ।

३. Cochlea

शुण्डिका का कार्य

इनका कार्य शरीर को सन्तुलित बनाये रखना है। जब शारीरिक चेष्टाओं में शिर इधर-उधर थोड़ा भी हिलता है तब शुण्डिकाओं में स्थित द्रव भी आन्दोलित होता है। द्रव का इधर-उधर हिलना, वेग के रूप में सूक्ष्मनाडियों द्वारा घम्मिल्लक में पहुँचाया जाता है। घम्मिल्लक को उक्त प्रकार से शरीर सीधा है या किसी ओर झुका हुआ है इस बात का ज्ञान हो जाता है और तदनुसार वह शरीर के अवयवों को सन्तुलित करने के लिए विविध प्रेरणायें करता है। वह तत्काल सम्बद्ध समुचित शरीराङ्गों को ऐसी चेष्टा करने के लिए आदेश देता है, जिससे शरीर सन्तुलित स्थिति में हो जावे।

शब्द-श्रवण

ध्वनि की लहरियाँ वायव्य, द्रव या ठोस वस्तुओं के माध्यम से होकर गतिशील रहती हैं। श्रवण-संग्राहकों तक पहुँचने के पहले ध्वनितरंगों का इनमें से किसी माध्यम से होकर सञ्चरण करना आवश्यक है।

श्रवण की प्रक्रिया को दो भागों में बाँटा जा सकता है। (१) ध्वनि का आभ्यन्तर कर्ण को संवहन और (२) कर्णावर्त या 'कोकला' द्वारा ध्वनि संग्रहण तथा निर्वचन है।

(१) ध्वनितरङ्गों का संवहन—बाह्यकर्ण (कर्णशङ्कुली) ध्वनितरंगों को कर्णकुहर नामक प्रणाली में निर्देशित करता है। बाह्य कर्णों की कीप सदृश आकृति ध्वनि को कर्णकुहर में भेजने में सहायक होती है। इस कार्य की दृष्टि से बाह्यकर्ण मनुष्यों की अपेक्षा पशुओं के अधिक कार्यक्षम हैं, क्योंकि पशु उसे ध्वनि की दिशा की ओर मोड़ सकते हैं और हम उन्हें नहीं घुमा-फिरा सकते। फिर भी बाह्यकर्ण की उपयोगिता का काफी महत्त्व है।

कर्णकुहर से होकर ध्वनि तरंगें 'कर्णपटह' पहुँचती हैं। ये ध्वनियाँ कर्ण-पटह में कंपन उत्पन्न करती हैं और उसके कंपन तीन अस्थिकाओं—मुद्गरक, शूर्मिका तथा रकाबास्थि के एक पुल के द्वारा मध्यकर्ण में से होकर संचारित कर दिये जाते हैं।

मध्यकर्ण में वायु भरी होती है, जिसका उसी दाब पर, जितना कि कर्ण-पटह से दूसरी ओर होता है, रहना आवश्यक है; ताकि कर्णपटह को क्षति न पहुँचे। जब हम किसी बहुमंजिले भवन में तेज लिफ्ट पर सवार होकर किसी ऊँची मंजिल पर चढ़ते हैं तब कानों में दाब का अनुभव होता है। इसके बाद अचानक 'चट' की आवाज के साथ दाब समाप्त हो जाता है। वस्तुतः होता यह है कि ऊपर चढ़ने के साथ वायुमण्डलीय दाब कम होता

जाता है, जो कर्णकुहर के दोनों ओर के दाब के सन्तुलन को भंग कर देता है और मध्यकर्ण में दाब अधिक हो जाता है।

मध्यकर्ण एक प्रणाली (कण्ठकर्णी नाली, Eustachian tube) द्वारा ग्रसनिका से जुड़ा हुआ है। अधिकतर यह नाली बन्द ही रहती है। जब हम निगलते हैं तब यह खुल जाती है। ग्रसनिका की अपेक्षा मध्यकर्ण में दाब अधिक रहने के कारण अब वायु मध्यकर्ण से कण्ठकर्णी नाली द्वारा तब तक निकलती जाती है तब तक कि यह दाब समान नहीं हो जाता। 'चट' की यह आवाज संभवतः भीतर दाब के अधिक होने के कारण बाहर की ओर ओर उभरे हुए कर्णपट्ट के झटककर पीछे हटने से पैदा होती है।

मध्यकर्ण की अस्थिकाओं द्वारा ये कंपन मध्यकर्ण को आभ्यन्तर कर्ण से पृथक् करने वाली भिल्ली (कला) द्वार को संचारित कर दिये जाते हैं। कर्णपट्ट तथा कर्णावर्त (कोकला) को एक आधार-भिल्ली पृथक् करती है जिस पर कार्टि अंग स्थित है। कार्टि अंग में लोमकोशिकाएँ होती हैं। ये लोम कोशिकाएँ ही श्रवण-संग्राहक हैं और श्रवण-तन्त्रिका तन्तु इन्हीं से निकलते हैं। लोमकोशिकाओं के रोमक छादक भिल्ली के सम्पर्क में हैं, जो कार्टि अंग पर अवलम्बित हैं।

(२) ध्वनितरंगों का संग्रहण—शूमिका (इन्कस) की गतियों द्वारा जब अण्डाकार द्वार कंपायमान हो जाता है तो वह परिलसीका (अन्तःकर्णस्थ भिल्ली) में कंपन उत्पन्न कर देता है और वह कंपन कर्णावर्त (कोकला) के समस्त द्रवतन्त्र में संचारित हो जाता है। द्रव की गतियाँ आधार-भिल्ली को कंपायमान कर देती हैं, जिससे लोमकोशिकाएँ ऊपर-नीचे उछलने लगती हैं। यह समझा जाता है, कि उनके इस प्रकार उछलते समय रोमक छादक भिल्ली से लगकर मुड़ते हैं। रोमकों का मुड़ना संभवतः श्रवण-तन्त्रिका तन्तुओं में तन्त्रिका आवेग उत्पन्न करने के लिए पर्याप्त उद्दीपन है। इस प्रकार ध्वनि तरंगें या शब्द की लहरें इन प्रतानों से होकर मस्तिष्क में पहुँचती हैं और इनके श्रवण-केन्द्र से सम्बन्ध स्थापित हो जाने से शब्द का श्रवण ज्ञान होता है।

(२) स्पर्श-निरूपण

स्पर्श का लक्षण—केवल त्वगिन्द्रिय (त्वचा) से जिस गुण का ग्रहण होता है उसे 'स्पर्श' कहते हैं। स्पर्श गुण मात्र पृथ्वी जल, तेज और वायु में रहता है। वह शीत, उष्ण, अनुष्णाशीत भेद से तीन प्रकार का होता है।

शीतस्पर्श जल में, उष्ण स्पर्श तेज में और अनुष्णाशीत स्पर्श पृथ्वी तथा वायु में है ।^१

त्वचा द्वारा स्पर्शज्ञान का प्रकार

त्वचा से हमारा सब शरीर ढका हुआ रहता है, उससे मांसादिकोमल भागों की रक्षा होती है। त्वचा के नीचे रहने वाली वस्तुओं को तब तक कोई हानि नहीं पहुँचती जब तक त्वचा सुरक्षित रहती है। त्वचा रोगोत्पादक जन्तुओं और विषों को शरीर के भीतर घुसने से रोकती है। जब किसी स्थान की त्वचा कट जाती है तब विषाक्त जन्तुओं का जहर शरीर में सुगम ही प्रवेश कर जाता है।

त्वचा हमारी स्पर्शेन्द्रिय है, जिसके द्वारा हमें शीत, उष्ण, पीडा या दबाव का परिज्ञान होता है। स्पर्श, दाब, ऊष्मा, शीत तथा पीडा ये त्वचा संवेदन हैं। इनमें से प्रत्येक अपने ही प्रकार के संग्राहक में उत्पन्न होता है और ये संग्राहक देहस्थ त्वचा पर समान रूप से सर्वत्र नहीं वितरित हैं, कहीं अधिक कहीं पर कम हैं। हाथ के पृष्ठतल या प्रगण्ड या मणिबन्ध की अपेक्षा अङ्गुलियों के छोर स्पर्श तथा दबाव के प्रति अधिक संवेदनशील हैं।

त्वचा पर एक बारीक नोकवाला उपकरण लगाकर विभिन्न त्वचा-संवेदकों का आसानी से पता लगाया जा सकता है और तब यह मालूम हो जाता है कि एक विशेष बिन्दु वहाँ स्थित संवेदक के प्रकार के अनुसार केवल स्पर्श या पीडा या उष्मा के संवेदन ही उत्पन्न करता है। उद्दीपन के सामान्य सीमान्तरो के भीतर हम अपने को स्पर्श तथा ताप संवेदों के प्रति शीघ्र ही अनुकूल बना लेते हैं। उदाहरण के लिए, हमें अपने पहने हुए कपड़ों के स्पर्श की प्रायः कोई चेतना नहीं होती। किन्तु पीडादायी उद्दीपन के प्रति हम अपने को सुगमता पूर्वक अनुकूलित नहीं कर पाते। यह बात हमारे लिए बहुत उपयोगी है, क्योंकि पीडा इस बात की चेतावनी देने का काम करती है, कि यदि कोई अनुक्रिया नहीं हुई, तो शरीर को हानि हो सकती है।

त्वचा के पसीने द्वारा हमारे शरीर से कुछ मलिन पदार्थ बाहर निकलते हैं, इस प्रकार त्वचा एक रक्तशोधक अवयव है। त्वचा से अल्पमात्रा में कार्बन डाई आक्साइड गैस शरीर से बाहर निकलती है और थोड़ी सी आक्सीजन उसमें प्रवेश करती है, इस प्रकार वह अंशतः फुस्फुस जैसा भी कार्य करती है।

१. स्पर्शः त्वगिन्द्रिय-मात्रग्राहो विशेषगुणः। पृथिव्यादिचतुष्टयवृत्तिः। स च त्रिविधः, शीतोष्णानुष्णाशीतभेदात्। शीतः पयसि। उष्णः तेजसि। अनुष्णाशीतः पृथ्वीवाय्वोः।

—तर्कभाषा

मनुष्य में जितनी कार्बन डाई आक्साइड गैस फुस्फुसों द्वारा शरीर से बाहर निकलती है उसका $\frac{1}{10}$ से $\frac{2}{10}$ भाग तक त्वचा से भी निकलती रहती है।

त्वचा शरीर के तापक्रम को स्थिर रखने में सहायता देती है। जब किसी कारण (जैसे ज्वरों में या अधिक व्यायाम करने से) शरीर में उष्णता अधिक उत्पन्न होती है, तब त्वचा की रक्तवाहिनियाँ फैलकर पहले से अधिक चौड़ी हो जाती हैं और उनमें अधिक रक्त बहता है, इस कारण त्वचा पहले की अपेक्षा अधिक गरम और लाल हो जाती है। पसीना भी ज्यादा निकलता है, इस पसीने का जल रूप से वाष्परूप में परिवर्तन होने के लिए भी उष्णता की आवश्यकता है। यह उष्णता त्वचा से ही मिलती है। इस प्रकार कुछ आस-पास की चीजों में जाकर और कुछ पसीने से वाष्प बनाने में काम आकर बहुत सी अनावश्यक उष्णता त्वचा द्वारा शरीर से बाहर निकल जाती है और तापक्रम बहुत ज्यादा बढ़ने नहीं पाता।

शीत ऋतु में जब उष्णता को शरीर के भीतर रखने की आवश्यकता होती है, तब त्वचा की रक्तवाहिनियाँ कुछ सिकुड़ी हुई रहती हैं और पसीना भी कम आता है। इस कारण शरीर से अधिक उष्णता बाहर नहीं जा सकती और उसका तापक्रम बहुत अधिक नहीं गिर सकता। शीतकाल में त्वचा से उष्णता के निकलने को रोकने के लिए ही ऊन अथवा रूई भरे कपड़े पहनने की आवश्यकता होती है, क्योंकि ऊन या रूई आदि उष्णता सुचालक नहीं हैं।

स्पर्शज्ञान

प्रमुख रूप से त्वचा से तथा अंशतः अन्तर्वर्ती अंगों से, सर्दी, गर्मी, वेदना, स्पर्श और दबाव का ज्ञान होता है। इन ज्ञानों का वहन करने वाली नाडियों के पतले सूत्र अन्तस्त्वचा में व्याप्त होते हैं। इनके अन्तिम प्रान्त विविध प्रकार के होते हैं; जैसे हाथ तथा पैर के तलवों पर इन सूत्रों के अन्तिम प्रान्तों पर छोटे अण्डाकार उभार स्पर्श, वेदना और दबाव का अनुभव करने वाले क्षेत्र अलग अलग होते हैं, जैसे स्पर्श के क्षेत्र प्रतिवर्गसेन्टीमीटर में पन्द्रह होते हैं। अन्तस्त्वचा के नाडियों के प्रतानों द्वारा स्पर्श की सूचना क्रमशः मस्तिष्कस्थ स्पर्श केन्द्र में पहुँचने पर हमें स्पर्श ज्ञान होता है।

मानवीय त्वचा

त्वचा से समस्त शरीर आवृत रहता है, उसके नीचे बसा रहती है। त्वचा अपने नीचे की चीजों की रक्षा करती है, उसके द्वारा हमें शीत और उष्ण आदि का ज्ञान होता है, जिसका ऊपर वर्णन किया जा चुका है। त्वचा में— बालों की जड़ें रहती हैं और अङ्गुलियों में उससे नाखून भी निकलते हैं।

त्वचा में कई प्रकार के छोटे-छोटे यन्त्र (ग्रन्थियाँ) भी होते हैं, इनमें से एक प्रकार के यन्त्रों द्वारा पसीना आता है, दूसरे प्रकार के यन्त्रों में एक तैलवत् पदार्थ होता है, जो त्वचा और बालों को चिकना बनाता है। त्वचा में बहुत से छोटे छोटे छिद्र होते हैं और इन्हीं छिद्रों में से पसीना निकला करता है।

त्वचा का रंग सभी जातियों में एक-सा नहीं होता। शीतप्रधान देश-निवासियों की त्वचा का रंग उष्णप्रधान देशनिवासियों के रंग की अपेक्षा साफ उजला (गौरवर्ण) होता है। उत्तर यूरोप तथा कश्मीरवासियों का रंग गोरा होता है, तो दक्षिण भारत के निवासियों और अफ्रीका बालों की त्वचा का रंग काला या श्याम होता है। चीनियों और जापानियों का रंग पीला सा होता है।

त्वचा की मोटाई शरीर के सब स्थानों में एक सी नहीं होती। जहाँ उस पर अधिक दबाव पड़ता है वहाँ वह मोटी होती है; हथेलियों, तलुओं और पीठ की त्वचा अन्य स्थानों की अपेक्षा मोटी होती है। पलकों, अण्डकोष और शिश्न की त्वचा बहुत पतली होती है। पुरुषों की त्वचा स्त्रियों की अपेक्षा मोटी होती है। त्वचा की मोटाई $\frac{3}{8}$ से $\frac{1}{2}$ इंच तक होती है।

शरीर के कुल भार के १०० भागों में त्वचा का ८ भाग होता है। त्वचा की रचना चित्र से स्पष्ट की जा रही है।

(३) रूप-निरूपण

रूप का लक्षण—केवल नेत्र इन्द्रिय से जिस विशेष गुण का ग्रहण होता है, उसे 'रूप' कहते हैं। वह पृथ्वी जल और तेज इन तीनों में ही रहता है। यह शुक्ल नील, पीत, लोहित, हरित आदि अनेक प्रकार का होता है। यह नित्य, अनित्य भेद से दो प्रकार का होता है। जल और तेज के परमाणुओं में नित्य तथा पृथ्वी के परमाणुओं में अनित्य।^१

चक्षु द्वारा रूपज्ञान का प्रकार

रूपदर्शन की प्रक्रिया का ज्ञान 'नेत्र रचना शरीर' विज्ञान पर निर्भर है, इसलिए यह आवश्यक है, कि प्रथम नेत्र शरीर का वर्णन किया जाय।

रूप, प्रकाश या वर्ण का ज्ञान नेत्रेन्द्रिय से होता है। नेत्रेन्द्रिय का आश्रय नेत्र गोलक (Eye ball) है, अतः प्रथम नेत्रगोलक का वर्णन प्रस्तुत है—

१. तत्र रूपं चक्षुर्मन्त्रिग्राह्यो विशेषगुणः। पृथिव्यादित्रयवृत्तिः। तच्च शुक्लाद्यनेकप्रकारकम्। पाकजं पृथिव्याम्। तच्चा नित्यम् पृथ्वीमात्रे। आप्य-तैजसपरमाण्वोनित्यम्। आप्यतैजसकार्येष्वनित्यम्। शुक्लभास्वरमपाकजं तेजसि। तदेवाभास्वरमप्सु।

—तर्कभाषा

नेत्रगोलक के मण्डल

नेत्रगोलक में बाहर से भीतर की ओर पाँच मण्डल या स्तर हैं। जो क्रमशः (१) पक्षमण्डल (Eye lashes) (२) वर्त्ममण्डल (३) श्वेतमण्डल (४) कृष्णमण्डल तथा (५) दृष्टिमण्डल कहलाते हैं।

(१) पक्षमण्डल—आँख के ऊपर-नीचे की जो दो पलकें होती हैं उनके किनारे पर बाल लगे रहते हैं, जिन्हें अशिलोम कहते हैं। वे परस्पर मिलकर एक घेरा या मण्डल बनाते हैं उसे 'पक्षमण्डल' कहते हैं। इनके बालों से आँख की रक्षा होती है। वायु में उड़ने वाले छोटे-छोटे कीड़े या धूल के कण इन बालों में फँस कर आँख के बाहर ही रह जाते हैं।

(२) वर्त्ममण्डल—इसे टार्सि या आई लिड्स (Eye lids) कहते नेत्रगोलक को ढँकने वाले ऊपर और नीचे की पलकों के नेत्रच्छदों के मिल जाने से एक मण्डल बन जाता है जिसे वर्त्ममण्डल कहते हैं। पलकों के भीतर श्लैष्मिक कला का आवरण होता है। यही कला नेत्रगोलक को भी आगे की ओर से ढके रहती है। पलकों के किनारों में बालों की पंक्ति है। उन बालों के मूल में कई सूक्ष्म पिण्ड (Zeis glands) होते हैं जिनके स्राव से बाल तर व मृदु होते हैं। प्रत्येक पलक में पीछे की ओर मञ्जरी ग्रन्थि (मीबोमियन ग्लैण्ड्स) नामक ग्रन्थियाँ हैं, जिनसे एक चिकना-सा स्राव होता रहता है। जब यह अपाङ्ग या कनीनिका प्रदेश में संचित होता है तो इसे नेत्रमल (कीचड़) कहते हैं। प्रत्येक पलक की धारा के भीतरी सिरे पर एक अश्रुच्छिद्र या ग्रन्थि (Lachrymal glands) होती है।

(३) श्वेतमण्डल—यह मण्डल सब मण्डलों से स्थूल तथा दृढ़ होता है। आँख का श्वेत भाग यही है। बाहर से देखने पर जो नेत्र का श्वेत भाग दिखलाई देता है वह श्वेत मण्डल (Sclera) कहा जाता है, इसे नेत्र बाह्य पटल भी कहते हैं। इससे नेत्र का पूरा भाग बना हुआ है। यह सौत्रिक तन्तुओं से निर्मित श्वेत और चिकना होता है।

(४) कृष्णमण्डल या स्वच्छमण्डल—जब यह नेत्रगोलक का अग्रिम तल भाग गोलाई में आगे को उभरा हुआ होता है तब अत्यन्त स्वच्छ और पतला हो जाता है, इसे ही स्वच्छमण्डल कहते हैं। यह स्वच्छ होता है। इसका अपना कोई वर्ण नहीं होता। यह पारदर्शक होता है जिससे प्रकाश-किरणों भीतर प्रवेश कर सकें। पीछे के कृष्ण या पिङ्गलवर्ण के तारामण्डल के कारण इसका भी वर्ण उनके जैसा दीखता है। इसमें रक्तवाहिनियाँ नहीं होतीं, जिससे

इस भाग में शोथ या व्रण हो जाय तो शरीर के अन्य भागों में हुए शोथ या व्रण के सदृश रक्त न होकर उसका वर्ण श्वेत होता है। आयुर्वेद में इसी वर्ण के कारण इन रोगों को शुक्ल नाम दिया गया है स्वच्छमण्डल का पोषण रसायनियों से होता है। इसे ही कानिया (cornea) कहते हैं। यह भाग समस्त नेत्र पर घड़ी के शीशा जैसा प्रतीत होता है।

(५) दृष्टिमण्डल—दृष्टि शब्द से कनीनिका का ग्रहण करते हैं जिसे पुतली या पुपिल (Pupil) कहते हैं। यह कनीनिका तारामण्डल से निम्न प्रकार से बनती है। कृष्णमण्डल के पीछे जलमय रसखण्ड रहता है तथा उसके पीछे तारामण्डल (Iris) होता है। यह सूक्ष्म, मृदु और रंगदार एक प्रकार का पर्दा है, जो भारतीयों में प्रायः काला और गोरे मनुष्यों में भूरा होता है। इसी के बीच एक गोल छिद्र होता है उसी को कनीनिका कहते हैं। कनीनिका में संकोच और विस्तार का गुण होता है। नेत्र पर प्रकाश पड़ने से संकोच तथा अन्धकार में यह विस्तृत होती है। दूरी की चीजें देखते समय यह फैल जाती है और समीप में देखने में संकुचित होती है। निद्रा के समय यह संकुचित होती है।

तारामण्डल के आगे इन्टेरियर चेम्बर तथा पीछे पास्टेरियर चेम्बर रहता है। तारामण्डल में दो मांस पेशियाँ होती हैं। जिनमें प्रथम कनीनिका संकोचक पेशी है, इसके तन्तु गोल होते हैं। दूसरी कनीनिका प्रसारक पेशी है तथा इसके तन्तु किरणों के रूप के लम्बे आकार में व्यवस्थित होते हैं।

तारामण्डल के दो मुख्य कार्य हैं। (१) नेत्र में प्रवेश करने वाले प्रकाश और दृष्टिकिरणों को कनीनिका के सिवाय नेत्रगोलक के अन्य भाग में न जाने देना। (२) कनीनिका के संकोच और विस्तार से नेत्र को समीप तथा दूर की वस्तुओं को देखने में शक्ति देना।

दर्शनकेन्द्र और दर्शनप्रक्रिया

दृष्टि वह संवेदन है, जिस पर मनुष्य सबसे अधिक निर्भर करता है 'व्यर्थो लोकोऽयं तुल्यरात्रिन्दिवानां पुंसामन्धा विद्यमानेऽपि वित्ते'। आँखें बड़ी जटिल ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। दृष्टि एक जटिल प्रक्रिया है, जिसमें प्रकाश किरणों के प्रति संवेदिता और स्वरूप, रंग, गहनता तथा दूरी का प्रत्यक्ष ज्ञान सन्निहित होता है।

दर्शनकेन्द्र—पुतली के ठीक सामने, दृष्टिमण्डल के मध्य में एक पीला-सा बिन्दु होता है, जिसे 'पीत-बिन्दु' (Yellow spot) कहते हैं। इसका विस्तार लगभग १ मिलीमीटर (पिन की घुण्डी जितना) होता है। इसके

मध्य में एक गढ़ा होता है। इस गढ़े में दृष्टि अन्य स्थानों की अपेक्षा तीक्ष्ण होती है। हम प्रतिपल नेत्रों को हिलाते रहते हैं इसका प्रयोजन यही होता है, कि दृश्य वस्तु की प्रतिमा दृष्टिमण्डल के इस स्थल पर पड़े। इस गढ़े को 'दर्शन-केन्द्र' कहते हैं।

सुश्रुत उत्तरतन्त्र^१ ७।३-४ में भी इसी तरह की बात कही गयी है—
'दृष्टि मसूर की दाल के तुल्य प्रमाण की होती है और वह पंचमहाभूतों के प्रसाद भाग (उज्ज्वलसार) से निर्मित होती है। उसकी आभा जुगनू या चिनगारी के समान (पीताभ) होती है। यह तेजोमय होती है। यह नेत्र-गोलक के बाह्यपटलों से आवृत होती है। इसकी आकृति विवर के समान होती है। शीतल उपचार इसकी स्वस्थता के लिए अनुकूल पड़ता है।

अन्धबिन्दु—पीतबिन्दु से लगभग तीन मिलीमीटर अन्दर की ओर दृष्टिनाड़ी के निर्गम का स्थान है, इसे सितबिन्दु या अन्धबिन्दु कहते हैं। दृष्टि-नाड़ी के मध्य में होकर शिराएँ और धमनियाँ आती-जाती हैं। सितबिन्दु में दृष्टि-शक्ति का एकदम अभाव होता है, अतः एव इसे अन्धबिन्दु कहते हैं।

दर्शनप्रक्रिया—नेत्रगोलक छाया चित्र खींचने वाले कैमरे की तरह है। यह अनेक मण्डलों से बना है। इसके अगले भाग में एक ताल लगा होता है। यह गोल कोठरी है जो अंधेरी है। छाया चित्र यन्त्र की लम्बाई-चौड़ाई कम और अधिक की जा सकती है, किन्तु नेत्र की कोठरी का परिमाण कम अधिक नहीं किया जा सकता। जो काम यन्त्र में कोठरी को कम अधिक करने से होता है वह नेत्र में ताल की मोटाई को कम या अधिक करने से निकलता है। नेत्र में प्रकाश के कम या अधिक प्रवेश कराने के लिए ताल के सामने पर्दा लगा होता है जिसमें एक छिद्र होता है। यह छिद्र आवश्यकतानुसार छोटा या बड़ा हो सकता है। प्रकाश को एकदम रोकने के लिए दो पलक होते हैं। नेत्र के पिछले भाग में छाया चित्र यन्त्र की मसाला चड़ी हुई प्लेट के समान इसका अन्तिम मण्डल है जिसमें सांवेदनिक कलाएँ लगी रहती हैं। वस्तुओं का प्रतिबिम्ब इसी पर पड़ता है। इसमें दृष्टिनाड़ी के प्रतान व्याप्त हैं। ये प्रतान इस मण्डल पर पड़े हुए प्रतिबिम्ब को मस्तिष्क के वल्कभाग में स्थित 'दृष्टि-क्षेत्र' में पहुँचाते हैं। इस स्थल में इनका ग्रहण रूपज्ञान के रूप में होता है। उक्त मण्डल को आयुर्वेद में दृष्टिमण्डल कहते हैं।

१. मसूरदलमात्रां तु पञ्चभूतप्रसादजाम् ।

खद्योतविस्फुलिङ्गाभामिद्धां तेजोभिरव्ययैः ॥

आवृतां पटलेनाक्षोर्बाह्येन विवराकृतिम् ।

शीतसात्म्यां नृणां दृष्टिमाह्वनयनचिन्तकाः ॥

—सु० उ० ७।३-४

नेत्रगोलक के शेष अवयव, जो दर्शन प्रक्रिया में भाग लेते हैं, वे केवल प्रकाशरश्मियों के भीतर गुजरने और ठीक तरह से दृष्टिमण्डल पर पहुँचाने के साधन हैं। प्रकाश की किरणें प्लेट पर ठीक ढंग से पड़ें, इसके लिए कैमरे में प्लेट को आगे-पीछे खिसकाने का प्रबन्ध होता है। नेत्रगोलक में यह कार्य परिस्थिति के अनुसार नेत्र के पटलों में होने वाले परिवर्तनों से सम्पन्न होता है। इन परिवर्तनों का नाम 'केन्द्रीकरण' (Centralisation) है।

कैमरे में जैसे लेन्स होता है, वैसे ही नेत्रगोलक में मणि होती है। यह उभय उन्नतोर तथा पारदर्शक होता है और तारामण्डल से लगभग संलग्न रहता है। इसमें होकर पदार्थों की प्रतिमा दृष्टिमण्डल पर वैसे ही पड़ती है जैसे कैमरे में लेन्स में होकर प्लेट पर। दूर या निकट की वस्तुओं की पकड़ के लिए, फोकस पर लाने के लिए नेत्र में ऐसा प्रबन्ध रहता है, जिससे मणि की वलुलता न्यून या अधिक हो जाती है। परिणामतः वस्तुओं की प्रतिमा स्वस्थ अवस्था में सर्वदा दृष्टिपटल पर ही पड़ती है।

इस प्रकार नेत्र की रचना तथा उसकी क्रिया के वर्णन से यह स्पष्ट होता है, कि स्वच्छमण्डल, तेजोजल, मणि तथा मेदोजल प्रकाश की रश्मियों को संव्यूहित (फोकस) कर दृष्टिमण्डल के पीतबिन्दु पर पहुँचाने का काम करते हैं। एवं उक्त प्रकार से गृहीत प्रतिमा ही दृष्टिनाड़ी द्वारा मस्तिष्क में पहुँच कर रूप दर्शन की प्रक्रिया को पूरा करती है।

प्रकाश की किरणों के दृष्टिपटल पर की सेलों में एक विचित्र रासायनिक प्रक्रिया होती है, इस प्रक्रिया का प्रभाव दृष्टिनाड़ी द्वारा मस्तिष्कस्थ दृष्टिकेन्द्र को पहुँचता है और हमें रूप, रंग आदि का ज्ञान होता है।

(४) रस-निरूपण

रसना (जिह्वा) इन्द्रिय से ग्रहण होने वाले गुण का नाम 'रस' है। यह पृथ्वी और जल में रहता है।^१ यह मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त और कषाय भेद से ६ प्रकार का होता है। रस की उत्पत्ति और मधुर आदि वैशिष्ट्य में आकाश-वायु और अग्नि कारण हैं। जल और पृथ्वी उसके आधार हैं।

विमर्श—आयुर्वेद में रस शब्द प्रमुख रूप से चार अर्थों में प्रयुक्त हुआ

१. रसो रसनेन्द्रियग्राह्यो विशेषगुणः। पृथ्वीजलवृत्तिः। —तर्कभाषा
रसनार्थो रसस्तस्य द्रव्यमापः क्षितिस्तथा।

निर्वृत्तो च विशेषे च प्रत्ययाः खादयस्त्रयः ॥ —च० सू० १।६४

रसास्तावत् षट्—मधुराम्ललवणकटुतिक्तकषायाः। —च० वि० १।४

देखा जाता है । १. 'रसति अहरहः गच्छति इति रसः'—शरीर में गतिशील 'प्रथम धातु' रस कहलाता है । २. 'रसति भयक्षति सर्वान् लोहान् इति रसः'^२ सब धातुओं को अपने में विलीन करने वाला 'पारद' रस कहा जाता है । ३. 'रसति शरीरे आशु गच्छति इति रसः'—प्रयुक्त होने पर जो शरीर में शीघ्र फैल जाता है ऐसा वनस्पतियों के पत्र आदि से निकाला गया 'स्वरस' रस कहलाता है । ४. 'रस्यते आस्वाद्यते रसनेन्द्रियेण इति रसः' अर्थात्—जिसका जिह्वा इन्द्रिय से आस्वादन किया जाय वह 'रस' है, जैसे—मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त, कषाय ये छह रस कहलाते हैं ।

उपयोगिता की दृष्टि से यहाँ अन्तिम रस का वर्णन करना अभीष्ट है—

रस का लक्षण

रसना (जिह्वा) इन्द्रिय से ग्रहण होने वाले गुण का नाम रस^३ है ।

रसों की संख्या और उनका परिचय

इनकी संख्या ऊपर कहे अनुसार छह^४ है ।

१. मधुर (मीठा) जैसे—चीनी, गुड़, मुनक्का, मिश्री आदि ।
२. अम्ल (खट्टा) जैसे—नींबू, खटाई, इमली, अम्लवेत आदि ।
३. लवण (नमक) जैसे—सेंधानमक, कालानमक, सज्जी आदि ।
४. कटु (कड़वा) जैसे—मरिचा, काली मरिच आदि ।
५. तिक्त (तीता) जैसे—नीम, करैला, चिरैता आदि ।
६. कषाय (कपैला) जैसे—हर्रा, बहेर्रा, बबूल, खैर आदि ।

नव्यमत—शरीर क्रियाविज्ञान और मनोविज्ञान के आधुनिक आचार्यों ने मूलरूप में चार ही रसों को माना है । १. मधुर (Sweet) २. अम्ल (Sour) ३. लवण (Salt) और ४. तिक्त (Bitter) । कषाय और कटु को रस और स्पर्श की संवेदना का संयुक्त रूप मानते हैं, स्वतंत्र रस नहीं, किन्तु आधुनिक द्रव्यगुण शास्त्र में व्यवहारतः छह रसों की मान्यता है ।

१. तत्र 'रस'गती धातुः, अहरहर्गच्छति इति रसः । —सु० सू० १४।१३

२. रसनात् सर्वधातूनां रस इत्यभिधीयते । —रसरत्नसमुच्चय

३. रसनाग्राह्यो गुणो रसः । —तर्कसंग्रह

४. रसास्तावत् षट्—मधुराम्ललवणकटुतिक्तकषायाः । —च० वि० १।४

स्वादुरम्लोऽयं लवणः कटुकस्तिक्त एव च ।

कषायश्चेति षट्कोऽयं रसानां संग्रहः स्मृतः ॥ —च० सू० १।६५

रसों के वैशिष्ट्य का कारण

जिस प्रकार सभी प्राणी या सभी द्रव्य पञ्चमहाभूतों से बने होने पर भी अलग-अलग आकृति और अलग-अलग गुण धर्म के होते हैं, उसी प्रकार 'रस' भी पञ्चभौतिक होते हुए भी पञ्चमहाभूतों के संगठन की न्यूनाधिक्यता के कारण मधुर-अम्ल आदि विशेषता से सम्पन्न होते हैं। महाभूतों का न्यूनाधिक्य ऋतुओं के अनुसार होता है^१ और उसके कारण विभिन्न ऋतुओं में विभिन्न रसों की उत्पत्ति होती है। ऋतुओं की संख्या ६ होने के कारण रसों की संख्या की संगति भी ठीक बैठती है। नीचे की तालिका में यह स्पष्ट किया गया है, कि किन-किन ऋतुओं में किन-किन महाभूतों का आधिक्य होता है और उससे किन रसों का प्रादुर्भाव होता है—

ऋतु	महाभूताधिक्य	रस की उत्पत्ति
१. शिशिर	वायु और आकाश	तिक्त
२. वसन्त	वायु और पृथ्वी	कषाय
३. ग्रीष्म	वायु और अग्नि	कटु
४. वर्षा	पृथ्वी और अग्नि	अम्ल
५. शरद्	जल और अग्नि	लवण
६. हेमन्त	पृथ्वी और जल	मधुर

रसना-प्रत्यक्षोत्पत्तिप्रकार

यों तो जिह्वा के द्वारा अनेक प्रकार के कार्य सम्पन्न होते हैं, किन्तु खाद्य-वस्तुओं में निहित विभिन्न रसों (मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त और कषाय) आस्वादनों द्वारा उनके रसों का ज्ञान प्राप्त कराना उसका विशेष कार्य है। जिह्वा की सहायता से ही हम बोलते हैं, उसकी ही सहायता से भोजन का चबाना या निगलने की क्रियाएँ होती हैं। भोज्य पदार्थों को दन्त पंक्ति में से निकालना और भोज्य पदार्थ के तापमान का ज्ञान भी जिह्वा द्वारा होता है।

मुख्य रूप से रसों का ज्ञान जिह्वा द्वारा होता है। जिह्वा की श्लैष्मिक कला में अनेक छोटे बड़े दाने होते हैं। ये दाने या उभार सौत्रिकतन्तु, नाडी-

१. षड् ऋतुकत्वाच्च कालस्योपपन्नो महाभूतानां न्यूनातिरेकविशेषः।

—च० सू० २६।४०

तेषां षण्णां रसानां सोमगुणातिरेकान्मधुरो रसः, पृथिव्यग्निभूयिष्ठत्वादम्लः, सलिलाग्निभूयिष्ठत्वाल्लवणः, वाय्वग्निभूयिष्ठत्वात्कटुकः, वाय्वाकाशातिरिक्तत्वात्तिक्तः, पवनपृथिव्यतिरेकात् कषाय इति।

—च० सू० २६।४०

सूत्र और रक्त कोशिकाओं के इकट्ठे होने से बनते हैं, इन सबके ऊपर सेलों की कई स्तरें होती हैं। इन दानों को स्वादाङ्कुर (Test buds) कहते हैं। स्वादाङ्कुरों में रसग्राहिका नाडियों (मुख्यतः नवमशीर्षण्य नाडी) के सूत्र व्याप्त होते हैं। जिह्वामूल पर नौ दस बड़े-बड़े दाने रहते हैं। ये दाने दो पंक्तियों में रहते हैं, जो पीछे जाकर एक दूसरे से मिलकर एक बृहत् कोण बनाते हैं। प्रत्येक दाने के चारों ओर एक खाई होती है। इस खाई के कारण ये दाने 'खातवेष्टिताङ्कुर' कहलाते हैं।

खात की दीवारों में दबे हुए बहुत से छोटे-छोटे सेलसमूह होते हैं, इनको 'स्वादकोष' कहते हैं। प्रत्येक अङ्कुर में लगभग सौ डेढ़ सौ स्वादकोष होते हैं।

अन्य प्रकार के दाने जिह्वा के अग्रभाग में या किनारे में होते हैं। इनमें भी स्वादकोष होते हैं। ये 'छाता' नामक वनस्पति (जो बरसात में गोबर की खाद वाली भूमि पर जम जाती है) जैसे होते हैं इसलिए 'छत्रिकाङ्कुर' कहलाते हैं।

तीसरे प्रकार के दाने पतले और नुकीले होते हैं और वे जिह्वा के हर भाग में पाये जाते हैं, इनको सूत्राङ्कुर कहते हैं। इनमें स्वाद पहचानने की शक्ति कम होती है, इनका विशेष सम्बन्ध स्पर्शज्ञान से है।

जिह्वा के अग्रभाग, मूल और किनारों में स्वाद पहचानने की विशेष शक्ति रहती है, शेष भाग, स्पर्श, उष्णता आदि के ज्ञान के साधन हैं। स्वादकोष अधिकांशतः खातवेष्टिताङ्कुर और छत्रिकाङ्कुरों में पाये जाते हैं, अंशतः कोमल तालु के नीचे के पृष्ठ और स्वरयन्त्रच्छद के पिछले पृष्ठ पर भी रहते हैं।

मधुर रस जिह्वाग्र पर, तिक्त पश्चिम भाग पर तथा अम्ल किनारों पर विशेषरूप से अनुभूत होता है। जब भोज्य वस्तुएँ लालामिश्रित होकर घुल जाती हैं और स्वादाङ्कुरों के सम्पर्क में आती हैं तभी उनके रस का ज्ञान होता है। वस्तुगत रस घुली हुई दशा में रसज्ञ स्वादाङ्कुरों के सन्निकर्ष में आते हैं इस सम्पर्क से उनके सेलों पर जो प्रभाव पड़ता है उसकी सूचना नाडी तन्तुओं द्वारा मस्तिष्कस्थ स्वादकेन्द्रों को पहुँच जाती है, तब रसज्ञान होता है।

जिह्वा के पिछले ३ भाग से ये तार जिह्वाकण्ठ नाडी द्वारा मस्तिष्क में पहुँचते हैं; अगले ३ भाग के तार रासनिकी नाडी द्वारा मस्तिष्क को जाते हैं। एवं दोनों तार स्वाद केन्द्रों में पहुँचकर रसज्ञान कराते हैं।

गन्ध-निरूपण

घ्राणेन्द्रिय (नासिका) से ग्रहण करने योग्य गुण को 'गन्ध' कहते हैं। यह केवल पृथ्वी में रहता है। यह दो प्रकार का होता है—सुरभि (सुगन्ध) और असुरभि (दुर्गन्ध)।

घ्राणज (गन्ध) प्रत्यक्षोत्पत्तिप्रकार

घ्राणेन्द्रिय का आधार नासिका है और नासिका के दो प्रमुख कार्य हैं—
(१) श्वास-प्रश्वास कर्म का सम्पादन और (२) घ्राणेन्द्रिय के रूप में गन्ध-ज्ञान कराना ।

श्वासकर्म

उच्छ्वासक्रिया से वायु नासारन्ध्रों द्वारा नासिका में प्रवेश करती है; मध्य और अधः सुरंगों में होती हुई पश्चिमद्वारों द्वारा वह कण्ठ में पहुँच जाती है । कंठ से स्वरयन्त्र और टेंटुवे में से होकर फुफ्फुसों में जाती है । प्रश्वास क्रिया में अशुद्ध वायु टेंटुवे, स्वरयन्त्र और कण्ठ में होती हुई नासिका में पहुँचती है और वहाँ से नासारन्ध्रों द्वारा बाहर आ जाती है । जब हम मुँह से साँस लेते हैं, तो वायु सीधी मुँह से कण्ठ में चली जाती है और कंठ से मुँह में होकर बाहर निकल जाती है ।

नासा में बालों की चलनी होती है, जो वायु के साथ मिले हुए धूलिकण या सूक्ष्म जन्तु आदि को भीतर जाने से रोक देती है, जबकि मुँह में ऐसा कोई प्रबन्ध नहीं है, इसलिए मुँह से श्वास नहीं लेनी चाहिए । जो लोग मुँह से श्वास लेते हैं वे अधिकांशतः सर्दी, जुकाम, प्रतिश्याय तथा खाँसी के शिकार होते देखे जाते हैं । उन्हें फुफ्फुस सम्बन्धी रोगों के होने की ज्यादा संभावना रहती है ।

नासिका की मोटी रक्तमय कला के रक्त की गरमी से भीतर जाने वाली वायु गरम हो जाती और उसका तापमान शरीर के तापक्रम के समान हो जाता है, जबकि मुँह में ठंडी वायु को गरम करने का कोई प्रबन्ध नहीं है । इसलिए नासिका श्वास कर्म सम्पादन का सर्वोत्तम साधन है और नासिका से ही श्वास लेना उचित तथा स्वास्थ्यकर है ।

घ्राणेन्द्रिय

मनुष्य गन्ध के संवेदन पर बहुत निर्भर नहीं है, जबकि कुछ पशु गन्ध-संवेदन पर बहुत अधिक निर्भर हैं । पशु अपने आहार को घ्राणेन्द्रिय द्वारा ही परीक्षित करते हैं और अन्य वस्तुओं को भी (जो भोज्य नहीं हैं) गन्ध की पसन्दगी के कारण खा आते हैं । सन् १९७६ की पशुचिकित्सक की वह रिपोर्ट अखबारों में एक विलक्षण घटना के रूप में प्रकाशित हुई थी, जबकि किसी गाय के पेट को चीरकर उसमें से २५ किलो के लगभग प्लास्टिक के जूते, चप्पल आदि तथा लोहे की चीजें निकाली गयी थीं । कुत्तों के प्रयोग से गम्भीर चोरियों का पता लगाया जाना रोजमर्रे की बात हो गयी है जो

प्रत्यक्ष है। चींटियों की करामात, उनके संवेदन की गतिशीलता एक सर्व-विदित तथ्य है। ऐसा प्रतीत होता है, कि पशुओं के प्रमस्तिष्क गोलार्ध मुख्यतः केन्द्र ही होते हैं।

घ्राण संग्राहक श्वसन पथ के ऊपर नासा-श्लेष्मा में स्थित हैं। किसी वस्तु की गन्ध लेने में उसे सूँघना लाभप्रद है, क्योंकि यह वायुवाहित गन्धों को गन्ध संग्राहकों के प्रदेश तक ले जाता है।

गन्धों का कोई सन्तोषजनक वर्गीकरण नहीं हुआ है जिससे विशेष रूप से हम यही कहते हैं, कि अमुक वस्तु में अमुकवस्तु जैसी गन्ध है। ऐसा प्रतीत होता है, कि जितने तरह के गन्ध हैं, गन्धसंग्राहक भी उतने प्रकार के हैं।

गन्धज्ञान—नासिकागुहा में उर्ध्वशुक्तिका को आवृत करने वाली कला तथा उसके समीपवर्ती मध्यप्राचीर (Septum) की श्लैष्मिक कला का कार्य गन्ध पहचानने का है। इन दोनों स्थानों की कला को घ्राण-प्रदेश कहते हैं। इसका क्षेत्रफल $9\frac{1}{2}$ वर्ग इंच के लगभग होता है। इतने ही स्थल में घ्राणनाड़ी के प्रतान (Olfactory nerve ऑल्फैक्टरी नर्व) व्याप्त होते हैं। घ्राणनाड़ियों की संख्या प्रत्येक ओर २० के लगभग है, वे घ्राणप्रदेश से नासागुहा की छत के छिद्रों में से होकर कपाल में घुस जाती हैं। कपाल में पहुँचते ही ये घ्राण-पिण्ड में घुस जाती हैं और यहीं इनका अन्त हो जाता है। घ्राणपिण्ड से नये तार आरम्भ होते हैं जिनसे घ्राणपथ बनता है और घ्राणपथ का अन्त घ्राणकेन्द्र में होता है। घ्राण-प्रदेश में दो प्रकार की सेलें होती हैं—

१. साधारण सेलें—इनका ऊपर का भाग स्तम्भाकार होता है और नीचे का पतला तथा नोकीला। इन सेलों के सहारे और सेलें रहती हैं। २. गन्धज्ञ सेलें—ये सेलें बीच में से मोटी होती हैं और दोनों शिरो पर पतली। जो सिरा पृष्ठ पर होता है उसमें बाल जैसे कड़े कई तार निकले रहते हैं। दूसरे सिरों से एक पतला और लम्बा तार निकलता है। सेलों के इन पतले और लम्बे तारों से घ्राण नाड़ियाँ बनती हैं। ऊपर के तार 'घ्राणांकुर' कहलाते हैं।

किन्हीं वस्तुओं की गन्ध तब ही मालूम होती है, जब वे वायव्य दिशा में घ्राणसेलों के घ्राणांकुरों से टकराते हैं। जब गन्धवाले द्रव्यों के अणु घ्राणांकुरों से सम्पर्क करते हैं तो घ्राणसेलों पर एक विशेष प्रभाव पड़ता है। घ्राणनाड़ियों द्वारा यह प्रभाव मस्तिष्क के घ्राणकेन्द्रों को पहुँचता है, जिससे हमें गन्ध का बोध होता है।

त्रयोदश अध्याय सामान्यादि-गुण-विज्ञान

सामान्य-गुण-निरूपण

(१) गुरुत्व (Heaviness) जिस गुण के कारण कोई वस्तु ऊपर से नीचे की ओर गिरती है (उसका पतन होता है) उस गुण को “गुरुत्व” कहते हैं । (जब कोई वस्तु गिरती है, तो जो उस प्रथम पतन का असमवायिकारण है, उसे गुरुत्व कहते हैं ।) स्पष्ट शब्दों में किसी वस्तु के प्रथम पतन का कारण जो गुण है, वह गुरुत्व है^१ । इसी को भारीपन या वजन भी कहते हैं । यह पृथ्वी और जल में रहता है और अतीन्द्रिय है । द्रव्यगुणशास्त्र के अनुसार जिन द्रव्यों में पृथ्वी और जल तत्त्व की अधिकता होती है वे गुरु^२ होते हैं । जो गुरुपाक हो और शरीर में गौरव उत्पन्न करे वह “गुरु” कहलाता है । यह अग्नि को मन्द करता है तथा वात का नाशक एवं कफवर्द्धक होता है । शरीर की रस, रक्त आदि धातुओं को बढ़ाता है और पोष्टिक है ।

(२) लघुत्व (Lightness)—यह गुण गुरु के विपरीत होता है । जिन द्रव्यों में वायु और अग्नि तत्त्व का आधिक्य होता है वे लघु^३ होते हैं । गुरु का अभाव ही लघु है । गुरु और लघु ये दोनों सापेक्ष गुण हैं । यह कफघ्न तथा वातवर्धक होता है । यह शरीर के रस रक्तादि धातुओं को घटाता है तथा शरीर को कृश एवं दुर्बल बनाता है । स्रोतों को शुद्ध करता है और

१. गुरुत्वमाद्यपतनासमवायिकारणम् । अतीन्द्रियं पृथ्वीजलवृत्ति । गुरुत्व के होने पर भी संयोग-वेग और प्रयत्नों के कारण कोई वस्तु नीचे नहीं गिर पाती, इसलिए संयोग का अभाव (जैसे—आम का अपने वृन्त से अलग होना) वेग का अभाव, (जैसे—फेंके हुए बाण के वेग का ह्रास हो जाना) और पतन प्रतिबन्धक प्रयत्न का अभाव होने पर ही, गुरुत्व के कारण पतन होता है, यह समझना चाहिए । इसी बात को कहा है—

“संयोग-वेग-प्रयत्नाभावे सति गुरुत्वात् पतनमिति ।” —तर्कभाषा

२. पृथ्वी-सोम-गुण-बहुलानीतराणि (गुरुणि) ।

गुरु वातहरं पुष्टिश्लेष्मकृत् चिरपाकि च ॥ —भावप्रकाश

३. लघूनि हि द्रव्याणि वाय्वग्निगुणबहुलानि भवन्ति । —च०सू० ५-६

लघु पथ्यं परं प्रोक्तं कफघ्नं शीघ्रपाकि च ॥ —भावप्रकाश

अग्नि प्रदीप्त करता है। इससे शरीर में उत्साह और स्फूर्ति आती है। लघु गुण का आधार वायु-अग्नि और आकाश है।

विमर्श—लघु गुण वाले द्रव्य (अगहनी तथा साठी का चावल, मूँग, जौ—आंवला सेंधानमक आदि) पथ्य एवं सदा उपभोग हेतु कहे गये हैं जबकि गुरु द्रव्य (उड़द का बड़ा, खोवा से बने पदार्थ—जलचर जीवों का मांस और चूड़ा आदि) के लगातार प्रयोग का निषेध बतलाया गया है। गुरु द्रव्य अंगों में भारीपन तथा बल की वृद्धि करते हैं। वे बलवर्द्धक और तृप्तिजनक होते हैं।

(३) **शीतत्व (Coldness)**—जिससे शरीर में उष्णता कम हो, वह 'शीत' गुण है। यह वायु और जल महाभूतों में तथा मधुर, तिक्त और कषाय रसों में रहता है। मूच्छा, तृषा और दाह को शान्त करता है। देह को सुख देने वाला और रक्तप्रवाह को रोकने वाला होता है। यह सोमात्मक होने से प्राणियों में आह्लाद उत्पन्न करता है। शीत श्रुतु में प्राणियों के बल की वृद्धि और स्वास्थ्य का उत्तम होना इसी शीत गुण के कारण होता है—उदाहरण चन्दन आदि।

(४) **उष्णत्व (Heatness)**—यह शीत के विपरीत होता है। अग्नि-तत्त्व में तथा अम्ल-लवण तथा कटु रस में रहता है। यह सन्तापकारक, व्रण आदि का पाचक और शीत जन्य रोगों के प्रतिकार में सहायक होता है। जिससे शरीर में उष्णता की वृद्धि हो वह 'उष्ण' गुण है। यह पित्तवर्द्धक और वातश्लेष्म नाशक है। इससे मूच्छा, दाह और तृष्णा उत्पन्न होती है। यह मूत्र पुरीष और स्वेद का प्रवर्तक है। धातुओं का ह्रास करता है। उदाहरण—चित्रक आदि।

(५) **स्निग्धत्व (Soothingness)**—यह जल का विशेष गुण है। यह मधुर, अम्ल, लवण रसों में रहता है। यह चिकनापन लाने वाला और मृदुता तथा बलवर्ण का उत्पादक है। जिसमें आद्रता (तरावट) और स्निग्धता (चिकनापन) उत्पन्न करने की शक्ति हो उसे 'स्निग्ध' कहते हैं। इससे धातुओं की वृद्धि होती है। यह वाजीकरण, वातहर तथा श्लेष्मवर्द्धक है। उदाहरण—घृत, तैल, वसा आदि।

(६) **रूक्षत्व (Dryness)**—जिसमें रूक्षापन, कठिनता और शुष्कता लाने की शक्ति हो उसे 'रूक्ष' कहते हैं। यह वातवर्द्धक^१ और कफहर है।

१. उष्णो भवति शीतस्य विपरीतश्च पाचनः ।

—भावप्र०

२. स्निग्धं वातहरं श्लेष्मकारि वृष्यं बलावहम् ॥

—भावप्र०

३. रूक्षं समीरणकरं परं कफहरं मतम् ।

—भावप्र०

मलों का शोषण करने वाला तथा कामोत्तेजना का ह्रास करने वाला है एवं धातुओं को घटाता है। यह गुण वायु और पृथ्वी में होता है। कटु, तिक्त और कषाय रसों में भी रहता है। यह शरीर में खरखरापन-कर्कशता तथा कठिनीता लाता है। उदाहरण—जो आदि।

(७) स्थिरत्व (Immobility)—यह गतिहीनता और स्थायित्व लाता है। यह वायु तथा मलों का स्तम्भन करता है। जो शरीर के धातुओं में स्थिरता उत्पन्न करे वह 'स्थिर'^१ गुण है। यह पृथ्वी का विशेष गुण है और मधुर, तिक्त तथा कषाय रसों में रहता है। यह स्तम्भन-दृढ़ता एवं कठिनीता लाता है। यह अवरोधक होता है। उदाहरण—जायफल आदि।

(८) सरत्व (Mobility)—जो शरीर में जाकर वायु तथा मलों को प्रेरित करता है वह 'सर'^२ कहलाता है। यह धातुओं का लेखन करता है। यह शीघ्र गतिशील होता है। यह वायु तथा अग्नि तत्त्व में एवं अम्ल, लवण तथा कटु रस में रहता है। यह बन्धन को ढीला कर मलों को बाहर निकालता है। संशोधन चिकित्सा में इसका विशेष उपयोग है। उदाहरण—अमल-तास आदि।

(९) मृदुत्व (Softness)—इसे प्रचलित बोली में मुलायमियत कहते हैं जो शरीर के अङ्गों में कोमलता और शिथिलता उत्पन्न करे, वह 'मृदु'^३ कहलाता है। यह आकाश और जल में तथा लवण रस में रहता है। इससे कोमलता होती है। यह अंगों में मृदुता लाकर उन्हें ढीला करता है। जैसे—मांसपेशी, यकृत, प्लीहा स्पर्श करने में मुलायम प्रतीत होने के कारण मृदु कहे गये हैं। उदाहरण—एरण्ड तैल आदि।

(१०) कठिनत्व (Hardness)—जो शरीर में कठोरता और दृढ़ता उत्पन्न करे वह 'कठिन'^४ गुण है। स्पर्श में जो कठोर और दृढ़ प्रतीत हो उसे कठिन कहते हैं। यह धातुओं को बढ़ाता और मलों को सुखाता है। यह पृथ्वी का गुण है। उदाहरण—प्रवाल, मुक्ता आदि।

(११) मन्दत्व (Dullness)—जो शरीर में जाकर शमन-कर्म (Depression) करे, वह 'मन्द' कहलाता है—'यस्य शमने शक्तिः स मन्दः' यह धीरे-धीरे अल्प कार्य करने वाला होता है। यह कफवर्द्धक तथा पित्तशामक

१. यस्य धारणे शक्तिः स स्थिरः। स्थिरो वातमलस्तम्भी। —भावप्र०

२. सरोजुलोमनः प्रोक्तः। —भावप्र०

३. यस्य श्लथने शक्तिः स मृदुः। —भावप्र०

४. यस्य दृढीकरणे शक्तिः स कठिनः। —भावप्र०

है। यह धातुओं को बढ़ाकर शरीर को स्थूल बनाता है। पृथ्वी और जल इन दो महाभूतों की अधिकता से मन्द गुण होता है। इससे आलस्य, भारीपन और अकर्मण्यता होती है। उदाहरण—गुडूची आदि।

(१२) तीक्ष्णत्व (Sharpness)—यह सुस्ती के विपरीत है। यह तीव्रता से अधिक कार्य करने वाला होता है। इसके प्रयोग से शरीर में शोधन कर्म होता है। यह धातुओं को बढ़ाकर शरीर को पुष्ट करता है। यह दाह^१ पाक, स्नाव का प्रवर्तक है। यह अग्नि भूत में होता है। उदाहरण—जयपाल आदि।

(१३) विशदत्व (Clearness)—जिसमें प्रक्षालन अर्थात् पिच्छिलता को नष्ट करने की शक्ति हो उसे 'विशद'^२ कहते हैं। प्रचलित भाषा में इसे स्वच्छता कहते हैं। यह धातुओं का लेखन करने वाला और वृण रोपक है। इसमें खुरखुरापन और कर्कशता होती है। यह क्लेद का शोषक है। उदाहरण—क्षार आदि।

(१४) पिच्छिलत्व (Sliminess)—जो शरीर में जाकर लेपन कार्य (सन्धान, जोड़ना) करे उसे 'पिच्छिल'^३ कहते हैं यह अवयवों का संयोजक होता है। यह धातुओं को बढ़ाता है, बलकारक और जीवनीय है। यह जल का सांसिद्धिक (स्वाभाविक) गुण है। उदाहरण—मलाई, दूध आदि।

(१५) श्लक्ष्णत्व (Smoothness)—चिकना, सुखद स्पर्श 'श्लक्ष्ण' कहलाता है। यह रोपण कारक, धातुवर्द्धक तथा मलप्रवर्तक है। इसमें अग्नितत्त्व की अधिकता होती है। धिसे हुए पत्थर, धातु या मणि में जो चिकनापन होता है, उसे ही 'श्लक्ष्ण'^४ कहते हैं। पिच्छिल से इसमें अन्तर यह है, कि पिच्छिल में स्नेह अंश होने से चिकनाई होती है और श्लक्ष्ण में स्नेहांश का अभाव तथा कठिनता होने पर भी चिकनाई होती है। उदाहरण—संग-जराहत आदि।

(१६) खरत्व (Roughness)—कर्कश, दुःखद स्पर्श 'खर' कहा जाता है। खरखुरापन को 'खर' कहते हैं। यह वातवर्द्धक तथा धातुओं का लेखन करने वाला है। यह गुण वायु में होता है। इस कारण यह शोषणकारी है। उदाहरण—कमलदण्ड, सिहोर का पत्ता आदि।

१. दाहपाककरस्तीक्ष्णः स्नावणः।

—सुश्रुत

तथा

तीक्ष्णं पित्तकरं प्रायो लेखनं कफवातहृत्।

—भावप्रकाश

२. क्लेदच्छेदकरः ख्यातो विशदो व्रणरोपणः।

—भा० प्र०

३. पिच्छिलस्तन्तुलो बल्यः सन्धानः श्लेष्मलो गुरुः।

—भा० प्र०

४. श्लक्ष्णः स्नेहः विनापि स्यात् कठिनोऽपि हि चिकणः। —भा० प्र०

(१७) स्थूलत्व (Bulkiness)—जो स्थूलता के कारण स्रोतों का अवरोध करे और विलम्ब से पचने वाला हो उसे 'स्थूल'^१ कहते हैं। यह धातुओं की वृद्धि करता है एवं कफ को भी बढ़ाता है। यह पृथ्वी और जल का गुण है। मधुर रस के अधिक प्रयोग से स्थूलता हो जाती है। चिन्तारहित, आरामतलब जीवन और अच्छी निद्रा तथा श्लेष्मा प्रकृति के कारण स्थूलता होती है। उदाहरण—पीसी हुई वस्तुएँ, उड़द आदि।

(१८) सूक्ष्मत्व (Minuteness)—जो सूक्ष्मता के कारण शरीर के समस्त अवयवों में प्रविष्ट होकर स्रोतों को खोल देता है उसे 'सूक्ष्म'^२ कहते हैं। यह बात वर्द्धक और धातुओं का ह्रास करने वाला होता है। यह मलशोधक तथा लघुपाकि होता है। यह वायु, अग्नि और आकाश का गुण है। उदाहरण—मद्य आदि।

(१९) सान्द्रत्व (Solidity)—जो स्थूल और स्थिर हो उसे 'सान्द्र'^३ कहते हैं। यह शरीर में जाकर अवयवों का प्रसादन और धातुओं की वृद्धि करता है। यह कफवर्द्धक है। यह पृथ्वी का गुण है। सान्द्र का अर्थ घन या ठोस है। उदाहरण—मक्खन, मलाई आदि।

(२०) द्रवत्व (Fluidity)—जो सूक्ष्म और सब जगह व्याप्त होने वाला हो वह 'द्रव'^४ कहलाता है। यह प्रवाही होता है और रसादि धातुओं को बढ़ाता है। इससे द्रव मलों की मात्रा बढ़ती है। यह दो तरह का होता है—१. सांसिद्धिक और २. नैमित्तिक। सांसिद्धिक द्रवत्व जल में और नैमित्तिक पृथ्वी और तेज में होता है। उदाहरण—जल, दुग्ध आदि।

गुरु आदि गुणों की उपयोगिता

शरीर के धातुओं में गुरु, लघु आदि गुण रहते हैं और ये गुण आहार द्रव्यों में तथा औषध द्रव्यों में भी रहते हैं। चिकित्सा के सिद्धान्त में यह कहा गया है—'बढ़े हुए दोष-धातुओं को घटाना चाहिए और घटे हुए दोष-धातुओं को बढ़ाना चाहिए तथा सम मात्रा में स्थित दोष-धातुओं की समानता को कायम रखने के लिए उपाय करना चाहिए।' अतः सामान्य-

१. स्थूलः स्थौल्यकरो देहे स्रोतसामवरोधकृत् ।

—भा० प्र०

२. देहस्य सूक्ष्मच्छिद्रेषु विशेद् यत् सूक्ष्ममुच्यते ।

—भा० प्र०

३. यस्य प्रसादने शक्तिः स सान्द्रः ।

४. द्रवत्वं स्यन्दनकर्मकारणम् । त्रिद्रव्यवृत्तिः । तत्तु द्विविधं—सांसिद्धिकं 'नैमित्तिकञ्च' । सांसिद्धिकमपि विशेषगुणः । नैमित्तिकं पृथिवीतेजसोः सामान्य-गुणः ।

—प्रशस्तपाद

विशेष के उपयोग से गुरु गुण वाले द्रव्यों से गुरु गुण सम्पन्न धातु और दोषों की वृद्धि तथा लघु गुण वाले दोष-धातुओं का ह्रास होता है। इस प्रकार अन्य गुणों के बारे में भी समझना चाहिए, कि सामान्य से वृद्धि और विशेष गुण से ह्रास होता है। इसीलिए मांसक्षय में मांस और रक्तक्षय में रक्त का प्रयोग एवं स्थूलता की चिकित्सा में विपरीत गुण वाले द्रव्यों का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार आवश्यकतानुसार सामान्य और विशेष गुण वाले द्रव्यों के प्रयोग से वृद्धि या ह्रास का कार्य किया जाता है।^१

अध्यात्म-गुण-निरूपण

(१) बुद्धि—अध्यवसाय^२ ही बुद्धि का लक्षण है, अध्यवसाय का अर्थ है—अन्तिम रूप से निर्णय देना। यह घट है? यह वस्त्र है? इस प्रकार के निर्णयात्मक^३ ज्ञान का नाम 'बुद्धि' है। सभी तरह के व्यवहारों का कारण-भूत^४ जो ज्ञान है, उसी को बुद्धि कहते हैं।

बुद्धि के दो भेद होते हैं—१. स्मृति और २. अनुभव। स्मृति—पूर्व अनुभव किये हुए विषय का दूसरे समय में संस्कारवश जो ज्ञान होता है उसे 'स्मृति' कहते हैं। अनुभव^५—यह चार प्रकार का होता है—और इन चारों के चार कारण हैं, जैसे—१. प्रत्यक्ष २. अनुमान ३. उपमान और ४. आतोपदेश या शब्द। इन प्रमाणों के द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है, उसे 'अनुभव' कहते हैं।

(२) इच्छा—यह एक आध्यात्मिक गुण है। इसे राग^६ कहते हैं। यह

१. 'तेषु ये गुरुवस्ते गुरुभिराहारविकारगुणैरभ्यस्यमानैराप्यायन्ते लघवश्च हसन्ति, एवमेव सर्वधातुगुणानां सामान्ययोगाद्बुद्धिर्विपर्ययाद् ह्रासः। तस्मान्मांसमाप्यायते मांसेन..... एवमन्येषामपि शरीरधातूनां सामान्यविपर्ययाभ्यां वृद्धि-ह्रासौ यथाकालं कार्या।

—च० शा० अ० ६

२. अध्यवसायो बुद्धिः।

—सांख्यकारिका २३

३. इन्द्रियेणेन्द्रियार्थो हि समनस्केन गृह्यते।

कल्प्यते मनसा तूर्ध्वं गुणतो दोषतोऽथवा ॥

जायते विषये तन्न या बुद्धिर्निश्चयात्मिका।

व्यवस्यति तया वक्तुं कर्तुं वा बुद्धिपूर्वकम् ॥ —च० शा० १।२२-२३

४. सर्वव्यवहारहेतुगुणो बुद्धिर्ज्ञानम्।

—तर्कसंग्रह

५. गौतमसूत्र १।१।३। तथा... अनुभूतिश्चतुर्विधा।

प्रत्यक्षमप्यनुमितिस्तथोपमिति शब्दजे।

—कारिकावली ५१-५२

६. राग इच्छा।

—तर्कभाषा

ज्ञानजन्य तथा प्रयत्नजनक होता है। विषयभेद से इच्छा के अनेक नाम होते हैं—काम, लोभ, करुणा, आसक्ति, अभिलाषा, आकृत और वैराग्य, उपद्रा और भाव आदि। प्रकारान्तर से इच्छा के दो भेद होते हैं—१. फलेच्छा और २. उपायेच्छा। इनमें सुखप्राप्ति एवं दुःखाभाव की इच्छा फलेच्छा है। सुखप्राप्ति और दुःखाभाव इन दोनों के साधनों की जो इच्छा होती है, उसे उपायेच्छा कहते हैं।

विमर्श—मैथुन की इच्छा को काम, शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध इनके अत्यन्त उपभोग की इच्छा को अभिलाषा, पुनः पुनः विषयानुरञ्जन की इच्छा को राग, आवश्यकता से अधिक धन की इच्छा को लोभ, अपने स्वार्थ को छोड़कर दूसरे दुःख को दूर करने की इच्छा को करुणा, सांसारिक वस्तु में अत्यन्त लगाव को आसक्ति, सांसारिक विषयों में दोषों को देखकर विषय त्याग की इच्छा को वैराग्य और आन्तरिक इच्छा को भाव कहते हैं। अन्य भी इच्छा के बहुत से भेद होते हैं। जैसे—चिकीर्षा—किसी कार्य को सम्पन्न करने की इच्छा। जिहीर्षा—किन्हीं वस्तुओं या विषयों को छोड़ने की इच्छा आदि।

(३) **द्वेष**—जिसके होने से कोई व्यक्ति अपने आप को आग की लपटों के बीच जलता सा अनुभव करता है, उस गुण को 'द्वेष' कहते हैं। यह आत्मा का गुण है। विषयभेद से द्वेष के विभिन्न नाम होते हैं। जैसे क्रोध, द्रोह, अमर्ष, और ईर्ष्या आदि।

(४) **सुख**—जिसके प्राप्त होने पर मनुष्य प्रफुल्लवदन और प्रसन्नचित्त दिखायी देने लगता है तथा 'मैं सुखी हूँ' यह अनुभव करता है। आत्मा के इस गुण को 'सुख' कहते हैं। सभी प्राणियों को सुख से प्रीति^२ होती है। सुख सबको अनुकूल^३ प्रतीत होता है। इस संसार की सारी प्रवृत्तियाँ सुख^४ पाने के लिए हैं और बिना धर्म के सुख नहीं मिलता है—इसलिये सुख चाहने वाले को धर्म का आचरण करना चाहिये।

(५) **दुःख**—जिसके प्राप्त होने पर मुखाकृति खिन्न और घूमिल दिखायी देने लगती है तथा 'मैं दुःखी हूँ' यह ज्ञान होता है—उसे 'दुःख' कहते हैं।

१. प्रज्वलनात्मको द्वेषः । यस्मिन् सति प्रज्वलितमिवात्मानं मन्यते स द्वेषः ।

—प्रशस्तपाद

२. प्रीतिः सुखम् ।

—तर्कभाषा

३. अनुकूलवेदनीयं सुखम् ।

—तर्कसंग्रह

४. सुखार्थाः सर्वभूतानां मताः सर्वाः प्रवृत्तयः ।

सुखं च न विना धर्मात् तस्माद्धर्मपरो भवेत् ॥ —अ० ह० सू० २।२०

इससे सबको द्वेष रहता है और कोई भी इसे पसन्द नहीं करता है। यह अधर्म से उत्पन्न होता है तथा सबके लिए प्रतिकूल^१ प्रतीत होता है।

(६) प्रयत्न—इच्छा या द्वेष से उत्पन्न किये जाने वाले तथा चेष्टा और उत्साह के उत्पादक गुण को 'प्रयत्न' कहते हैं। प्रयत्न दो प्रकार का होता है—(१) हित की प्राप्ति के लिए और (२) अहित के परित्याग के लिए। प्रकारान्तर से प्रयत्न के तीन भेद हैं—(१) प्रवृत्ति (इच्छापूर्वक), (२) निवृत्ति (द्वेषपूर्वक) और (३) जीवनयोग (जीवनपूर्वक)। इनमें जिस प्रयत्न से किसी को पाने की चेष्टा की जाती है, वह प्रयत्न 'प्रवृत्ति' है। जिस प्रयत्न से किसी को छोड़ने की चेष्टा की जाती है वह प्रयत्न 'निवृत्ति' है एवं जिस प्रयत्न से श्वास-प्रश्वासात्मक प्राणसंचार होता है, वह प्रयत्न जीवनयोनि है।

(७) परत्व—परत्व का अर्थ प्रधानता^२ है। एक जाति के अनेक द्रव्यों में जो प्रधान और उत्कृष्ट होता है उसे 'पर' कहते हैं। आयुर्वेद में उपयोगिता की दृष्टि से जो अतिहितकर होता है, उसे 'पर' मानते हैं। चिकित्सा शास्त्र में देश, काल, वय, मान, पाक, वीर्य, रस आदि के सम्बन्ध में परत्व का विचार किया जाता है। मरुदेश, विसर्ग काल, तारुण्य, वय, प्राकृत शरीर का मान तथा शरीर के लिए हितकर रसवीर्य विपाक को पर कहा जाता है।

(८) अपरत्व—परत्व के विपरीत अपरत्व होता है, इसका अर्थ अप्रधानता^३ है। अपनी जाति में जो अप्रधान और निकृष्ट होता है, उसे 'अपर' कहा जाता है। परत्व और अपरत्व ये दोनों शब्द सापेक्ष हैं—अर्थात्, परत्व का बोध तभी होगा, जबकि अपरत्व का बोध होगा, जिससे यह बात स्पष्ट हो जाये, कि कौन किसकी अपेक्षा पर या प्रधान है और कौन अपर या अप्रधान है। अपरत्व का भी प्रयोग देश काल, वय, मान, पाक, वीर्य, रस आदि के लिए किया जाता है।^४ आनुपदेश, आदान काल, वृद्ध वय, अहितकर विपाक वीर्य और रस आदि अपर कहे जाते हैं।

१. सर्वेषां प्रतिकूलवेदनीयं दुःखम्।

२. तच्च परत्वं प्रधानत्वम्।

३. अपरत्वमप्रधानत्वम्।

४. देशकालवयोमानपाकवीर्यरसादिषु।

विमर्श—देश, काल, वय, मान (शरीरप्रमाण) रस, वीर्य, विपाक आदि में प्रधानत्व और अप्रधानत्व के हेतुभूत जो गुण हैं, उनको क्रमशः परत्व और अपरत्व कहा जाता है।

वैशेषिक दर्शन में विप्रकृष्ट (दूर) के लिए 'पर' और सन्निकृष्ट के लिए 'अपर' गुण का प्रयोग है। उनके मत में दिक्कृत और कालकृत भेद से दो प्रकार का परत्व और अपरत्व माना गया है। जैसे—विप्रकृष्टदेशीय और विप्रकृष्टकालीन के लिए परदेशीय और परकालीन एवं सन्निकृष्टदेशीय और सन्निकृष्टकालीन के लिए अपरदेशीय तथा अपरकालीन शब्द व्यवहार में लाये जाते हैं। इस प्रकार आयुर्वेद का अर्थ उपयोगिता की दृष्टि से है और वैशेषिकों का दूर और समीप की दृष्टि से है।

(९) **युक्ति**—औषध की सम्यक् योजना को युक्ति^१ कहते हैं। संसार के सभी द्रव्य औषध कहे गये हैं—'सर्वं द्रव्यं पाञ्चभौतिकमस्मिन्नर्थे, अनेन उपदेशेन न अनौषधभूतं किंचिद् द्रव्यम्।'—च० सू० २६। परन्तु उनकी योजना देश, काल, दोष, वय, शरीर सात्म्य आदि का विचार कर अच्छी प्रकार से न की जावे, तो इन द्रव्यों में औषधीय उपयोगिता नहीं आ सकती, इसलिए चिकित्सा शास्त्र में युक्ति का महत्त्व सर्वोपरि है। युक्ति की सम्यक् योजना पर ही चिकित्सा की सफलता का सारा दारोमदार है। इन्हीं कारणों से वही चिकित्सक श्रेष्ठ माना जाता है, जो युक्तिज्ञ^२ होता है।

(१०) **संख्या**—गणित-सम्बन्धी व्यवहार के साधन एक, दो, तीन आदि अङ्कों को 'संख्या'^३ कहते हैं। संख्या एक से परार्ध पर्यन्त है। एक १, १०, १००, १००० इस प्रकार क्रमशः १०-१० गुना बढ़ा कर एक से परार्ध तक की

१. युक्तिस्तु योजना या तु युज्यते। तत्र चक्रपाणिः—योजना दोषाद्य-पेक्षया भेषजस्य समीचीनकल्पना। —च० सू० २६।३१ चक्रपाणि।

अमन्त्रमक्षरं नास्ति नास्ति मूलमनौषधम्।

अयोग्यः पुरुषो नास्ति योजकस्तत्र दुर्लभः॥

२. मात्राकालाश्रया युक्तिः सिद्धिर्युक्तौ प्रतिष्ठिता।

तिष्ठत्युपरि युक्तिज्ञो द्रव्यज्ञानवतां सदा॥

—च० सू० २

३. सम्यक् ख्यायतेऽनया इति संख्या।

एकं दशशतं चैव सहस्रमयुतं तथा।

लक्षं च नियुतं चैव कोटिरर्बुदमेव च॥

वृन्दं खर्वो निखर्वश्च शंखः पद्मश्च सागरः।

अन्त्यं मध्यं परार्धं च दशवृद्ध्या यथाक्रमम्॥

संख्या होती है। दोष-रोग और द्रव्य आदि संख्या के द्वारा ही व्यक्त किये जाते हैं, जैसे—तीन दोष, अस्सी प्रकार के वातरोग, त्रिकटु, दशमूल आदि। रोगों को स्पष्ट रूप से जानने के लिए और इनकी विशेषता के ज्ञान के लिए सम्प्राप्ति के एक भेद के रूप में संख्या को माना गया है। संख्या शब्द का शब्दार्थ है—यथार्थज्ञान (Accurate Knowledge)।

(११) संयोग—दो या अधिक वस्तुओं के मिल जाने पर 'यह इससे संयुक्त है' इस व्यवहार के कारण गुण को 'संयोग' कहते हैं। यह द्रव्य में ही रहता है और तीन प्रकार का होता है—(क) द्वन्द्वकर्मज (ख) सर्वकर्मज और (ग) एककर्मज।

(क) द्वन्द्वकर्मज—दो पहलवानों का परस्पर कुश्ती लड़ना द्वन्द्वकर्मज संयोग है। (ख) सर्वकर्मज—मेले में बहुत से लोगों का धक्कामधक्का सर्वकर्मज संयोग है। (ग) एककर्मज—पेड़ की डाल पर बन्दर का बैठना एककर्मज संयोग है। विभाग से संयोग का नाश होता है, इसीलिए संयोग अनित्य है। किन्तु द्रव्य का अपने गुण और कर्म के साथ जो समवाय सम्बन्ध होता है, वह नित्य है।

विमर्श—नव्य वैज्ञानिक दो प्रकार का संयोग मानते हैं—१. भौतिक संयोग (Physical Mixture) और २. रासायनिक संयोग (Chemical Compound)।

(क) भौतिक संयोग—उसमें सभी उपादानभूत द्रव्यों का कर्म पूर्ववत् पृथक्-पृथक् दृष्टिगोचर होता है और संयोग में कोई नवीनता नहीं आती, जैसे—नमक और पानी का संयोग।

(ख) रासायनिक संयोग—इस संयोग के उपादानभूत द्रव्यों का एकत्र संयोग होने पर उसमें नवीन गुण-कर्म दृष्टिगोचर होता है—जैसे—क्षार और अम्ल का संयोग होने पर उदासीन लवण बन जाता है एवं क्षारता और अम्लता मधुरता^२ में परिणत हो जाते हैं।

आयुर्वेद के आचार्यों ने भौतिक संयोग को 'प्रकृतिसमसमवाय'^३ की संज्ञा दी है, जबकि उपादानभूत द्रव्यों का कार्य कारण के अनुरूप होता है, जैसे—

१. संयुक्तव्यवहारहेतुः संयोगः।

—वैशेषिक दर्शन

.....योगः सह संयोग उच्यते।

द्रव्याणां द्वन्द्वसर्वैककर्मणोऽनित्य एव च ॥

—च० सू० २६।३२

२. क्षारो हि याति माधुर्यम् अम्ल द्रव्योपसंहितः।

—च० चि० २४

३. प्रकृत्यनुगुणो यो मिलितानां प्राकृतगुणानुपमर्देन मेलको भवति, स प्रकृतिसमसमवेतशब्देनोच्यते।

शुक्ल तन्तुओं से बना हुआ वस्त्र शुक्ल ही होता है। अथ च, जब संयोग में नवीन कार्य होता है, तो उसे 'विकृतिविषमसमवाय'^१ कहते हैं। जैसे—हल्दी और चूने के संयोग से उनका लाल वर्ण हो जाता है।

(१२) विभाग—जिसके द्वारा संयोग का नाश होता है, उस गुण को 'विभाग'^२ कहते हैं। यह द्रव्य में रहता है। संयोग से विभाग का नाश हो जाता है। इसलिए विभाग अनित्य होता है। आचार्य चरक^३ के अनुसार विभाग का अर्थ बटवारे से है। जैसे—दो या बहुत से द्रव्य एक में मिले हों तो उनमें कौन कितना है? यह अलग-अलग करके जान लेना या किसी योग में अनेक औषधियों को डालना हो, तो अलग-अलग सबके भाग की जानकारी कर लेना विभाग कहलाता है। इस प्रकार विभाग से अभाव नहीं होता और वस्तु की सत्ता रहती है एवं वह भावरूप है।

(१३) पृथक्त्व (Separateness)—'वस्त्र घड़े से अलग है' इत्यादि व्यवहार का जो असाधारण गुण है उसे 'पृथक्त्व'^४ कहते हैं। यह सब द्रव्यों में रहता है। यह तीन प्रकार का होता है—(क) असंयोग—जिनका कभी संयोग न हो। जैसे—'मेरु-हिमालय' के पृथक्त्व को असंयोग कहते हैं। (ख) वैलक्षण्य—परस्पर मिले हुए विशिष्ट लक्षण वाले विजातीय गाय-भैस गदहा आदि का पृथक्त्व वैलक्षण्य कहलाता है। (ग) अनेकता—एक जातीय गायों का परस्पर जो पृथक्त्व है वह अनेकता है।

(१४) परिमाण (Measurement)—'यह इतना छोटा है' 'यह इतना बड़ा है' या 'इतना वजन का है' इत्यादि व्यवहारों का जो असाधारण कारण गुण है, उसे 'परिमाण'^५ कहते हैं। यह सब द्रव्यों में रहता है यह चार प्रकार का होता है—१. अणु, २. महत् ३. ह्रस्व और ४. दीर्घ।

१. विकृत्या हेतुभूतया विषमः प्रकृत्यननुगुणः समवेतो विकृतिविषम-समवेतः । —च० वि० १।१० पर चक्रपाणि

२. संयोगनाशको गुणो विभागः । —वैशेषिकदर्शन

३. विभागस्तु विभक्तिः स्याद् वियोगो भागशो ग्रहः । —च. सू. २६।३३

४. पृथग्व्यवहारासाधारणं कारणं पृथक्त्वम् । —वैशेषिकदर्शन

५. पृथक्त्वं स्यादसंयोगो वैलक्षण्यमनेकता । —च. सू. २६।३३

६. मानव्यवहारासाधारणं कारणं परिमाणम् । —वैशेषिकदर्शन

परिमाणं पुनर्मानम् । (मानं प्रस्थाढकादितुलादिमेयम्—चक्रपाणि)

—चरक सू. २६।३४

(१५) संस्कार—किसी वस्तु में जन्मकाल से जो गुण नहीं है, उन गुणों को उत्पन्न करने वाला गुण 'संस्कार'^१ कहलाता है। इन गुणों को उत्पन्न करने के लिए जल का संयोग, प्रक्षालन, अग्निसंयोग, मन्थन-देश-काल-वासना-भावना आदि की अपेक्षा होती है।

विमर्श—वैशेषिक और न्यायदर्शन में संस्कार के तीन भेद होते हैं^२—
(क) वेग (ख) भावना और (ग) स्थितिस्थापन।

(क) वेग (Impulse)—कारणविशेष से बाण आदि में जो गति-प्रवाह उत्पन्न होता है उसे 'वेग' कहते हैं। (ख) भावना (Impression)—पूर्वानुभूत विषयों का स्मरण या पहिचान जिस संस्कार से होती है, उसे 'भावना' संस्कार कहते हैं। (ग) स्थितिस्थापक (Elasticity)—जो संस्कार वस्तुओं के अवयवों को अपने स्थान से हटने पर पुनः अपनी पूर्वावस्था में ला देता है, वह स्थितिस्थापक संस्कार कहलाता है, जैसे—भुकाकर छोड़ी हुई पेड़ की शाखा का अपने पूर्व स्थान में स्थित हो जाना 'स्थितिस्थापक' संस्कार है।

(१६) अभ्यास—वस्तुओं के बार-बार सेवन करने को 'अभ्यास' कहते हैं। अभ्यास के पर्यायवाची शब्द हैं—शीलन और सतत क्रिया^३। जो द्रव्य पथ्य हैं, लघु गुण वाले हैं उनका अभ्यास रखना चाहिए। अर्थात् लगातार प्रयोग करना चाहिए जैसे—साठी का चावल, अगहनी का चावल, सेंधानमक, आवला, आकाश से बरसा हुआ जल, दूध, घी और मधु आदि^४।

विमर्श—चिकित्साशास्त्र की दृष्टि से अभ्यास एक महत्वपूर्ण गुण है। कितना ही गुणकारी औषधद्रव्य क्यों न हो, जब तक उसका लगातार अभ्यास न किया जाय, तब तक पूर्ण लाभ नहीं होता है। व्यायाम आदि कर्म भी अभ्यास होने पर ही लाभकर होते हैं। मात्रा के अनुसार औषध या व्यायाम का अभ्यास ही फलप्रद होता है। जब निरन्तर हितकर पदार्थों का सेवन

१. संस्कारः करणं मतम्।

—च. सू. २६।३४

करणं पुनः स्वाभाविकानां द्रव्याणामभिसंस्कारः। संस्कारो हि गुणान्तराधानमुच्यते। ते गुणाश्च तोयाग्निसन्निकर्षशौचमन्थनदेशकालवासनाभावनादिभिः कालप्रकर्षभाजनादिभिश्चाधीयन्ते।

—च. वि. १।२२

२. संस्कारस्त्रिविधो वेगो भावना स्थितिस्थापकश्च। —प्रशस्तपादभाष्य

३. भावाभ्यसनमभ्यासः शीलनं सततक्रिया। —च० सू० २६।३४

४. षष्टिकान् शालिमुद्गांश्च सैन्धवामलके यवान्।

आन्तरिक्षं पयः सपिज्जलं मधु चान्यसेत्॥ —च० सू० ५।१२

किया जाता है, तब उस अभ्यास से विषम दोषों की परम्परा बन्द हो जाती है। जिससे शरीर का विकार शान्त होकर स्वास्थ्य का संचार होने लगता है। 'अतएव आयुर्वेदज्ञ आचार्यों ने सदैव द्रव्यों और कर्मों के अभ्यास का जोरदार ढंग से उपदेश किया है'।

पर से लेकर अभ्यास तक १० गुण चिकित्सा में उपयोगी हैं, अतः इनका ज्ञान चिकित्सा में फलप्रद है।

गुण की प्रधानता में युक्तियाँ

गुण का सर्वत्र सम्मान और समादर होता है। निर्गन्ध कुसुम की कोई कीमत नहीं होती, निर्गुण द्रव्य या व्यक्ति का भी मूल्यांकन कम होता है। गुणों के आधार पर ही वस्तुओं का प्रयोग होने से गुण प्रधान होते हैं।

गुण की प्रधानता सिद्ध करने वाले प्रमाण—निम्नांकित प्रमाणों के आधार पर विवेचन किया जायेगा—(१) रसाभिभव (२) रसानुग्रह (३) विपाककारणत्व (४) संख्याधिक्य (५) प्रयोगबाहुल्य (६) कर्म-बाहुल्य (७) विषयबाहुल्य (८) उपदेश और (९) अनुमान।

(१) रसाभिभव—गुण रसों को दबाकर अपना कार्य प्रकट करते हैं, जैसे—जल मधुर रसयुक्त होने से कफकारक होता है, किन्तु उष्ण जल कफघ्न है। इसका कारण यह है, कि उष्ण जल का उष्ण गुण मधुर रस को दबाकर कफघ्न कर्म करता है। इसी प्रकार परबल और बृहत्पंचमूल तिक्त होने पर भी वातहर हैं। इसका भी कारण उनका उष्ण गुण है। (तिक्त रस वात-वर्द्धक होता है) जो किसी को दबा देता है वह प्रधान होता है। गुण रस को दबा देता है। इसलिए रस की अपेक्षा गुण प्रधान है।

(२) रसानुग्रह—गुणों के अस्तित्व से कर्म में श्रेष्ठता आती है। जैसे—शीत-स्निग्ध-मृदु तथा पिच्छिल गुणों के कारण और लघु विपाक होने से घृत मधुर रस वाले द्रव्यों में सर्वश्रेष्ठ माना गया है। इसी प्रकार मृदु, शीतगुण और लघु विपाक होने के कारण अम्ल द्रव्यों में आंवला श्रेष्ठ माना जाता है। मृदु, स्निग्ध और अनुष्ण होने के कारण सैन्धव लवण सभी लवणों में श्रेष्ठ है।

१. त्यागाद्विषमहेतूनां समानां चोपसेवनात्।

विषमा नानुबध्नन्ति जायन्ते धातवः समाः ॥ —च० सू० १६।३५

२. समानगुणाभ्यासो हि धातूनां वृद्धिकारणम्। —च० सू० १२।५

रसदोषसन्निपाते तु ये रसाः यैः दोषैः समानगुणभूयिष्ठा वा भवन्ति ते तानभिवर्धयन्ति, विपरीतगुणा विपरीतगुणभूयिष्ठा वा शमयन्त्यभ्यस्यमानाः ॥

—च० वि० १।७

तिक्त रस वाले द्रव्यों में गुरु तथा पिच्छिल गुण युक्त होने के कारण परवर श्रेष्ठ गिना जाता है। इसी प्रकार अनेक गुणों से युक्त होने कारण मधु सर्वश्रेष्ठ अनुपान की वस्तु मानी जाती है। अनुग्रह करने वाला प्रधान और अनुगृहीत होने वाला अप्रधान होता है। चूँकि गुण द्रव्यों और रसों को अनुगृहीत करता है, अतः रसों की अपेक्षा गुण प्रधान होता है^१।

(३) विपाककारणत्व—शीत, स्निग्ध, गुरु और पिच्छिल द्रव्यों का विपाक गुरु होता है तथा लघु-रूक्ष-तीक्ष्ण और विशद द्रव्यों का मधुर विपाक होता है। रसों का कर्म विपाक पर निर्भर है^२ और विपाक गुणों पर निर्भर है। परम्परा सम्बन्ध से रस भी गुण पर ही निर्भर है। एवं गुण पर ही विपाक के निर्भर होने से गुण की प्रधानता सिद्ध होती है।

(४) संख्या की अधिकता^३—रसों की संख्या की अपेक्षा गुणों की संख्या अधिक है। अल्पसंख्यक से बहुसंख्यक प्रधान माना जाता है, अतः 'गुण' प्रधान हैं।

(५) प्रयोग की बहुलता^४—अनेक रूपों में जैसे—अभ्यङ्ग, प्रलेप, परिषेक अवगाहन आदि के रूप में शीत, उष्ण, स्निग्ध प्रभृति गुणों का उपयोग होता है। इस प्रकार अनेक रूपों में उपभोगयोग्य होने के कारण 'गुण' प्रधान हैं।

(६) कर्मबाहुल्य—रस आदि के साथ रहकर उनके कर्मों में सहयोग प्रदान करने के कारण गुण में अनेक प्रकार के कर्म देखने में आते हैं अतः कर्मों की विभिन्नता के कारण 'गुण' प्रधान हैं।

(७) विषयबाहुल्य—गुण के विषय (आश्रय द्रव्य) अनेक होने से गुण प्रधान हैं। जिसके विषय अनेक होते हैं, वह प्रधान होता है, अतः 'गुण' प्रधान है।

(८) उपदेश—आयुर्वेदीय ग्रन्थों में गुणों का प्रधान रूप से निर्देश किया गया है और उनके कार्यों को बतलाया गया है, अतः आतोपदेश होने से 'गुण' प्रधान हैं।

(९) अनुमान—कारण से कार्य का अनुमान होता है। शीत-उष्ण आदि गुणों से किसी द्रव्य के पित्तघ्न-वातघ्न आदि कर्मों का अनुमान होता है। इस प्रकार अनुमान का आधार होने के कारण 'गुण' प्रधान हैं।

१. गुणाः प्रधानाः गुणाद् रसानामभिभवात्, रसानभिभूय गुणाः स्वकार्य-मनिवर्तयन्ति। —भा. प्र.

२. पाको गुणायत्त इति तस्य प्राधान्यं दृष्टम्। —भा. प्र.

३. बाहुल्यात्। —रसवैशेषिक

४. बहुधोपयोगात्। —रसवैशेषिक

द्वन्द्वगुण-निरूपण

‘द्वन्द्व’ शब्द का अर्थ है—दो का जोड़ा । द्वन्द्व परस्पर समानधर्म वालों का और विरुद्धधर्म वालों का भी बनता है—जैसे, क्रमशः नर-नारायण और देव-दानव आदि । द्वन्द्व का दूसरा अर्थ होता है—स्पर्धा के साथ एक दूसरे को परास्त करने की भावना । जैसे—दो पहलवान कुश्ती लड़ने के लिए जब अखाड़ा में प्रवेश करते हैं, तो वे एक दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी होते हैं । युद्ध अर्थ में भी द्वन्द्व शब्द का प्रयोग होता है ।

आयुर्वेद में ये सभी अर्थ मान्य हैं, अतः एव जहाँ द्वन्द्वगुणों का वर्णन किया गया है, वहाँ परस्पर विपरीत गुणों का ही जोड़ा बैठाया गया है । जैसे—१. गुरु-लघु, २. शीत-उष्ण, ३. स्निग्ध-रूक्ष, ४. मन्द-तीक्ष्ण, ५. स्थिर-सर, ६. मृदु-कठिन, ७. विशद-पिच्छिल, ८. श्लक्ष्ण-खर, ९. सूक्ष्म-स्थूल, १०. सान्द्र-द्रव ये दश ‘द्वन्द्वगुण’ होते हैं ।^१ इनकी कुल संख्या अलग करने पर बीस होती है; इन्हें गुर्वादि गुण भी कहते हैं ।

ये द्वन्द्वगुण परस्पर विरोधी होने से एक दूसरे का ह्रास करते हैं । जैसे, शरीर के गुरुगुणयुक्त धातुओं के बढ़ जाने पर लघुगुण वाला आहार दिया जाने से उनका ह्रास होता है । चिकित्सा में सामान्य-विशेष नियम से इनके प्रयोग की उपयोगिता है ।

सांख्योक्त गुण-निरूपण

सांख्य शास्त्र में सत्त्व-रज और तम ये तीन गुण कहे गये हैं ।

सत्त्व, रजस् तथा तमस् गुणों के लक्षण और गुण

सत्त्व का लक्षण—सत्त्वगुण निर्दोष, शुद्ध और कल्याणकारक^२ होता है । यह सुखात्मक, प्रकाशात्मक^३, निर्मल^४ और ज्ञानप्रद होता है । सत्त्वगुण

१. तत्रैमे शरीरधातुगुणाः संख्यासामर्थ्यकराः । तद्यथा—गुरुलघु-शीतोष्ण-स्निग्धरूक्ष-मन्दतीक्ष्ण-स्थिरसर-मृदुकठिन-विशदपिच्छिल-श्लक्ष्णखर-सूक्ष्मस्थूल-सान्द्रद्रवाः । तेषु ये गुरवः, ते गुरुभिराहारविकारगुणैरभ्यस्यमानैराप्यायन्ते, लघवश्च ह्रसन्ति । लघवस्तु लघुभिराप्यायन्ते गुरवस्तु ह्रसन्ति । एवमेव सर्व-धातुगुणानां सामान्ययोगाद् वृद्धिविपर्ययाद्भासः ।

—च. शा. ६।१०

२. तत्र शुद्धमदोषमाख्यातं कल्याणांशत्वात् ।

—च. शा. ४।३६

३. सत्त्वं लघु प्रकाशकम् ।

—सां. का. १३

४. तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात् प्रकाशकमनामयम् ।

सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ॥

—गीता १४।६

से इन्द्रियों में प्रसन्नता और बुद्धि में प्रकाश होता है। इससे अहङ्कारशून्यता, समदर्शिता और धैर्यधारण की शक्ति मिलती है।

सत्त्व के गुण—आनन्द, प्रीति^१, श्रद्धा, सन्तोष, उदारता, क्षमा, अहिंसा सदाचार, दानशीलता और परोपकारिता ये सत्त्व के गुण हैं।

रजोगुण का लक्षण—यह चञ्चल^२, उत्तेजक, प्रवर्तक और दुःखात्मक होता है। यह रागात्मक^३, तृष्णाजनक एवं लोभ, अहंकार, हर्ष, शोक तथा असन्तोष को उत्पन्न करता है।

रजस् के गुण—चिन्ता, सन्ताप, चौर्य, कुटिलता, कठोरता, क्रोध, मद, मान, द्वेष और ऐश्वर्य ये सब राजस गुण हैं^४। इसमें रोष का अंश रहता है।

तमोगुण का लक्षण—यह विषादात्मक, नियामक, आलस्यजनक, निद्रा-तन्द्रा-भयजनक, अज्ञानजनक और विवेक का हरण करने वाला होता है।^५

तमस् के गुण—मोह, अज्ञान, असन्तोष, अरुचि, विवाद, प्रमाद और धर्म में द्वेष आदि तामस गुण हैं।^६

विमर्श—(१) सत्त्व निर्दोष होता है और उस गुण के आधिक्य होने से मनुष्य में ज्ञान, सदाचार, हर्ष और स्मृति होती है। (२) रजस् में रोष (क्रोध का अंश) होता है। जिसके कारण वह दोषयुक्त है, क्योंकि क्रोध सभी तरह के अनर्थों की जड़ है। क्रोधी व्यक्ति किसी भी प्रकार का दुष्कर्म कर सकता है। (३) तमस्, यह मोहांश (अज्ञानता) होने के कारण दोषयुक्त

१. प्रसादो हर्षजा प्रीतिरसंदेहो धृतिः स्मृतिः ।

एतान् सत्त्वगुणान् विद्यात् ॥—म. भा. शा. २१३।२२

२. 'उपष्टम्भकं चलं च रजः'—सां. का. १३ ।

उपष्टम्भक का अर्थ है—विभिन्न कार्यों में प्रवृत्त होने की प्रेरणा देने वाला, इसी गुण के कारण एक साँड़ दूसरे साँड़ को देखकर उसके साथ युद्ध की भूमिका में उतरने के लिए उतावला हो जाता है। यह अहङ्कार को जगाकर सक्रियता लाता है।

३. रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।

तन्निबध्नाति कौन्तेय ! कर्मसङ्गेन देहिनम् ॥

—गीता अ० १४

४. कामक्रोधी प्रमादश्च लोभमोहौ भयं क्लमः ।

—म० भा० शा० २१३।२३

५. तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।

प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥

—गीता १४।८

६. विषादशोकावरतिर्मानदप्राक्नार्यता । —म० भा० शा० २१३।२३

है, क्योंकि अज्ञानी व्यक्ति पशुवत्, विवेकशून्य होने के कारण उचित-अनुचित और कर्तव्याकर्तव्य-ज्ञानशून्य होता है। उसे कर्तव्यबोध नहीं होता।

सत्त्व, रजस् और तमस् के विस्तृत ज्ञान के लिए यहाँ मानस प्रकृतियों का वर्णन करना अभीष्ट है। मन तीन प्रकार का होता है—शुद्ध (सात्त्विक) राजस और तामस। इनमें शुद्ध (सात्त्विक) मन की ७ प्रकृतियाँ, राजस मन की छह प्रकृतियाँ और तामसमन की तीन प्रकृतियाँ होती हैं। कुल मिलाकर सोलह मानस प्रकृतियाँ (Sixteen Mental Constitutions) होती हैं।

गुणों के प्रीत्यादि लक्षण

सत्त्व गुण प्रीत्यात्मक (प्रसन्नताप्रद) रजोगुण-अप्रीत्यात्मक (दुःखप्रद) और तमोगुण विषादात्मक (मोहप्रद=अर्थात् असफलता के डर से काम में न लगने देने वाला) होता है।

गुणों के कार्य—सत्त्वगुण प्रकाशक (ज्ञानप्रद), रजोगुण प्रवृत्तिकर (कार्यों को करने की लूगन पैदा करने वाला) और तमोगुण-नियंत्रण कर्ता (प्रवृत्ति को रोकने वाला) होता है।

अन्योन्यवृत्तियाँ और गुण

तीनों गुण १. अन्योन्याभिभव २. अन्योन्याश्रय ३. अन्योन्यजनन ४. अन्योन्यमिथुन और ५. अन्योन्यवृत्ति होते हैं।

(१) **अन्योन्याभिभव**—अर्थात्-एक गुण दूसरे गुण को दबा देता है जैसे-जब 'सत्त्व गुण' प्रबल होता है, तो वह रजोगुण और तमोगुण को दबाकर प्रसन्नता तथा ज्ञान को बढ़ाता है। जब 'रजोगुण' प्रबल होता है, तो सत्त्व और तम को दबाकर दुःख एवं कार्यों की प्रवृत्ति को बढ़ाता है। जब 'तमोगुण' प्रबल होता है, तो रज और सत्त्व को दबाकर मोह तथा नियंत्रण करता है।

(२) **अन्योन्याश्रय**—ये गुण द्व्यणुक की तरह एक दूसरे के आश्रित रहते हैं, ऐसी स्थिति में 'सत्त्व गुण' प्रवृत्ति और नियमन के आश्रय से प्रकाश करता है। रजोगुण प्रकाश और नियमन के आश्रय से कार्यों में प्रवृत्ति करता है। तमो गुण प्रकाश और प्रवृत्ति के आश्रय से नियमन (रोकना) करता है।

(३) **अन्योन्यजनन**—ये गुण एक दूसरे को उत्पन्न करने वाले भी होते हैं जैसे—मिट्टी से घड़ा बनता है।

१. प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः ।

अन्योन्याभिभवाऽऽश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः ॥

(४) अन्योन्यमिथुन—जैसे-स्त्री-पुरुष एक-दूसरे के सहचर होते हैं, वैसे ये भी सहचर हैं और एक दूसरे के सहायक होते हैं। जब गुण एक-दूसरे के सहायक होकर रहते हैं, तभी सृष्टि चलती है। इनका न तो कभी आदि—संप्रयोग (अप्राप्तिपूर्वक प्रात्यात्मक संयोग) होता है, न तो वियोग ही होता है।

(५) अन्योन्यवृत्ति—ये गुण एक दूसरे में रहने वाले भी हैं। 'गुणाः गुणेषु वर्तन्ते'। जैसे एक सुन्दरी सुशीला स्त्री अपने सौन्दर्य से पति को आनन्दित करती है, किन्तु वही अपनी सौतों (सपत्नीजन) के लिए दुःखदायिनी होती है और प्रेमियों (रागियों) के लिए मोह उत्पन्न करने वाली होती है। (आनन्दित करना सत्त्व का, दुःख देना रजस् का और मोहजनकता तमस् का धर्म है)। इस प्रकार सत्त्वगुण, रजस् और तमस् वृत्ति का हेतु है। जैसे प्रजापालन में सदा उद्यत राजा दुष्टों का निग्रह करके सज्जनों को सुखी करता है, वही दण्डाहं दुष्टों के लिए दुःख और मोह का जनक होता है। इसी प्रकार रजोगुण सत्त्व और तमस् की वृत्ति का जनक है। इसी प्रकार तमोगुण भी अपने आवरणायत्मक (ढकने वाले) स्वरूप से सत्त्व और रजस् की वृत्ति को उत्पन्न करता है। जैसे बादल आकाश को आच्छादित कर संसार को सुखी करते हैं। कृषकों को कृषि सम्बन्धी उद्योग में प्रवृत्त करते हैं और विरहियों को मोह में डाल देते हैं। इस प्रकार ये गुण अन्योन्यवृत्ति वाले हैं।

चतुर्दश अध्याय कर्म-सामान्य-विशेष-समवाय-विज्ञान

कर्म-निरूपण

कर्म का लक्षण—आयुर्वेद-शास्त्र में कर्म शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ दिखायी देता है—जैसे—पञ्चकर्म, अदृष्ट (पूर्वजन्माजित दैव या भाग्य) और क्रिया । यहाँ क्रिया रूपी-कर्म का लक्षण लिखा जा रहा है—“जो द्रव्य में आश्रित होता है, गुण रहित होता है और संयोग-विभाग को उत्पन्न करने में दूसरे कारण की अपेक्षा नहीं करता, उसे ‘कर्म’ कहते हैं”^१ । प्रयत्न को कर्म कहते हैं^२ एवं किसी कार्य को सम्पन्न करने के लिए जो चेष्टा^३, कार्य या क्रिया की जाती है अथवा कार्य का आयोजन किया जाता है, वही ‘कर्म’ है^४ ।

कर्म के भेद

कर्म पाँच प्रकार के होते हैं—(१) उत्क्षेपण = ऊपर फेंकना, (२) अपक्षेपण = नीचे फेंकना, (३) आकुञ्चन = सिकुड़ना, (४) प्रसारण = फैलाना, (५) गमन = चलना^५ । गमन कर्म के अन्तर्गत भ्रमण, रेचन, स्पन्दन, ऊर्ध्व गमन और तिर्यग्गमन—इन पाँच कर्मों का भी समावेश जानना चाहिए अर्थात्—चक्कर लगाना, पिघलना, बहना, ऊपर जलना तथा तिरछा चलना ये सब गमन में गतार्थ हैं ।

विमर्श—आयुर्वेद शास्त्र का विषय चिकित्सा है और चिकित्सा के लिए

१. संयोगे च विभागे च कारणं द्रव्यमाश्रितम् ।

कर्तव्यस्य क्रिया कर्म, कर्म नान्यदपक्षते ॥ —च० सू० १।५२

२. प्रयत्नादि कर्म चेष्टितमुच्यते । —च० सू० १।४९

३. प्रवृत्तिस्तु चेष्टा कार्यार्था सैव क्रिया, प्रयत्नः, कार्यसमारम्भश्च ।

—च० वि० ८

४. कर्मत्वञ्च क्रियामात्रवृत्तिसत्ता साक्षाद्ब्याप्यजातिमत्वम् ।

५. उत्क्षेपणं ततोऽपक्षेपणमाकुञ्चनं तथा ।

प्रसारणं च गमनं कर्माण्येतानि पञ्च च ॥

भ्रमणं रेचनं स्पन्दोर्ध्वगमनमेव च ।

तिर्यग्गमनमप्यत्र गमनादेव लभ्यते ॥

—कारिकावली

‘द्रव्य-गुण’ शास्त्र की महती उपयोगिता है, क्योंकि इस शास्त्र के ज्ञान के बिना औषधि तथा उसके गुण-कर्म के विषय में जानकारी नहीं हो सकती और चिकित्सक अपने कार्य में कृतकार्य नहीं हो सकता। अपितु ‘द्रव्यगुण’ के ज्ञान के अभाव में वैद्य की स्थिति उपहासास्पद हो जाती है।

‘निषण्डुना विना वैद्यो विद्वान् व्याकरणं विना।

विनाभ्यासेन धानुष्कस्त्रयो हास्यस्य भाजनम् ॥’

अतः औषध के कर्म के विषय में यहाँ थोड़ी सी चर्चा आवश्यक प्रतीत होती है—आचार्य ‘सुश्रुत’ ने औषधियों के कर्म गिनाते हुए—वमन, विरेचन, संशोधन, संशमन, सांग्राहिक, अग्निदीपन, पीड़न, लेखन, वृंहण, रसायन, वाजीकरण, शोथकर, विलयन, दहन, दारण, मादन, प्राणघ्न तथा विषप्रशमन आदि कर्मों का उल्लेख किया है।

—सु० सू० ४०

द्रव्यों के कर्म की प्रक्रिया

शरीर में विभिन्न द्रव्य अपना कर्म किस ढंग से किस आधार पर करते हैं ? इस प्रश्न के समाधान के लिए आयुर्वेद के आचार्यों ने ‘पाँच महाभूत’ और ‘त्रिदोष सिद्धान्त’ को आधार माना है। आयुर्वेद ‘पुरुष’ और सृष्टि के समस्त पदार्थों को पाञ्चभौतिक^१ मानता है। त्रिदोष भी पंचमहाभूतों की ही रचना है। जब शरीर के पाँचभौतिक उपादानों में वृद्धि या ह्रास होता है, तो रोग होते हैं और इन पंचमहाभूतों की साम्यावस्था होने पर ‘स्वास्थ्य’ होता है। इस प्रकार ‘आयुर्वेदिक’ चिकित्सा का लक्ष्य है—बड़े हुए भूतों को घटाकर और घटे हुए भूतों को बढ़ाकर भूतों में साम्यत्व स्थापन करना। इस कार्य के लिये द्रव्यों का प्रयोग किया जाता है—क्योंकि द्रव्यों का भौतिक और रासायनिक संगठन वही है जो ‘चिकित्स्य पुरुष’^२ का है। इसलिए द्रव्यों का वास्तविक कर्म है—शरीर की पाञ्चभौतिक रचना को प्रभावित करना, जो कि द्रव्यों के पाञ्चभौतिक संगठन पर निर्भर है।

जब किसी द्रव्य का आहार किया जाता है और वह आमाशय में पहुँचता है, तब सर्वप्रथम उसके ऊपर जठराग्नि की क्रिया होती है, उसके बाद धात्वग्नि और भूताग्नि द्वारा उसका पाक होकर विभिन्न धातुओं एवं पाञ्चभौतिक रचनाओं का निर्माण होता है। द्रव्यों का भौतिक पाक होकर उसके भौतिक अंशों

१. सर्व द्रव्यं पाञ्चभौतिकं खलु अस्मिन्नर्थे।

—चरक २६।११

२. गुणाय उक्ता द्रव्येषु शरीरेष्वपि ते तथा।

स्थानवृद्धिक्षयास्तस्माद् देहिनां द्रव्यहेतुकाः।

—सु० सू० ४१

से शरीर के भौतिक अंशों का संयोग होता है और तदनुसार उनमें परिवर्तन होते हैं^१ ।

रसों के त्रिविध (मधुर, अम्ल, कटु) अवस्थापाकों के क्रम में तीनों अवस्थाओं में क्रमशः कफ-पित्त और वात की उत्पत्ति होती है । निष्ठापाक के पश्चात् जब रस का दोषों से सम्पर्क होता है, तब सामान्य-विशेष के नियम से उसके द्वारा दोषों की वृद्धि या ह्रास होता है । इस प्रकार विपाक से त्रिदोष में परिवर्तन होते हैं । त्रिदोष में परिवर्तन का आधार पाञ्चभौतिक ही है— क्योंकि दोषों का संगठन महाभूतों से होता है ।

द्रव्य का कर्म उसके पाञ्चभौतिक संगठन की न्यूनाधिकता पर निर्भर है । द्रव्य कहीं रस से, कहीं गुण से, कहीं विपाक से, कहीं वीर्य से और कहीं प्रभाव से कर्म करते हैं । रस की क्रिया अवस्थापाक तक होती है, उसके बाद रस को दबाकर विपाक अपना कर्म करता है । उत्कृष्ट शक्ति सम्पन्न होने के कारण वीर्य विपाक को दबा देता है और द्रव्यगत प्रभाव, रस, गुण, वीर्य, विपाक इन सबको अभिभूत कर अपना कर्म करता है । वास्तविकता यह है, कि द्रव्यगत रस, गुण, वीर्य, विपाक और प्रभाव, ये सभी कुछ-कुछ अंश में अपना-अपना कर्म करते हैं । औषध द्रव्यों की क्रिया द्रव्य और कोषाणुओं के बीच होने वाली रासायनिक प्रतिक्रिया पर निर्भर है और आयुर्वेद के अनुसार द्रव्यों का शरीर पर होने वाला परिणाम द्रव्यों के पाञ्चभौतिक गुणों के आधार पर होता है^२ ।

सामान्य-निरूपण

सामान्य का लक्षण—सामान्य अनेक पदार्थों में एकत्व^३ बुद्धि पैदा करने वाला पदार्थ है । भिन्न-भिन्न प्रदेशों में तथा भिन्न-भिन्न काल में रहने वाली 'यह गाय है' ऐसी एकता की बुद्धि (जो अनेक गायों में समानता उत्पन्न करने वाली) सामान्य पदार्थ है । 'तुल्यार्थता'^४ ही सामान्य है ।

परिभाषा—'जो नित्य एक तथा अनेक में अनुगत, समवाय सम्बन्ध से

१. पञ्चभूतात्मके देहे ह्याहारः पाञ्चभौतिकः ।

विपक्वः पञ्चधा सम्यग् गुणान् स्वानभिवर्धयेत् ॥ —सु०सू० ४६

२. रसदोषसन्निपाते तु ये रसाः यैर्दोषैः समानगुणाः समानगुणभूयिष्ठा वा भवन्ति ते तानभिवर्धयन्ति, विपरीतगुणा विपरीतगुणभूयिष्ठा वा शमयन्त्यभ्यस्यमानाः ।

३. सामान्यमेकत्वकरम् ।

—च० सू० १।४५

४. तुल्यार्थता हि सामान्यम् ।

—च० सू० १

रहता हो उसे सामान्य कहते हैं^१ एवं जिसके सहारे विभिन्न वस्तुओं में समानता की प्रतीति होती है, उसे सामान्य कहते हैं।^२ समान पदार्थों के धर्म को ही सामान्य कहते हैं—‘समानां भावः सामान्यम्।’ जैसे पृथ्वी का भाव पृथ्वीत्व है, जो सभी पार्थिव द्रव्यों में होता है। जिससे भिन्न द्रव्यों को एक जाति में गिना जाता है, वह पदार्थ सामान्य है। सामान्य अपनी जाति के सब विषयों में रहने वाला, अभिन्नात्मक यथा अनुवृत्ति प्रत्यय का कारण है^३। ‘अनुवृत्तिप्रत्यय’ ही अनुगतबुद्धि है, जिससे विभिन्न पदार्थों में समानता की बुद्धि होती है। सामान्य बुद्धि का कारण होता है^४।

सामान्य का वर्गीकरण

(१) सामान्य के दो भेद—सामान्य दो प्रकार का होता है—

(१) परसामान्य और (२) अपरसामान्य^५।

(क) परसामान्य—अधिक देश में रहने वाली जाति को ‘परसामान्य’ कहते हैं।

(ख) अपरसामान्य—अल्प देश में रहने वाली जाति को ‘अपरसामान्य’ कहते हैं, एवं इन दोनों के बीच में रहने वाली जाति को ‘परापरसामान्य’ कहते हैं।

द्रव्य, गुण, कर्म इन तीनों में पदार्थत्व जाति ‘परसामान्य’ है इसे ‘सत्ता’ भी कहते हैं क्योंकि—यह द्रव्यत्व आदि जातियों की अपेक्षा अधिक देश में रहने वाली जाति है। घटत्वादि, पृथ्वीत्वादि, द्रव्यत्वादि पर जातियों की अपेक्षा अल्प देश में रहने वाली जातियाँ हैं, अतः अपर हैं। द्रव्यत्वादि जातियाँ पर और अपर दोनों हैं, क्योंकि जिसकी अपेक्षा व्यापक है उसकी अपेक्षा पर हैं और जिसकी अपेक्षा व्याप्य है उसकी अपेक्षा अपर है। एक में दो धर्मों का रहना कोई दोष नहीं है। जैसे—एक ही व्यक्ति में पितृत्व, पुत्रत्व, पितामहत्व

१. नित्यत्वे सति अनेकसमवेतत्वम्।

—सिद्धान्तमुक्तावली

२. अनुवृत्तिप्रत्ययहेतुः सामान्यम्।

—तर्कभाषा

३. सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं बृद्धिकारणम्।

—च० सू० १।४४

४. सामान्यं द्विविधं प्रोक्तं परं चापरमेव च।

द्रव्यादित्रिकवृत्तिस्तु सत्ता परतयोच्यते ॥

परभिन्ना च या जातिः सैवाऽपरतयोच्यते।

द्रव्यत्वादिकजातिस्तु परापरतयोच्यते ॥

व्यापकत्वात् पराऽपि स्याद् व्याप्यत्वादरापि च।

—कारिकावली

आदि विरुद्ध धर्म रहते हैं। वस्तुतः जैसे ये सब धर्म सापेक्ष हैं, उसी प्रकार पर और अपर भी सापेक्ष होते हैं^१।

(२) सामान्य के तीन भेद—कतिपय आचार्य तीन प्रकार का सामान्य मानते हैं—(१) द्रव्यगोचर (२) गुणगोचर और (३) कर्मगोचर।

(क) द्रव्यसामान्य—जिन द्रव्यों में समानता होती है, वे द्रव्य अपने समान द्रव्य की वृद्धि करते हैं—‘सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम्।’ उदाहरण—मांस खाने से मांस बढ़ता है ‘मांसमाप्यायते मांसेन।’

(ख) गुणसामान्य—यह सामान्य एकता पैदा करने वाला होता है—‘सामान्यमेकत्वकरम्’। उदाहरण—जैसे शुक्र से भिन्न होने पर भी दूध माधुर्य गुण से शुक्र को बढ़ाता है^२।

(ग) कर्मसामान्य—समान कार्य करने वाला कर्म, कर्मसामान्य कहलाता है। उदाहरण—जैसे—आस्यारूप (बैठे रहना) कर्म कफ के समान न होने पर भी कफ को बढ़ाता है।

विमर्श—उपर्युक्त मत का खण्डन करते हुए ‘भट्टार हरिश्चन्द्र’ ने युक्ति पूर्वक कहा है—कि इन तीनों प्रकारों को ‘सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम्’ इस एक ही परिभाषा से गृहीत किया जा सकता है। इसलिए उक्त प्रकार के सामान्य के तीन भेदों के मानने में कोई युक्ति नहीं है।

(३) प्रकारान्तर से तीन भेद—अन्य आचार्य दूसरी दृष्टि से तीन प्रकार का सामान्य मानते हैं—(१) अत्यन्तसामान्य (२) मध्यसामान्य, और (३) एकदेशसामान्य। इनमें पहले की परिभाषा ‘सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम्’—दूसरे की परिभाषा—‘सामान्यमेकत्वकरम्’ तथा तीसरे की परिभाषा—‘तुल्यार्थता हि सामान्यम्’ है, किन्तु चक्रपाणि ने इस तीन प्रकार का विशेष मतलब का न होने से असंगत कहा है और उन्होंने किसी दूसरे आचार्य का मत प्रकट किया है।

(४) प्रकारान्तर से दो भेद—सामान्य एक अन्य दृष्टि से दो प्रकार का होता है—(१) उभयवृत्ति और (२) एकवृत्ति, जैसे—‘मांस-मांसवर्द्धक होता है’ यहाँ पोष्य और पोषक दोनों में उभयवृत्ति मांसत्व सामान्य है। एक-वृत्तिसामान्य का उदाहरण—जैसे—‘घृत अग्नि को बढ़ाता है’ (घृतमग्निकरम्), दौड़ने से वात की वृद्धि होती है (घावनकर्म वातकरम्) और बैठे रहना कफ कारक होता है (आस्या कफकरी) आदि है।

१. चरक संहिता, सूत्रस्थान १।४५ पर चक्रपाणि की टीका।

२. पयः शुक्रयोः भिन्नजातीययोरपि मधुरत्वादिसामान्यं तत्रैकतां करोति।

—च. सू. १।४५ पर चक्रपाणि टीका

नोट—घृत.....अग्नि, दौड़ना और वात, तथा बैठना और कफ, यह सब एक दूसरे के समान नहीं है ? ऐसी स्थिति में सामान्य से ही वृद्धि होती है, यह नियम मान्य नहीं है, अपितु असमान से भी वृद्धि होती है ? इस आशंका का समाधान करते हैं, कि असमान से भी वृद्धि नहीं होती है । क्योंकि ऐसा कहना सिद्धान्त और अनुभव के विरुद्ध है—अपितु जहाँ द्रव्य में सामान्य नहीं दृष्टिगोचर होता है वहाँ क्रियासामान्य और गुणसामान्य से वृद्धि का होना मानना चाहिए । जैसे—स्नेह होने पर भी कम मात्रा से घी अग्निवर्द्धक है । यदि घृतत्व सामान्य ही अग्निवर्द्धक होता, तो अधिक मात्रा में घी का प्रयोग अग्निमान्द्य क्यों करता है ? अतः मात्रापूर्वक प्रयोग गुण तथा क्रिया सामान्य होने पर वृद्धिकर होता है । इस प्रकार जहाँ कोई कारण दृष्टिगोचर न हो, वहाँ प्रभाव से वृद्धि मानी जाती है ।

सामान्य का विषय बहुत प्रपञ्च का विषय है । जिसके विस्तार को सीमा-बद्ध करना एक स्वतंत्र कार्य है । अतः अधिक न कह कर इसकी निर्दुष्ट परिभाषा का विशद विवेचन लिखकर इसे यहीं समाप्त किया जाता है ।

शंका—सामान्य के वृद्धिकारकत्व में सन्देह होता है ? वह यह कि यदि सामान्य वृद्धिकारक होता, तो गर्मी के दिनों में लस्सी शर्बत और विविध मिष्ठानों का बहुतायत से प्रयोग होने पर भी इनका माधुर्य गुण कफवर्धक क्यों नहीं होता ?

समाधान—वात यह है, कि ग्रीष्मकालीन गर्मी कफ की वृद्धि का प्रतिबन्धक है, इसलिए कफ नहीं बढ़ता, अतएव यह सिद्धान्त समझना चाहिए कि 'विरोधी के न रहने पर ही सामान्य वृद्धि का कारण होता है ।' 'असति च विरोधके सामान्यं वृद्धिकारणम्' इति सिद्धान्तः ।' जिस प्रकार द्रव्यसामान्य शरीर के पार्थिवादि धातुओं को बढ़ाते हैं और गुर्वादि गुण, धातुओं के गुरुत्व आदि गुण को बढ़ाते हैं । इसी तात्पर्य से कहा गया है कि—'सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम् ।'

विशेष-निरूपण

विशेष पदार्थ व्यावर्तक होता है । विशेष सामान्य का विपरीत है । यदि सामान्य वृद्धि का कारण होता है, तो इसके विपरीत विशेष ह्रास का कारण होता है । सामान्य एकत्वबुद्धि उत्पन्न करता है और विशेष पृथक्त्वबुद्धिजनक है । विशेष असमानता प्रकट करता है, यह विभेदक होता है—एक दूसरे से भेद का कारण होता है । यह नित्य द्रव्यों में रहता है और स्वयं भी नित्य है । विशेष नित्यद्रव्यों में अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु के परमाणु में तथा आकाश, काल, दिक्, मन और आत्मा में निवास करता है ।

विमर्श—विशेष की सत्ता और विशेष के प्रतिपादन के कारण कणाद दर्शन का नाम 'वैशेषिक दर्शन' पड़ा है। समान जाति के व्यक्तियों के पार्थक्य-बोध के लिए विशेष की कल्पना एक महत्त्वपूर्ण कल्पना मानी गयी है। खास करके चिकित्सा का यह सिद्धान्त है, कि सामान्य वृद्धिकारक होता है, इसलिए घटे हुए घातुओं को बढ़ाने के लिए सामान्य का प्रयोग होता है, उसी प्रकार बढ़े हुए को घटाने के लिए विशेष द्रव्यों का प्रयोग किया जाता है। जैसे—मेदस् को घटाने के लिए कफ और मेदस् के विसदृश, विपरीत विशेष आहार-विहार आदि की योजना की जाती है। जागरण, व्यवय, व्यायाम और चिन्तन आदि विहार मेदस् के गुण से विशेष होने के कारण मेदस् को घटाने में लाभप्रद होते हैं। इस प्रकार विशेष एक महत्त्वपूर्ण चिकित्सोपयोगी पदार्थ है। अतः आयुर्वेद में सामान्य एवं विशेष के ठीक-ठीक ज्ञान की महती उपयोगिता है। विशेष की परिभाषा को प्रकट करने के लिए व्यावृत्ति बुद्धि ही मापक है, जिसे विभिन्न ग्रन्थों में अनेक शब्दों में कहा गया है।

विशेष के भेद

यह सामान्य के ठीक विपरीत होता है। विशेष भी तीन प्रकार का माना गया है—(१) द्रव्यविशेष (२) गुणविशेष और (३) कर्मविशेष।

(१) द्रव्यविशेष—यह ह्रास (कम करना) का कारण होता है। 'ह्रासहेतुविशेषश्च'। जैसे—किसी के शरीर में यदि मांस की वृद्धि हो गई होती है, तो मांस को कम करने के लिये 'बढ़े हुए को घटाना चाहिए—'वृद्धाः ह्रासयितव्याः' के सिद्धान्त के अनुसार मांस के गुण के विपरीत गुण वाले द्रव्यों का प्रयोग किया जाता है। जैसे—अस्थि के विविध रूप, शंख, शुक्ति, कपर्दिका (कौड़ी) की भस्म, एवम् आहार में सांवा, कोद्रव (कोदों), जोन्हरी, टांगुन, बाजरा आदि का प्रयोग कराया जाता है।

द्रव्यविशेष का लक्षण है—'ह्रासहेतुविशेषश्च'।

१. विशेषस्तु पृथक्त्वकृत् । ह्रासहेतुविशेषश्च ।

विशेषस्तु विपर्ययः ।

—चरक० सू० १ (४४-४५)

विशेषो नित्यो नित्यद्रव्यवृत्तिः, व्यावृत्तिबुद्धिमात्रहेतुः । —तर्कभाषा

'सामान्यं विशेष इति बुद्धयपेक्षम्'

—वै० द० १ (२।३)

(सामान्य तथा विशेष इन दोनों में दो तरह की बुद्धि की अपेक्षा होती है। जब अनुगत बुद्धि (समानता का ज्ञान) होती है, तो सामान्य का ज्ञान होता है एवं जब व्यावृत्ति बुद्धि (पार्थक्य ज्ञान) होती है, तो विशेष का ज्ञान होता है।)

(२) **गुणविशेष**—एक दूसरे से पार्यव्य (अलगाव) का बोध कराने वाला ज्ञान 'गुणविशेष' कहलाता है। इसका लक्षण है—'विशेषस्तु पृथक्त्वकृत् ।' जैसे—शरीर में वायु की वृद्धि होने पर तैल का प्रयोग कराया जाता है, क्योंकि वायु में रुक्ष, शीत और लघु गुण होते हैं तथा तैल में स्निग्ध, उष्ण और गुरु गुण होते हैं, जो वायु के गुणों से विशेष (विपरीत) होने के कारण लगातार अभ्यास में लाने से वायु के विकार को शान्त करता है।

(३) **कर्मविशेष**—यह सामान्य के विपरीत होता है अर्थात् 'बैठना' रूपी कर्म कफ का सामान्य है, तो 'चलना' रूपी कर्म इसके विपरीत विशेष कहा जायेगा। इसका लक्षण है 'विशेषस्तु विपर्ययः'। जैसे—वायु चल है और जब वायु की वृद्धि हो जाती है, तो उसकी चंचलता के विपरीत रोगी को विश्राम कराया जाता है अथवा स्थिर कफ के बढ़ जाने पर कफ को कम करने के लिये धावन (दौड़ना) क्रिया कराई जाती है। इसी प्रकार आरामतलबी से होने वाले कफज प्रमेह रोग में सी योजन पैदल चलने और कुँआ खोदने आदि कफ नाशक कर्म लाभकर बतलाये गये हैं—'अधनस्तु योजनशतं गच्छेत्, कूपं वा खनेत्' (सु० चि० प्रमेह)

समवाय-निरूपण

परस्पर नित्य सम्बद्ध वस्तुओं का सम्बन्ध 'समवाय' कहलाता है अर्थात् अलग न रहने वाले पदार्थों का जो सम्बन्ध है वह 'समवाय' है। इस प्रकार घट^२ में कपाल का, द्रव्यों में गुण और कर्म का, अवयवी में अवयव का, जाति में व्यक्ति का, गुणी में गुण का, क्रियावान् में क्रिया का जो सम्बन्ध है उसे 'समवाय' कहते हैं।

१. (क) अयुतसिद्धयोः सम्बन्धः समवायः । —तर्कभाषा

(ख) तावेवायुतसिद्धौ द्वौ विज्ञातव्यौ ययोर्द्वयोः ।

अनश्यदेकमपराश्रितमेवावतिष्ठते ॥ —तर्कभाषा

(ग) अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूतानां यः सम्बन्धः इहेति प्रत्ययहेतुः

स समवायः । —वैशेषिक द०

२. घटादीनां कपालादी द्रव्येषु गुणकर्मयोः ।

तेषु जातेश्च सम्बन्धः समवायः प्रकीर्तितः ॥ —कारिकावली १।११

अवयवावयविनोः जातिव्यक्तयोः गुणगुणिनोः क्रियाक्रियावतोः नित्यद्रव्य-विशेषयोश्च यः सम्बन्धः स समवायः । समवायत्वं नित्यसम्बन्धत्वम् ।

—सिद्धान्तमुक्तावली

निष्कर्ष यह है—‘नित्य सम्बन्ध को समवाय कहते हैं।’ ‘इह इदम्’ (इसमें यह है) अवयव और अवयवी में जिसके कारण इस प्रकार की बुद्धि होती है, उसका नाम ‘समवाय’ है।

आधार ‘भूमि’ का आधेय ‘गुरु-लघु’ आदि के साथ जो अपृथक्भाव (एक साथ रहने का) सम्बन्ध है, उसको ‘समवाय’ कहते हैं। वह नित्य सम्बन्ध है, क्योंकि जहाँ भी द्रव्य है, वहाँ निश्चित रूप से गुण विद्यमान रहता है। इस प्रकार द्रव्यों के अन्दर अलग न हो सकने वाले आधाराधेय भाव से स्थित ‘इह प्रत्यय’^१ के सम्बन्ध को समवाय कहते हैं। (इह इदम्—इसमें यह है इस प्रकार का जो ज्ञान होता है, उसे ‘इह प्रत्यय’ कहते हैं)। जैसे—पृथ्वी में गन्ध गुण समवाय सम्बन्ध से रहता है, क्योंकि जहाँ कहीं भी पृथ्वी होगी वहाँ निश्चित रूप से गन्ध रहेगा।

विमर्श—यह समवाय सम्बन्ध आधार और आधेय भाव से अपृथक्भूत (अलग न होने वाला) होता है। यह दो वस्तुओं में रहने वाला नित्य-सम्बन्ध है। जैसे—पृथ्वी में गन्ध, जल में शीत, तेज में उष्ण, वायु में स्पर्श, आकाश में शब्द, आत्मा में सुख-दुःख का अनुभव, मन में रज-तम और अणुत्व-एकत्व, काल में शीत, उष्ण या समशीतोष्ण, दिशा में पूर्व-पश्चिम आदि का व्यवहार, ये गुण अपने-अपने द्रव्यों में समवाय सम्बन्ध से रहते हैं और नित्य हैं। जब तक द्रव्य की सत्ता रहती है, तब तक ये गुण उनमें रहते हैं और इनका सम्बन्ध भी नित्य है ‘यत्र हि द्रव्यं न तत्रानियतो गुणः’। आकाश द्रव्य नित्य है और उसमें रहने वाले शब्द गुण का सम्बन्ध नित्य होता है।

आश्रयद्रव्य के नाश से भी समवायसम्बन्ध का नाश नहीं होता, क्योंकि देखा है—कि गो व्यक्ति के नाश होने पर भी गोत्व सामान्य का नाश नहीं होता है।

कुछ लोग समवाय सम्बन्ध को नित्य और अनित्य दो प्रकार का मानते हैं, किन्तु यह सिद्धान्त ‘सर्वतन्त्र सिद्धान्त’ नहीं है। न तो इसे वैशेषिक दर्शन मानता है, न आयुर्वेद ही मानता है। आयुर्वेद का मत है—कि जहाँ द्रव्य है, वहाँ गुण अनियत नहीं होता अर्थात् द्रव्यों में गुण का होना यह एक निश्चित स्वभाव है और वह नित्य सम्बन्ध से रहता है। जैसा कि आचार्य चरक ने स्पष्ट शब्दों में कहा है—

समवायोऽपृथक्भावो भूम्यादीनां गुणैर्मतः।

स नित्यो यत्र हि द्रव्यं न तत्रानियतो गुणः ॥—चरक० सूत्र १।५०

पञ्चदश अध्याय

तत्त्व-विज्ञान

तत्त्व-निरूपण

तत्त्व शब्द का अभिप्राय सांख्यशास्त्र, आयुर्वेद किंवा अन्य शास्त्रों में वर्णित उन तत्त्वों से है, जिनके विस्तार से यह समस्त सृष्टि विकसित हुई है। तत्त्व शब्द विस्तार अर्थ वाली 'तनु-विस्तारे' धातु से बना है। अतः यह फैला हुआ संसार जिसके विशाल विस्तार से आवृत है, उसके मौलिक यथार्थ आधार को तत्त्व कहते हैं। तत्त्व शब्द की समीक्षा विभिन्न शास्त्रों में अनेक दृष्टि से की गयी है, जिन सबका वर्णन यहाँ अभिप्रेत नहीं है। इस स्थल में प्रधान रूप से सांख्य तथा आयुर्वेद सम्मत तत्त्व-विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है—

सृष्टि का क्रमिक विकास

आचार्य सुश्रुत के अनुसार विश्व के सभी स्थावर तथा जंगम पदार्थों की उत्पत्ति का एक मूल कारण है, जिसे 'मूलप्रकृति' या दूसरे शब्दों में 'अव्यक्त' कहते हैं। उसमें सत्त्व, रज और तम ये तीन गुण होते हैं और वह अव्यक्त, महान् अहङ्कार तथा शब्दतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा, रूपतन्मात्रा, रसतन्मात्रा और गन्धतन्मात्रा इन आठ रूपों वाला होता है। जिस प्रकार समुद्र अनेक जल जन्तुओं और नदी-नदों का आश्रय है, उसी प्रकार वह अव्यक्त भी अनेक आत्माओं का आश्रय है। उस अव्यक्त से सत्त्व, रज और तम के गुणों से युक्त महान् (बुद्धितत्त्व) उत्पन्न होता है। महान् से सत्त्व, रज, तम के लक्षणों से युक्त अहङ्कार का उत्पत्ति होती है और वह अहङ्कार (१) वैकारिक (२) तैजस और (३) भूतादि भेद से तीन प्रकार का होता है।

पुनः तैजस अहङ्कार की सहायता पाकर वैकारिक अहङ्कार से ग्यारह इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। उनमें से श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और घ्राण ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा वाणी, हस्त, उपस्थ, गुद और पाद ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ दोनों में गिनी जाती है।

तैजस अहङ्कार की सहायता पाकर भूतादि अहङ्कार से (१) शब्दतन्मात्रा (२) स्पर्शतन्मात्रा (३) रूपतन्मात्रा (४) रसतन्मात्रा और (५) गन्ध-तन्मात्रा—इन पाँच तन्मात्राओं की उत्पत्ति होती है। इन तन्मात्राओं से क्रमशः

शब्द से आकाश, स्पर्श से वायु, रूप से अग्नि, रस से जल और गन्ध से पृथ्वी, इन पाँच महाभूतों की उत्पत्ति होती है ।

इस प्रकार (१) अव्यक्त (२) महान् (३) अहंकार (४) ओत्र (५) त्वचा (६) नेत्र (७) जिह्वा (८) घ्राण (९) वाणी (१०) हस्त (११) उपस्थ (१२) गुद (१३) पाद (१४) शब्दतन्मात्रा (१५) स्पर्शतन्मात्रा (१६) रूपतन्मात्रा (१७) रसतन्मात्रा (१८) गन्धतन्मात्रा (१९) मन (२०) आकाश (२१) वायु (२२) अग्नि (२३) जल और (२४) पृथ्वी—इन २४ तत्त्वों की उत्पत्ति होती है^१ ।

विमर्श—यद्यपि उपर्युक्त सन्दर्भ का वर्णन सांख्यानुसारी आचार्य सुश्रुत के अनुसार है, किन्तु कतिपय स्थलों में सांख्य और आयुर्वेद का मतभेद है, जिसका दिग्दर्शन कराना आवश्यक है, जैसे—१. सांख्यदर्शन इन्द्रियों की उत्पत्ति अहंकार से मानता है और आयुर्वेद इनकी उत्पत्ति पंचमहाभूतों^२ से मानता है । २. सांख्य प्रकृति को अचेतन मानता है, परन्तु आयुर्वेद प्रकृति को चेतनायुक्त मानता है, ३. सांख्य प्रकृति को एक मानता है किन्तु आयुर्वेद षड्विध

१. सर्वभूतानां कारणमकारणं सत्त्वरजस्तमोलक्षणमष्टरूपमखिलस्य जगतः सम्भवहेतुरव्यक्तं नाम । तदेकं बहूनां क्षेत्रज्ञानामधिष्ठानं समुद्र इवौदकानां भावानाम् । तस्मादव्यक्तान्महानुत्पद्यते तल्लिङ्ग एव; तल्लिङ्गाच्च महत्तत्त्वलक्षण एवाहङ्कार उत्पद्यते, स त्रिविधो वैकारिकस्तैजसो भूतादिरिति, तत्र वैकारिकादहङ्कारात्तैजससहायात्तत्त्वलक्षणान्येवैकादशेन्द्रियाण्युत्पद्यन्ते, तद्यथा—ओत्रत्वक्-चक्षुर्जिह्वाघ्राणवाग्धस्तोपस्थपायुपादमनांसीति, तत्र पूर्वाणि पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि, इतराणि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि, उभयात्मकं मनः, भूतादेरपि तैजस-सहायात्तत्त्वलक्षणान्येव पञ्चतन्मात्राण्युत्पद्यन्ते, तद्यथा—शब्दतन्मात्रं, स्पर्शतन्मात्रं, रूपतन्मात्रं रसतन्मात्रं, गन्धतन्मात्रमिति, तेषां विशेषाः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः; तेभ्यो भूतानि व्योमानिलानलजलोर्व्यः; एवमेषा तत्त्वचतुर्विंशतिर्व्याख्याता ॥

—सु० शा० १।३-७

२. क-भौतिकानि चेन्द्रियाणि आयुर्वेदे वर्ण्यन्ते । —सु० शा० १।१४

ख-एकैकाधिकयुक्तानि सादीनामिन्द्रियाणि तु । —च० शा० १।२४

ग-घ्राणं गन्धश्च भौमं हि रूपं चक्षुश्च तैजसम् । —भे० सं० शा० १।२

घ-परं खादीन्यहंकारादुत्पद्यन्ते यथाक्रमम् ।

ततः सम्पूर्णसर्वाङ्गो जातोऽभ्युदित उच्यते ॥ —च० शा० १।६६

ङ-अहंकाराद् खादीनि ततः इन्द्रियाणि । —काश्यपसं० पृष्ठ ४५

प्रकृति^१ (अव्यक्त को उपादान कारण और शेष पाँच को निमित्त कारण) मानता है । ४. सांख्य सूक्ष्मदर्शी है और आयुर्वेद पृथुदर्शी है, जो सृष्टि को पाञ्चभौतिक मानता है एवं चिकित्सा शास्त्र का आधार पञ्चमहाभूत^२ को मानता है । यह सृष्टि तत्त्वों का ही विकसित स्वरूप है ।

पुरुष उपर्युक्त चौबीस तत्त्वों से युक्त कहा गया है—‘चतुर्विंशतिक इत्येष राशिः पुरुषसंज्ञकः’ (चरक० शा० १) । सांख्य अव्यक्त को अचेतन मानता है, इसलिए वह इन चौबीसों से अतिरिक्त सचेतन पुरुष को २५ वें तत्त्व के रूप में मानता है एवं योगदर्शन भी आयुर्वेद तथा सांख्य दोनों से भिन्न मत प्रकट करता है, वह ईश्वर को छब्बीसवाँ तत्त्व मानता है । आयुर्वेद चूँकि अव्यक्त (प्रकृति) को चेतन मानता है, इसलिए उसे अलग से किसी चेतन तत्त्व के मानने की आवश्यकता नहीं है एवं वह चतुर्विंशतितत्त्वात्मक पुरुष का निरूपण करता है ।

सांख्य के अनुसार प्रकृति और पुरुष के संयोग से ही इस संसार की सृष्टि होती है । इनमें प्रकृति जड़ और अचेतन है जब कि संसार जड़ चेतनमय है । उसकी उत्पत्ति केवल ‘प्रकृति’ से नहीं हो सकती, न तो प्रसवधर्म से हीन ‘पुरुष’ से ही सृष्टि की उत्पत्ति हो सकती है, अतः सृष्टि के लिए इन दोनों का संयोग अपेक्षित है । चेतन पुरुष की अध्यक्षता में जड़ प्रकृति सृष्टि का उत्पादन कर सकती है । इन दोनों का संयोग लंगड़े और अन्धे के साथ की तरह है^३ ।

१. क-अव्यक्तम् (प्रकृतिः) आत्मा, आत्मा ज्ञः ।

—च० शा० १।६१ तथा ५४

ख-वैद्यके तु—स्वभावमीश्वरं कालं यदृच्छां निर्याति तथा ।

परिणामं च मन्यन्ते प्रकृति पृथुदर्शिनः ॥

—सु० शा० १।११

२. “..... यस्मात् तेभ्यः पञ्चभूतारब्धभूतग्रामेभ्यः परं चिकित्सिते चिन्ता नास्ति । तदुक्तमाद्येऽध्याये—“तत्रास्मिन् पञ्चमहाभूतशरीरिसमवायः पुरुषः इत्युच्यते तस्मिन् क्रिया, सोऽधिष्ठानम् । कस्मात् ? लोकस्य द्वैविध्यात् लोको हि द्विविधः स्थावरो जङ्गमश्च तस्मिन् पुरुषः प्रधानं, तस्योपकरणमन्यत्” इति ।

तेन पञ्चमहाभूतारब्धस्यैव भूतग्रामस्य चिकित्सोपकरणत्वम् । अतो भूतेभ्यः परं यदव्यक्तादि तत्र चिन्ताऽपि नास्ति—इत्यादि ।

—सु० शा० १।१३ पर डल्हण टीका ।

३. पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य ।

पङ्गवन्धवन्दुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः ॥

—सां० का० २१

जैसे कि लँगड़ा देख सकता है पर चल नहीं सकता तथा अन्धा चल सकता है किन्तु देख नहीं सकता, जब लँगड़ा अन्धे के कन्धे पर सवार होता है और रास्ता बतलाता है, तो उसके निर्देशन पर अन्धा चलता रहता है। इस प्रकार दोनों का साहचर्य एक दूसरे की कमी को पूरा कर देता है। जिससे दोनों का ही कार्य व्यापार चल निकलता है। उसी प्रकार जड़ प्रकृति में अचेतनता के बावजूद सक्रियता है और पुरुष में निष्क्रियता के बावजूद चेतनता है, फलस्वरूप सक्रिय प्रकृति और चेतन पुरुष का जब संयोग होता है, तब सृष्टि का साधक उत्पादन कार्य चल पड़ता है। पुरुष प्रकृति के संयोग का इच्छुक इसलिए बना रहता है, कि वह उससे विवेकज्ञान प्राप्त कर मोक्ष (कैवल्य) की सिद्धि करता है। प्राचीन सांख्यदर्शन में प्रकृति पुरुष के अतिरिक्त काल को भी सृष्टि की उत्पत्ति में कारण माना गया है। प्राणियों के कर्मादिकों की फलोत्पत्ति का जब काल आता है, तब काल के कारण पुरुष के सान्निध्य से प्रकृति में क्षोभ उत्पन्न होकर सृष्टि होती है।

प्रकृति

प्रकृति सत्त्व, रज और तम की साम्यावस्था है। (सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः)। जब इन गुणों में वैषम्य होता है, तब सृष्टि का आरम्भ होता है। वैषम्य भाव उत्पन्न होने पर सत्त्व की प्रधानता रहती है, इसलिए प्रकृति से उत्पन्न महत् तत्त्व (बुद्धितत्त्व) में सत्त्वगुण की अधिकता होती है। प्रकृति-विकृति^१ में रजोगुण और तमोगुण का मिश्रण रहता है। भूत सृष्टि में तमोगुण की प्रधानता रहती है।

पुरुष के सान्निध्य से जड़ात्मिका प्रकृति में विकार उत्पन्न होता है। प्रथम विकृति का नाम 'महान्' (महत्तत्त्व) है, जो विश्व की उत्पत्ति में महद् बीज रूप है। इस महत्तत्त्व को बुद्धितत्त्व^२ भी कहते हैं। महत्तत्त्व से 'अहंकार' की उत्पत्ति होती है। अहंकार के अस्तित्व के ही कारण यह सब मेरे लिए है—मैं ही इस कार्य को करने का अधिकारी हूँ आदि लोकगत भावनाएँ अहंकार के फलस्वरूप ही हैं। गुणविषमता के कारण अहङ्कार तीन प्रकार का होता है— (१) वैकृत (सात्त्विक) (२) तैजस (राजस) और (३) भूतादि

१. 'प्रकृतिविकृतयः सप्त' अर्थात् महान्, अहंकार और पञ्चतन्मात्राएँ ये ७ प्रकृति-विकृति कहे जाते हैं।

—सां० का० ३

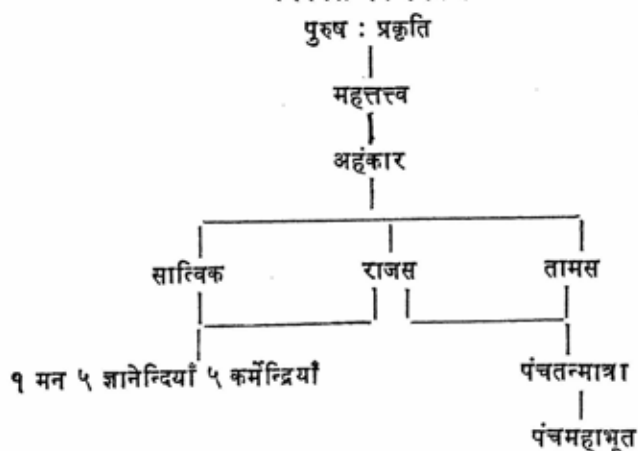
२. महान् इति बुद्धितत्त्वं, तच्च सत्त्वसमुद्रेकात्निर्मलस्फटिकोपलप्रख्यं चिच्छायासंक्रान्तिप्राप्तचैतन्यं पुरुषवन्नानात्मकमध्यवसेयविषयं निश्चितार्थ-कारणम्।

—सु० शा० १।४ पर डल्हन टीका

(तामसिक) । इनमें से तैजस रजोगुणात्मक होने से प्रेरक होता है और यह सात्त्विक तथा तामस इन दोनों के विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक है एवं सात्त्विक अहंकार से राजस अहंकार की सहायता ग्रहण कर एकादश इन्द्रियाँ (मन + पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ + पाँच कर्मेन्द्रियाँ) उत्पन्न होती हैं तथा तैजस, सहकृत तामस अहंकार से पंचतन्मात्राओं की उत्पत्ति होती है ।

तन्मात्राएँ इन्द्रियों से अग्राह्य होती हैं, वे शब्द स्पर्श, रूप, रस, गन्ध के अत्यन्त सूक्ष्मरूप हैं । अतिसूक्ष्म होने के कारण वे केवल योगीजनों को प्रत्यक्ष होती हैं । सामान्य जनों के लिए ये अनुमान के विषय हैं । तन्मात्राओं से पंच महाभूतों की उत्पत्ति होती है—(१) शब्द तन्मात्रा से शब्द गुण युक्त आकाश (२) शब्द सहित स्पर्श तन्मात्रा से शब्द-स्पर्श गुण युक्त वायु (३) शब्द-स्पर्श सहित रूप तन्मात्रा से शब्द-स्पर्श-रूप गुणवान् अग्नि (४) शब्द-स्पर्श-रूप सहित रस तन्मात्रा से शब्द-स्पर्श-रूप-रस गुणवान् जल और (५) शब्द-स्पर्श-रूप-रस सहित गन्ध तन्मात्रा से शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध गुणयुक्त पृथ्वी महाभूत की उत्पत्ति होती है ।

विकास का स्वरूप



विश्वसृष्टि का क्रमिक विकास

(दार्शनिक, वैज्ञानिक तथा आयुर्वेदिक दृष्टिकोण)

‘दृश्यते अनेनेति दर्शनम्’ इस व्युत्पत्ति से ‘जो शास्त्र जीवन को यथार्थ

१. प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तस्माद् गणश्च षोडशकः ।

तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि ॥

रूप से देखने और समझने की वास्तविक दृष्टि प्रदान करता है, उसे 'दर्शन' कहा जाता है। दर्शन शास्त्र सामान्य रूप से जीवन की प्रवृत्तियों तथा विशेष रूप से मनुष्य की इच्छा एवं ज्ञान शक्ति की मीमांसा करते हुए जीव और जगत् के यथार्थ स्वरूप, स्रोत तथा नियामक तत्त्वों का प्रामाणिक विवेचन प्रस्तुत करता है, इसलिए सबसे पहले दार्शनिक दृष्टिकोण से विचार करना युक्ति संगत होगा।

दार्शनिक दृष्टिकोण

दर्शन-शास्त्र मूलतः दो वर्गों में बंटे हुए हैं—जिनमें पहला आस्तिक दर्शन है और दूसरा नास्तिक दर्शन।

आस्तिक दर्शन (जो वेदमूलक है) ६ हैं। (१) पूर्वमीमांसा (२) उत्तरमीमांसा (वेदान्त) (३) सांख्य (४) योग (५) न्याय और (६) वैशेषिक दर्शन। नास्तिक दर्शन (जो वेदों को प्रमाण नहीं मानते हैं) तीन हैं— (१) चार्वाक (लोकायत) (२) जैन और (३) बौद्ध।

न्यायदर्शन—आस्तिक दर्शनों में न्यायशास्त्र^१ (आन्वीक्षिकी) को सम्पूर्ण विज्ञान का प्रकाशक तथा समस्त कर्मों का साधक कहा गया है। वस्तुतत्त्व की यथार्थता का प्रमाणों के द्वारा निर्धारण करना ही न्यायशास्त्र का लक्ष्य है। अतः सर्वप्रथम न्यायशास्त्र की दृष्टि से विचार प्रस्तुत किया जा रहा है—जब सृष्टि का प्रादुर्भाव होने को होता है, तब सबसे पहले चार महाभूतों की उत्पत्ति होती है और महाभूतों से सृष्टि का सारा विस्तार-जाल फैलता है। कार्य द्रव्यों की उत्पत्ति का क्रम इस प्रकार है—पहले दो-दो परमाणुओं में जीव के अदृष्ट और ईश्वर के प्रयत्न से क्रिया होती है, उस क्रिया से उन दो-दो परमाणुओं का संयोग होकर अनन्त द्व्यणुकों की उत्पत्ति होती है, जिन दो परमाणुओं से जिस द्व्यणुक की उत्पत्ति होती है, वे दो परमाणु उस द्व्यणुक के समवायिकारण होते हैं। इन दोनों परमाणुओं का परस्पर संयोग उस द्व्यणुक का असमवायिकारण होता है। उस द्व्यणुक से परम्परया जिन जीवों को भविष्य में सुख या दुःख होने को है उन जीवों का अदृष्ट—पाप-पुण्य (१) उस द्व्यणुक का प्रागभाव, (२) उस द्व्यणुक का रचयिता ईश्वर (३) उसके परमाणुओं को विषय करने वाला ईश्वर का ज्ञान (४) उसे उत्पन्न करने की ईश्वर की इच्छा (५) उसके निर्माण को सम्पन्न करने वाला ईश्वर

१. प्रत्यक्षागमाभ्यामिच्छितस्य अन्वीक्षणमन्वीक्षा। तथा प्रवर्तते इति आन्वीक्षिकी-न्यायविद्या—न्यायशास्त्रम्।
—न्यायभाष्यसूत्र १

का प्रयत्न (६) उसके निर्माण के अनुकूल काल (७) और देश (८) ये आठ उसके निमित्तकारण होते हैं ।

इन समवायिकारण, असमवायिकारण और निमित्त कारणों के सह सन्निधान (एक साथ होना) से द्व्यणुकों की उत्पत्ति होती है । द्व्यणुकों के जन्म हो जाने के बाद जीवों के अदृष्ट और ईश्वर के प्रयत्न से उन द्व्यणुकों में क्रिया उत्पन्न होती है । उस क्रिया से तीन-तीन द्व्यणुकों का संयोग होकर अनन्त त्र्यणुकों की उत्पत्ति होती है । इन त्र्यणुकों को त्रुटि या त्रसरेणु भी कहा जाता है । एक-एक त्र्यणुक में ६-६ परमाणु होते हैं । एक-एक त्र्यणुक के तीन-तीन द्व्यणुक समवायि कारण होते हैं और उन द्व्यणुकों का संयोग असमवायिकारण होता है, निमित्त कारण द्व्यणुकों के समान होते हैं । त्र्यणुकों का जन्म हो जाने के बाद उक्त रीति से उनमें भी क्रिया होती है, फिर उनकी क्रिया से चार-चार त्र्यणुकों का संयोग होकर अनन्त चतुरणुकों की उत्पत्ति होती है । एक-एक चतुरणुक के चार-चार त्र्यणुक समवायिकारण होते हैं । चार-चार त्र्यणुकों का संयोग एक चतुरणुक का असमवायि कारण होता है इसी प्रकार चतुरणुकों के संयोग से उनसे स्थूलतर द्रव्यों की और स्थूलतर द्रव्यों के संयोग से स्थूलतम द्रव्यों की उत्पत्ति होकर क्रम से महती पृथ्वी, महान् जल, महान् अग्नि और महान् वायु की उत्पत्ति होती है^१ ।

आचार्य चरक^२ ने भी इससे मिलता-जुलता मत प्रकट किया है (देखें चरक० शा० ४।८) । फिर इन महाभूतों से समस्त पाञ्चभौतिक सृष्टि का विकास होता है । सारांश यह है कि—न्यायशास्त्र की दार्शनिक दृष्टि इस विश्व-सृष्टि के मूल में परमाणु, आत्मा और ईश्वर इन नित्य पदार्थों की सत्ता स्वीकार करती है । जगत् का समवायि कारण परमाणु है और ईश्वर निमित्त कारण है । ईश्वरेच्छा होने पर एक परमाणु दूसरे परमाणु से मिलकर द्व्यणुक की उत्पत्ति करता है, एवं तीन द्व्यणुकों के संयोग से त्र्यणुक (त्रसरेणु)

१. तर्कभाषा (पं० बद्रीनाथशुक्लकृत टीका) ।

२. यथा—प्रलयात्यये सिंसृक्षुर्भूतान्यक्षरभूत आत्मा सत्त्वोपादानः पूर्वतर-माकाशं सृजति, ततः क्रमेण व्यक्ततरगुणान् धातून् वाय्वादिकांश्चतुरः, तथा—देहग्रहणेऽपि वर्तमानः पूर्वतरमाकाशमेवोपादत्ते, ततः क्रमेण व्यक्ततरगुणान् धातून् वाय्वादिकांश्चतुरः । सर्वमपि तु खल्वेतद् गुणोपादानमणुना कालेन भवति ।

(अत्र आकाशस्य जन्यत्वं सांख्यमतेनैव ज्ञेयमिति चक्रपाणिः)

की उत्पत्ति होती है और क्रमशः महाभूतों की सृष्टि के पश्चात् निखिल विश्व प्रपञ्च का विस्तार होता है ।

उत्तरमीमांसा (वेदान्त)—यह एक मात्र ब्रह्म को ही सत्य मानता है और जीव तथा जगत् की सत्ता को मिथ्या मानता है । 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या ।' ब्रह्म निर्गुण, निर्विकार, स्वप्रकाश, चैतन्य और अखण्ड कहा गया है, किन्तु जब वह माया संबलित (माया से युक्त) होता है, तब वह सगुण परमेश्वर कहलाता है । विश्व की सृष्टि का एकमात्र कारण यही सगुण ब्रह्म है । यही इस सांसारिक प्रपञ्च का स्रष्टा और नियन्ता है । यह जगत् अनन्त-अनन्त रहस्यों से परिपूर्ण है, उसमें अनन्त जीव हैं, उन जीवों के भिन्न-भिन्न कर्म हैं । उन जीवों के कर्मफलों के अनुसार उनकी व्यवस्था करना सामान्य-ज्ञान-सापेक्ष नहीं है । इसीलिए वह सगुण ब्रह्म सृष्टि-स्थिति का एकमात्र कारण तथा सर्वज्ञ सर्वान्तर्यामी और सर्वशक्तिमान् माना जाता है ।

पूर्वमीमांसा—यह निरीश्वरवादी सम्प्रदाय है । इनका कहना है, कि जीवों के कर्म से एक प्रकार की शक्ति उत्पन्न होती है, जिसे 'अपूर्व' कहते हैं, जीवों के व्यक्तिगत अपूर्व से उनके जन्म-जन्मान्तर के रूप का नियमन होता है और समस्त जीवों के 'अपूर्व' की समष्टि से कल्प-कल्प में सृष्टि का प्रादुर्भाव होता है । इनके अनुसार सृष्टि कोई कालिक घटना नहीं है, अपि तु सृष्टि और प्रलय इस अनन्त विश्व के निरन्तर प्रवर्तमान क्रम हैं । अतः सृष्टि-निर्माण या इसके संचालन के लिए ईश्वर का मानना व्यर्थ है । यह सम्प्रदाय जगत् के प्रवाह को अनादि और अनन्त मानता है ।

सांख्यदर्शन—यह दर्शन द्वैत मत का प्रतिपादक है । इसके अनुसार विश्व-सृष्टि की उत्पत्ति के मूल कारण त्रिगुणात्मिका प्रकृति और पुरुष ये दो तत्त्व हैं । इन्हीं के परस्पर सम्बन्ध से संसार की सृष्टि होती है । प्रकृति जड़ है, किन्तु सक्रिय है और पुरुष चेतन होते हुए भी निष्क्रिय है, तो फिर इन दोनों के संयोग से सृष्टि कैसे होती है ? इस प्रश्न के समाधान के लिए 'पङ्ख्यन्धन्याय' की उपमा दी जाती है अर्थात्—पङ्गु (लँगड़ा) चल नहीं सकता और जो चल सकता है, वह अन्धा होने के कारण देख नहीं सकता । ऐसी स्थिति में अन्धा लँगड़े को कन्धे पर बैठा लेता है और लँगड़ा रास्ता बतलाता है एवं अन्धा रास्ते पर चल पड़ता है । इस तरह दोनों मिलकर रास्ता तय कर लेते हैं तथा अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँच जाते हैं । इस प्रकार प्रकृति और पुरुष के संयोग से सृष्टि की उत्पत्ति वैसे ही होती है, जैसे—स्त्री पुरुष के संयोग से बच्चा पैदा होता है । (सृष्टि क्रम का वर्णन 'तत्त्व विज्ञान' के सन्दर्भ में विस्तार पूर्वक किया जा चुका है—इसे वहीं देख लें) सांख्यदर्शन अखिल

विश्व सृष्टि का मूल त्रिगुणात्मिका प्रकृति को मानता है। सत्त्व, रज और तम ये तीन गुण ही इस जगत् के उपादान कारण हैं, जो चेतन पुरुष के संयोग से क्षुब्ध होकर सजातीय एवं विजातीय तत्त्वों में परिणत हो जाते हैं। अतएव समस्त जगत् सुख-दुःख-मोहात्मक दृष्टिगोचर होता है। यह सारा जगत् इन तीन (सत्त्व, रज, तम) गुणों की विषमावस्था का प्रपञ्च है।

योगदर्शन—यह सांख्य के ही मत का प्रतिपादन करता है। सृष्टि के विषय में यह भी प्रकृति और पुरुष को ही कारण मानता है। यह सांख्य के २५ तत्त्वों के अतिरिक्त ईश्वर को मानता है। इस तरह योग में ईश्वर छब्बी-सवाँ तत्त्व माना गया है।

आयुर्वेद—यह सांख्य के अनुसार सृष्टि-क्रम को मानता है, किन्तु दोनों के क्रम में थोड़ा-बहुत अन्तर है, जैसे—सांख्य की प्रकृति (अव्यक्त) अचेतन है, जबकि आयुर्वेद 'अव्यक्त' को सचेतन मानता है। सांख्य का पुरुष २५ तत्त्वों वाला है और आयुर्वेद पुरुष को 'चतुर्विंशतिक' मानता है, एवं सांख्य इन्द्रियों को आहंकारिक मानता है और आयुर्वेद में इन्द्रियों को भौतिक माना गया है। फिर भी मूलतः दोनों में अव्यक्त को ही सृष्टि का उद्गम माना गया है।

चार्वाकदर्शन—यह दर्शन पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन चार भूतों से ही संसार की सृष्टि मानता है। इन चार महाभूतों के सम्मिश्रण से ही शरीर की उत्पत्ति तथा जैसे-हल्दी, चूना के संयोग से लालिमा उत्पन्न हो जाती है या समान घृत, मधु के संयोग से विष बन जाता है; उसी प्रकार चारों जड़ महाभूतों के सम्मिश्रण से शरीर में चैतन्य की उत्पत्ति मानते हैं। इनके मत से जगत् की उत्पत्ति स्वभावतः होती है।

जैनदर्शन—इस दर्शन के अनुसार जगत् अनादि काल से प्रचलित है और अनन्त काल तक इसकी धारा प्रवाहित होती रहेगी—यह सिद्धान्त माना गया है।

बौद्धदर्शन—यह जगत् को 'प्रतीत्यसमुत्पाद' पर आश्रित मानता है। अर्थात्—जगत् अपने कारणों के स्वभावानुसार चलता रहता है और वह किसी चेतन की अपेक्षा नहीं करता।

वैज्ञानिक दृष्टिकोण

'तैत्तिरीय उपनिषद्' के ब्रह्मानन्द वल्ली के प्रथम अनुवाक् में सबसे पहले आकाश महाभूत की उत्पत्ति बतलायी गयी है। आचार्य चरक ने भी 'गर्भावक्रान्ति' के सन्दर्भ में यह कहा है—कि गर्भ में प्रविष्ट आत्मा सर्वप्रथम आकाश

को ग्रहण करती है।^१ 'वाक्यप्रदीप'^२ में भी आकाश की प्रथम उत्पत्ति कही गयी है। 'छान्दोग्योपनिषद्' में भी कहा गया है कि—'आकाश से ही इस लोक के सभी स्थावर, जङ्गम पदार्थ उत्पन्न हुए हैं। आकाश की उत्पत्ति सर्वप्रथम हुई।'^३ यह सिद्धान्त प्राचीन होते हुए भी वर्तमानकालीन भौतिकविज्ञान-वादियों (Physicist) द्वारा समर्थित है—इनका कहना है, कि आकाश का ही परिणाम द्रव्य है, अर्थात् द्रव्य आकाश का रूपान्तर मात्र है^४। संसार के सभी द्रव्य धनविद्युत्पिण्ड (Protons) और ऋणविद्युत्पिण्ड (Electrons) से बने हुए हैं। जिस प्रकार रज्जुग्रन्थि रज्जु का ही परिणाम और वह रज्जु परिणाम होने पर भी एक स्थान से दूसरे स्थान पर जा सकता है। उसी प्रकार आकाश का परिणाम यह पिण्डद्वय एक स्थान से दूसरे स्थान पर जा सकते हैं^५।

एवं आकाश ही विश्वसृष्टि का आदिम मूल है। सभी भूतों का आरम्भक होने से इसे कारणाकाश भी कहा जाता है।

विमर्श—ऊपर के सन्दर्भों से यह स्पष्ट हो गया है, कि शब्द तन्मात्रा या

१. स गुणोपादानकालेऽन्तरिक्षं पूर्वतरमन्येभ्यो गुणेभ्य उपादत्ते।

—च. शा. ४।८

२. आकाशात् सर्वमूर्तयः।

—वाक्यप्रदीप

३. सर्वाणि ह इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते, आकाशं प्रत्यस्तं यान्ति, आकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायानाकाशः परायणम्। —छान्दोग्योपनिषद्

4. Every thing in the material universe consist of ether and matter itself being in all probelity one of its modi-fications. Familiar thing that we call matter is after all a manifastration of ether and energy.

5. Matter is composed of ether, being built up of clectrons and protons, whose constitution has not yet been as certained but which some how is constructed of ether perhaps. In some sense analogous to that in which a knot in piece of string is constructed of string or a vertex in air is composed of air or a fibre or muscle is still assencially flash. Yet modified piece of ether like an electron can move from one place to another. The analogy of loose knot stepping along string may be helpfull.

—Encyclo Brit ether.

सूक्ष्माकाश ही महदाकाश तथा वायु आदि सभी महाभूतों का मूलकारण है। इसी आधार से प्रकृतिगत स्पर्शतन्मात्रा आदि की सहायता पाकर क्रमशः वायु आदि की उत्पत्ति या उनका विकास हुआ है। 'विष्णुपुराण' में भी भूतोत्पत्ति के वर्णन के प्रसंग में कहा गया है, कि भूतादि के सृष्टि क्रम में प्रथम शब्द-तन्मात्रा की उत्पत्ति हुई, जिससे शब्दलक्षण वाला सुषिर आकाश उत्पन्न हुआ। 'छान्दोग्योपनिषद्' में भी एक प्रश्नोत्तर मिलता है? जिसमें पूछा गया है—कि इस लोक (मर्त्यलोक) का आश्रय कौन है? जिसके उत्तर में कहा गया है कि 'आकाश है' क्योंकि आकाश से ही इस लोक के सभी स्थावर जंगम पदार्थ उत्पन्न हुए हैं और आकाश में ही लीन हो जाते हैं। इसी कारण आकाश इन स्थावर और जंगम पदार्थों से श्रेष्ठ है। एवं आकाश ही सब भूतों का मुख्य आश्रय है। स्मृति ग्रन्थों^१ में भी सर्वप्रथम आकाश की सृष्टि का उल्लेख है। ऋग्वेद^२ के नारदीय सूक्त के एक मन्त्र से भी यही बात सिद्ध होती है कि सृष्टि के अन्तकाल में सभी पदार्थ आकाश में लीन हो जाते हैं। निर्वाणतन्त्र^३ में भी इसी तरह की बात कही गयी है।

भारतीय दार्शनिकों ने आकाश को भावात्मक और अतिसूक्ष्मतत्त्व माना है। जिस प्रकार प्रशान्त सरोवर में डेला फेंकने पर जल में तरङ्गों की उत्पत्ति होती है और वे तरंगें छोर तक पहुँच जाती हैं। उसी प्रकार सूक्ष्मातिसूक्ष्म आकाश में भी शब्द की तरंगें उत्पन्न होती हैं। आकाश में अवरोध (रूकावट) तथा संघर्षगुणात्मक स्पर्शगुण का एकदम अभाव होने के कारण ये तरंगें अबाध गति से सब दिशाओं में प्रसारित होती रहती हैं। अतएव आधुनिक 'वायरलेस टेलीग्राफी' नामक यन्त्र की सहायता से इन शब्दों को हम आप सुन रहे हैं। दूरस्थ व्यक्ति भी कभी-कभी जो हमारे मानसिक शब्दों से प्रभावित दीख पड़ते हैं उसमें भी यह आकाशतत्त्व ही कारण है। स्पर्श आदि समस्त गुणों से रहित शब्दमात्र गुण वाले इस आकाश में ही सारा ब्रह्माण्ड निमग्न प्रतीत होता है। इसी आकाश द्रव्य से सुदूरवर्ती सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी आदि

१. पुरास्तिमितमाकाशमनन्तमचलोपमम् ।

नष्टचन्द्रार्कपवनं प्रसुप्तमिव सम्बभौ ॥

—स्मृतिग्रन्थ

२. नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत् ।

—ऋग्. ना.

३. मही संलीयते तोये तोयं संलीयते रवौ ।

रविः संलीयते वायौ वायुर्नभसि लीयते ॥

पञ्चतत्त्वात् भवेत्सृष्टिस्तत्त्वे तत्त्वं विलीयते ॥

—निर्वाणतन्त्र

परस्पर सम्बद्ध हैं। पृथ्वी का जीवन-समूह सूर्य का प्रकाश, विद्युत, चुम्बक तथा आकर्षण शक्ति आकाश द्वारा ही एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते हैं। यदि यह आकाश अभावात्मक होता तो बाहक के अभाव में उक्त पदार्थों का एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना असम्भव था। आकाश में सत्त्वगुण की अधिकता है—‘सत्त्वबहुलमाकाशम्’—(सुश्रुत)। सूक्ष्म और लघु इसके भौतिक गुण हैं। आकाश के विभुत्व (सर्वगतत्व) का सिद्धान्त अतिप्राचीन है। एटम (Atom) के घटक धनविद्युत्पिण्ड और ऋणविद्युत्पिण्ड के मध्य में भी आकाश रहता है। अखिल भूतों का आरम्भक होने से वह ‘कारणाकाश’ इस पाँचभौतिक विश्व का मूलकारण है एवं पञ्चभौतिक मूर्त द्रव्यों में स्थित आकाश ‘कार्याकाश’ है।

चरकानुमत चौबीस तत्त्व—आचार्य चरक ने एक सूत्र से अतिसंक्षेप में चौबीस तत्त्वों वाले पुरुष को बतलाया है^१—

‘मनोदशेन्द्रियाण्यर्थाः प्रकृतिश्चाष्टधातुकी’। अर्थात्—मन, दस इन्द्रियाँ, पाँच अर्थ और आठ धातुओं वाली प्रकृति यह सब मिलकर चौबीस तत्त्व होते हैं और इनकी संज्ञा है—‘चतुर्विंशतिक पुरुषः’।

चौबीस तत्त्वों का विवरण—(१) अव्यक्त (२) महान् (३) अहंकार (४) आकाश (५) वायु (६) अग्नि (७) जल (८) पृथ्वी (९) श्रोत्र (१०) त्वचा (११) नेत्र (१२) जिह्वा (१३) नासिका (१४) वाणी (१५) हस्त (१६) गुद (मलमार्ग) (१७) उपस्थ (मूत्र मार्ग) (१८) पाद (चरण) (१९) मन (२०) शब्द (२१) स्पर्श (२२) रूप (२३) रस (२४) गन्ध । इन चौबीस तत्त्वों को चरक ने माना है।

इनमें अव्यक्त, महान्, अहंकार और पंचमहाभूत इनको मूलप्रकृति तथा पाँच ज्ञानेन्द्रिय (श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, घ्राण), पाँच कर्मेन्द्रिय (वाक्-पाणि, पाद, गुद, उपस्थ), ज्ञान-कर्मेन्द्रिय मन तथा पाँच अर्थ (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) इन्हें विकार कहा गया है। इस प्रकार आठ ‘भूतप्रकृति’ और सोलह विकारों का समुदाय ‘चतुर्विंशति तत्त्व’ कहा जाता है।

नोट—चरक ने तत्त्व के लिए धातु शब्द का प्रयोग किया है और धातु भेद से पुरुष को चतुर्विंशतिक माना है। चरक ने अव्यक्त को चेतन माना है, जब कि सांख्य ने इसे अचेतन स्वीकार किया है। इसी कारण सांख्य २५ तत्त्व मानता है एवं पुरुष को भी पंचविंशतिक कहा है।

१. पुनश्च धातुभेदेन चतुर्विंशतिकः स्मृतः ।

मनो दशेन्द्रियाण्यर्थाः प्रकृतिश्चाष्टधातुकी ॥

—च. शा. १।१७

विमर्श—सांख्यदर्शन जिस पुरुष को २५ वाँ तत्त्व मानता है, आयुर्वेद उसे अलग न मानकर अव्यक्त पद से ही इसका ग्रहण कर लेता है, एवं आयुर्वेद प्रकृति और पुरुष दोनों को एक ही मानता है। इसलिए वह चौबीस तत्त्वों को ही मानता है। वस्तुतः सृष्टि में पुरुष कुछ भी काम नहीं करता, अतः आयुर्वेद इसकी गणना नहीं करता, सांख्य वाले भी पुरुष को सृष्टि में कारण नहीं मानते, अचेतन प्रकृति कार्य करने में असमर्थ होती है, इसलिए पुरुष का संयोग आवश्यक बताकर उसकी भी गणना कर लेते हैं। जैसे—

“पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य ।

पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः ॥” —(सां० का०)

प्रकृति अचेतन और अज्ञ है, उसे जगत् का उत्पत्तिरूप कार्य के सम्पादन के लिए पुरुष का दर्शन (संयोग) आवश्यक है। पुरुष चेतन एवं ज्ञ होते हुए भी निष्क्रिय होता है, अपने मोक्ष के लिए उसे भी प्रकृति का संयोग अपेक्षित होता है। अतः दोनों के संयोग से सृष्टि की उत्पत्ति होती है। जैसे—अन्धे और लंगड़े का संयोग होने पर यथेष्ट दिशा में वे गमनागमन में समर्थ होते हैं। यह प्रकृति अज्ञ होने से अन्धी और पुरुष निष्क्रिय होने से लंगड़ा है। पुरुष को निष्क्रिय बताकर सांख्यवाले भी सृष्टि का कारण चौबीस तत्त्व ही मानते हैं, किन्तु प्रकृति पुरुष दोनों का संयोग होने पर ही प्रकृति कार्य आरम्भ करती है। अतः संयोगमात्र से वे पचीस तत्त्व माने हैं।

आठ प्रकृतियाँ—१. अव्यक्त २. महान् ३. अहंकार ४. आकाश ५. वायु ६. अग्नि ७. जल और ८. पृथ्वी (पंचमहाभूत) ये आठ (भूत) ‘प्रकृति’ कहे गये हैं।

विमर्श—‘प्रकृति’ उसे कहते हैं, जो किसी तत्त्व को उत्पन्न करे। इस कारण वाचक अर्थ में यहाँ प्रकृति का प्रयोग किया गया है, न कि ‘सत्त्व, रज, तम की साम्यावस्था’^२ के अर्थ में। क्योंकि यह लक्षण केवल अव्यक्त के लिए लागू होता है। जब कि ‘प्रकरोति इति प्रकृतिः’ यह लक्षण आठों (भूत प्रकृतियों) पर लागू होता है। जैसे अव्यक्त महान् को महान् अहंकार को और अहंकार पञ्चतन्मात्रा को और पञ्चतन्मात्राएँ पञ्चमहाभूतों को पैदा करती हैं।

प्रकृति के भेद—प्रकृति के दो भेद हैं—१. मूलप्रकृति (अव्यक्त) और २. प्रकृतिविकृति।

१. प्रकरोतीति प्रकृतिः । तत्त्वान्तरोपादानत्वं प्रकृतित्वम् ।

२. सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः ।

१. प्रथम भेद को मूलप्रकृति कहते हैं, जो दूसरे तत्त्वों को उत्पन्न करती है, किन्तु स्वयं किसी से उत्पन्न नहीं होती। इस भेद में केवल “अव्यक्त” आता है।

२. दूसरे भेद को ‘प्रकृति-विकृति’ कहते हैं। इस भेद के तत्त्व अन्य तत्त्वों को उत्पन्न करते हैं तथा स्वयं दूसरे तत्त्व से उत्पन्न होते हैं, इसलिए ये ‘प्रकृति विकृति’^१ कहे जाते हैं।

चरक^२ और सुश्रुत^३ दोनों संहिताओं में आठ प्रकृतियाँ कही गयी हैं। किन्तु अन्तर यह है, कि सुश्रुत ने पंचतन्मात्राओं को गिना है, तो चरक ने उनकी जगह पंचमहाभूतों को माना है।

सोलह विकार^४—श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा और घ्राण ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, वाणी, हाथ, पैर, मलमार्ग और मूत्रमार्ग ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ, ज्ञान-कर्मेन्द्रियाँ मन और शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये पाँच अर्थ—ये सोलह ‘विकार’^५ कहे जाते हैं।

विमर्श—जो किसी अन्य तत्त्व को उत्पन्न नहीं करता, परन्तु स्वयं अन्य तत्त्व से उत्पन्न होता है, उसे ‘विकार’ कहते हैं। इस विभाग में उपरोक्त प्रकार से ग्यारह इन्द्रियाँ तथा पंचमहाभूत मिलाकर १६ तत्त्व समाविष्ट हैं। चूँकि आयुर्वेद इनसे आगे किसी तत्त्व को नहीं मानता, इसलिए इनकी संख्या १६ है।

यहाँ यह विचारणीय है, कि विद्वान् लोग सृष्टि का अवलोकन करके उसकी रचना, उत्पत्ति और कार्यक्षमता इत्यादि के सम्बन्ध में अनेक कल्पनाएँ करते थे और उनके अनेक पक्ष बन गये थे, जैसे—१. अधिभूत पक्ष २. अध्यात्म पक्ष ३. अधिदैवत पक्ष। अधि शब्द का अर्थ है—तद् विषयक तदधिष्ठित या तदधिकृत्य (उसके सम्बन्ध में)। अधिभूत अर्थात् भूतों में विद्यमान

१. तत्त्वान्तरोपादानत्वे सति कार्यत्वं प्रकृतिविकृतित्वम् ।

२. खादीनि बुद्धिरव्यक्तमहङ्कारस्तथाष्टमः ।

भूतप्रकृतिरुद्दिष्टा ॥

—च० शा० १।६३

३. अव्यक्तं महान् अहङ्कारः पञ्चतन्मात्राणि च इत्यष्टौ प्रकृतयः ।

—सु० सू० १।५

४. बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चैव पञ्च कर्मेन्द्रियाणि च ।

समनस्काश्च पञ्चार्था विकारा इति संज्ञिता ॥

—च० शा० १।६५

५. तत्त्वान्तराजनकत्वे सति जन्यत्वं विकारत्वम् ।

शब्दस्पर्शादि । अध्यात्म अर्थात् शरीर में वर्तमान श्रोत्र आदि । आधिदैवत् अर्थात्-देवताओं में विद्यमान दिशा आदि ।

अधिभूत पक्ष का कहना है कि सब सृष्टि पञ्चमहाभूतात्मक होने से भूतों के सिवाय कोई दूसरा तत्त्व नहीं है । अध्यात्म पक्ष का कथन है, कि पञ्चमहा-भूतात्मक जड़ सृष्टि कुछ नहीं कर सकती, जैसे—मनुष्य के शरीर में आत्मा है, वैसे ही प्रत्येक पदार्थ में आत्मा के समान एक सूक्ष्म चैतन्ययुक्त शक्ति निवास करती है, जो उस पदार्थ का वास्तविक स्वरूप होती है । आधिदैवत पक्ष का कथन है, कि प्रत्येक जड़ पदार्थ में कोई देवता होता है, जो उसका वास्तविक रूप है, जैसे सूर्य जड़ है, परन्तु उसमें अधिष्ठाता सूर्य देवता होता है, जो प्रकाशादि का कार्य करता है । इन आधिदैवत, अध्यात्म और अधिभूत पक्षों की दृष्टि से एक ही विवेचन के भिन्न-भिन्न प्रकार कैसे होते हैं ? इसका स्पष्टीकरण आचार्य सुश्रुत ने किया है—इन तत्त्वों का अपना-अपना विषय आधिभूत होता है । तत्त्व स्वयं आध्यात्मिक है और आधिदैवत अलग-अलग है, जैसे—बुद्धि का ब्रह्मा और अहंकार का ईश्वर, मन का चन्द्रमा, श्रोत्र की दिशाएँ, त्वचा का वायु, नेत्र का सूर्य, जिह्वा का जल, घ्राण की पृथ्वी, वाणी का अग्नि, हाथों का इन्द्र, पैरों का विष्णु, मलमार्ग का मित्र और जननेन्द्रिय का आधिदैवत प्रजापति है^१ ।

१. स्वः स्वश्चैषां विषयोऽधिभूतं, स्वयमध्यात्मं, आधिदैवतं तु बुद्धेर्ब्रह्मा अहङ्कारस्येश्वरः, मनसश्चन्द्रमा, दिशः श्रोत्रस्य, त्वचो वायुः, सूर्यश्चक्षुषः रसन-स्यापः पृथिवी प्राणस्य, वाचोऽग्निः, हस्तयोरिन्द्रः, पादयोर्विष्णुः पायोर्मित्रः, प्रजापतिरुपस्यस्येति ।

—सु० शा० १।६

महाभारत के शान्तिपर्व में इसका बड़ा ही स्पष्ट विवरण है—

पादावध्यात्ममित्याहुर्ब्राह्मणास्तत्त्वदर्शिनः ।

गन्तव्यमधिभूतञ्च विष्णुस्तत्राधिदैवतम् ॥ १ ॥

पायुरध्यात्ममित्याहुर्गयातत्त्वार्थदर्शिनः ।

विसर्गमधिभूतञ्च मित्रस्तत्राधिदैवतम् ॥ २ ॥

उपस्योऽध्यात्ममित्याहुर्गयायोगप्रदर्शिनः ।

अधिभूतं तथाऽऽनन्दी देवतञ्च प्रजापतिः ॥ ३ ॥

हस्तावध्यात्ममित्याहुर्गयासांख्यानिदर्शिनः ।

कर्तव्यमधिभूतञ्च इन्द्रस्तत्राधिदैवतम् ॥ ४ ॥

वागध्यात्ममिति प्राहुर्गयायोगनिदर्शिनः ।

वक्तव्यमधिभूतञ्च वह्निस्तत्राधिदैवतम् ॥ ५ ॥

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ-निरूपण

महान्, अहंकार, पञ्चमहाभूत (पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश), पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ (श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, घ्राण), पाँच कर्मेन्द्रियाँ (वाणी, हाथ, पैर, मूत्रमार्ग, मलमार्ग), ज्ञान-कर्मेन्द्रिय मन और पाँच अर्थ (रूप, रस, स्पर्श, शब्द, गन्ध) इन तेईस तत्त्वों को 'क्षेत्र'^१ कहते हैं। इसे ही व्यक्त और ऐन्द्रियक भी कहते हैं, क्योंकि यह सब इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य है।

पूर्वोक्त कथनानुसार तेईस तत्त्वात्मक 'क्षेत्र' के ज्ञाता को 'क्षेत्रज्ञ'^२ कहा जाता है; उसे ही अव्यक्त या आत्मा कहते हैं। उसे शाश्वत, विभु और अव्यय कहा गया है।

चक्षुरध्यात्ममित्याहुर्ग्रन्थाश्रुतिनिर्दिशिनः ।

रूपमत्राधिभूतन्तु सूर्यश्चाप्यधिदैवतम् ॥ ६ ॥

जिह्वामध्यात्ममित्याहुर्ग्रन्थाश्रुतिनिर्दिशिनः ।

रस एवाधिभूतन्तु आपस्तत्राधिदैवतम् ॥ ७ ॥

श्रोत्रमध्यात्ममित्याहुर्ग्रन्थाश्रुतिनिर्दिशिनः ।

शब्दस्तत्राधिभूतन्तु दिशस्तत्राधिदैवतम् ॥ ८ ॥

घ्राणमध्यात्ममित्याहुर्ग्रन्थाश्रुतिनिर्दिशिनः ।

गन्ध एवाधिभूतन्तु पृथिवी तत्राधिदैवतम् ॥ ९ ॥

त्वगध्यात्ममिति प्राहुस्तत्त्वबुद्धिविशारदाः ।

स्पर्शमेवाधिभूतन्तु पवनश्चाधिदैवतम् ॥ १० ॥

मनोऽध्यात्ममिति प्राहुर्ग्रन्थाशास्त्रविशारदाः ।

मन्तव्यमधिभूतन्तु चन्द्रमाश्चाधिदैवतम् ॥ ११ ॥

अहङ्कारिकमध्यात्ममाहुस्तत्त्वनिर्दिशिनः ।

अभिमानोऽधिभूतन्तु बुद्धिश्चात्राधिदैवतम् ॥ १२ ॥

बुद्धिरध्यात्ममित्याहुर्ग्रन्थावदभिर्दिशिनः ।

बोद्धव्यमधिभूतन्तु क्षेत्रज्ञश्चाधिदैवतम् ॥ १३ ॥

—महाभारत शान्तिपर्व अ० ३१३

१. खादीनि बुद्धिरव्यक्तमहंकारस्तथाष्टमः ।

भूतप्रकृतिरुद्दिष्टा विकाराश्चैव षोडश ॥

बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चैव पञ्चकर्मेन्द्रियाणि च ।

समनस्काश्च पञ्चार्था विकारा इति संज्ञिताः ॥

इति क्षेत्रं समुद्दिष्टं सर्वमव्यक्तवर्जितम् ।

—च. शा. १।६३-६५

२. अव्यक्तमस्य क्षेत्रस्य क्षेत्रज्ञमृषयो विदुः ।

—च. शा. १।६५

आयुर्वेदशास्त्र में क्षेत्रज्ञ सर्वगत नहीं कहे जाते हैं; फिर भी वे नित्य कहे गये हैं और असर्वगत क्षेत्रज्ञों में आयुर्वेद^१ के महर्षि पुरुषनित्यतादर्शक हेतु बतलाते हैं, जिसका स्पष्टीकरण नीचे विमर्श में दिया गया है।

विमर्श—यहाँ आयुर्वेद का सांख्यदर्शन से मतभेद माना गया है क्योंकि सांख्य में क्षेत्रज्ञ को सर्वगत माना जाता है, वैशेषिक, न्याय और वेदान्त क्षेत्रज्ञ (पुरुष) को विभु और एक मानते हैं और उसका अनेकत्व घटाकाश, मठाकाश के समान वर्णन किया जाता है—‘व्यवस्थातो नाना’—(वै० द० ३।२।२०) ‘एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।’ महर्षि सुश्रुत पुरुष का अनेकत्व मानते हैं—‘बहवस्तु पुरुषाश्चेतनावन्तः’—(सु० शा० १) चरकाचार्य पुरुष को विभु और एक मानते हैं—‘अव्यक्तमात्मा क्षेत्रज्ञः शाश्वतो विभुरव्ययः । विभुत्वमत एवास्य यस्मात् सर्वगतो महान् ।’—(च० शा० १)

आत्मा को विभु मानने के कारण समस्त संसार में क्या हो रहा है, उसका ज्ञान तथा प्रत्येक जीव के सुख-दुःख का ज्ञान प्रत्येक जीव को होना चाहिए ? यह शंका उठती है—जिसका समाधान यह है, कि यद्यपि पुरुष विभु है, तथापि उसको इन्द्रियों के द्वारा ज्ञान की प्राप्ति होती है और ये इन्द्रियाँ प्रत्येक शरीर में स्वतन्त्र होती हैं। अतः एक जीव के सुख-दुःख आदि का अनुभव दूसरे जीव को नहीं होता^२।

आयुर्वेद-सिद्धान्त के अनुसार अणु रूप नित्य पुरुष धर्माधर्म के कारण तिर्यग्योनि (पशु-पक्षी), मनुष्ययोनि और देवयोनि में संचरण करते हैं। ये अनुमानग्राह्य अत्यन्तसूक्ष्म, सचेतन, नित्यपुरुष शुक्र-शोणित संयोग में प्रकट होते हैं। अतएव कहा गया है, कि ‘पंचमहाभूत और आत्मा के संयोग को पुरुष कहते हैं और यही कर्मपुरुष चिकित्सा का अधिकरण होता है^३।’

१. न चायुर्वेदशास्त्रेषूपदिश्यन्ते सर्वगताः क्षेत्रज्ञाः नित्याश्च, असर्वगतेषु च क्षेत्रज्ञेषु नित्यपुरुषस्यापकान् हेतून् उदाहरन्ति । —सु. शा. १।१६

२. “आत्मा ज्ञः करणैर्योगात् ज्ञानं त्वस्य प्रवर्तते ।

देही सर्वगतोऽप्यात्मा स्वेऽस्वे संस्पर्शनेन्द्रिये ॥

सर्वाः सर्वाश्चस्थास्तु नाऽऽत्माऽतो वेत्ति वेदनाः ।

नित्यानुबन्धं मनसा देहकर्मनुबन्धिना ॥

सर्वयोनिगतं विद्यादेकयोनावपि स्थितम् । —च० शा० १

३. आयुर्वेदशास्त्रसिद्धान्तेष्वसर्वगताः क्षेत्रज्ञा नित्याश्च तिर्यग्योनिमानुष-देवेषु संचरन्ति धर्माधर्मनिमित्तं, त एतेऽनुमानग्राह्याः परमसूक्ष्माश्चेतनावन्तः

यहाँ पर योनि तीन प्रकार की कही गयी है, उनमें ही सम्पूर्ण भौतिक सृष्टि का समावेश हो जाता है, जैसे—तिर्यग्योनि पाँच तरह की होती है— १. पशु, २. पक्षी, ३. सर्पदि, ४. मृग और ५. स्थावर (वृक्षादि) । देवयोनि आठ प्रकार की होती है— १. ब्राह्म २. प्राजापत्य ३. ऐन्द्र ४. पैत्र ५. गान्धर्व ६. याक्ष ७. राक्षस और ८. पैशाच । मनुष्ययोनि केवल एक तरह की होती है । संचरण में तीन प्रकार की गतियाँ होती है— १. उत्क्रान्ति—एक देह का त्याग । २. गति—परलोकगमन । ३. आगति—दूसरे जन्म में प्रवेश । ये तीनों गतियाँ एक पुरुष के सम्बन्ध में होती हैं, जिससे उसका नित्यत्व सिद्ध होकर विभुत्व नष्ट हो जाता है । एक जन्म से दूसरे जन्म में प्रवेश करते समय पुरुष अपने साथ पूर्वजन्म के संस्कारों को ले जाता है, जिसके कारण बालक में स्तन-पान की प्रवृत्ति, क्षुधा, हँसना तथा बुद्धिमान् होना या निर्बुद्धि होना आदि भाव प्रकट होते हैं । न्यायदर्शन में पूर्वाभ्यस्त स्मृति, हर्ष, भय, शोक, स्तन्याभिलाष (पूर्वाभ्यस्तस्मृत्यनुबन्धाज्जातस्य हर्षभयशोकसम्प्रतिपत्तेः स्तन्याभिलाषात्) आदि उदाहरणों के आधार पर पुरुषनित्यत्व की सिद्धि की गयी है ।

विभिन्न योनियों में गमन करने का कारण धर्म और अधर्म कहा गया है— शुभ—पुण्य तथा सात्त्विक कर्म के द्वारा देवयोनि में अशुभ—पाप या तामस कर्मों के द्वारा तिर्यग्योनि में और सम्मिश्रित कर्मों के द्वारा मनुष्ययोनि में पुरुष को जन्म मिलता है । अनुमानग्राह्य—पुरुष अत्यन्त सूक्ष्म अणुप्रमाण होने के कारण प्रत्यक्ष चर्मचक्षुओं से ग्रहण नहीं किया जा सकता, किन्तु उसके अन्य लक्षणों से उसकी उपलब्धि होती है । जैसा कि सुश्रुत ने क्षेत्रज्ञ के पर्याय और उसके गर्भ में अवतरण के सम्बन्ध में वर्णन किया है—‘क्षेत्रज्ञ, वेदयिता, स्पृष्टा, घ्राता, द्रष्टा, श्रोता, रसयिता, स्रष्टा, गन्ता, साक्षी, घाता, वक्ता इत्यादि पर्यायों से वह सम्बोधित होता है । वह स्वयं अक्षय, अचिन्त्य और अव्यय होते हुए दैवसंग से सत्त्व, रज, तम, दैव, आसुरभाव या अन्य भावों से युक्त होकर वायु से प्रेरित हुआ गर्भाशय में प्रवेश कर (शुक्रशोणित संयोग के साथ) तत्काल वहाँ अवस्थित हो जाता है ।’ डा० घाणेकर ने कहा है—कि दिव्यचक्षु से दृश्य वीर्य में मिलने वाला वीर्य के साथ वायु से बाहर जाने वाला वीर्य में शाश्वता लोहितरेतसोः सन्निपातेष्वभिव्यज्यन्ते, यतोऽभिहितं—‘पञ्चमहाभूत-शरीरिसमवायः पुरुष इति, स एव कर्मपुरुषश्चिकित्साधिकृतः ।

—सु० शा० १।१७

१. क्षेत्रज्ञो वेदयिता, स्पृष्टा, घ्राता, द्रष्टा, श्रोता, रसयिता, पुरुषः, स्रष्टा, गन्ता, साक्षी, घाता, वक्ता, यः कोऽसावित्येवमादिभिः पर्यायवाचकैर्नामभिरभि-

जिसके होने से गर्भ होता है न होने से गर्भ नहीं होता । संक्षेप में यह वीर्य का बीज है । इससे स्पष्ट है, कि शुक्रगत गर्भोत्पादक बीज को 'जीव' कह सकते हैं । आधुनिक शरीर-क्रियाविज्ञान के अनुसार शुक्रगत गर्भोत्पादक अंग को स्पर्मेटोजुआ (Spermatozoa) कहते हैं इसका ही निर्देश शुक्राणु शब्द से होता है ।

व्यक्त और अव्यक्त

व्यक्त—जो इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य होने से ऐन्द्रियक होता है उसे 'व्यक्त' कहते हैं, वह कारणवान् और उत्पत्तिधर्मा होने से अनित्य होता है । सांख्य के अनुसार जो अनित्य, अव्यापी, सक्रिय, अनेक आश्रित, लिङ्गवाला, सावयव और परतन्त्र होता है, उसे 'व्यक्त' कहते हैं । अव्यक्त को छोड़कर तेइसतत्त्व व्यक्त की सीमा में आते हैं, जिन तेइस तत्त्वों का वर्णन 'क्षेत्र' शीर्षक में किया जा चुका है^१ ।

अव्यक्त—जो इन्द्रियों द्वारा कथमपि न जाना जा सके, अपितु जिसे अनुमान से जाना जाय (लिङ्गग्राह्य) एवं जो उत्पत्ति धर्म से रहित, नित्य एवं अचिन्त्य तत्त्व है, उसे 'अव्यक्त' कहते हैं । सांख्य के अनुसार नित्य, कारण-रहित, व्यापी, निष्क्रिय, अनवयव और स्वतन्त्र ये अव्यक्त के लक्षण कहे गये हैं^२ ।

मूलप्रकृति-निरूपण

जगत् के स्थावर-जङ्गम सभी पदार्थों का प्रधान कारण, स्वयं कारण-रहित, सत्त्व, रज और तमोगुण के लक्षणों से युक्त अष्टरूप (अव्यक्त महान् अहंकार पञ्चतन्मात्रा रूप) और संसार का जो हेतु है, उसे 'मूलप्रकृति' (अव्यक्त) कहते हैं ।

धीयते दैवसंयोगादक्षयोऽव्ययोऽचिन्त्यो भूतात्मना सहान्वक्षं सत्वरजस्तमोभि-
र्देवासुरैरपरैश्च भावैर्वायुनाऽभिप्रेयमाणः गर्भाशयमनुप्रविश्यावतिष्ठते ।

—सु० शा० ३।४

१. व्यक्तमैन्द्रियकं चैव गृह्यते तद्यदिन्द्रियैः ।

—च० शा० १।६२

तथा

हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम् ।

सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं ॥

—सां० का० १०

२. अतोऽप्यत् पुनरव्यक्तं लिङ्गग्राह्यमतीन्द्रियम् ।

—च० शा० १।६२

अव्यक्तमात्मा क्षेत्रज्ञः शाश्वतो विभुरव्ययः ॥

—च० शा० १।६१

विमर्श—संसार की रचना करने वाली 'मूलप्रकृति'^१ है, जो किसी का कार्य नहीं है एवं जो किसी से उत्पन्न नहीं है—'मूले मूलाभावादमूलं मूलं'—(सा. सूत्र २।६७) । सभी स्थावर जङ्गमात्मक पदार्थों में सत्त्व, रज और तम ये तीनों गुण न्यूनाधिक मात्रा में उपस्थित रहते हैं । उक्त तीनों गुण मूल-प्रकृति के ही गुण हैं, जो प्रकृति में साम्यावस्था में रहते हैं—'सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः ।' जब इन तीन-गुणों में विषमता होती है, तभी सृष्टि का आरम्भ होता है । 'सत्कार्यवाद'^२ के अनुसार प्रकृति से उत्पन्न समस्त सृष्टि में सत्त्व, रज और तम पाये जाते हैं ।

मूल प्रकृति को अष्टरूप कहा गया है, जिसमें दो भेद हैं—१. मूलप्रकृति और २. प्रकृतिविकृति । दूसरी में महान्, अहंकार और पञ्चतन्मात्रा ये सात आती हैं और मूलप्रकृति एक है । गीता में प्रकृति के स्थान पर मन को रक्खा गया है और पञ्चतन्मात्रा के स्थान में पञ्चमहाभूतों को गिना गया है^३ । मूल प्रकृति के लिए अव्यक्त और प्रधान शब्द भी प्रयुक्त होते हैं । अव्यक्त अहेतु, नित्य, व्यापक, एक, अनाश्रित, अनवयव और स्वतन्त्र होता है । आयुर्वेद में अव्यक्त^४ को चेतन माना गया है, जब कि सांख्य उसे अचेतन मानता है और जब प्रकृति का संयोग चेतयिता^५ पुरुष के साथ होता है, तब उससे सृष्टि का आरम्भ होना मानता है ।

चरक के मत में प्रलय

पुरुष प्रलय काल में, शरीरारम्भक भूतों के अपने कारण में लय हो जाने पर, महान् से लेकर सभी २३ तत्त्वों से वियुक्त^६ हो जाता है—यही 'प्रलय' कहलाता है । प्रलय में व्यक्त सभी २३ तत्व अव्यक्त में लीन^७ हो जाते हैं ।

१. प्रकरोति संसारं रचयति, इति प्रकृतिः, मूलञ्चासी प्रकृतिः, मूलप्रकृतिः संसारस्य मूलकारणं प्रधानमित्यर्थः ।

२. असदकरणात् उपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात् ।

शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥ —सा० का० ९

३. भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।

अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ —गीता ७।४

४. अव्यक्तमात्मा क्षेत्रज्ञः शाश्वतो विभुरव्ययः । —च० शा० १।६१

५. तत्र सर्वं एवाचेतन एष वर्गः पुरुषः कार्यकारणसंयुक्तश्चेतयिता भवति । —सु० शा० १।७

६. पुरुषः प्रलये चेष्टैः पुनर्भाविर्वियुज्यते । —च० शा० १।६७

७. व्यक्तादव्यक्ततां पुनः । —च० शा० १।६८

एवं 'महदादि महाभूतपर्यन्त समस्त प्रपञ्च का अव्यक्त में अन्तर्हित हो जाना ही प्रलय है ।'

पंचमहाभूत पंचतन्मात्राओं में लीन हो जाते हैं । तन्मात्रा और इन्द्रियाँ अहंकार में लीन होती हैं । अहंकार महान् (बुद्धितत्त्व) में लीन होता है तथा महान् अव्यक्त में लीन हो जाता है । (यही लय का क्रम है)

जब तक पुरुष का मन रज और तम इन दोषों से तथा अपने कर्मों के बन्धन से घिरा रहता है,^१ तब तक वह जन्म और मरण के बन्धन में फँसा रहता है । जब वह पुरुष अपने मानसिक दोष एवं कर्मबन्धनों से मुक्त हो जाता है, तब उसे मोक्ष^२ की उपलब्धि होती है और उसका न जन्म होता है, न मृत्यु होती है ।

विमर्श—आचार्य चरक ने चरकसंहिता के शारीरस्थान प्रथम अध्याय में लिखा है कि पुरुष प्रलय के समय अपने इष्ट भावों अर्थात् महान् अहंकार पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, उभयात्मक मन, पंचमहाभूत और पंचतन्मात्रा इन २३ तत्त्वों से रहित (वियुक्त) हो जाता है—'पुरुषः प्रलये चेष्टैः पुनर्भाविर्वियुज्यते' (च० शा० १।६६) ।

सृष्टिकाल में अव्यक्त से बुद्धितत्त्व, बुद्धितत्त्व से अहंकार, अहंकार से सूक्ष्म पंचमहाभूत, सूक्ष्म पंचमहाभूत से एकादश इन्द्रियों तथा पंचतन्मात्राओं की उत्पत्ति होने पर पुरुष सर्वाङ्गसम्पन्न कहा जाता है ।

जायते बुद्धिरव्यक्ताद् बुद्ध्याहमिति मन्यते ।

परं खादीन्यहंकारादुत्पद्यन्ते यथाक्रमम् ॥

ततः सम्पूर्णसर्वाङ्गो जातोऽभ्युदित उच्यते ।—च० शा० १।६६।६७

एवं सृष्टि के कारण रज और तम (मानसदोष) जब तक मन से सम्बद्ध रहते हैं और मन इनके बन्धन में पड़कर संसार में आसक्ति उत्पन्न करने वाले कार्य करता रहता है, तब तक पुरुष जन्म और मृत्यु के चक्र से मुक्त नहीं हो पाता है । जिनमें अहंकार और विषयों के भोग की लालसा रहती है वे पुरुष जन्म और मृत्यु के प्रपञ्च में पुनः पुनः आबद्ध होते रहते हैं—

१. गतिप्रवृत्त्योस्तु निमित्तमुक्तं मनः सदोषं बलवच्च कर्म ।

—च० शा० २।३८

२. मोक्षो रजस्तमोऽभावाद्बलवत्कर्मसंक्षयात् ।

वियोगः सर्वसंयोगैरपुनर्भव उच्यते ॥ —च० शा० १।१४२

रजस्तमोभ्यामाविष्टश्चक्रवत्परिवर्तते ।

येषां द्वन्द्वे परा सक्तिरहङ्कारपरारब्ध ये ॥

उदयप्रलयौ तेषां..... ॥ —च० शा० १।६८-६९

चरकाचार्य ने जन्म के लिए उदय और मृत्यु के लिए प्रलय शब्द का प्रयोग किया है ।

प्रलयकाल में जब पुरुष अपने सभी इष्ट भावों से वियुक्त हो जाता है, तो उस वियुक्ति का तात्पर्य मोक्ष अर्थ के बोधक प्रलय से है, क्योंकि चरक ने उसी प्रसंग में कहा है कि जो पुरुष रज और तम के दोष से सर्वथा विमुक्त होते हैं और संसार में आसक्ति तथा बन्धन में डालने वाले कर्मों को नहीं करते, उनका पुनर्जन्म नहीं होता । बलवान् कर्मों का क्षय हो जाने से पुरुष मुक्त हो जाता है और उसके जन्म-मृत्यु के बन्धन कट जाते हैं । इस भाव को व्यक्त करने के लिए चरक ने कहा है—‘... न तेषां ये त्वतोऽन्यथा’ (च० शा० १।६९) । जो रज, तम से ग्रस्त या सांसारिक बन्धन में आसक्त नहीं हैं वे ही प्रलय की स्थिति में पहुँच पाते हैं ।

जैसे सृष्टि क्रम में अव्यक्त से तेईस व्यक्तभाव उत्पन्न होते हैं, ठीक उसके विपरीत प्रलयकाल में सभी व्यक्ततत्त्व अव्यक्त में लीन हो जाते हैं । प्रलय के क्रम में क्रमशः पंचतन्मात्राएँ और एकादश इन्द्रियाँ पंचमहाभूतों में, पंचमहाभूत अहंकार में, अहंकार बुद्धितत्त्व में और बुद्धितत्त्व अव्यक्त (प्रकृति) में मिल जाता है । इस प्रकार मोक्ष की स्थिति में तेईस व्यक्ततत्त्व प्रकृति (अव्यक्त) में सदा-सदा के लिए लीन हो जाते हैं और पुनः उस मुक्तात्मा की सृष्टि नहीं होती । अतः एव इसकी संज्ञा ‘प्रलय’ है—अर्थात् सार्वतोभावेन सदैव के लिए व्यक्त भावों का अव्यक्त में विलीन हो जाना ‘प्रलय’ कहलाता है । इस स्थिति को प्राप्त करना जन्म-जन्मान्तर की सुदीर्घ तपस्या और रज तम के वियोग की स्थिति में ही सम्भव है । आचार्य चरक के शब्दों में जब ‘सत्या बुद्धि’ का उदय होता है, तभी ‘सर्वसंन्यास’ की स्थिति में मोक्ष की उपलब्धि होती है—

‘यावन्नोत्पद्यते सत्या बुद्धिर्नैतदहं यया ।

नैतन्मम च विज्ञाय ज्ञः सर्वमतिवर्तते ॥’ —च० शा० १।१५३

गीता में भी प्रलय (मोक्ष) की उपलब्धि के लिए इसी तरह की बात कही गयी है—

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्वात्मानं नियम्य च ।

शब्दादीन् विषयान् त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥

विविक्तसेवी लब्धाशी यत वाक्कायमानसः ।
 ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥
 अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
 विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥
 ब्रह्मभूतः प्रशान्तात्मा न शोचति न कांक्षति ॥

—गीता अ० १८

प्रकृति और पुरुष का साधर्म्य-वैधर्म्य

साधर्म्य—किन्हीं वस्तुओं में समान गुणधर्म का पाया जाना साधर्म्य कहलाता है ।

वैधर्म्य—जब किन्हीं वस्तुओं में भिन्न-भिन्न गुणधर्म पाये जाते हैं, तो वह वैधर्म्य कहा जाता है ।

प्रकृति-पुरुष में साधर्म्य

प्रकृति	पुरुष
आदि रहित	आदि रहित
अन्त रहित	अन्त रहित
अलिङ्ग (अव्यक्त)	अलिङ्ग (अव्यक्त)
नित्य (लयरहित)	नित्य (लयरहित)
अपर (सर्वश्रेष्ठ)	अपर (सर्वश्रेष्ठ)
सर्वगत (व्यापक)	सर्वगत (व्यापक)

प्रकृति और पुरुष में वैधर्म्य

प्रकृति	पुरुष
एक	अनेक
अचेतन	सचेतन
त्रिगुण	अगुण
बीजधर्मिणी	अबीजधर्मा
(महान् आदि को बीजरूप में धारण करने वाली)	
प्रसवधर्मिणी	अप्रसवधर्मा
अमध्यस्थ धर्मिणी	मध्यस्थधर्मा
(सत्व आदि गुणों से प्रभावित)	

१. तद्यथा—उभावप्यनादी, उभावप्यनन्तौ, उभावप्यलिङ्गौ, उभावपि नित्यौ, उभावप्यपरो, उभौ च सर्वगताविति । एका तु प्रकृतिरचेतना, त्रिगुणा, बीजधर्मिणी, प्रसवधर्मिणी, अमध्यस्थधर्मिणी चेति । बहवस्तु पुरुषाश्चेतना-वन्तोऽगुणा अबीजधर्माणोऽप्रसवधर्माणो मध्यस्थधर्माणश्चेति ।—सु० शा० १।९

विमर्श—प्रकृति और पुरुष में बहुत समानता (साधर्म्य) होने के कारण चरकसंहिता में इन दोनों का समावेश अव्यक्त में ही कर दिया गया है। चरक में प्रकृति और पुरुष के अनादित्व के सम्बन्ध में लिखा है, कि आत्मा अनादि है उसमें सन्देह नहीं है और क्षेत्रपरम्परा भी अनादि है। 'आदिर्नास्त्यात्मनः क्षेत्रपारम्पर्यमनादिकम्।' (—शा० १)। सांख्यशास्त्रानुसार पुरुष अनन्त होते हैं और उनके बहुत्व में ये प्रमाण दिये जाते हैं—

(१) यदि पुरुष एक होता तो सबका जन्म एक ही समय में होना चाहिए और सब की मृत्यु भी एक ही समय में होनी चाहिए। एक के दुःख या वैकल्य से सभी को दुःखी या विकल होना चाहिए ? किन्तु ऐसा संसार में देखने में नहीं आता। अतः प्रत्येक शरीर में अलग-अलग पुरुष मानना उचित है। (२) एक धार्मिक दूसरा अधार्मिक, एक ज्ञानी दूसरा अज्ञानी, एक विरागी तो दूसरा विषयों में आसक्त दीखता है, इसलिए प्रत्येक में स्वतन्त्र प्रवृत्ति है अतः प्रतिशरीर में स्वतन्त्र पुरुष है। (३) कुछ सात्त्विक, कुछ राजस, कुछ तामस तथा कोई देवयोनि में, कोई मनुष्ययोनि में कोई तिर्यग्योनि में जन्म लेते हैं, इसलिए प्रत्येक शरीर में पुरुष स्वतन्त्र है—'जन्म-मरणकरणानां प्रतिनियमात्, अयुगपत् प्रवृत्तेश्च । पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव ॥' (सां० का० १८) पुरुष मध्यस्थधर्मा अर्थात्—सुख-दुःख से विचलित नहीं होता है 'निर्विकारः परस्त्वात्मा' (चरक सू० १)। सांख्य कारिका में प्रकृति और पुरुष का साम्य-वैषम्य निम्नलिखित प्रकार से है—

हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम् ।

सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम् ॥

त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मा ।

व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान् ॥

—सां० का० १०

'तथा च' का अर्थ दशवीं कारिका में अहेतुमत्, नित्य, व्यापि आदि अव्यक्त (प्रकृति) के गुण वर्णित किये गये हैं वैसे अर्थात् इससे साम्य प्रदर्शित होता है और 'तद्विपरीतः' से वैषम्य प्रदर्शित होता है।

सुश्रुतोक्त छः कारणों का विचार

आयुर्वेद के महर्षि अपनी दृष्टि उदार और विशाल रखते हैं, उनका विचार सर्वग्राही है और वे चिकित्सा शास्त्र में उपयोगिता की दृष्टि से विभिन्न मत-मतान्तरों के समन्वय करने के पक्षपाती हैं। आयुर्वेद 'सर्ववेद-पारिषद्य' शास्त्र है, इसलिए वह विभिन्न मतों का समादर करता है और सबके साथ अपना

समञ्जस्य स्थापित करता है। एवं आयुर्वेद के आचार्यों ने सृष्टि के निर्माण में प्रकृति की ही तरह छः मतों का समानरूप से प्रतिपादन किया है। आचार्य सुश्रुत ने लिखा है—वैद्यके तु,

स्वभावमीश्वरं कालं यदृच्छां नियतिं तथा ।

परिणामं च मन्यन्ते प्रकृतिं पृथुदर्शिनः ॥ —सु० शा० १।१५

अर्थात् आयुर्वेद के पृथुदर्शी (स्थूल दृष्टिकोण वाले) आचार्य १. स्वभाव २. ईश्वर ३. काल ४. यदृच्छा ५. नियति और ६. परिणाम को प्रकृति (सृष्टि का आदिकारण) मानते हैं ।

(१) स्वभाव—उन-उन द्रव्यों में जो सहज गुण-धर्म पाया जाता है उसे 'स्वभाव' कहते हैं। स्वभाव अपरिवर्तनीय होता है, जिसे न तो रोका जा सकता है, नहीं बदला जा सकता है। उन-उन पदार्थों का असाधारण कार्य करना उनका स्वभाव कहलाता है, जैसे—अग्नि की ज्वाला का ऊपर की ओर जाना और उसकी दाहकता। जल का नीचे की ओर जाना और बहना आदि कांटों में तीक्ष्णता पशु-पक्षियों में चित्र-विचित्र आकर्षक वर्ण गन्ने के रस में मधुरता और मरीच में कड़वापन अपने आप स्वभाववश^२ होता है ।

(२) ईश्वर—ईश्वर सारे संसार में परिव्याप्त है; वह जगन्निबन्ता और सर्वशक्तिमान्^३ है। ईश्वर ही समस्त सृष्टि का स्वामी, निर्माता, पालक और अपनी ही इच्छा से सृष्टि का सहारकर्ता भी है ।

(३) काल—निमेष-काष्ठा-कला-मुहूर्त से लेकर युगपर्यन्त काल जो भूत-भविष्य और वर्तमान में विभक्त है, वही सम्पूर्ण जगत् का स्रष्टा और शासक है। बीज के अंकुरित होने में काल ही^४ कारण है। बाल्यावस्था, युवावस्था और

१. तत्र प्रकृतिरुच्यते स्वभावो यः, स पुनराहारोषधद्रव्याणां स्वाभाविको गुर्वादिगुणयोगः ।

—च० वि० १

२. कः कण्टकानां प्रकरोति तैक्ष्ण्यं

चित्रं विचित्रं मृगपक्षिणां च ।

माधुर्यमिक्षौ कटुतां मरीचे

स्वभावतः सर्वमिदं प्रवृत्तम् ॥

—सुभाषित

३. दैवस्यैषा महिमा तु लोके येनेदं भ्राम्यते ब्रह्मचक्रम् । न तस्य कश्चिद् पतिरस्ति लोके न चेशिता नैव च तस्य लिङ्गम् ॥ —श्वेताश्वतरोपनिषद्

४. नाऽकालतो न्नियते जायते वा नाऽकालतो व्याहरते च बालः ।

नाऽकालतो यौवनमभ्युपैति नाऽकालतो रोहति बीजमुत्तम् ॥

—सुभाषित

बार्धक्य काल की ही देन हैं। जन्म और मृत्यु काल के हाथ में हैं। सुख-दुःख, हानि-लाभ, सबका स्वामी काल ही है।

(४) यदृच्छा^१—अर्थात्—बिना किसी कारण के, बिना कर्ता के, बिना किसी साधन के अकस्मात् किसी घटना का हो जाना। जैसे—दुर्दिन का होना बिजली गिरना, भूकम्प होना आदि। एवं आकाशवृत्ति पर निर्भर रहने वाले योगीजन^२ मधुकरी (भिक्षा) में जो भी मिल गया, उसी से सन्तुष्ट रहते हैं। यदृच्छा आकस्मिक घटना है।

(५) नियति^३—जो टाला न जा सके, ऐसा नियम नियति^३ कहलाता है। जैसे किए हुए कर्मों का फल नियति है, जो अवश्यमेव भोगना पड़ता है, उसे अदृष्ट कहते हैं। जिसका ज्ञान हो चाहे न हो, वह अपने समय से आ ही जाता है, सृष्टि भी नियतिकृत है।

(६) परिणाम—किसी कार्य का अन्तिम फल परिणाम कहलाता है, जैसे—आहार का पाचन हो जाने पर आहार रसों का विपाक बन जाता है और ६ रस (मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त, कषाय), तीन ही (मधुर, अम्ल और कटु) विपाकों में परिणत हो जाते हैं, एवं प्रकृति के विकास के ही परिणाम पंचमहाभूत हैं।

सृष्टि की विलक्षणता को देखकर संवेदनशील मानव का मन संसार की विविधता, रंगविरंगे विहंग और प्रतिक्षण होते रहते परिवर्तन के मूल कारण की खोज करने के लिए स्वभावतः ही जागरूक हो जाता है। सर्वसाधारण जन अपने ही रूई-सूत, नमक-तेल और इन्धन की चिन्ता में लीन रहते हैं, उनके पास न समय है, न सामर्थ्य है, न प्रतिभा है, न बुद्धि है, कि वे सृष्टि के कारणों का अन्वेषण करें। भारतीय महर्षियों ने अपने प्रदीप्त ज्ञानालोक से सांसारिक विषयवस्तुओं की सारहीनता और नश्वरता को पा लिया था और वे सदैव तत्त्वचिन्तन में लीन रहते थे सृष्टि के निर्माण के मूल का विवेचन करने में उनके विभिन्न दृष्टिकोण सामने आते हैं। उपर्युक्त जिन ६ मतों का

तथा—तथा कालस्य परिणामेन जरामृत्युनिमित्तजाः ।

रोगाः स्वाभाविका दृष्टा ॥ —च० शा० १।११५

१. काकतालीयन्यायेन संवादकारिणी काचन शक्तिः ।

२. यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।

समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥

—गीता

३. नियतिः सर्वपदार्थेष्वनुगताऽकारवन्धियमनशक्तिः यथर्तुष्वेव योषितां गर्भधारणम् इन्द्रदये समुद्रवृद्धिरित्यादि ।

प्रतिपादन किया गया है, ये मत सर्वत्र नहीं समावृत्त हैं। कहीं कोई, कहीं कोई मत माना गया है, परन्तु आयुर्वेद 'सर्वशास्त्र पारिषद्य' है, इसीलिए यहाँ इन सभी की मान्यता है, जिनके उदाहरण आगे प्रस्तुत किये जायेंगे।

श्वेताश्वतर उपनिषद् में सृष्टि के कारण के सम्बन्ध में प्रश्नोत्तर किया गया है कि इस जगत् का मुख्य कारण कौन है? हमलोग किससे उत्पन्न हुए हैं? हमारी स्थिति कहाँ है? हम लोग किसके अधीन रहकर सुख और दुःख का भोग कर रहे हैं? हमारा आश्रय क्या है? हमारा अधिष्ठाता कौन है? किसके प्रभाव से हम लोग जी रहे हैं? हम लोगों की व्यवस्था करने वाला कौन है!¹

इस प्रकार तत्त्वचिन्तन और वास्तविकता के खोज के प्रति एक उत्कट जिज्ञासा का भाव महर्षियों की गोष्ठी में विचार विमर्श के लिए प्रस्तुत किया गया है। वहाँ काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, पंचमहाभूत या पुरुष की कारणता को सन्दिग्ध बतलाया गया है² और काल से आत्मा (पुरुष) तक सम्पूर्ण कारणों पर शासन करने वाले सर्वशक्तिमान् परमेश्वर³ को जगत् का वास्तविक कारण बतलाया गया है।

इस सन्दर्भ में विभिन्न मत-मतान्तर सामने आते हैं, जैसे—सांख्य या प्रकृतिवादी मानते हैं—कि सृष्टि का कारण 'प्रकृति' है। स्वभाववादी या लोकायतिक स्वभाव को कारण मानते हैं। वेदान्ती, योगी और ईश्वरवादी 'परमेश्वर' को कारण मानते हैं। कालवादी 'काल' को कारण मानते हैं। मीमांसक 'नियति' को कारण मानते हैं। गुणपरिमाणवादी नास्तिक 'पंचमहाभूतों' को कारण मानते हैं। इस तरह प्रत्येक पक्ष अपने मत को सत्य या प्रधान और दूसरे मत को असत्य या गौड़ मानता है, जैसे सांख्य ईश्वर, काल, स्वभाव इत्यादि को कारण न मानते हुए 'प्रकृति' को ही कारण मानता है। इसी तरह

१. कि कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाताः

जीवाम केन क्व च सम्प्रतिष्ठा।

अधिष्ठिताः केन सुखतरेषु

वर्तमहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम् ॥

—श्वे० १।१

२. कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा

भूतानि योनिः पुरुषः इति चिन्त्या।

संयोग एषां न त्वात्मभावात्

आत्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोः ॥

—श्वे० १।९

३. यः कारणानि निखिलानि तानि

कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः।

—श्वे० १।३

वेदान्ती भी परमेश्वर को कारण मानते हैं और स्वभाव-काल आदि को जगत् का कारण मानने वालों को अज्ञानी^१ समझते हैं । किन्तु आयुर्वेद के महर्षि अन्य सम्प्रदायों की तरह संकुचित दृष्टि न रखकर औचित्य और प्रसंग के अनुसार सर्वग्राही सिद्धान्त अपनाते हुए उपर्युक्त सभी मतों को स्थल विशेष पर उपयुक्त मानते हैं, क्योंकि आयुर्वेद^२ 'सर्वशास्त्र पारिषद्य' है तथा आयुर्वेद के ग्रन्थों में उक्त छहों के उदाहरण मिलते हैं, जैसे—

१. स्वभाव—अङ्गप्रत्यङ्गनिर्वृत्तिः स्वभावादेव जायते ।

सन्निवेशः शरीराणां दन्तानां पतनोदगमौ ।

तलेष्वसम्भवो यश्च रोम्णामेतत् स्वभावतः ॥

—सु० शा० ३।३६

स्वभावाल्लघवो मुद्गास्तथा लावकपिञ्जलाः ।

स्वभावादगुरवो माषा वराहमहिषास्तथा ॥

—च० सू० २७।३३८

२. ईश्वर—जाठरो भगवानग्निरीश्वरोऽन्नस्य पाचकः ।

सौक्ष्म्याद् रसानाददानो विवेक्तुं नैव शक्यते ॥ —सुश्रुत

स हि भगवान् प्रभवश्चाव्ययश्च...क्रान्तालोकानां वायुरेव भगवानिति ।

—च० सू० १२।८

३. काल—कालो हि नाम भगवान् स्वयम्भूरनादिमध्यनिधनः ।

—सुश्रुत० सू० ६।३

तावेतावर्कवायूसोमश्च कालस्वभावमार्गपरिगृहीता कालतुं-रस-दोषदेह-बलनिवृत्तिप्रत्ययभूताः समुपदिश्यन्ते ।

—चरक० सू० ६।५

४. यदृच्छा—पारुष्ययुक्तिश्चिरवृद्धघपाको यदृच्छया पाकमियात् कदाचित् ।

यदृच्छया चोपगतानिपाकपाकक्रमेणोपचरेद्विधिशः ॥

—सुश्रुत० नि० ११।२४

५. नियति—क (अदृष्ट)—न हि कर्म महत् किञ्चित्फलं यस्य न भुज्यते ।

क्रियाघ्नाः कर्मजाः रोगाः प्रशमं यान्ति तत्क्षयात् ॥

—चरक० शा० १।११७

१. स्वभावमेके कवयो वदन्ति कालं तथान्ये परिमुह्यमानाः ।

—श्वेताश्वरोपनिषद्

२. 'एतत् सर्वमनुमतं सर्ववेदपारिषद्यत्वादायुर्वेदस्य ।'

—सु० शा० १।११ पर डल्हणटीका

स (नियति) — इन्द्रियेणेन्द्रियार्थं तु स्वं स्वं गृह्णाति मानवः ।
नियतं तुल्ययोनित्वान्नान्येनान्यमिति स्थितिः ॥

—सुश्रुत० शा० १।१५

६. परिणाम—ता एवौषधयः कालपरिणामात् परिणतवीर्या बलवत्यो
हेमन्ते भवन्त्यापश्च ।

—सुश्रुत० सूत्र० ६।११

जाठरेणाग्निना योगात् यदुदेति रसान्तरम् ।

रसानां परिणामान्ते स विपाक इति स्मृतः ॥

—अष्टाङ्गहृदय सूत्र० ९।११

इन कारणों में प्रकृति परिणाम उपादान कारण और शेष निमित्त कारण होते हैं । इस विवरण के उल्लेख का तात्पर्य यह है—कि आयुर्वेद शरीर में होने वाले कार्यों की उत्पत्ति के लिए स्वभाव आदि को भी कारण मानता है । वस्तुतः गुण त्रयात्मिका प्रकृति को प्रधान कारण माना गया है, और यह मत आचार्य डल्हन ने सुश्रुत संहिता के शारीर स्थान प्रथम अध्याय श्लोक ११ की टीका में उद्धृत किया है ।

षोडश अध्याय

पुरुष-विज्ञान

आयुर्वेद में चिकित्स्य पुरुष^१

शरीर, इन्द्रिय, मन और आत्मा के संयोग को 'आयु'^२ कहते हैं। सारी सृष्टि के प्राणियों में दृष्टिगोचर होने वाला ज्ञान, कर्म कर्मफलोपभोग, सुख, दुःख, ममत्व, जीवन आदि सब कुछ उक्त 'आयु' के संयोग पर ही निर्भर है। जिस प्रकार कोई घड़ा तिपाई के आधार पर रहता है, उसी प्रकार इन्द्रिय सहित शरीर, मन और आत्मा इन तीनों के संयोग पर ही प्राणी मात्र का ज्ञान और कर्म आदि निर्भर है। इन्हीं तीनों के समुदाय को 'पुरुष'^३ कहते हैं और वही चेतन पुरुष आयुर्वेद का अधिकरण कहा गया है जिसकी चिकित्सा के लिए यह आयुर्वेद शास्त्र महर्षियों द्वारा प्रणीत है।

शुक्र और आर्तव (पुंबीज और स्त्रीबीज) का गर्भाशय में संयोग होने पर तत्काल ही उसमें सूक्ष्मशरीर सहित आत्मा का प्रवेश होता है। इस सूक्ष्म शरीर में आठ प्रकृति (अव्यक्त महान्, अहंकार और पाँच तन्मात्राएँ) पाँच सूक्ष्म ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच सूक्ष्मकर्मेन्द्रियाँ तथा एक उभयात्मक (ज्ञान-कर्मेन्द्रिय) मन, ये ग्यारह इन्द्रियाँ होती हैं। इस समुदाय में माता की धमनियों द्वारा रस-रक्तादि पोषक द्रव्यों की प्राप्ति होती रहती है। ये द्रव्य पञ्चमहाभूतमय होते हैं एवं शुक्र, आर्तव, अष्टविध प्रकृति, पञ्चभूत, एकादश इन्द्रिय तथा आत्मा के संयोग को 'गर्भ' कहते हैं। गर्भ पर पञ्चमहाभूतों की क्रिया होती है;

१. 'क्षेत्रज्ञ आत्मा पुरुषः' पुरति 'पुर अग्रगमने' इति पुरुषः । 'पूरी आप्यायने' इति वा । पुरि शरीरे शेते इति पुरुषः । —अमरकोष-रामाश्रमी १।४।२९

२. शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोगो धारि जीवितम् ।

नित्यगश्चानुबन्धश्च पर्यायैरायुर्बुध्यते ॥—चरक० सूत्र० १।४२

३. सत्त्वमात्मा शरीरं च त्रयमेतत् त्रिदण्डवत् ।

लोकस्तिष्ठति संयोगात्तत्र सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥

स पुमांश्चेतनं तच्च तच्चाधिकरणं स्मृतम् ।

वेदस्यास्य, तदर्थं हि वेदोऽयं सम्प्रकाशितः ॥—चरक० सूत्र० १।४६-४७

जिससे उसकी क्रमशः पुष्टि होती रहती है, और उसके हाथ पैर आदि अङ्ग बन जाने पर इस गर्भ को 'शरीर'¹ कहा जाता है।

शरीर को पोषण और संवर्धन पंचमहाभूतों से बने द्रव्यों से ही प्राप्त होता है। शरीर के सभी अवयव (दोष-घातु-मल) पंचमहाभूतों से ही बने हैं।² शरीर, इन्द्रिय, मन तथा इनके उपकरणभूत सभी बाह्य द्रव्यों का मूल कारण पंचमहाभूत है। जब आहार-विहार में कोई व्यतिक्रम होता है, तो शरीर-वयवों में स्थित भूतों की अधिकता हो जाती है या ह्रास हो जाता है जिससे सम्बद्ध अवयव में वृद्धि या ह्रास होने से रुग्णता आ जाती है, जिसे दूर करने के लिए 'वृद्धा ह्रासयितव्याः। क्षीणाः वर्धयितव्याः' (सुश्रुत० चि० ३३) के सिद्धान्त से पांच भौतिक द्रव्यों का प्रयोग कर, बड़े हुए को घटाया जाता है या क्षीण हुए की वृद्धि की जाती है।

तात्पर्य यह है, कि पुरुष में पंचमहाभूतों की उपादेयता को देखकर ही चरक और सुश्रुत ने 'पुरुष' की परिभाषा में पहले पंचमहाभूतों का ही उल्लेख किया है—

'खादयश्चेतनाः षष्ठा घातवः पुरुषः स्मृतः' (चरक० शा० १।१६)
'अस्मिन् शास्त्रे पञ्चमहाभूतशरीर समवायः पुरुष इत्युच्यते। तस्मिन् क्रिया, सोऽधिष्ठानम्' (सुश्रुत० सूत्र० १।२२)

इस तरह आयुर्वेद में शरीर, मन और आत्मा इन तीनों को त्रिदण्ड कहा गया है और वही त्रिदण्ड पुरुष का आश्रय है, शरीर है, जिसकी चिकित्सा की जाती है यही चिकित्सा का अधिष्ठान है। यही कर्मपुरुष³ चिकित्स्य है।

१. शुक्रशोणितं गर्भाशयस्थमात्मप्रकृतिविकारसम्मूर्च्छितं गर्भं इत्युच्यते। तं चेतनावस्थितं वायुविभजति, तेज एनं पचति, आपः क्लेदयन्ति, पृथिवी संहन्ति, आकाशं विवर्धयति, एवं विवर्धितः स यदा हस्तपादजिह्वाघ्राणकर्ण-नितम्बादिभिरङ्गैरूपेतस्तदा 'शरीरम्' इति संज्ञां लभते।—सुश्रुत० शा० ५।३

२. तन्मयान्येव भूतानि तद्गुणान्येव चादिशेत्।

तैश्च तल्लक्षणः कृत्स्नो भूतग्रामो व्यजन्यत ॥

तस्योपयोगोऽभिहितश्चिकित्सां प्रति सर्वदा।

भूतेभ्यो हि परं यस्मान्नास्ति चिन्ता चिकित्सिते ॥

यतोऽभिहितं 'तत्सम्भवद्रव्यसमूहो भूतादिरुक्तः'। भौतिकानि चेन्द्रियाण्या-युर्वेदे वर्ण्यन्ते तथेन्द्रियार्थाः।

—सु० शा० १।११-१४

३. स एषः कर्मपुरुषः चिकित्साऽधिकृतः।

—सुश्रुत० शा० १।१६

राशिपुरुष

चिकित्स्यपुरुष, कर्मपुरुष, संयोगिपुरुष, स्थूलपुरुष, स्थूलशरीर, चतुर्विंशतिकपुरुष तथा राशिपुरुष, यह सभी एकार्थक और पर्यायवाची शब्द हैं, जो एक ही अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं—‘चतुर्विंशक इत्येष राशिः पुरुषसंज्ञकः’। इसका विस्तृत वर्णन आगे किया जा रहा है।

धातुभेद से पुरुष के प्रकार

धातुभेद से पुरुष तीन प्रकार के बतलाये गये हैं। यहाँ धातु शब्द का अर्थ उपादान है अर्थात् अलग-अलग तीन तरह के उपादानों से पुरुष का त्रिविध निर्माण होता है। (१) एकधातुज (२) षड्धातुज और (३) चतुर्विंशतितत्त्वात्मक।

(१) एकधातुजपुरुष—केवल आत्मा (चेतनाधातु) को एकधातुज पुरुष कहते हैं^१। इस आत्मा की पुरुष संज्ञा रखने का तात्पर्य यह है कि शरीर में जो रहे, उसे पुरुष कहते हैं। ‘पुरि (शरीरे) शेते इति पुरुषः’। आत्मा शरीर में रहता है, इसलिए इसे पुरुष कहा जाता है।

आयुर्वेदशास्त्र के प्रयोजन की दृष्टि से चिकित्स्यपुरुष केवल ‘चेतना’ एक-धातुजपुरुष नहीं हो सकता, क्योंकि विकार के अधिष्ठान तो शरीर और मन होते हैं^२। आत्मा निर्विकार होता है^३ तो फिर उस निर्विकार की क्या चिकित्सा करनी है ? इसलिए एकधातुजपुरुष वस्तुतः आयुर्वेदसम्मत नहीं है। अत एव उसे (चेतनाधातु को) पुरुष की संज्ञा दी गयी है, न कि वह वास्तव में पुरुष माना गया है।

(२) षड्धातुजपुरुष—आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी ये पाँच महाभूत और चेतनावान् आत्मा इन छह के संयोग से बने होने के कारण इसमें छह उपादान हैं, अतः यह ‘षड्धातुज’^४ माना जाता है। सुश्रुताचार्य ने भी पञ्चमहाभूत और आत्मा इन छह के संयोग को पुरुष माना है^५, महर्षि

१. चेतनाधातुरप्येकः स्मृतः पुरुषसंज्ञकः । —चरक० शा० १।१६

२. शरीरं सत्त्वसंज्ञं च व्याधीनामाश्रयो मतः । —चरक० सूत्र० १।५५

३. निर्विकारः परस्त्वात्मा । —चरक० सूत्र० १।५६

४. खादयश्चेतना षष्ठा धातवः पुरुषः स्मृतः । —चरक० शा० १।१६

५. पञ्चमहाभूतशरीरिसमवायः पुरुष इत्युच्यते । —सुश्रुत० सूत्र० १।२२

हिरण्याक्ष ने भी पुरुष को 'षड्धातुज' कहा है^१। वे अपने मत के समर्थन में प्राचीन आचार्यों की सहमति का भी उल्लेख करते हैं^२।

चरक का 'षड्धातुजपुरुष' वैशेषिकदर्शन के अनुसार चिकित्सा का अधिकारी चिकित्स्यपुरुष है। यहाँ चेतना शब्द से चेतना के आधार मन के साथ आत्मा का ग्रहण होता है। 'खादि' कहने से इन्द्रियों का भी ग्रहण हो जाता है क्योंकि आयुर्वेद में इन्द्रियाँ पञ्चभौतिक मानी जाती हैं^३। षड्धातुज-पुरुष में शरीर के उपादान पञ्चमहाभूत और मन का भी ग्रहण हो जाने से आयुर्वेद के प्रयोजन^४—(१) स्वास्थ्यसंरक्षण और (२) रोगनिवर्तन—इन दोनों का प्रयोग इस पर हो सकता है। इसलिए यह षड्धातुज पुरुष अपने में कर्मपुरुष, चिकित्स्यपुरुष और अधिकरणपुरुष आदि उपाधियाँ धारण करने में सक्षम है^५। यह चतुर्विंशतिकपुरुष का संक्षिप्त संस्करण है।

(३) चतुर्विंशतितत्त्वात्मकपुरुष—पूर्व में कथित षड्धातुज पुरुष का ही विस्तार है 'चतुर्विंशतिकपुरुष'। इस समुदाय में सब का मूल है अव्यक्त। उसे ही मूलप्रकृति या चेतनाधातु भी कहते हैं। दूसरी श्रेणी में प्रकृति-विकृतियों की गणना होती है। वे अन्य तत्त्वों को जन्म देती हैं, इसलिए 'प्रकृति' हैं किन्तु वे किसी दूसरे से पैदा होती हैं इस कारण 'विकृति' भी हैं। यही कारण है, कि उन्हें 'प्रकृति-विकृति' कहा जाता है। उनकी संख्या सात है और वे हैं—(१) महान् (२) अहंकार (३) शब्दतन्मात्रा (४) स्पर्श-तन्मात्रा (५) रूपतन्मात्रा (६) रसतन्मात्रा और (७) गन्धतन्मात्रा। विकारों की संख्या सोलह है—श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, चिह्ना और घ्राण, ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, हाथ, पैर, वाणी, गुद और उपस्थ, ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ, ज्ञान-कर्मेन्द्रिय मन और पञ्चमहाभूत—आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी। अव्यक्त, महान्, अहंकार, एकादश इन्द्रियों का समुदाय (=१४) पञ्चमहाभूत (५) और पाँच अर्थ (विषय) (५) (=२४) के समुदाय को 'चतुर्विंशतितत्त्वात्मक

१. षड्धातुजस्तु पुरुषो रोगाः षड्धातुजास्तथा ।—चरक० सूत्र० २५।१५

२. राशिः षड्धातुजो ह्येष सांख्यैराद्यैः प्रकीर्तितः । —वही

३. चेतनाषष्ठा इत्यत्र चेतनाशब्देन समनस्क आत्मा गृह्यते, खादिग्रहणेन चेन्द्रियाणि खादिमयान्यवरुद्धानि । —चरक० शा० १।१६ पर चक्रपाणि

४. प्रयोजनं चास्य स्वस्थस्य स्वास्थ्यसंरक्षणमातुरस्य विकारप्रशमनं च ।

—चरक० सू० ३०।२६

५.पुरुष इत्युच्यते, तस्मिन् क्रिया सोऽधिष्ठानम् ।

—सुश्रुत० सूत्र० १।२२

पुरुष' कहते हैं। आयुर्वेद के अनुसार इनमें अव्यक्त, महान् अहंकार और पञ्च-महाभूत ये आठ प्रकृतियाँ हैं, दश इन्द्रियाँ, मन और पाँच शब्दादि अर्थ, ये १६ (षोडश) विकार हैं^१। एवं ८ प्रकृतियाँ और १६ विकार मिलकर चतुर्विंशति-तत्त्वात्मक^२ पुरुष का निर्माण करते हैं। इसी को 'राशिपुरुष' भी कहते हैं।

विमर्श—सांख्यदर्शन पुरुष को सृष्टि का कारण नहीं मानता, किन्तु उसके मत से अचेतन प्रकृति कार्य करने में असमर्थ होती है इसलिए सृष्टि के लिए पुरुष का भी सहयोग आवश्यक मानकर^३ उसकी भी गणना अलग से (प्रकृति के अलावे) कर लेते हैं, जिससे उनके मत से पुरुष 'पञ्चविंशतितत्त्वात्मक' होता है।

चतुर्विंशतिक पुरुष को ही राशि पुरुष कहते हैं और वह राशि पुरुष अनित्य है, क्योंकि वह हेतुज होता है।^४ उसकी उत्पत्ति के कारण हैं^५— मोह (अज्ञान, मिथ्याज्ञान, मान, प्रमाद आदि), इच्छा (काम, मत्सर, तृष्णा, स्पृहा, लोभ प्रभृति), द्वेष (क्रोध, ईर्ष्या, असूया, द्रोह, अमर्ष आदि) और कर्म (पूर्वजन्मकृत शुभाशुभसंस्कार)। यह पूर्वजन्म के राग, द्वेष, मोह तथा शुभाशुभकर्मों के संस्कार के अनुसार दैव, मानुष और तिर्यग् योनियों में जन्म लेता है^६। यह कर्मज पुरुष 'राशिपुरुष' कहलाता है। इस स्थूल शरीर के नष्ट हो जाने पर यह राशिपुरुष अपने कर्मों के अनुसार लिङ्गशरीर धारण कर विविध योनियों में भ्रमण करता है। यह कर्मज होने के कारण मन, बुद्धि

१. खादीनि बुद्धिरव्यक्तमहंकारस्तथाऽष्टमः ।

भूतप्रकृतिरुद्दिष्टा विकाराश्चैव षोडश ॥

बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चैव पञ्च कर्मेन्द्रियाणि च ॥

समनस्काश्च पञ्चार्था विकारा इति संज्ञिताः ॥

—चरक० शा० १।६३-६४

२. पुनश्च धातुभेदेन चतुर्विंशतिकः स्मृतः ।

मनो दशेन्द्रियाण्यर्थाः प्रकृतिश्चाष्टधातुकी ॥ —चरक० शा० १।१७

मूलप्रकृतिरविकृतिः महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त ।

षोडशकश्च विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥

—सां० का० ३

३. पञ्चवन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः ।

—सां० का० २१

४. अनादिः पुरुषो नित्यो विपरीतस्तु हेतुजः ।

सदकारणवन्नित्यं दृष्टं हेतुजमन्यथा ॥ —चरक० शा० १।५९

५. पुरुषो राशिसंज्ञस्तु मोहेच्छाद्वेषकर्मजः ।

—चरक० शा० १।५३

६. तिर्यग्योनिमानुषदेहेषु सञ्चरन्ति धर्माधर्मनिमित्तम् ।

—सुश्रुत० शा० १।१७

और अहंकार से छुटकारा नहीं पाता है और एक शरीर को छोड़कर दूसरे, तीसरे, चौथे शरीरों में जन्म जन्मान्तर पर्यन्त चक्कर काटता रहता है^१ ।

रज तम से संयुक्त पुरुष का यह बुद्धि, इन्द्रिय मन और अर्थ का संयोग दूसरे शब्दों में चौबीस तत्त्वों का संयोग अनन्तवान् होता है अर्थात् इस संयोग का कभी अन्त नहीं होता है^२ । बुद्धि इन्द्रिय मन और अर्थ इनके योग को धारण करने वाले को पर कहा गया है और चतुर्विंशतिकतत्त्व की राशि को 'राशिपुरुष' कहा गया है^३ ।

आयुर्वेद के लक्ष्य 'स्वास्थ्यसंरक्षण' और 'व्याधिपरिमोक्षण' रूपी दोनों प्रयोजनों का अधिष्ठान 'कर्मपुरुष' ही हो सकता है । इसलिए 'षड्धातुज' या 'चतुर्विंशतितत्त्वात्मक' पुरुष आयुर्वेद के अधिकरण हैं । यद्यपि पशु-पक्षी भी षड्धातुज या चतुर्विंशतिधातुज होते हैं, किन्तु चिकित्सा में उनका ग्रहण नहीं किया गया, अपितु केवल मनुष्य का ही ग्रहण किया गया है, क्योंकि इस सृष्टि में सर्वोत्कृष्ट प्राणी मानव है और अन्य सारी सृष्टि उस मानव के लिए ही रची गयी है, जो मानव के जीवनोपकरणरूप है^४ ।

वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो षड्धातुजपुरुष ही 'कर्मपुरुष' है । चौबीस तत्त्व छह तत्त्वों में गतार्थ हो जाते हैं । जैसे मन, महान् (बुद्धि) अहंकार इन तीनों में आत्मा के लक्षण होने से इनका अन्तर्भाव आत्मा में मान लिया जाता है । प्रकृति अपने परिणतरूप पञ्चमहाभूतों में अन्तर्भूत हो जाती है । आयुर्वेद शास्त्र के सिद्धान्त में इन्द्रियाँ भौतिक होती हैं, अतः ये अपने कारणभूत पञ्चमहाभूतों में अन्तर्भूत होती हैं । पञ्चतन्मात्राएँ अपनी अपनी प्रकृति पञ्चमहाभूतों में ही अन्तर्हित हो जाती हैं । अतः आयुर्वेद 'षड्धातुज' पुरुष को चिकित्सा की दृष्टि से मान्यता प्रदान करता है^५ ।

१. अतीन्द्रियैस्तैरतिसूक्ष्मरूपैरात्मा कदाचिन्न वियुक्तरूपः ।

न कर्मणा नैव मनोमतिभ्यां न चाप्यहङ्कारविकारदोषैः ॥

—चरक० शा० २।३७

२. रजस्तमोभ्यां युक्तस्य संयोगोऽयमनन्तवान् ।

ताभ्यां निराकृताभ्यां तु सत्त्वबुद्ध्या निवर्तते ॥—चरक० शा० १।३६

३. बुद्धीन्द्रियमनोऽर्थाणां विद्याद्योगधरं परम् ।

चतुर्विंशतिको ह्येष राशिः पुरुषसंज्ञकः ॥ —चरक० शा० १।३५

४. 'तत्र पुरुषः प्रधानं तस्योपकरणमन्यत् । तस्मात् पुरुषोऽधिष्ठानम्' ।

सुश्रुत० सूत्र० १।२२

५. तत्र शरीरं नाम चेतनाधिष्ठानभूतं पञ्चमहाभूतविकारसमुदायात्मकम् ।

—चरक० शा० ६।४

सूक्ष्मशरीर (लिङ्गशरीर)

चरकसंहिता के शारीरस्थान-द्वितीय अध्याय में एक प्रश्नोत्तर दिया हुआ है, जिससे 'सूक्ष्मशरीर' पर प्रकाश पड़ता है। आत्मा एक देह को छोड़कर दूसरे शरीर में कैसे जाता है ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है—कि मन के संयोग से ही गमन करने वाला (मनोजव) आत्मा आकाश को छोड़कर शेष चार महाभूतों के सूक्ष्म रूप के साथ मृत देह से निकलकर पुनः नूतन शरीर में चला जाता है। इस प्रकार जीर्ण देह का त्याग और नूतन देह को प्राप्त करना—यह आत्मा का कार्य उसके पूर्व जन्मकृत कर्म के अनुसार होता है। नूतन शरीर में जब आत्मा प्रवेश करती है, तो उसका रूप दृश्य नहीं होता, किन्तु जिन लोगों को तपस्या या योग के द्वारा दिव्य दृष्टि प्राप्त है वे आत्मा को मृत शरीर से निकलते और नवीन शरीर में प्रवेश करते देखते हैं। जब तक दिव्य दृष्टि नहीं प्राप्त होती, तब तक आत्मा का दर्शन नहीं होता है^१।

यद्यपि आत्मा को निष्क्रिय माना गया है, परन्तु मन द्वारा किये हुए शुभा-शुभ कर्मफल का भोक्ता आत्मा ही होता है। कर्मों के फलों के वशीभूत आत्मा स्पर्शतन्मात्रा, रूपतन्मात्रा रसतन्मात्रा और गन्धतन्मात्रा इन अतीन्द्रिय सूक्ष्म चार भूतों और मन के साथ होकर नाना योनियों में गमन करता है। इस आत्मा को नानायोनि में गमन कराने वाला मन ही होता है^२। आत्मा के साथ जब तक सूक्ष्म चार महाभूत, मन, दस इन्द्रियाँ, बुद्धि (महान्) और अहंकार ये सत्रह तत्त्व लगे रहते हैं, तब तक वह 'लिङ्गशरीर' धारण कर अनेक योनियों में घूमता रहता है, इसे ही 'सूक्ष्मशरीर' कहते हैं। सूक्ष्मशरीर प्रलयकाल पर्यन्त स्थायी होने से नियत (नित्य) कहा जाता है^३। सूक्ष्मशरीर में प्रलयकालपर्यन्त स्थायित्व रूप नित्यत्व माना जाता है।

यह सूक्ष्मशरीर महान्, मन; अहंकार, पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चकर्मेन्द्रिय तथा पञ्चतन्मात्राओं के आधार पर प्रकृति के द्वारा सृष्टि के आरम्भ काल में सर्व-प्रथम उत्पन्न होता है। यह सतत गतिशील तथा नित्य है। यह प्रतिपुरुष अलग-अलग उत्पन्न होता है। इसी सूक्ष्मशरीर को 'लिङ्गशरीर' भी कहते हैं।

१. भूतैश्चतुर्भिः सहितः सुसूक्ष्मैर्मनोजवा देहमुपैति देहात् ।

कर्मात्मिकत्वाच्च तु तस्य दृश्यं दिव्यं विना दर्शनमस्ति रूपम् ॥

—चरक० शा० २।३१

२. नित्यानुबन्धं मनसा देहकर्मानुपातिना ।

—चरक० शा० १।८१

३. सूक्ष्मास्तेषां नियता (मातापितृजा निवर्तन्ते) । —सां० का० ३९

शुभाशुभकर्मों के अनुसार यह धर्म-अधर्म, ज्ञान-अज्ञान, वैराग्य-अवैराग्य, ऐश्वर्य-अनैश्वर्य, इन आठ भावों से युक्त होता है। जो कोई व्यक्ति बिना ज्ञान प्राप्त किये मर जाता है, तब मृत्यु के समय उसकी आत्मा के साथ ही उक्त अठारह तत्त्वात्मक लिङ्गशरीर भी स्थूल शरीर से बाहर हो जाता है और जब तक उस पुरुष को ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो जाती, तब तक उस पुरुष को लिङ्गशरीर के कारण ही कर्मों के फलोपभोग के लिए नये नये जन्म लेने पड़ते हैं। एवं यह लिङ्गशरीर पूर्व पूर्व स्थूल शरीरों को छोड़कर नये-नये स्थूलशरीरों के अन्दर प्रवेश करता रहता है^१।

जिस प्रकार आश्रय के बिना चित्र का, वृक्ष आदिकों के बिना छाया का रहना सर्वथा असंभव है, उसी प्रकार सूक्ष्मशरीर के बिना बुद्धि आदि त्रयोदश प्रकार के करणों (पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चकर्मेन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहङ्कार) का निराश्रय होकर रहना नितान्त अशक्य है। अतः सूक्ष्मशरीर का स्वीकार करना नितान्त आवश्यक है, क्योंकि वह त्रयोदश करणों का आश्रय है^२।

विमर्श—सांख्यशास्त्र के अनुसार महान्, अहंकार, पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चकर्मेन्द्रिय, उभयात्मक मन और पञ्चतन्मात्रा इन अठारह तत्त्वों से युक्त सूक्ष्म या 'लिङ्गशरीर' होता है। किन्तु आचार्य 'कपिल' ने एकादश इन्द्रिय, पञ्चतन्मात्रा और बुद्धि के संयोग को लिङ्गशरीर माना है 'सप्तदशिकं लिङ्गम्'। आयुर्वेद आकाश को विभु मानता है और लिङ्गशरीर में चार ही भूतों (वायु, अग्नि, जल और पृथिवी) को मानता है। इस प्रकार लिङ्गशरीर में आत्मा सूक्ष्म अतीन्द्रिय भूतों से पृथक् नहीं हो पाता है। इस (आयुर्वेद) में ४-भूत, ३-मन, बुद्धि, अहंकार और १०-इन्द्रियाँ=कुल १७ सत्रह तत्त्वों से युक्त लिङ्गशरीर को माना गया है^३।

१. पूर्वोत्पन्नमसक्तं नियतं महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम् ।

संसरति निरुपभोगं भावैरधिवासितं लिङ्गम् ॥ — सां० का० ४०

२. चित्रं यथाश्रयमृते स्थाण्वादिभ्यो बिना यथा छाया ।

तद्वद्विना विशेषैर्न तिष्ठति निराश्रयं लिङ्गम् ॥ — सां० का० ४१

३. भूतानि चत्वारि तु कर्मजानि यान्यात्मलीनानि विशन्ति गर्भम् ।

स बीजधर्मा ह्यपरापराणि देहान्तराण्यात्मनि याति याति ॥

रूपादि रूपप्रभवः प्रनिद्धः कर्मात्मकानां मनसो मनस्तः ।

भवन्ति ये त्वाकृतिबुद्धिभेदाः रजस्तमस्तत्र च कर्महेतुः ॥

अतीन्द्रियैस्तैरतिसूक्ष्मरूपैरात्मा कदाचिन्न वियुक्तरूपः ।

न कर्मणा नैव मनोमतिभ्यां न चाप्यहङ्कारविकारदोषैः ॥

जीवात्मा के भोग तथा अपवर्ग रूप पुरुषार्थ के कारण यह सूक्ष्मशरीर धर्म-अधर्म, ज्ञान-अज्ञान आदि निमित्तकारणीभूत अष्टविध भावपदार्थों के आधार पर अनेक योनियों में भ्रमण करता है। यह कभी देव शरीर, कभी मनुष्य, कभी पशु-पक्षी, कभी कीट-पतंग, कभी वृक्ष-लता आदि नैमित्तिक स्थूल शरीरों को ग्रहण करता है और उसका कार्य नाटक के उस पात्र की तरह है, जो कभी राम, कभी कृष्ण, कभी परशुराम, कभी हरिश्चन्द्र और कभी अर्जुन का स्वरूप धारण कर उन-उन चरित्रों का प्रदर्शन करता रहता है।

सूक्ष्मशरीर को नानाविध स्थूल शरीरों में संसरण करने की शक्ति कैसे प्राप्त होती है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा गया है, कि सांख्य ने कार्य और कारण का अभेद होने के कारण सूक्ष्म शरीरात्मक कार्य तथा प्रकृतिरूप कारण का तादात्म्य माना है, अतः एव प्रकृति के विभु होने के नाते सर्वत्र स्थूल-शरीरों में सूक्ष्म शरीर का संसरण संपन्न हो जाता है। निमित्त (धर्म, अधर्म आदि कारण) और नैमित्तिक (स्थूलशरीररूपी कार्य) के साथ सम्बन्धित होने के नाते यह सूक्ष्म शरीर बराबर संसरण करता रहता है।

निमित्त और नैमित्तिक-धर्म-अधर्म, ज्ञान-अज्ञान, वैराग्य-अवैराग्य ऐश्वर्य-अनैश्वर्य ये अष्टविध भावपदार्थ दो प्रकार के माने गये हैं—(१) प्राकृतिक और (२) वैकृतिक।

प्राकृतिक वे भाव पदार्थ हैं, जो प्राणी के लिए सांसिद्धिक (स्वाभाविक) होते हैं अर्थात् जन्म से ही वे उत्पन्न हो जाते हैं—जैसे—महामुनि कपिल धर्म-ज्ञान-वैराग्य और ऐश्वर्य इन चतुर्विध भावपदार्थों से सम्पन्न होकर ही उत्पन्न हुए थे। वैकृतिक अर्थात् जन्मोत्तरकालीन संस्कारवशात् उत्पन्न भाव। जैसे—ईश्वराराधन, ज्ञानयोग, भक्तियोग और तपश्चरण के आधार पर प्राप्त भाव। उदाहरण के तौर पर वाल्मीकि महर्षि ने श्री रामनाम के जप से महाकवित्व की प्रतिभा अर्जित की। इसी प्रकार अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य, ये राक्षस प्रकृति वालों को तो प्राकृतिक माने गये हैं और उनका संसर्ग करने वालों (चोर, डकैत आदि) के वैकृतिक (नैमित्तिक) भाव कहे गये हैं। तथा ये अष्टविधभावपदार्थ बुद्धितत्त्वरूप कारण के अधीन हैं। इनके परिणामभूत

रजस्तमोभ्यां हि मनोज्जुबद्धं ज्ञानाद् विना तत्र हि सर्वदोषाः ।

गतिप्रवृत्त्योस्तु निमित्तमुक्तं मनः सदोषं बलवच्च कर्म ॥

—चरक० शा० २।३५-३८

१. पुरुषार्थहेतुकमिदं निमित्तनैमित्तिकप्रसङ्गेन ।

प्रकृतेर्विभुत्वयोगान्नटवद् व्यवतिष्ठते लिङ्गम् ॥ —सां० का० ४२

कलल-बुद्बुद आदि एवं बाल्य-यौवन-वार्धक्य आदि अवस्था विशेष स्थूल-शरीरात्मक कार्य के आश्रित हैं^१ ।

पुरुष के संयोग से प्रकृति में चैतन्य

प्रकृति अचेतन है^२ और जब वह पुरुष से संयुक्त होती है, तभी उसमें चेतनता आती है । सृष्टि की उत्पत्ति अचेतन प्रकृति से कैसे हो सकती है ? इस प्रश्न का उत्तर है, कि जैसे चुम्बक के सान्निध्य से शरीर के अङ्गों के लोहज शल्य बाहर निकल आते हैं^३ या सूर्यकान्त मणि सूर्य की किरणों के सम्पर्क से जल उठती है तथा चन्द्रमा की किरणों के सम्पर्क से चन्द्रकान्तमणि द्रवीभूत हो जाती है^४, उसी तरह पुरुष के साहचर्य से प्रकृति में चैतन्य भाव आ जाता है ।

पुरुष सचेतन होने पर भी अकर्ता होने के कारण और प्रकृति कर्त्री होने पर भी अचेतन होने के कारण ये दोनों स्वतन्त्रतया सर्गोत्पत्ति नहीं कर सकते । जैसे-पङ्गु और अन्धा स्वतन्त्रतया रास्ता चलकर अपने अभीप्सित स्थान पर जाने में असमर्थ होते हैं, परन्तु संयुक्त होने पर (पङ्गु जब अन्धे के कन्धे पर सवार हो जाता है) वे रास्ता पार कर लेते हैं, वैसे ही प्रकृति और पुरुष स्वतन्त्रतया सृष्टि की उत्पत्ति करने में असमर्थ होने पर भी जब वे संयुक्त होते हैं तब वे सृष्टि की उत्पत्ति करने में समर्थ हो जाते हैं^५ ।

सचेतन पुरुष का साथ होने पर जड़ प्रकृति सृष्टि का कार्य प्रारम्भ कर देती है । जिस प्रकार नर्तकी नाना प्रकार के नाच और हाव-भावों के द्वारा प्रेक्षकों का मनोरञ्जन करती है, वैसे ही प्रकृति भी नाना प्रकार की उपभोग्य वस्तुओं द्वारा पुरुष का मनोरञ्जन करके उसको अपनी ओर आकृष्ट करती है । प्रकृति की सृष्टि की ओर प्रवृत्ति का लक्ष्य है पुरुष का मोक्ष^६ । पुरुष के कैवल्य के लिए प्रकृति की प्रवृत्ति स्वभाव से, संस्कार से होती है^७ । प्रकृति से

१. सांसारिकाश्च भावाः प्राकृतिका वैकृताश्च धर्माद्याः ।

दृष्टाः करणाश्रयिणः कार्याश्रयिणश्च कललाद्याः ॥—सां० का० ४३

२. “एका तु प्रकृतिरचेतना” —सुश्रुत० शा० १।८

३. यथा अयस्कान्तमणेः सान्निध्यमात्रेण शल्यनिष्कर्षकत्वम् ।

४. तत्तत् सान्निधानादधिष्ठातृत्वं मणिवत् । —सांख्यसूत्र० १।९६

५. पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः । —सां० का० २१

६. सत्यप्यचैतन्ये प्रधानस्य पुरुषकैवल्यार्थं प्रवृत्तिमुपदिशन्ति ।

—सुश्रुत० शा० १।७

७. स्वभावाच्चेष्टितमनभिसन्धानात् भृत्यवत् । —सांख्यसूत्र० ३।६१

लेकर महाभूतों तक का चतुर्विंशतितत्त्वात्मकवर्ग अचेतन है। पञ्चीसवाँ तत्त्व पुरुष, जब कार्य-कारण से संयुक्त होकर चैतन्य प्रदान करने में समर्थ होता है, तब इस संयोग में चेतनता होती है^१। अचेतन होने पर भी प्रकृति की प्रवृत्ति पुरुष के मोक्ष के लिए होती है, यह सांख्य का सिद्धान्त है, और इसके उदाहरण के लिए क्षीर का दृष्टान्त देते हैं। जैसे-दूध के स्वयं 'अज्ञ' होते हुए भी बच्चा पैदा होने पर तत्काल उस बच्चे के पोषण-संवर्धन के लिए दूध की प्रवृत्ति होती है, उसी तरह प्रकृति के स्वयं अचेतन रहते हुए भी, पुरुष का संयोग होते ही उसके मोक्ष के लिए सर्गोत्पत्ति की प्रवृत्ति होती है^२।

उपर्युक्त दृष्टान्तों से यह स्पष्ट है, कि अचेतन प्रकृति का जब पुरुष से संयोग होता है तभी प्रकृति में चैतन्य आता है।

शरीर, इन्द्रिय, मन और आत्मा का सम्बन्ध

शरीर, इन्द्रिय, मन और आत्मा के संयोग को 'आयु' कहते हैं। इस संयोग का नाम जीवन, जीवित, धारि या अनुबन्ध है^३। इसी को अंग्रेजी में 'लाइफ' (Life) कहते हैं। इस संयोग के होने पर प्राणों की स्थिति है। आयु का प्रवाह सततगामी होने से आयु को 'नित्यग' कहा जाता है। आयु शरीर को शीर्ण होने से (सड़ने से) बचाकर शरीर का धारण करता है, इसलिए इसे 'धारि' कहा जाता है। आयु के विचार का, ज्ञान का, अस्तित्व का और उसके लाभ का जो शास्त्र है उसे आयुर्वेद कहते हैं। समस्त आयुर्वेदशास्त्र 'आयु' की रक्षा के लिए निमित्त हुआ है। इस सृष्टि में प्राणियों का जीवन सबसे अधिक मूल्यवान् वस्तु है। सभी प्राणी जीवन के लिए संसार के समग्र प्रयास अध्यवसाय में रत हैं। जीवन की इच्छा सर्वोत्कृष्ट इच्छा है,^४ जो प्राणों के पालन से सुरक्षित होता है। इस तरह शरीर, इन्द्रिय मन और आत्मा का सम्बन्ध ही इस संसार का प्रेरक, नियामक और संस्थापक है, यदि इनका सम्बन्ध बिखर जाये तो इस विशाल सृष्टि की सारी उपयोगिता मिट्टी में

१. तत्र सर्व एवाचेतन एष वर्गः, पुरुषः पञ्चविंशतितमः कार्यकारण-संयुक्तश्चेतयिता भवति।

२. वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य।

पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य ॥ —सां० का० ५७

३. शरीरेन्द्रियसत्त्वात्म-संयोगो धारि जीवितम्।

नित्यगश्चानुबन्धश्च पर्यायैरायुरुच्यते ॥ —च० सू० १।४२

४. प्राणैषणां तावत् पूर्वतरमापद्येत्। कस्मात्? प्राणपरित्यागे हि सर्व-परित्यागः।

—चरक० सूत्र० ११।४

मिल जायेगी। आयु के इस संयोग में आत्मा चेतन है, किन्तु क्रियावान् नहीं है। मन क्रियावान् है, किन्तु वह चेतन नहीं है। इन्द्रियाँ मन के साथ होने पर ही अपने विषयों का ग्रहण करती हैं, अन्यथा नहीं। शरीर भी आत्मसंयुक्त होने पर मन और इन्द्रियों के यथावद् व्यापार होते रहने पर ही मूल्यवान् है, आत्मा से वियुक्त हो जाने पर वह निर्जीव हो जाता है और उसे कोई घर में रखना नहीं पसन्द करता, न उसकी कोई उपयोगिता ही होती है। इस प्रकार इन चारों का संयोग 'आयु' है और इस संयोग के व्यवस्थित रहने पर ही संसार का सारा वैभव, सारा ऐश्वर्य अपना महत्त्व रखता है। इस आयु की रक्षा के लिए सदैव सावधान और जागरूक रहना प्रत्येक प्राणी का परम कर्तव्य है। इसकी रक्षा के लिए दो तरह का प्रयोजन बतलाया गया है—स्वस्थ व्यक्ति के लिए 'स्वस्थवृत्त' के नियमों का पालन और रोगी व्यक्ति की चिकित्सा करने में सावधानी रखना। इन दोनों ही बातों का आयुर्वेदशास्त्र में बड़े विस्तार के साथ विवेचन किया गया है^१।

उक्त चारों के संयोग के बिना ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती है। ज्ञानोत्पत्ति प्रकार यह है—कि प्रथम आत्मा मन के संयुक्त होता है, उसके अनन्तर आत्म-संयुक्त मन का इन्द्रियों के साथ और तब आत्ममनःसंयुक्त इन्द्रिय का अपने इन्द्रियार्थ के साथ जब सम्बन्ध होता है तब उस इन्द्रिय के विषय का ज्ञान होता है^२। जीवन के जितने भी व्यापार हैं, शरीर के तन्त्र और यन्त्र एवं इनकी उपयोगिता सब कुछ शरीर, इन्द्रिय, मन और आत्मा के संयोग रूप आयु पर आश्रित है। यह संयोग ही जीवन है और इनका विखर जाना ही मृत्यु है।

अध्यात्म द्रव्य-गुण-कर्म^३

मन और आत्मा अध्यात्म द्रव्य हैं। मन के विषय—चिन्त्य, विचार्य, ऊह्य,

१. तस्यानुपालनं—स्वस्थस्य स्वस्थवृत्तानुवृत्तिः, आतुरस्य विकारप्रशमने-
ऽप्रमादः। तदुभयमेतदुक्तं वक्ष्यते च। तद्यथोक्तमनुवर्तमानः प्राणानुपालनादीर्घ-
मायुरवाप्नोति।

—चरक० सूत्र० १११४

२. ताः (इन्द्रियबुद्धयः) पुनरिन्द्रियेन्द्रियार्थसत्त्वात्मसन्निकर्षजाः।

—चरक० सू० ८११२

तथा

आत्मेन्द्रियमनोऽर्थानां सन्निकर्षात् प्रवर्तते।

मुखदुःखम्... ॥ —चरक० शा० १११३८

३. मनो मनोऽर्थो बुद्धिरात्मा चेत्यध्यात्मद्रव्यगुणसंग्रहः शुभाशुभप्रवृत्ति-
निवृत्तिहेतुश्च, द्रव्याश्रितं च कर्म, यदुच्यते क्रियेति। —चरक० सूत्र० ८११३

ध्येय, संकल्प और बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न ये आध्यात्मिक गुण हैं। बुद्धि से चक्षुर्बुद्धि, श्रोत्रबुद्धि, घ्राणबुद्धि, रसनाबुद्धि और स्पर्शबुद्धि भी ग्रहीत होती हैं, क्योंकि आचार्य चक्रपाणि ने इन्द्रियों के विषय—शब्द, स्पर्श रूप, रस और गन्ध को भी गुण कहा है। ये अध्यात्मद्रव्य शुभ और अशुभ विषयों की प्रवृत्ति और निवृत्ति में हेतु हैं। द्रव्य के आश्रित कर्म भी शुभ अशुभ कर्मों में प्रवृत्ति या निवृत्ति में हेतु हैं। यहाँ कर्म से आत्मा और मन के कर्मों को ग्रहण करना चाहिए। जैसे—आत्मा के कर्म हैं—उच्छ्वास-निःश्वास, निमेष-उन्मेष, जीवन, मनोगति, इन्द्रियान्तरसंचार, इन्द्रियों को प्रेरित और नियन्त्रित करना, स्वप्न में देशान्तर गमन, अहंकार, स्मृति, धैर्य, ज्ञान आदि^१। मन के कर्म हैं—इन्द्रियों का तथा स्वयं का नियमन करना^२। यद्यपि आत्मा क्रियाशून्य है और सभी क्रियाएँ जो आत्मा की बतलायी गयी हैं, उनका सम्पादन मन ही करता है तथापि मन अचेतन है एवं उसे चेतना प्रदान करने वाला आत्मा होता है, इसलिए आत्मा ही कर्ता कहा जाता है। मन के द्वारा किये गये कर्मों का कर्ता और भोक्ता आत्मा ही कहा जाता है^३।

विमर्श—जब मन में रज और तम गुण की अधिकता होती है तो अशुभ कर्मों में तथा सात्त्विक गुण की अधिकता होने पर शुभ कर्मों में प्रवृत्ति होती है। सद्वृत्तिनिरूपण के प्रकरण (चरक० सूत्र० अ० ८) में जो सात्त्विक आचार या कर्तव्य निर्दिष्ट किये गये हैं अथवा आचाररसायन (चरक० चि० अ० १) में जो बातें कहीं गयी हैं उनका आचरण करना अध्यात्मकर्म है। 'सद्वृत्त' में बतलाये गये नियमों का पालन करना प्रत्येक मनुष्य का धर्म है, क्योंकि उससे आरोग्य की उपलब्धि होती है^४।

१. प्राणापानौ निमेषाद्या जीवनं मनसो गतिः ।

इन्द्रियान्तरसञ्चारः प्रेरणं धारणं च यत् ॥

देशान्तरगतिः स्वप्ने पञ्चत्वग्रहणं तथा ।

दृष्टस्य दक्षिणेनाक्ष्णा सव्येनावगमस्तथा ॥

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं प्रयत्नश्चेतना वृत्तिः ।

बुद्धिः स्मृतिरहंकारो लिङ्गानि परमात्मनः ॥ —च० शा० १।७०—७२

२. इन्द्रियाभिग्रहः कर्म मनसः स्वस्थ निग्रहः ॥ —चरक० शा० १।२१

३. चेतनावान् यतश्चात्मा ततः कर्ता निरुच्यते ।

अचेतनत्वाच्च मनः क्रियावदपि नोच्यते ॥ —चरक० शा० १।७६

४. तस्मादात्महितं चिकीर्षता सर्वेण सर्वं स्मृतिमास्थाय सद्वृत्तमनुष्ठेयम् ।

तद्धि अनुतिष्ठन् युगपत् सम्पादयत्यर्थद्वयमारोग्यमिन्द्रियविजयं चेति ।

—चरक० सूत्र० ८।१७

वेदना का अधिष्ठान—सेन्द्रिय देह और मन

‘विद् ज्ञाने’ धातु से वेदना शब्द बनता है, जिसका अर्थ है—ज्ञान (अनुभव) । वेदना का दूसरा पर्याय है—संवेदना^१ । संवेदना के दो प्रकार होते हैं—अर्थात्—दो तरह की संवेदनाएँ होती हैं—१. सुखात्मिका और २. दुःखात्मिका । सुख का अर्थ आरोग्य है एवं दुःख विकार को कहते हैं^२ । आरोग्य की संवेदना या रोग की संवेदना का आधार सेन्द्रिय शरीर और मन है । वेदना का अनुभव, चिन्तन एवं विमर्श मन ही करता है । इसलिए मन^३ शब्द का पहले प्रयोग किया गया है, जिससे वेदना के अधिष्ठान मन की प्रधानता स्पष्ट हो । शरीर ही मन का भी घर है और इन्द्रियों के बिना वेदना का अनुभव भी नहीं होता । इस कारण मन, शरीर और इन्द्रिय तीनों को ही वेदना का अधिष्ठान कहा गया है । जिन कारणों के अतियोग, मिथ्या और हीनयोग से रोग उत्पन्न होते हैं उन्हीं कारणों के समयोग से आरोग्य-लाभ की प्राप्ति होती है । मन, शरीर और इन्द्रिय न केवल रोग के अधिष्ठान हैं, अपितु ये आरोग्य के भी अधिष्ठान हैं, अर्थात्—सुख या दुःख इन्हीं को होता है । यह प्रकट करने के लिए वेदना शब्द का प्रयोग किया गया है ।

सेन्द्रिय देह को रोगाधिष्ठान^४ कहने का तात्पर्य यह है, कि निरीन्द्रिय केश, लोम, नखाग्र, अन्न, मल और मूत्र में वेदना नहीं होती है । ग्रहणी या मूत्र-कुच्छर रोग में जो मल और मूत्र सम्बन्धी वेदना होती है । वह भी मल और मूत्र के आधारभूत शरीर के प्रदेशविशेष में ही होती है, न कि मल-मूत्र में ।

वेदनानाश के कारण—आयुर्वेद न केवल चिकित्साशास्त्र है, अपितु यह एक ‘दर्शनशास्त्र’ भी है । आयुर्वेद स्वस्थ व्यक्ति की स्वास्थ्य की रक्षा और रुग्ण व्यक्ति के रोग का मोक्षण तो करता ही है,^५ साथ ही वह सर्वोच्च सुख (आत्यन्तिक वेदनानिवृत्ति) के लिए भी मार्गदर्शन करता है । आयुर्वेद चतुर्विंशतितत्त्वात्मक समूचे पुरुष की चिकित्सा करता है । एवं आयुर्वेद दो

१. अमरकोष रामाश्रमी टीका ३।२।६

२. सुखसंज्ञकमारोग्यं विकारो दुःखमेव च ।

—च० सू० ९।४

३. वेदनानामधिष्ठानं मनो देहश्च सेन्द्रियः ।

केशलोमनखाग्रान्नमलद्रवगुणैर्विना ॥

—च० शा० १।१३६

४. तत्र शरीरं नाम चेतनाऽधिष्ठानभूतं पञ्चमहाभूतविकारसमुदायात्मकं समयोगवाहि ।

—च० शा० ६।४

५. प्रयोजनं चास्य स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणमातुरस्य विकारप्रशमनञ्च ।

—च० सू० ३०।२६ ।

प्रकार से वेदना की निवृत्ति करता है। एक तो संसार से जीवित पुरुष को जब रोग पीड़ा पहुँचाते हैं, तो धातुवैषम्य को दूर कर धातुसाम्य^१ स्थापित करके दुःख को दूर करता है। दूसरे एक दर्शन होने के नाते त्रिविधताओं से सर्वथा मुक्ति दिलाने के लिए और जन्म-मरण के बलेश से मुक्त होने के लिए 'नैष्ठिकी चिकित्सा' के प्रशस्त पथ का निर्देश करता है—'नैष्ठिकी तु विनोप-धाम्'। (च० शा० १।९४)।

संसार में जन्म लेने का कारण, आत्मा का रज, तम से संयोग है। ये दोनों मन के दोष हैं। इनसे ही प्रेरित होकर मनुष्य अपने चारों तरफ मकड़ी के जाले की तरह कर्मसूत्रों का जाल बुनता है और उसी में फँसकर मरता-जीता रहता है^२। सांसारिक दुःखों में फँसा व्यक्ति इन्द्रियों और विषयों के सहकार से तृष्णा का संग्रह करता रहता है। इस प्रकार सुख से इच्छारूपी और दुःख से द्वेषरूपी तृष्णा होती है^३ और राग, द्वेष की वृद्धि होने से वह विषयों से विमुख नहीं हो पाता। परिणामस्वरूप वह कर्मों के बन्धन में आबद्ध होकर जन्म-जन्मान्तर तक वेदना के सागर में डूबता-उतराता रहता है^४।

सभी प्रकार की वेदनाओं के नाश करने के लिए सबसे पहले रज और तम इन मानस दोषों को दूर करना होगा, क्योंकि उन्हीं के कारण कर्मों में प्रवृत्ति होती है और उन कर्मों के फल को भोगने के लिए ही रोग होते हैं या जन्म लेना पड़ता है। रज और तम से छुटकारा पाने के लिए सत्त्वगुण को बढ़ाना होगा, जिससे 'सत्त्वबुद्धि' का उदय हो। इसीलिए 'लोक और पुरुष की समानता' का वर्णन करके यह स्थिति उत्पन्न की जाती है, कि मनुष्य इस तथ्य को समझ जावे, कि वह स्वयं सुख-दुःख का कर्ता है, दूसरा कोई नहीं^५।

१. धातुसाम्यक्रिया चोक्ता तन्त्रस्यास्य प्रयोजनम्। —च० सू० १।५३

२. कोषकारो यथा ह्यंशुनुपादत्ते वधप्रदान्।

उपादत्ते तथार्थेभ्यस्तृष्णामज्ञः सदाऽऽतुरः॥ —च० शा० १।९६

३. इच्छा द्वेषात्मिका तृष्णा सुखदुःखात् प्रवर्तते।

तृष्णा च सर्वदुःखानां कारणं पुनरुच्यते। —च० शा० १।९३४

४. अतीन्द्रियैस्तैरतिसूक्ष्मरूपैरात्मा कदाचिन्न वियुक्तरूपः।

न कर्मणा नैव मनोमतिभ्यां न चाप्यहंकारविकारदोषैः॥

रजस्तमोभ्यां हि मनोऽवबद्धं ज्ञानाद्विना तत्र हि सर्वदोषाः।

गतिप्रवृत्त्योस्तु निमित्तमुक्तं मनः सदोषं बलवच्च कर्म॥

—च० शा० २।३७-३८

५. सर्वलोकमात्मनि पश्यतो भवत्यात्मैव सुखदुःखयोः कर्ता। नान्य इति।

—च० शा० ५।७

फिर सभी तरह की प्रवृत्ति दुःख का कारण है और विषयों से निवृत्ति ही सुख है, यह सत्य ज्ञान उत्पन्न होता है^१। तदनन्तर निर्मल सत्त्वगुण का प्रकाश तृष्णा और मोह के तम को विदीर्ण कर प्रज्वलित होता है। जैसे—हवा के झोंके से रहित निश्छिद्र गृह में रक्खा हुआ दीपक स्थिर शान्त होकर प्रसन्नता पूर्वक जलता रहता है, उसी तरह विषयों के झोंके और इन्द्रियों से छिद्र बना होने पर सत्त्वगुण रूपी स्नेह से आत्मा रूपी दीपक में ज्ञानरूपी ज्योति स्थिर और शान्त होकर प्रज्वलित हो उठती है^२।

एवं निविषय मन आत्मस्थ हो जाता है^३ और मन का साहचर्य न होने पर इन्द्रियाँ भी विषयों को नहीं ग्रहण कर पातीं। विषयस्पर्श न होने पर सुख-दुःख रूपी वेदना नष्ट हो जाती है। इस प्रकार तत्त्व स्मृति के उदय होने पर सभी प्रकार की उपधा (तृष्णा) का नाश होकर सदा-सदा के लिए वेदना से निवृत्ति हो जाती है^४। एवं सभी प्रकार की तृष्णा का त्याग ही वेदना के नाश का हेतु है।

१. प्रवृत्तिर्दुःखम्, निवृत्तिः सुखमिति यज्ज्ञानमुत्पद्यते तत्सत्यम् ।

—च० शा० ५।८

२. ज्वलत्यात्मनि संरुद्धं तत्सत्त्वं संवृतायने ।

शुद्धः स्थिरः प्रसन्नार्चिर्दीपो दीपाशये यथा ॥

—च० शा० ५।१५

३. सुखदुःखमनारम्भादात्मस्थे मनसि स्थिरे ।

निवर्तते तदुभयं वशित्वं चोपजायते ॥

—च० शा० १।१३८

४. उपधा हि परो हेतुर्दुःखदुःखाश्रयप्रदः ।

त्यागः सर्वोपधानां च सर्वदुःखव्यपोहकः ॥

—च० शा० १।९५

सप्तदश अध्याय करण-विज्ञान

तेरह करण और उनके कार्य

त्रयोदशकरण—(१) कर्ण, (२) त्वचा, (३) नेत्र, (४) जिह्वा, और (५) घ्राण, (पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ) (६) वाणी, (७) पाणि (हाथ) (८) पाद (पैर) (९) पायु (गुद) (१०) उपस्थ (मूत्रेन्द्रिय) (पाँच कर्मेन्द्रियाँ) (११) महान् (बुद्धितत्त्व) (१२) अहंकार (१३) मन ये तेरह करण कहे जाते हैं। संक्षेप में पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चकर्मेन्द्रिय और मन, बुद्धि, अहंकार इन्हें करण कहते हैं^१।

करणों के कार्य—स्वतन्त्र सन्दर्भों में कर्मेन्द्रियों, ज्ञानेन्द्रियों, मन, बुद्धि और अहंकार के विषय में इनके कार्य आदि का विवरण विस्तारपूर्वक दिया गया है; जिन्हें उन-उन सन्दर्भों में देख लें। सांख्यकारिका में निम्नलिखित रूप से कारणों के कार्य बतलाए गए हैं—

ज्ञानेन्द्रियाँ—श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा और घ्राण ये क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध के ज्ञान के साधन हैं। ये प्रकाशात्मिका होती हैं।

कर्मेन्द्रियाँ—वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ ये क्रमशः बोलना, आदान (ग्रहण करना), विसर्ग, विहरण (चलना), (मलत्याग) और आनन्द एवम् मूत्रोत्सर्ग कार्य संपादित करती हैं।

आचार्य चरक^२ ने मन, बुद्धि, ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय को करण बतलाया है।

करणों के बाह्य-आभ्यन्तर-विभाग

(१) बाह्यकरण—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ बाह्यकरण हैं, और उनकी संख्या दस है। (विशेष वर्णन कर्मेन्द्रिय एवं ज्ञानेन्द्रिय शीर्षक में देखें।)

(२) अन्तःकरण^३—मन-बुद्धि और अहंकार ये तीन अन्तःकरण कहे जाते हैं। दोनों में भेद—बाह्यकरण अन्तःकरणों के विषय (भोग्य) हैं, अर्थात्

१. करणं त्रयोदशविधं तदाहरणधारणप्रकाशकरम् ।

कार्यं च तस्य दशधाऽऽहार्यं धार्यं प्रकाश्यं च । —सांख्यकारिका ३२

२. करणानि मनोबुद्धिर्बुद्धिकर्मेन्द्रियाणि च ।

—च० शा० १।५६

३. अन्तःकरणं त्रिविधं दशधा बाह्यं त्रयस्य विषयाख्यम् । —सां० ३३

जब उक्त तीनों अन्तःकरण क्रमशः अपने-अपने विषय का संकल्प (ऊहापोह, चिन्तन, विचार, विमर्श आदि) अध्यवसाय (निश्चयात्मक ज्ञान) और अभिमान करना चाहते हैं, तो ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ उनका माध्यम (द्वाररूप) होती हैं, क्योंकि अन्तःकरणों की प्रवृत्ति, ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय प्रवृत्तिपुरःसर होती है। अर्थात् जब मन, बुद्धि, अहंकार की क्रिया होती है, तो उस क्रिया के संचालन के लिए ज्ञानेन्द्रियाँ ही साधन होती हैं।

बाह्य और आभ्यन्तरकरणों की विलक्षणता

बाह्य इन्द्रियाँ केवल वर्तमानकाल तक सीमित होती हैं, जैसे—कान केवल वर्तमान शब्द को, नेत्र वर्तमान रूप को, त्वचा वर्तमान स्पर्श को, जिह्वा वर्तमान रस को और नासिका वर्तमान गन्ध को ही ग्रहण करती है, न कि भूत या भविष्य के शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध को। उसी प्रकार कर्मेन्द्रियाँ भी वर्तमान काल तक ही सामर्थ्य रखती हैं, जब कि अन्तःकरणों के ज्ञान का सामर्थ्य अविच्छिन्नरूप से बेरोकटोक भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालों तक रहता है^१।

बाह्याभ्यन्तरकरणों का प्राधान्य-गौणत्व-विमर्श

यह पहले बतलाया जा चुका है, कि ज्ञानेन्द्रियाँ एवं कर्मेन्द्रियों बाह्यकरण हैं और मन-बुद्धि तथा अहंकार ये तीन अन्तःकरण हैं। जब किसी स्थल में प्रधानता और अप्रधानता का विचार किया जाता है, तो वहाँ उपयोगिता का स्थान सर्वोपरि होता है और उसके साथ ही किसकी कितनी कार्य क्षमता और कितना व्यापार है, यह भी विचारणीय होता है। इन दोनों में प्रत्येक दृष्टि से अन्तःकरण की ही प्रधानता परिलक्षित होती है, क्योंकि इनमें संकल्प है, निश्चयात्मक ज्ञान है, और अपने किए हुए का अभिमान है, अथ च तीनों अन्तःकरण त्रैकालिक (भूत, भविष्य, वर्तमान) ज्ञान रखते हैं। (विशेष जानकारी के लिए 'मन' शीर्षक का अध्ययन करें) बाह्यकरण गौण हैं^२, क्योंकि वे स्वतन्त्र रूप से अपना व्यापार करने में सर्वथा असमर्थ हैं, जब कि अन्तःकरण स्वतन्त्र रूप से बिना बाह्यकरणों का सहारा लिए अपना कार्य करने में समर्थ होते हैं। बाह्यकरण मन के साथ होने पर ही अपना-अपना कार्य करने में समर्थ होते हैं 'मनःपुरःसराणि इन्द्रियाणि अर्थग्रहणसमर्थानि भवन्ति' (चरक सू० ७।८)

१. साम्प्रतकालं बाह्यं त्रिकालमाभ्यन्तरं करणम्।

—सां० ३३

२. सान्तःकरणा बुद्धिः सर्वं विषयमवगाहते यस्मात्।

तस्मात् त्रिविधं करणं द्वारि, द्वाराणि शेषाणि ॥

—सां० ३५

इस प्रकार यह सिद्ध होता है, कि अन्तःकरणप्रधान एवम् बाह्यकरण गोन होते हैं ।

बाह्याभ्यन्तरकरणों की वृत्तियाँ

(क) बाह्यकरणों की वृत्तियाँ—बाह्यकरण ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों को कहते हैं । ज्ञानेन्द्रियों में क्रमशः श्रोत्रेन्द्रिय का विषय है शब्द ग्रहण करना, एवम् त्वचा का स्पर्श, नेत्र का रूप, जिह्वा का रस, और घ्राणेन्द्रिय का गन्ध ग्रहण करना विषय या वृत्ति है । कर्मेन्द्रियों में क्रमशः वाणी का बोलना, हाथ का ग्रहण करना, पैर का चलना, गुदा का मलत्याग और उपस्थ का आनन्द करना या मूत्रोत्सर्ग करना, विषय या वृत्तियाँ हैं ।

(ख) अन्तःकरण की वृत्तियाँ—मन, बुद्धि एवं अहंकार ये तीन अन्तःकरण कहे जाते हैं । उनमें मन का संकल्प, बुद्धि का अध्यवसाय, और अहंकार का अभिमान करना व्यवसाय या वृत्ति है । यही तीनों अन्तःकरणों के स्वालक्षण्य—प्रत्यात्मलक्षण या असाधारण लक्षण हैं^१ ।

अन्तःकरणचतुष्टय

मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार इन चारों को संयुक्तरूप में 'अन्तःकरणचतुष्टय' कहा जाता है । यद्यपि अन्तःकरण एक है, तथापि जैसे एक ही व्यक्ति अलग-अलग प्रकार के विभिन्न कार्यों को करता है, तब उन उन कार्यों का कर्ता होने के कारण उसके अनेक नाम या अनेक संज्ञाएँ हो जाती हैं अर्थात् श्याम जब पड़ाता है तब पाठक (अध्यापक), रसोई बनाता है तो पाचक, और माँगता है तब याचक कहा जाता है । उसी प्रकार एक ही अन्तःकरण जब संकल्प विकल्प करने के कारण संशयात्मक दशा में रहता है तो (१) मन निश्चयात्मिका स्थिति में रहता है तो (२) बुद्धि, जब पूर्वानुभूत विषयों के स्मरण में लगा रहता है तो (३) चित्त, और जब वह 'मैं विद्वान् हूँ ? मैं धन, यौवन, सम्पन्न हूँ ?' इस प्रकार की गर्वभरी स्थिति में रहता है, तो (४) अहंकार के नाम से सम्बोधित होता है ।

'वेदान्त' के अनुसार इन चारों अन्तःकरणों की उत्पत्ति आकाशादि पञ्चमहाभूतों के सात्त्विक अंश से हुई है^२ । मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार, ये

१. स्वालक्षण्यं वृत्तिस्त्रयस्य सैषा भवत्यसामान्या । —सां० का० २९

२. (i) मनोबुद्धिचित्ताहङ्काराणां चतुर्णां मिलितानामेकं मिलितमन्तःकरणं नाम । तस्यैकत्वेऽपि संशय-निश्चय-स्मरण-गर्वरूपविभिन्नकार्यपरतयाभिन्नकार्य-परत्वेन पाठक-पाचक-याचकवद्व्यवहारः । एतानि च सर्वाणि व्योमादिगत-सात्त्विकांशेभ्यो मिलितेभ्यः समुत्पद्यन्ते ।

('सूक्ष्मशरीर' वेदान्तसार-संस्कृतटीका-चौखम्भा वाराणसी-१९५४)

चारों प्रकाशात्मक हैं, यहीं इस बात का प्रमाण है, कि इनकी उत्पत्ति महाभूतों के सात्त्विक अंश से होती है। 'लिंग शरीर' में बुद्धि और मन की गणना की गयी है, और चित्त तथा अहंकार नहीं गिने गए हैं, इसका तात्पर्य यह है, कि बुद्धि में चित्त का और मन में अहंकार का अन्तर्भाव कर लिया जाता है।

इन्द्रियशब्दार्थ

विषयों को ग्रहण करने के साधनभूत द्वार का नाम इन्द्रिय है। (इन इति विषयाणां नाम तान् इनः विषयान् प्रति द्रवन्तीति इन्द्रियम् ।) इन्द्र आत्मा को कहते हैं और उसका जो चिह्न है, उसे इन्द्रिय कहते हैं अथवा आत्मा के द्वारा ज्ञात, उसके द्वारा बनाया हुआ, उसके द्वारा दिये हुए ज्ञान और कर्म का जो साधन है, उसे 'इन्द्रिय' कहते हैं^१। इस प्रकार ज्ञान और कर्म के साधन को इन्द्रिय कहते हैं। जैसे—रस को ग्रहण करने वाली इन्द्रिय का नाम रसना है ('रस्यतेऽनेन इति रसना') एवं बोलने का कार्य करने वाली इन्द्रिय का नाम 'वाणी' है।

इन्द्रिय भेद और संख्या

इन्द्रियों के तीन भेद होते हैं—१. ज्ञानेन्द्रिय, (बुद्धीन्द्रिय) २. कर्मेन्द्रिय और ३. ज्ञानकर्मेन्द्रिय^२।

(ii) मनो बुद्धिरहङ्काराश्चित्तं करणमान्तरम् ।

संशयो निश्चयो गर्वः स्मरणं विषया अमी ॥ —शंकरस्वामी

(iii) अन्तःकरण के भेद—

चतुर्विधं हि विकल्पकारणं सांख्या मन्यन्ते, तत्र बाह्यमिन्द्रियरूपम्, आभ्यन्तरं तु मनोऽहङ्कारो बुद्धिश्चेति त्रितयम् । तत्रेन्द्रियाण्यालोचयन्ति निर्विकल्पेन गृह्णन्तीत्यर्थः, मनस्तु संकल्पयति हेयोपादेयतया कल्पयतीत्यर्थः अहङ्कारोऽभिमन्यते 'ममेदमहमन्नाधिकृतः' इति मन्यत इत्यर्थः, बुद्धिरध्यवस्यति त्यजाम्येनं दोषवन्तमुपाददाम्येनं गुणवन्तमित्यध्यवसायं करोतीत्यर्थः ।

—च. शा. १।२१ पर चक्रपाणि

१. इन्द्रस्य प्रत्यगात्मनो लिङ्गमनुमानात्मकं, तेन दृष्टं मम चक्षुर्मम श्रोत्रमित्येवमभिमतम्, इन्द्रेण ईश्वरेण सृष्टं प्रणीतं वा इत्यर्थे इन्द्र + षः । आत्मनो विषयोपलब्धिकरणमीश्वरसृष्टेषु ज्ञानकर्मसाधनेषु चक्षुरादिषु । —शब्दस्तोम०

'इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रदृष्टमिन्द्रसृष्टमिन्द्रजुष्टमिन्द्रदत्तमिति वा'

—पाणि० सू० ५।२।९३

२. श्रोत्र-त्वक् चक्षुर्जिह्वाघ्राणवाग्धस्तोपस्थपायुपादमनांसीति, तत्र पूर्वाणि पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि, इतराणि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि, उभयात्मकं मनः ।

—सु० शा० १।४

ज्ञानेन्द्रियाँ—इसका दूसरा नाम बुद्धीन्द्रिय है ये संख्या में पाँच हैं और उनका नाम, श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा और घ्राण है^१। ये क्रमशः शब्द-स्पर्श रूप, रस, और गन्ध का ज्ञान कराती हैं।

कर्मेन्द्रियाँ—ये भी संख्या में पाँच हैं जैसे—१. वाणी, २. पाणि, ३. पाद ४. पायु (मलमार्ग) और ५. उपस्थ (मूत्रमार्ग)^२। इनका कार्य है क्रमशः बोलना, ग्रहण करना, चलना, मलोत्सर्ग करना और मूत्रोत्सर्ग या आनन्द करना।

ज्ञानकर्मेन्द्रिय—यह संख्या में एक है, जिसका नाम मन है^३। यह ज्ञानेन्द्रियों में ज्ञानेन्द्रियों की तरह और कर्मेन्द्रियों में कर्मेन्द्रियों की तरह व्यापार करता है, इसलिए इसे उभयात्मक (ज्ञानकर्मेन्द्रिय) कहते हैं। इसकी स्थिति वायु की तरह से योगवाही है। जैसे—वायु तेज के साथ होने पर उष्ण और सोम (चन्द्र) के साथ होने पर शीत हो जाता है—‘उष्णकृत् तेजसायुक्तः शीतकृत् सोमसंश्रयात्।’

इन्द्रियों की वृत्तियाँ

ज्ञानेन्द्रियों की वृत्तियाँ^४—ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच होती हैं और उनकी वृत्ति (विषय) भी पाँच प्रकार की है, जैसे—श्रोत्र की शब्द, त्वचा की स्पर्श, नेत्र की रूप, जिह्वा की रस और घ्राणेन्द्रिय की वृत्ति है गन्ध।

यहाँ पर यह याद रखना चाहिए, कि जिस इन्द्रिय में जिस भूत की मात्रा अधिक होती है, वह इन्द्रिय उसी भूत के अर्थ को ग्रहण करती है। चूँकि उस इन्द्रिय का और उसके द्वारा ग्राह्य विषय का स्वभाव तुल्ययोनि (समान उपादान) होने के कारण एकजैसा होता है, इसलिए वह इन्द्रिय समानजातीय विषय को ही ग्रहण करती है। जैसे—आँख से रूप का ग्रहण इसलिए होता है, कि आँख और रूप दोनों में अग्निभूत की प्रधानता होती है और दोनों का ही उपादान तेज है। इसी अभिप्राय से आचार्य सुश्रुत ने कहा है कि—

‘इन्द्रियेणेन्द्रियार्थं तु स्वं स्वं गृह्णाति मानवः।

नियतं तुल्ययोनित्वाभ्यामेतान्यमिति स्थितिः ॥ —सु० शा० १।१५

अर्थात्—आकाशात्मक श्रोत्र आकाशात्मक शब्द को, तैजस नेत्र तैजस रूप को, पार्थिव घ्राणेन्द्रिय पार्थिव गन्ध को, पवनात्मक स्पर्शेन्द्रिय पवनात्मक

१. तत्र चक्षुः श्रोत्रं घ्राणं रसनं स्पर्शमिति पञ्चेन्द्रियाणि । —च० सू० ८।८

बुद्धीन्द्रियाणि चक्षुःश्रोत्रघ्राणरसनत्वगाह्यानि । —सां० का० २६

२. वाक्पाणिपादपायूपस्थानि कर्मेन्द्रियाण्याहुः । —वही

३. उभयात्मकं मनः । —सु० शा० १।४।

४. शब्दादिषु पञ्चानामालोचनमात्रमिष्यते वृत्तिः । —सां० का० २८

स्पर्श को और जलात्मक रसनेन्द्रिय जलात्मक रस को ही ग्रहण करती है, क्योंकि इन्द्रियाँ अपने समान कारण से उत्पन्न अर्थ को ही ग्रहण करने में समर्थ होती हैं ।

कर्मेन्द्रियों की वृत्तियाँ^१ (विषय)—इनकी संख्या पाँच है । (१) वाणी का बोलना, (२) हाथ का आदान-प्रदान (लेना-देना), (३) पैर का विहरण (चलना), (४) पायु (गुदा) का मलत्याग करना और (५) उपस्थ (मूत्रेन्द्रिय) का मूत्रत्याग तथा आनन्द (मैथुन) यह सब पाँच कर्मेन्द्रियों की वृत्तियाँ हैं ।

मन की वृत्तियाँ^२—वृत्ति का अर्थ विषय है और मन के विषयों का उल्लेख करते हुए आचार्य चरक ने बतलाया है, कि चिन्तन करना, विचार करना, ऊहापोह करना, संकल्प करना तथा अन्य सुखदुःखादि का मनन करना इत्यादि मन के विषय हैं ।

विमर्श—चिन्त्य, विचार्य, ऊह्य, ध्येय, संकल्प्य तथा जो सुख-दुःख आदि का अनुभव मन के द्वारा किया जाता है, वह सब मन का विषय है । जैसे चिन्त्य—मन द्वारा चिन्तन किये जाने योग्य विषय, जैसे—यह कर्तव्य है या अकर्तव्य है ? विचार्य—तर्क द्वारा यह विचार करना, कि इस कार्य के करने से लाभ होगा या हानि होगी ? ऊह्य—जैसे यह कार्य इस प्रकार से होगा ? ऐसी सम्भावना । ध्येय—अर्थात् ध्यान का विषय । संकल्प्य—यह गुण युक्त है, यह दोषयुक्त है इसका विचार करना ।

इन्द्रियों का पोषण

आयुर्वेद में इन्द्रियाँ पञ्चभौतिक मानी जाती हैं और यह भी माना जाता है, कि जैसे—शरीर का पोषण आहार से होता है, वैसे ही इन्द्रियों का भी पोषण आहार से होता है । शरीर के परमाणुओं की तरह इन्द्रियाँ भी प्रतिक्षण क्षीण होती रहती हैं । यह अनुभव सिद्ध है, कि क्षुधा की तीव्रता में आँख से चिनगारी निकलने लगती है और कितना भी सुन्दर शब्द-स्पर्श हो कुछ भी अच्छा नहीं लगता, सभी इन्द्रियाँ अकमर्ण्य हो जाती हैं । बृहदारण्य-कोपनिषद् में भी अन्न से इन्द्रियों का पोषण होने की बात कही गयी है ।

१. वचनादानविहरणोत्सर्गान्दाश्च पञ्चानाम् ।

—सां० का० २८

२. चिन्त्यं विचार्यमूह्यञ्च ध्येयं संकल्प्यमेव च ।

यत्किञ्चित्मनसो ज्ञेयं तत्सर्वं ह्यर्थसंज्ञकम् ॥ —चरक० शा० १।२०

आचार्य चरक^१ ने कहा है, कि रूप, रस, गन्ध, स्पर्श से समृद्ध सुरचिपूर्ण सात्म्य अन्न के आहार से शरीर के आश्रित गन्ध आदि का तथा श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा और घ्राण इन इन्द्रियों के भी शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध का यथोचित रूप में पोषण होता है।

पञ्च-पञ्चक

पाँच-पाँच के पाँच समवायों का नाम है पञ्चपञ्चक—जिसमें पाँच इन्द्रियाँ, पाँच इन्द्रियद्रव्य, पाँच इन्द्रियाधिष्ठान, पाँच इन्द्रियार्थ और पाँच इन्द्रियबुद्धियों की गणना की जाती है।

पाँच इन्द्रियाँ—यहाँ पाँच इन्द्रियों से ज्ञानेन्द्रियों का ग्रहण होता है—जिनमें चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसन और स्पर्शन ये पाँच इन्द्रियाँ बतलायी गयी हैं।

विमर्श—इन पाँच ज्ञानेन्द्रियों का नाम अन्वर्थक है। जैसे—चक्षु उस इन्द्रिय का नाम इसलिये है, कि उसके द्वारा रूप का प्रकाश या ग्रहण किया जाता है—‘चष्टे रूपं प्रकाशयति बुध्यतेऽनेनेति वा चक्षुः’। गन्ध का ग्रहण करने वाली इन्द्रिय घ्राण है—‘जिघ्रत्यनेन इति घ्राणम्’। रस का ग्रहण करने वाली इन्द्रिय रसन है—‘रस्यतेऽनेनेति रसनम्’। शब्द को सुनने वाली इन्द्रिय श्रोत्र है—‘शृणोत्यनेन इति श्रोत्रम्’। स्पर्श का ग्रहण करने वाली इन्द्रिय स्पर्शन है—‘स्पृशत्यनेनेति स्पर्शनम्’। पूर्वोक्त पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। कर्मेन्द्रियाँ भी पाँच होती हैं, परन्तु यहाँ पर उनका ग्रहण नहीं किया गया है, क्योंकि ये ज्ञानेन्द्रियाँ ही प्रधान इन्द्रिय हैं। इन पञ्चेन्द्रियों की गणना में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और लोकदर्शनानन्द देने वाली नेत्र इन्द्रिय हैं। इसलिए सबसे पहले उसका उल्लेख किया गया है एवं व्यापकता की दृष्टि से स्पर्श-नेन्द्रिय सभी इन्द्रियों में व्यापक है अतः उसका सबके बाद उल्लेख किया गया है।

इन्द्रियद्रव्य—पाँच ज्ञानेन्द्रियों के निर्माण में उपादान भूत पाँच द्रव्य हैं और वे हैं पञ्चमहाभूत, जैसे—आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी। क्रमशः

१. अन्नमिष्टं ह्युपहितामिष्टैर्गन्धादिभिः पृथक्।

देहे प्रीणाति गन्धादीन् घ्राणादीनिन्द्रियाणि च ॥

पञ्चाहारगुणान् स्वान् स्वान् पार्थिवादीन् पचन्ति च।

यथास्वं स्वं च पुष्णन्ति देहे द्रव्यगुणाः पृथक् ॥

पार्थिवाः पार्थिवानेव शेषाः शेषांश्च कृत्स्नशः ॥

श्रोत्र का आकाश, त्वचा का वायु, नेत्र का अग्नि, जिह्वा का जल और घ्राण का द्रव्य पृथ्वी है ।

विमर्श—यद्यपि सांख्य में इन्द्रियों की उत्पत्ति अहंकार से कही गयी है और इन्द्रियाँ आहंकारिक मानी गयी हैं, किन्तु आयुर्वेद के महर्षियों ने उपयोगिता की दृष्टि से एवं चिकित्सा की सुविधा की दृष्टि से इन्द्रियों को पाञ्चभौतिक माना है, क्योंकि ऐसा देखने में आता है, कि शरीर में यदि किसी इन्द्रिय से सम्बद्ध भूत की मात्रा में ह्रास होता है, तो उस इन्द्रिय की क्रिया अस्त-व्यस्त हो जाती है या ठप्प पड़ जाती है । जैसे—शरीर में तेज की कमी होने पर नेत्र की ज्योति क्षीण हो जाती है । इन्द्रियों को पाञ्चभौतिक मानने के ही कारण यहाँ इन्द्रियों के द्रव्यों का उल्लेख किया गया है । जैसे—शब्द विषय को ग्रहण करने वाली श्रवणेन्द्रिय की रचना में शब्द गुणात्मक आकाश द्रव्य का, स्पर्शनेन्द्रिय के निर्माण में स्पर्शनात्मक वायु का, चक्षुरिन्द्रिय की रचना में रूपात्मक तेज का, रसनेन्द्रिय की रचना में रसनात्मक जल द्रव्य का और गन्धग्राहक घ्राणेन्द्रिय की उत्पत्ति में गन्धात्मक पृथ्वी का विशेष अंश होता है, जो यह नियम है, कि इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय को ही ग्रहण करती हैं इसका भी कारण यही है, कि इन्द्रिय और इन्द्रिय के विषय का निर्माणकारी तत्त्व समान है, दोनों में तुल्ययोनिता है ।

पाँच इन्द्रियाधिष्ठान—पाँच ज्ञानेन्द्रियों के पाँच अधिष्ठान होते हैं । जैसे—(१) दोनों नेत्र, (२) दोनों कान, (३) दोनों नाक, (४) जिह्वा और (५) त्वचा—ये पाँच इन्द्रियों के पाँच अधिष्ठान (निवास स्थान) हैं ।

विमर्श—इन्द्रियाँ स्वयं अतीन्द्रिय हैं । उनका स्वरूप प्रत्यक्ष ग्रहण योग्य नहीं है । शरीर के जिन अवयवों को हम सामान्य ज्ञान से इन्द्रिय समझते हैं वे वस्तुतः इन्द्रियों के अधिष्ठान हैं, जिन अधिष्ठानों में रहकर इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों को ग्रहण करती हैं । यदि इन्हें ही इन्द्रिय माना जाय, तो अनेक इस तरह के प्रश्न उठ खड़े होंगे, जिनका समाधान नहीं हो सकता । जैसे—कान के रहते कोई बहरे, आँख के रहते कोई अन्धे, घ्राण के रहते कोई गन्धज्ञानशून्य, त्वचा के रहते स्पर्शज्ञानशून्य क्यों देखे जाते हैं ? इसलिए इनको ही इन्द्रिय न मान कर इन्हें इन्द्रियों का अधिष्ठान माना जाता है । इस प्रकार अधिष्ठान के रहते हुए भी इन्द्रियों के नष्ट होने पर विषयों का ज्ञान नहीं होता । अतः इन्द्रियाँ इन अधिष्ठानों के अतिरिक्त हैं जो स्वयं अतीन्द्रिय और अप्रत्यक्ष हैं—‘यैरेव तावदिन्द्रियैः प्रत्यक्षमुपलभ्यते, तान्येव सन्ति चाप्रत्यक्षाणि ।’ (च० सू० ११।७)

पाँच इन्द्रियार्थ—पाँच ज्ञानेन्द्रियों के पाँच अर्थ (विषय) होते हैं। जैसे—श्रोत्र का शब्द, त्वचा का स्पर्श, चक्षु का रूप, जिह्वा का रस और घ्राण का गन्ध ये पाँच इन्द्रियों के पाँच अर्थ हैं।

पाँच इन्द्रियबुद्धियाँ—प्रत्येक ज्ञानेन्द्रियों की अलग-अलग बुद्धियाँ होती हैं अर्थात्—इनके ज्ञान अलग-अलग हैं। और यह ज्ञान इन्द्रिय का विषय मन और आत्मा के संयोग से उत्पन्न होता है। इनकी संज्ञा इस प्रकार रखी जा सकती है—(१) चक्षुर्बुद्धि, (२) श्रोत्रबुद्धि, (३) घ्राणबुद्धि, (४) जिह्वा-बुद्धि और (५) त्वक्बुद्धि ये पाँच इन्द्रियबुद्धियाँ हैं।

विमर्श—यहाँ बुद्धि शब्द ज्ञान के अर्थ में प्रयुक्त है। इन्द्रियबुद्धि का अर्थ है—इन्द्रियज्ञान। होता यह है, कि मन के साथ इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों को ग्रहण करती हैं और मन उस विषय का विचार करता है। उस स्थिति में इन्द्रिय से विषयग्रहण किया जाता है और वही इन्द्रियज्ञान है। आगे की प्रक्रिया में इन्द्रिय द्वारा ग्रहीत विषय के गुण-दोष का विचार जब मन के द्वारा कर लिया जाता है, तो अन्त में बुद्धि द्वारा यह निश्चय होता है कि यह ग्राह्य है या अग्राह्य। एवं जिस इन्द्रिय के माध्यम से जो ज्ञान होता है, वह ज्ञान उस इन्द्रिय का ज्ञान कहा जाता है—

‘या यदीन्द्रियमाश्रित्य जन्तोर्बुद्धिः प्रवर्तते ।

याति सा तेन निर्देशं मनसा च मनोभवा ॥’ —च० शा० १।३२

इसी प्रसंग में यह भी जान लेना आवश्यक है, कि ज्ञान होने का क्रम क्या है? ज्ञान का क्रम बाह्य और अन्तःभेद से दो प्रकार का होता है—बाहरी ज्ञानेन्द्रियाँ मन से संयुक्त होने पर विषयों को सामान्य रूप से ग्रहण करती हैं, जिसे—निर्विकल्पक ज्ञान कहा जाता है—अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा उसका स्वरूप मात्र ज्ञात होता है। बाद में मन, अहंकार और बुद्धि के द्वारा विशेष ज्ञान होता है। मन के द्वारा यह ग्रहण करने योग्य है या नहीं? इसमें क्या गुण-दोष है? यह संकल्प (विचार) होता है। इसके बाद अहंकार अपने अधिकार को व्यक्त करता है और उसके बाद बुद्धि यह निश्चय करती है, कि इसे ग्रहण करना है या नहीं? तब अन्त में बुद्धि के द्वारा निश्चय करने के बाद ही मनुष्य किसी कार्य के करने में प्रवृत्त होता है या उससे विरत हो जाता है।

पञ्चपञ्चक एक बहुत उपयोगी विषय है, इसके सुस्पष्ट ज्ञान के लिए आगे सारणी में विवरण दिया जा रहा है—

पञ्चपञ्चक^१ (Five Pentads)

१. पञ्चेन्द्रिय (Five senses)	२. पञ्चेन्द्रियद्रव्य (Five sense materials)	३. पञ्चेन्द्रियाधिष्ठान (Five sense organs)	४. पञ्चेन्द्रियार्थ (Five sense objects)	५. पञ्चेन्द्रियबुद्धि (Five sense perception)
१. श्रोत्र (Hearing)	ख (आकाश)	कर्ण (दो कान) (Ears)	शब्द (Sound)	श्रोत्रबुद्धि (Hearing centre in brain)
२. स्पर्शन (Touching)	वायु	त्वचा (Skin)	स्पर्श (Touch)	स्पर्शनबुद्धि (Touching centre in brain)
३. चक्षु (Seeing)	ज्योति (अग्नि)	अक्षि (दो नेत्र) (Eyes)	रूप (Shape)	चक्षुबुद्धि (Visual centre in brain)
३. रसन (Testing)	अप् (जल)	जिह्वा (Tongue)	रस (Taste)	रसनबुद्धि (Taste centre in brain)
५. घ्राण (Smelling)	सू (पृथ्वी)	नासा (Nose)	गन्ध (Smell)	घ्राणबुद्धि (Smell centre in brain)

१. (i) तत्र चक्षुःश्रोत्रं घ्राणं स्पर्शनं रसनमिति पञ्चेन्द्रियाणि ।
 (ii) पञ्चेन्द्रियद्रव्याणि खं वायुज्योतिरापोभूरिति ।
 (iii) पञ्चेन्द्रियाधिष्ठानानि— अक्षिणी, कर्णौ, नासिके, जिह्वा, त्वक् चेति ।

इन्द्रियों का भौतिकत्व

इस पञ्चभौतिक जगत् में सभी वस्तुएँ पञ्चमहाभूत से ही उत्पन्न होती हैं एवं आयुर्वेद सिद्धान्त के अनुसार इन्द्रियाँ पञ्चमहाभूतों से उत्पन्न होने के कारण भौतिक कही जाती हैं। इन्द्रियों का वर्णन करते हुए आचार्य चरक ने कहा है, कि पाँचों इन्द्रियाँ (ज्ञानेन्द्रियाँ) पाँचों महाभूतों से बनी हुई हैं, फिर भी एक-एक इन्द्रिय में एक-एक महाभूत की अधिकता होती है—“एकैकाधिकयुक्तानि खादीनामिन्द्रियाणि तु” (च० शा० १।२४)। जैसे—श्रोत्रेन्द्रिय में आकाश महाभूत की त्वगिन्द्रिय में वायु महाभूत की, चक्षुरिन्द्रिय में अग्नि महाभूत की, रसना इन्द्रिय में जल महाभूत की अधिकता और घ्राण-इन्द्रिय में पृथ्वीमहाभूत की अधिकता होती है। ऊपर कहे हुए चरक के वाक्य “एकैकाधिकयुक्तानि” की टीका में टीकाकार चक्रपाणि ने लिखा है, कि एकैकाधिकपदेन पञ्चाऽपि पञ्चभौतिकानि, परं चक्षुषि तेजोऽधिकम् इत्याद्युक्तं भवति। अर्थात्—एक-एक इन्द्रिय में एक-एक महाभूत की अधिकता होती है, यह कहने का मतलब यह है, कि पाँचों ही इन्द्रियाँ पाँचों महाभूतों से बनी हैं, किन्तु प्रत्येक इन्द्रिय में एक-एक भूत का अंश अधिक होता है। जैसे—नेत्र इन्द्रिय में अग्नि महाभूत की अधिकता होती है। चक्रपाणि की इस व्याख्या से इन्द्रियों का भौतिक होना स्पष्ट हो जाता है।

अन्यत्र भी चरक ने इसी बात का उल्लेख किया है जैसे—

“पञ्चमहाभूतविकारसमुदायात्मकानामपि सतामिन्द्रियाणां तेजश्चक्षुषि, स्वं श्रोत्रे, घ्राणे क्षितिः, आपो रसने, स्पर्शनेऽनिलो विशेषेणोपपद्यते; तत्र यद्यदात्म-कमिन्द्रियं विशेषात्तदात्मकमेवार्थमनुगृह्णाति तत्स्वभावाद्विभुत्वाच्च।” (च० सू० ८।१४) अर्थात् सभी इन्द्रियाँ यद्यपि पञ्चभौतिक हैं, फिर भी प्रत्येक इन्द्रिय में किसी एक महाभूत की अधिकता है। इस प्रकार जो इन्द्रिय जिस प्रधानभूत से बनी है, वह उसी महाभूत के विषय को ग्रहण करती है, क्योंकि इन्द्रियों का एक स्वभाव होता है और विभु होने के कारण इन्द्रियाँ अपने ही विषय को ग्रहण करती हैं।

विशेष—गुणों की उत्पत्ति में असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग का पहला स्थान है अर्थात्—इन्द्रियों के अयोग, अतियोग और मिथ्यायोग से रोग होते हैं, इस लिए इन रोगों से बचने के लिए इन्द्रिय विषयक ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। अतः आयुर्वेद में पञ्चपञ्चक का विषय महत्त्वपूर्ण है।

(iv) पञ्चेन्द्रियार्थाः—शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धाः।

(v) पञ्चेन्द्रियबुद्ध्यः चक्षुर्बुद्ध्यादिकाः, ता पुनरीन्द्रियेन्द्रियार्थसत्त्वात्म-सन्निकर्षजाः क्षणिकाः निश्चयात्मिकाश्च। इत्येतत् पञ्चपञ्चकम्।

—च० सू० ८।८-१२

सुश्रुताचार्य ने भी कहा है, कि आयुर्वेद में इन्द्रियाँ भौतिक ही वर्णन की जाती हैं तथा इन्द्रियों के अर्थ भी भौतिक ही माने जाते हैं—“भौतिकानि च इन्द्रियाणि आयुर्वेदे वर्ण्यन्ते, तथेन्द्रियार्थाः ।” (सु० शा० १।१४) आगे भी सुश्रुत ने कहा है, कि मनुष्य किसी इन्द्रिय के द्वारा स्वसमान उपादान से बने होने के कारण तुल्ययोनि के सिद्धान्त से अपने ही विषय का ग्रहण करता है । जैसे—तैजस चक्षु तैजस रूप का ग्रहण करती है । अन्य इन्द्रिय से अन्य विषय का ग्रहण नहीं होता है यह सिद्धान्त है—

“इन्द्रियेणेन्द्रियार्थं तु स्वं स्वं गृह्णाति मानवः ।

नियतं तुल्ययोनित्वान्नान्येनान्यमिति स्थितिः ॥” —सु० शा० १।१५

विमर्श—आयुर्वेद की ही तरह वैशेषिक, न्याय और वेदान्त दर्शनों में इन्द्रियाँ भौतिक मानी गयी हैं—“घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्राणीन्द्रियाणि भूतेभ्यः” (न्यायदर्शन १।१।१२) पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशमिति भूतानि (इन्द्रिय-कारणानि इति । न्या० द० १।१।१३) । गन्ध-रस-रूप-स्पर्श-शब्दाः पृथ्व्यादि-गुणास्तदर्थाः (न्या० द० १।१।१४)

खं श्रोत्रे स्पर्शने वायुर्दंशने तेज उत्कटम् ।

सलिलं रसने भूमिघ्राणे तज्जैरनिरूपितम् ॥

आयुर्वेद ने इन्द्रियोत्पत्ति के सम्बन्ध में सांख्य को न मानकर न्यायादि-दर्शनों का आधार ग्रहण किया है । चरकाचार्य ने स्पष्ट तौरपर इन्द्रियों को भौतिक माना है—“पञ्चेन्द्रियद्रव्याणि खं वायुर्ज्योतिरापोभूरिति ।” — (च० सू० ८।९) ।

इन्द्रियों को भौतिक मानने वाली बात निम्नलिखित तीन पहलुओं पर विचार करने से और भी आसानी से समझ में आ जायेगी ।—

(१) सांख्यदर्शन के अनुसार पाँचों इन्द्रियाँ वैकारिक अहंकार से उत्पन्न हुई हैं अर्थात्—इन्द्रियाँ एक ही मूल से जन्मी हैं और इन्हें एक रूप होना चाहिए । यदि यह तत्त्व ठीक हो तो एक इन्द्रिय से पाँचों इन्द्रियार्थों का ग्रहण होना चाहिए या पाँचों से पाँचों अर्थों का ग्रहण होना चाहिए अथवा एक दो इन्द्रिय न होने पर या इनके नष्ट हो जाने पर उनका कार्य अन्य इन्द्रियों से हो जाना चाहिए । परन्तु ऐसा होते नहीं देखा जाता । इन्द्रियाँ नियमरहित जिस किसी अर्थ का ग्रहण नहीं करती हैं, उनमें तो नियम से एक इन्द्रिय द्वारा एक ही अर्थ के ग्रहण किये जाने का सिद्धान्त है । इसलिए अनुमान से यह कह सकते हैं, कि सभी इन्द्रियाँ किसी एक कारण से नहीं उत्पन्न हुई हैं ।

इस प्रकार जैसे पाँच अर्थों के ग्रहण करने के लिये पाँच इन्द्रियाँ हैं, वैसे ही पाँच इन्द्रियों के लिए पाँच उपादान कारण भी होना चाहिए^१।

(२) श्रोत्र केवल शब्द को ही ग्रहण कर सकता है। शब्द के अतिरिक्त अन्य अर्थों को ग्रहण करने में वह असमर्थ होता है। उसी प्रकार प्रत्येक इन्द्रिय के सम्बन्ध में अनुभव है। जिससे यह सिद्ध होता है, कि इन्द्रियों का विषय ग्रहण कार्य नियमयुक्त होता है और यह कार्य तभी हो सकता है, जब प्रत्येक इन्द्रिय की प्रकृति (योनि—उपादान कारण) भिन्न-भिन्न हो।

(३) शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पाँचों क्रमशः आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी के गुण हैं एवं शब्द आकाशीय गुण है इसका ग्रहण केवल श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा होता है। गन्ध पार्थिव गुण है और उसका ग्रहण केवल घ्राण के ही द्वारा होता है, इससे यही अनुमान होता है, कि शब्द और श्रोत्र, रूप चक्षु, रस और जिह्वा, स्पर्श और त्वचा तथा गन्ध और घ्राण ये 'तुल्ययोनि'^२ होते हैं, अर्थात् इनका उपादान कारण समान होता है।

योगदर्शन के न्यासभाष्य पर की हुई टीका में श्री वाचस्पतिमिश्र ने भी कहा है कि—“आहंकारिक होने पर भी घ्राण, रसना, त्वक्, चक्षु और श्रोत्र ये पञ्चमहाभूतों के अधिष्ठान तो अवश्य हैं, क्योंकि भूतों के अनुग्रह या अनुपकार के अच्छे-बुरे प्रभाव इन्द्रियों पर पड़ते हैं। उन-उन भूतों की समृद्धि से इन्द्रियाँ कार्यक्षम होती हैं और विकृति से उनकी कार्यक्षमता में ह्रास आ जाता है^३। आयुर्वेदज्ञ इन बातों को जानकर ही चिकित्सा की सफलता के लिए इन्द्रियों को भौतिक मानते हैं।”

१. नानाप्रकृतीनामेषां सतां विषयनियमो, नैकप्रकृतिकानाम्, सति च विषयनियमे स्वविषयग्रहणलक्षणत्वं भवति (वात्स्यायनभाष्य) कः पुनरयं नियमः ? भूतगुणविशेषग्रहणसाधनत्वम् । न सर्वमिन्द्रियं सर्वभूतगुणविशेषं गृह्णाति, अपितु यज्जातीयमिन्द्रियं भवति तस्य यो गुणविशेष इतरेतरभूत-व्यवच्छेदहेतुर्गन्धादिः, स तेनैवेन्द्रियेण गृह्यत इत्ययं नियमः । एकात्म्ये पुनरयं नियमो न स्यात् । यदि पुनरिन्द्रियाण्येकात्मकान्येककरणानि स्युः । कारणस्वभावानुविधानादैकात्म्याद्विषयव्यवस्था न स्यात् सर्वं सर्वार्थमेकं वा सर्वार्थमिति स्यात् ।

—उद्योतकरवातिक

२. भूतगुणविशेषोपलब्धेस्तादात्म्यम् ।

—न्यायदर्शन ३।१।६०

३. “आहङ्कारिकमपि घ्राणरसनत्वक्चक्षुःश्रोत्रं भूताधिष्ठानमेव । भूतोपकाराऽपकाराभ्यां घ्राणादीनामुपकाराऽपकारदर्शनादित्युक्तम् ।”

—यो० द० ३।३।४१

विमर्श—इस पञ्चभौतिक संसार में सभी वस्तुएँ पञ्चमहाभूतों से उत्पन्न होती हैं। तदनुसार आयुर्वेद के सिद्धान्त से इन्द्रियाँ भौतिक हैं। यथा— श्रोत्रेन्द्रिय में आकाशभूत की प्रधानता होती है, यद्यपि अन्य चार भूत भी उसमें रहते हैं। चक्षु इन्द्रिय में चारों भूतों के रहते हुए भी तेज की प्रधानता रहती है एवं घ्राण इन्द्रिय में पृथ्वी की, रसनेन्द्रिय में जल की तथा स्पर्श-नेन्द्रिय में वायु की प्रधानता रहती है। जिस इन्द्रिय में जिस भूत की प्रधानता रहती है वह इन्द्रिय उसी भूत से निष्पन्न मानी जाती है, क्योंकि पञ्चभूतों की अपेक्षा उसमें उस भूतगुण की अधिकता होती है।

सांख्य में वर्णित आहूङ्कारिक इन्द्रियों की चिकित्सा नहीं हो सकती, क्योंकि उनका कोई रूप नहीं है, लेकिन आयुर्वेद में चिकित्सा की दृष्टि से ही वस्तुओं का वर्णन किया जाता है और चिकित्सा का आधार रूपवाली इन्द्रियाँ ही हो सकती हैं। आयुर्वेद में इन्द्रियों को जो भौतिक कहा गया है, उसका तात्पर्य इन्द्रियाधिष्ठान से है। इस प्रकार उन-उन इन्द्रियाधिष्ठानों में उन-उन भूतों की प्रधानता के कारण ही इन्द्रियाँ उन-उन भूतों के गुणों को तुल्य-योनिता के सिद्धान्त से ग्रहण करती हैं और विकार होने पर उन-उन इन्द्रियाधिष्ठानों की चिकित्सा की जाती है।

आचार्य सुश्रुत ने शब्दतः पञ्चमहाभूतों से पाँच इन्द्रियों की उत्पत्ति मानी है। जैसे—

(१) 'आन्तरीक्षास्तु—शब्दः शब्देन्द्रियं सर्वेच्छिद्रसमूहो विविक्तता च', अर्थात्—शब्द श्रवणेन्द्रिय, शरीर के छिद्र शरीर की सिरा-स्नायु-पेशी तथा अस्थि आदि का परस्पर पार्यव्यय, यह सब आकाश भूत से बनते हैं।

(२) 'वायव्यास्तु—स्पर्शः स्पर्शनेन्द्रियं सर्वचेष्टासमूहः सर्वशरीरस्पन्दनं लघुता च'। अर्थात्—स्पर्श, त्वचा, शरीर की क्रियाशीलता तथा शरीर के अंगों में स्पन्दन और फड़कन तथा हल्कापन यह सब वायु महाभूत से निष्पन्न होते हैं।

(३) 'तैजसास्तु—रूपं रूपेन्द्रियं वर्णः सन्तापो भ्राजिष्णुता पक्तिरमर्षस्तैक्ष्ण्यं शौर्यञ्च', अर्थात्—शरीर में लावण्य, नेत्र इन्द्रिय गौर आदि वर्ण, उष्णता, चमक आहार का पाचन, क्रोध तीक्ष्णता और शौर्य यह सब अग्निमहाभूत से निष्पन्न होते हैं।

(४) 'आप्यास्तु—रसो रसनेन्द्रियं सर्वद्रवसमूहो गुरुता, शैत्यं, स्नेहो, रेतश्च', अर्थात्—रस, रसनेन्द्रिय शरीर के दोष-धातु-मलों में द्रवता, भारीपन, शीतता, स्नेह और वीर्य यह सब जल महाभूत से बनते हैं।

(५) 'पार्थिवास्तु—गन्धो गन्धेन्द्रियं सर्वमूर्तसमूहो गुरुता चेति' अर्थात्—

गन्ध, घ्राणेन्द्रिय, शरीर के दोष-धातु-मलों के रूप और भारीपन, ये सब पृथ्वी महाभूत से बनते हैं^१।

इन्द्रियों का अहङ्कारिकत्व

सुश्रुत संहिता में सांख्य सिद्धान्त के अनुसार अहङ्कार से इन्द्रियों की उत्पत्ति कही गयी है। अहङ्कार तीन प्रकार का होता है। १. वैकारिक (सात्त्विक) २. तैजस (राजस) और ३. भूतादि (तामस)।

तैजस (राजस) अहंकार की सहायता से वैकारिक अहंकार द्वारा एकादश इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है। एवं अहंकार से उत्पत्ति होने के कारण इन्द्रियाँ आहंकारिक कही जाती हैं। आहंकारिक इन्द्रियवादी कहते हैं कि राजसांश युक्त सात्त्विक अहंकार से इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है, इसलिए इन्द्रियाँ अहंकारिक हैं, न कि भौतिक, क्योंकि पञ्चमहाभूत राजसांश युक्त तामस अहंकार से उत्पन्न होता है। इस प्रकार इन्द्रियों और पञ्चमहाभूतों का मूल अलग-अलग है। अतः इन्द्रियों को पाञ्चभौतिक मानने में कोई युक्ति नहीं है।

इन्द्रियों का मूल एक होने पर भी प्रत्येक इन्द्रिय भिन्न-भिन्न आकार की होती है और उनके विषय भी भिन्न-भिन्न होते हैं। इस भिन्नता का कारण सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों की न्यूनाधिक^२ मात्रा है। इसलिए इनकी विविधता तथा विशिष्ट अर्थ ग्रहण की क्षमता गुणपरिणाम के कारण है।

दूसरी युक्ति यह देते हैं, कि नेत्र छोटे-बड़े रूप, उनके रंग एवं दूरत्व या समीपत्व को जान जाते हैं। यदि आँख भौतिक होती तो ऐसा नहीं हो सकता क्योंकि भौतिक साधन तो स्वयं जिस परिमाण का होगा, उसी परिमाण को ग्रहण कर सकता है। इन्द्रियों को आहंकारिक मानने पर तो इनके विभु (व्यापक) होने से छोटे-बड़े^३ रूप या दूर-समीप होने का ज्ञान नेत्र द्वारा हो सकता है। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों की भी आहंकारिकता सिद्ध होती है। इन्द्रियों की अहंकारिता सुश्रुत के निम्नलिखित सन्दर्भ से स्पष्ट हो जाती है, जिसमें कहा गया है कि 'अव्यक्त से महान् की उत्पत्ति होती है और महान् में अव्यक्त के सत्त्व, रज और तम ये तीनों गुण अव्यक्त से प्राप्त हो जाते हैं। पुनः त्रिगुण महान् से त्रिगुण (सत्त्व, रज, तम) अहंकार की उत्पत्ति होती है। यह अहंकार वैकारिक, तैजस और भूतादि भेद से तीन प्रकार का होता है। वैकारिक अहंकार से तैजस अहंकार की सहायता पाकर एकादश इन्द्रियों की उत्पत्ति

१. सुश्रुत० शारीर० १।१९

२. गुणपरिणामविशेषान्नातत्वं बाह्यभेदाश्च ।

—सां० का० २७

३. महदणुग्रहणात् ।

—न्या० ५० ३।१।३३

होती है। यहाँ अहंकार से ही इन्द्रियों की उत्पत्ति बतलायी गयी है। अतः इन्द्रियों के आहंकारिक होने में कोई सन्देह नहीं है—“तस्मादव्यक्तान्महानुत्पद्यते तल्लिङ्ग एव तल्लिङ्गाच्च महतस्तल्लक्षण एवाहंकार उत्पद्यते। स त्रिविधो वैकारिकस्तैजसो भूतादिरिति तत्र वैकारिकादहङ्कारात् तैजससहायात् तल्लक्षणान्येवैकादशेन्द्रियाण्युत्पद्यन्ते।”

—सु० शा १।४

बुद्धि (महत्) का लक्षण और गुण

मनुष्य या कोई भी प्राणी अपनी अपनी बुद्धि के अनुसार अपने-अपने कार्य-व्यापार करते हैं या अकर्तव्य समझ कर किन्हीं कार्यों को नहीं करने का निश्चय करते हैं। एवं संसार के सभी व्यवहारों का कारण जो गुण है उसे ‘बुद्धि’^१ कहते हैं। जब इन्द्रियों मन के साथ होने पर अपने विषयों को ग्रहण करती हैं, तब मन यह तर्क करता है, कि यह विषय गुणयुक्त होने से ग्राह्य है या दोषयुक्त होने से त्याज्य है, अन्त में बुद्धि यह निश्चय करती है, कि इस विषय को ग्रहण करना चाहिए या नहीं ग्रहण करना चाहिए। इस प्रकार अध्यवसाय^२ (निश्चयात्मक ज्ञान) करना बुद्धि का लक्षण है। शरीर के संसार में बुद्धि का सर्वोच्च स्थान है, इसीलिए उसकी एक संज्ञा ‘महान्’ है।

बुद्धि का जन्म—सांख्य और आयुर्वेद दोनों के ही अनुसार त्रिगुणात्मक अव्यक्त से बुद्धि तत्त्व का जन्म होता है^३। जब बुद्धि शब्द का प्रयोग ज्ञान के अर्थ में किया जाता है, तब उस ज्ञानरूपिणी बुद्धि का कारण संयोग बतलाया गया है और उपमा देकर यह कहा गया है—कि जिस प्रकार अंगुली (मध्यमा) अंगूठा और करतल के संयोग से चुटकी का शब्द होता है और तन्त्री (तार) बीणा और नख के संयोग से बाद्य शब्द की उत्पत्ति देखी जाती है, उसी प्रकार आत्मा, इन्द्रिय, मन और विषयों का संयोग होने पर अनेक प्रकार की बुद्धि (ज्ञान) की उत्पत्ति देखी जाती है।

यद्यपि उन-उन इन्द्रियों द्वारा प्राप्त बुद्धि (१) चक्षुर्बुद्धि (२) स्पर्शनबुद्धि (३) रसनाबुद्धि (४) श्रोत्रबुद्धि (५) घ्राणबुद्धि और (६) मनोबुद्धि के रूप में छह का नाम प्रकार धारण करती है, किन्तु प्रत्येक बुद्धि भिन्न-भिन्न कार्य और

१. सर्वव्यवहारहेतुर्गुणो बुद्धिर्ज्ञानम्।

—तर्कसंग्रह

२. अध्यवसायो बुद्धिः.....।

—सां० का० २३

३. जायते बुद्धिरव्यक्तात्।

—चरक० शा० १।६६

“तस्मादव्यक्तान्महानुत्पद्यते।”

—सुश्रुत० शा० १।३

इन्द्रियों के विभिन्न होने से अनन्त होती है^१। जैसे—एक चक्षु बुद्धि भिन्न-भिन्न विषयों को ग्रहण करने पर भिन्न-भिन्न नाम से सम्बोधित होगी। यथा—घट को देखने में घटबुद्धि, इसी प्रकार पटबुद्धि, पुस्तकबुद्धि आदि।

सांख्यदर्शन में सात्त्विक और तामस भेद से बुद्धि के आठ गुण बतलाए गये हैं^२।

बुद्धि के सात्त्विक गुण—ये चार हैं—(क) धर्म (ख) ज्ञान (ग) विराग और (घ) ऐश्वर्य।

(क) धर्म—यह अभ्युदय (सांसारिक कल्याण) और निःश्रेयस् (मोक्ष) का हेतु है^३। जैसे—यज्ञ, दान, दया, परोपकार आदि से उत्पन्न धर्म अभ्युदय का हेतु है और यौगिक यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि आदि के अनुष्ठान से निःश्रेयस् की उपलब्धि होती है।

(ख) ज्ञान—इसे प्रकाश कहते हैं। यह दो प्रकार का होता है—(१) बाह्य और (२) आभ्यन्तर। बाह्य ज्ञान में—षडङ्ग वेद, पुराण, न्याय, मीमांसा और धर्मशास्त्र है। आभ्यन्तर ज्ञान में प्रकृति और पुरुष का ज्ञान आता है।

(ग) विराग—यह भी दो प्रकार का होता है—(१) बाह्य और (२) आभ्यन्तर। बाह्य विराग में—विषयत्याग, संगत्याग, हिंसात्याग आदि। आभ्यन्तर विराग में—मोक्ष की उत्कट कामना होने से विषयों से सर्वथा विरक्ति होती है।

(घ) ऐश्वर्य—यह आठ^४ प्रकार का होता है—

(१) अणिमा—सूक्ष्म से सूक्ष्म होकर जगत् में विचरण करना।

(२) महिमा—महान् से महान् होकर जगत् में विचरण करना।

(३) लघिमा—छूई के फाहे से भी हल्का होकर जगत् में विचरण करना।

१. भेदात्कार्येन्द्रियार्थानां बह्व्यो वै बुद्धयः स्मृताः।

आत्मेन्द्रियमनोर्थानामेकैका सन्निकर्षजा ॥

अङ्गुल्यङ्गुष्ठतलजस्तन्त्रीवीणानखोद्भवः ।

दृष्टः शब्दो यथा बुद्धिर्दृष्टा संयोगजा तथा ॥

—चरक० शा० १।३३-३४

२. अध्यवसायो बुद्धिर्धर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यम् ।

सात्त्विकमेतद्रूपं तामसमस्माद् विपर्यस्तम् ॥

—सा० का० २३

३. यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः ।

—कणाददर्शन

४. अणिमा महिमा चैव लघिमा गरिमा तथा ।

प्राप्तिः प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वं चाष्टसिद्धयः ॥

—अमरकोष

(४) गरिमा—लोहे से भी वजनदार होकर जगत् में विचरण करना ।

(५) प्राप्ति—अभीष्ट वस्तु जहाँ कहीं हो उसे प्राप्त कर लेना ।

(६) प्राकाम्य—इच्छानुसार जो भी करना चाहे कर लेवे ।

(७) ईशित्व—तीनों लोकों पर अधिकार का सामर्थ्य होना ।

(८) वशित्व—सबको अपने वश में कर लेना ।

कई लोग इनमें गरिमा की गणना न कर “कामावसायित्व” को मानते हैं, जिसका अर्थ है—ब्रह्म से लेकर तृण-लता-गुल्म तक जहाँ भी चाहे उठ, बैठ, आ, जा सके । चरकसंहिता में जो योगियों के अष्टविध ऐश्वर्य का वर्णन किया गया है वह उपर्युक्त ऐश्वर्य से मेल खाता है ।

बुद्धि के तामस गुण—धर्म आदि के विपरीत तामस बुद्धि के चार ४ गुण कहे गये हैं—(१) अधर्म (२) अज्ञान (३) अवैराग्य और (४) अनैश्वर्य ।

विमर्श—कर्तव्याकर्तव्य के भेद को जानने के लिए सभी व्यवहारों में आलोचना जैसे—यह मेरे करने योग्य है, यह करने योग्य नहीं है, ऐसा निर्णय करके मुझे यह करना चाहिए यह निश्चय करना ‘अध्यवसाय’ कहलाता है । बुद्धि का कार्य सार, असार, कार्य-कारण सम्बन्ध एवं कार्याकार्य का निश्चय करना है । इस प्रकार के कार्य को व्यवसाय या अध्यवसाय कहते हैं । श्रीमद्भगवद्गीता में सात्त्विक, राजस और तामस भेद से तीन प्रकार की बुद्धि का वर्णन किया गया है ।^२ (१) जो बुद्धि कार्य-अकार्य, प्रवृत्ति-निवृत्ति, बन्ध और मोक्ष का ज्ञान रखती है, वह सात्त्विक बुद्धि है । (२) जो बुद्धि कार्य-अकार्य, धर्म-अधर्म को सही ढंग से नहीं समझती है, वह बुद्धि राजसी बुद्धि कहलाती है । (३) जो बुद्धि अधर्म को धर्म समझती है, अनित्य को नित्य

१. आवेशश्चेतसो ज्ञानमर्थानां छन्दतः क्रिया ।

दृष्टिः श्रोत्रं स्मृतिः कान्तिरिष्टतश्चाप्यदर्शनम् ॥

इत्यष्टविधमाख्यातं योगिनां बलमैश्वरम् ।

शुद्धसत्त्वसमाधानात् तत्सर्वमुपजायते ॥—चरक० शा० १।१४०-१४१

२. प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।

बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ।

अयथावत् प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसा वृता ।

सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥

और सभी विषयों को विपरीत समझती है, हित में अहित और अहित में हित का ज्ञान रखती है, वह तामस बुद्धि है।

अहंकार का लक्षण और कार्य

गर्व, अभिमान और अहङ्कार ये तीनों शब्द घमण्ड के पर्याय हैं^१। मेरे समान न कोई धनी है, न रूपवान् है, न विद्वान् है, न चरित्रवान् है और न तो बुद्धिमान् है इस तरह व्यापक रूप में घमण्ड करना ही अभिमान कहलाता है। अहंकार का अनुभव होना प्राणिमात्र के लिए साधारण-सी बात है। संसार के विषय मेरे लिए हैं ? मैं ही इनके उपभोग का अधिकारी हूँ ? मैं ही सामर्थ्यवान् हूँ ? इत्यादि भावना का होना अहंकार का स्वरूप है। अहंभाव रखना, अन्यो से अपने को विशिष्ट समझना ही 'अहंकार' का लक्षण है^२। अभिमान अहंकार का लक्षण है^३।

सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ के अपने-अपने विशेष गुण-धर्म होते हैं। जब तक वह पदार्थ विद्यमान रहता है, वह इन गुण-धर्मों को नहीं छोड़ता, यही उनका अभिमान है। सृष्टि के अलग-अलग पदार्थ बनने लगे, इसके पूर्व उनमें उनके विशिष्ट गुण धर्मों को सुरक्षित रखनेवाले अहंकार तत्त्व का उत्पन्न होना आवश्यक है। अतएव त्रिगुणात्मक बुद्धितत्त्व से त्रिगुणमय अहंकारतत्त्व उत्पन्न होते देखा जाता है 'महत्तत्त्वलक्षण एवाहङ्कार उत्पद्यते'। (सुश्रुत. शा. १)।

एक-एक गुण की अधिकता होने से अहंकार के तीन भेद होते हैं—
(१) वैकारिक (सात्त्विक) (२) तैजस (राजस) और (३) भूतादि (तामस)^४।

अहंकार के कार्य—पूर्वोक्त तीनों अहंकारों से ही सृष्टि के समस्त चेतन एवं अचेतन द्रव्यों की उत्पत्ति हुई है। चेतन द्रव्यों की विशेषता का कारण है उनका सेन्द्रिय होना है तथा अचेतन द्रव्यों में इन्द्रियाँ नहीं होती हैं^५।

चेतन द्रव्यों का विशेष लक्षण है—उनमें चैतन्य का होना। यह चैतन्य इन्द्रियों के अस्तित्व से ही होता है। चैतन्य गुण सत्त्वगुण का परिचायक होने से मुख्यतः इन्द्रियों की उत्पत्ति सात्त्विक अहंकार से होती है। सत्त्व को चेतनता

१. 'गर्वोऽभिमानोऽहङ्कारः'। 'गर्व माने'। अभि सर्वतो मानः। अभिमानोऽर्थादि दर्पे।
—अमरकोष-रामाश्रमी १।७।५२

२. अहं इति करणमहङ्कारः।

—वही

३. अभिमानोऽहङ्कारस्तस्माद् द्विविधः प्रवर्तते सर्गः। —सां०का० २४

४. स त्रिविधः वैकारिकस्तैजसो भूतादिरिति। —सुश्रुत० शा० १।३

५. 'सेन्द्रियं चेतनं द्रव्यं निरिन्द्रियमचेतनम्' —चरक० सूत्र० १।४८

में प्रवृत्त कराने के लिए रजोगुण आवश्यक है। अतः इन्द्रियों की उत्पत्ति राजस अहंकार की सहायता से वैकारिक अहंकार द्वारा होती है यह कहा गया है। सत्त्व और रज इन गुणों को नियन्त्रित रखने के लिए तमोगुण प्रधान तामस अहंकार भी इन्द्रियों की रचना में अंशतः भाग लेता है। एवं पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और एक उभयात्मक मन इन एकादश इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है।

अचेतन (निरिन्द्रिय) द्रव्यों की उत्पत्ति मुख्य रूप से तामस अहंकार से होती है और राजस अहंकार यहाँ भी सहायक रहता है। अचेतन द्रव्यों की उत्पत्ति में भी अंशतः सात्त्विक अहङ्कार की उपस्थिति होती है। अचेतन द्रव्य पञ्चमहाभूतमय होते हैं और पञ्चमहाभूतों की उत्पत्ति उनके सूक्ष्म रूप में अवस्थित पञ्चतन्मात्राओं से होती है। प्रत्येक महाभूत एक-एक तन्मात्रा से बनता है। जैसे—शब्दतन्मात्रा से आकाश, स्पर्शतन्मात्रा से वायु, रूपतन्मात्रा से अग्नि, रसतन्मात्रा से जल और गन्धतन्मात्रा से पृथिवी महाभूत की उत्पत्ति होती है। महाभूतों के दो रूप वैशेषिकों ने माने हैं—एक परमाणुरूप और दूसरा स्थूलरूप। परमाणुरूप को सांख्य में 'तन्मात्र' और स्थूलरूप को 'भूत' कहा गया है। एवं पञ्चतन्मात्राएँ तामस-अहङ्कार से उत्पन्न होती हैं और इन तन्मात्राओं से पञ्चमहाभूतों की उत्पत्ति होती है^१। इस प्रकार तामस अहङ्कार से अन्त में भूतों की उत्पत्ति होने से उस (अहङ्कार) को भूतादि (भूतों का आदिकारण) नाम से अभिहित किया जाता है।

१. तत्र वैकारिकादहंकारात्तैजससाहाय्यात् तल्लक्षणान्येव एकादशेन्द्रियाण्युत्पद्यन्ते । तद्यथा—श्रोत्र-त्वक्-चक्षु-जिह्वा-घ्राण-वाग्धस्तोपस्थ-पायु-पाद-मनां-सीति । तत्र पूर्वाणि पञ्चबुद्धीन्द्रियाणि, इतराणि पञ्चकर्मेन्द्रियाणि, उभयात्मकं मनः । भूतादेरपि तैजससाहाय्यात् तल्लक्षणान्येव पञ्चतन्मात्राण्युत्पद्यन्ते—शब्द-तन्मात्रं स्पर्शतन्मात्रं रूपतन्मात्रं रसतन्मात्रं गन्धतन्मात्रमिति, तेषां विशेषाः शब्द-स्पर्शरूपरसगन्धाः ।

—सुश्रुत० शारीर० १।३

अभिमानोऽहङ्कारस्तस्माद् तथा द्विविधः प्रवर्तते सर्गः ।

एकादशकश्च गणस्तन्मात्रपञ्चकश्चैव ॥

सात्त्विक एकादशकः प्रवर्तते वैकृतादहङ्कारात् ।

भूतादेस्तन्मात्रः स तामसस्तैजसादुभयम् ॥

—सां० का० २४-२५

अष्टादश अध्याय

निद्रा-स्वप्न-मूर्च्छादि-विज्ञान

निद्रा-विचार

जब मन और इन्द्रियाँ विषयों में लीन रहकर अपना कार्य करते-करते थक जाती हैं और उनमें विषयग्रहण की क्षमता का ह्रास हो जाता है एवं वे विषयों से निवृत्त हो जाती हैं, तो प्राणी निद्रा के वशीभूत हो जाते हैं।^१ निद्रा-वस्था^१ में मनुष्य की कोई कामना नहीं होती और जब गम्भीर निद्रा होती है, तब मन या इन्द्रियों की कोई प्रवृत्ति नहीं होती और स्वप्न भी नहीं दिखाई पड़ते है। श्वासोच्छ्वास और रक्त संवहन आदि क्रियाएँ अनवरत चलती रहती हैं और इन पर निद्रा का कोई अवरोधक प्रभाव नहीं पड़ता है।

निद्रा के प्रकार—(१) तमोगुण (२) कफ (३) मानसिक श्रम (४) शारीरिक श्रम (५) आगन्तुक कारण (६) रुग्णता और (७) रात्रिस्वभाव, ये निद्राजनक सात कारण होते हैं,^२ अतएव निद्रा के सात प्रकार हो जाते हैं।

इन प्रकारों में केवल रात्रि स्वभाववश आने वाली निद्रा ही जीवनदायिनी तथा आयुष्य के लिए हितकर है। अन्य प्रकार की निद्राएँ रोगजन्य मानी जाती हैं।

आचार्य सुश्रुत ने कहा है—कि 'हृदय में तमोगुण के व्याप्त हो जाने पर प्राणी निद्रा के वश हो जाते हैं'^३। निद्रा के जो सात प्रकार बतलाये गये हैं

१. यदा तु मनसि क्लान्ते कर्मात्मानः क्लमान्विताः ।

विषयेभ्यो निवर्तन्ते तदा स्वपिति मानवः ॥ —च० सू० २१।३५

२. तमोभवा श्लेष्मसमुद्भवा च मनः शरीरश्रमसम्भवा च ।

आगन्तुकी व्याध्यनुवर्तिनी च रात्रिस्वभावप्रभवा च निद्रा ॥

रात्रिस्वभावप्रभवा मता या तां भूतघात्रीं प्रवदन्ति निद्राम् ॥

—च० सू० २१।५८-५९

३. हृदयं चेतनास्थानमुक्तं सुश्रुत देहिनाम् ।

तमोऽभिभूते तस्मिंस्तु निद्रा विशति देहिनम् ॥

निद्राहेतुस्तमः सत्त्वं बोधने हेतुरुच्यते ।

स्वभाव एव वा हेतुर्गरीयान् परिकीर्तितः ॥ —सु० शा० ४।३४-३५

सुश्रुत ने उन सबका अन्तर्भाव तीन ही प्रकार में कर लिया है—(१) तामसी (२) स्वाभाविकी और (३) वैकारिकी^१ ।

(१) तामसी निद्रा—यह निद्रा मृत्युपूर्वकालीन संज्ञानाश की स्थिति है । जब संज्ञावाही स्रोत तमोगुणाधिक कफ से भर जाते हैं तो यह निद्रा होती है । सुश्रुत ने इसका काल मृत्युकाल बतलाया है—‘सा प्रलयकाले’ (सुश्रुत० शा० ४।३) । चरक ने जो संन्यास के लक्षण में यह कहा है कि ‘संन्यास से आक्रान्त व्यक्ति च्छिन्नमूल तरु की तरह धराशायी हो जाता है और उसे गम्भीर रूप से संज्ञाशून्यता हो जाती है ‘स ना संन्याससंन्यस्तः काष्ठीभूतो मृतोपमः’ । (चरक० सूत्र० २४।४४) । इस तामसी निद्रा को पाश्चात्य परिभाषा में कोमा^२ (Coma) कह सकते हैं ।

(२) स्वाभाविकी निद्रा—तमोगुणी व्यक्तियों को दिन और रात के किसी भी समय में निद्रा आ घेरती है । रजोगुणी व्यक्ति की निद्रा का कोई नियम नहीं होता, वे जब थक जाते हैं, उन्हें नींद आ जाती है । सात्त्विक प्रकृति के व्यक्तियों की निद्रा का समय है अर्धरात्रि—जिसका समय दस से चार बजे तक होता है । स्वाभाविकी निद्रा^३ का वास्तविक काल अर्धरात्रि^४ ही है, फिर भी वय, व्यवसाय, अभ्यास और प्रकृति के अनुसार निद्रा का काल बदल जाता है । जैसे—बचपन में एक माह के बालक के लिए २१ घण्टे तक, छह मास वाले के लिए १८ घण्टे तक, एक साल के लिए १५ घण्टे तक चार साल के लिए १२ घण्टे तक और बारह साल के बालक के लिए १० घण्टे तक

१. तत्र यदा संज्ञावहानि स्रोतांसि तमो भूयिष्ठः श्लेष्मा प्रतिपद्यते तदा तामसी नाम निद्रा भवत्यनवबोधिनी, सा प्रलयकाले, तमोभूयिष्ठानामहःसु निशासु च भवति, रजोभूयिष्ठानामनिमित्तं, सत्त्वभूयिष्ठानामर्धरात्रे, क्षीण-श्लेष्मणामनिलबहुलानां मनः शरीराभितापवतां च नैव, सा वैकारिकी भवति ॥

—सु० शा० ४।३२

2. Coma is a state of unnatural, heavy, deep and prolonged sleep, often accompanied by slow stertorous or irregular breathing and frequently ending in death. (Index of differential Diagnosis by Herbert French)

३. रात्रिस्वभावप्रभवा मता या तां भूतधात्रीं प्रवदन्ति तज्ज्ञाः ।

—चरक० सूत्र० २१

४. प्रदोषपश्चिमौ यामौ वेदाभ्यासेन यो नयेत् ।

प्रहरद्वयं शयानो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥

—दक्षस्मृति

की निद्रा की आवश्यकता होती है। युवावस्था में पुरुषों के लिए ७ और स्त्रियों के लिए ८ घण्टे का निद्रा काल होता है। वृद्धावस्था में नींद कम हो जाती है और वह कई खण्डों में बट जाती है। शारीरिक या मानसिक श्रम करने वालों के लिए अधिक और अपरिश्रमी लोगों को कम नींद आती है। अभ्यास से भी निद्रा अधिक या कम समय की हो जाती है। कफ^१ प्रकृति व्यक्ति को अधिक, पित्तप्रकृति को मध्यम, वातप्रकृति^२ को कम नींद आती है।

वय के अनुसार निद्रा के काल में जो अन्तर पाया जाता है उसका कारण उन व्यक्तियों की दोषज प्रकृति है, क्योंकि बाल्यावस्था में कफ। युवावस्था में पित्त और बार्धक्य में वात की वृद्धि होती है 'बाले विवर्धते श्लेष्मा मध्यमे पित्तमेव च। भूयिष्ठं वर्धते वायुर्द्वंद्वे' (सुश्रुत० सूत्र० ३५।३१)।

(३) वैकारिकी निद्रा—जब कफ की क्षीणता और वायु की अधिकता होती है एवं शारीरिक या मानसिक रोगों से पीड़ित होने की हालत में ठीक से नींद नहीं आती और नींद की मात्रा कम हो जाती है—'एत एव च विज्ञेया निद्रा-नाशस्य हेतवः। कार्यकालो विकारश्च प्रकृतिर्वायुरेव च ॥ (चरक० सूत्र० २१) वैकारिकी निद्रा में निद्रा की कमी होती है या टूट-टूट कर नींद आती है।

विमर्श—मन से युक्त इन्द्रियों का अपने विषयों से मुक्त होना ही निद्रा है। क्योंकि मन के थक जाने पर थकी हुई इन्द्रियाँ अपने विषयों से हट जाती हैं और विषयों का ग्रहण नहीं करती हैं, तो मनुष्य मन और इन्द्रियों के विश्रामार्थ सोता है। मन और इन्द्रियों की थकान परिश्रम, काल और स्वभाववश होती है।

ऐसी स्थिति में जब इन्द्रियाँ तो विषयों से निवृत्त हो जाती हैं, किन्तु मन नहीं निवृत्त होता है और वह चिन्तादि में लगा रहता है तो वह अनेक प्रकार के स्वप्नों को देखता है।

निद्रा एक उपस्तम्भ

शरीर को धारण करनेवाले तीन उपस्तम्भ (त्रय उपस्तम्भाः, आहारः स्वप्नो ब्रह्मचर्यमिति) कहे गये हैं, उनमें निद्रा का विशेष महत्त्व है, क्योंकि सुखपूर्वक निद्रा के आने से शरीर में आरोग्य, पुष्टि, बल, और शुक की वृद्धि, इन्द्रियों में कार्यक्षमता की वृद्धि और आयु की पूर्णता प्राप्त होती है। "संव-युक्ता पुनर्युक्ते निद्रा देहं सुखायुषा" (चरक० सूत्र० ११)। यदि मनुष्य अपने सभी कार्य नियमित रूप से करता हुआ यथासमय उचितरूप से निद्रा का

१. आयो निद्रालुर्दीर्घसूत्रः कृतज्ञः श्लेष्मलः।

—अष्टाङ्गहृदय

२. अल्पवित्तबलजीवितनिद्रा वातिकाः।

—अष्टाङ्गहृदय

सेवन न करे, शारीरिक यन्त्रों को और इन्द्रियों को विश्राम न दे, तो स्वस्थ नहीं रह सकता, अपितु रोगों का शिकार बन जावे। यदि बिना समय के, अधिक मात्रा में निद्रा का सेवन किया जाय या निद्रा का सर्वथा परित्याग कर दिया जाय, तो आरोग्य और आयु दोनों के लिए गम्भीर सङ्कट उपस्थित होकर मृत्यु की सम्भावना हो सकती है। अतः निद्रा शरीर को धारण करने वाला एक उपस्तम्भ है।

दिन की निद्रा

ग्रीष्म ऋतु के अतिरिक्त अन्य ऋतुओं में दिन में सोने से कफ और पित्त का प्रकोप होता है, इसलिए ग्रीष्म के अलावे अन्य ऋतुओं में दिन में शयन नहीं करना चाहिए। विशेषकर ऐसे लोग जो अधिक मोटे हैं, घी, दूध आदि स्निग्ध वस्तुओं के अभ्यासी हैं, कफ प्रकृतिवाले हैं, कफजन्य रोग से पीड़ित हैं और जो व्यक्ति दूषीविष से ग्रस्त हैं उन्हें किसी भी ऋतु में किसी भी अवस्था में दिन में शयन नहीं करना चाहिए।

दिन में शयन के योग्य मनुष्य

गीत गाने के कारण, अध्ययन, मद्यपान, स्त्रीसेवन, वमन-विरेचन आदि संशोधनकर्म, भार ढोने और रास्ता चलने से थके और क्षीण पुरुषों को दिन में शयन करना हितकर है। अजीर्ण के रोगी, उरःक्षत के रोगी, धातुक्षय के रोगी, बूढ़, बालक और अबला स्त्री को दिन में सोना चाहिए। तृष्णा, अतिसार, शूल, दमा (श्वास) ह्रिचकी के रोगी और कुशव्यक्ति के लिए दिवाशयन का विधान है। यदि चोट लगे व्यक्ति को, ऊँचे स्थान से गिरे हुए को, उन्मादी, क्रोधी, शोकातुर, भयभीत और रात्रि-जागरण से थके हुए व्यक्तियों को सभी ऋतुओं में शयन करना श्रेयस्कर है। इस प्रसङ्ग में निम्नलिखित श्लोक स्मरणीय है—

व्यायामप्रमदाध्ववाहनरतान् क्लान्तानतीसारिणः

शूलश्वासवतस्तृषापारिगतान् हिक्कामरूपीढितान्।

क्षीणान् क्षीणकफान् शिशून् मदहतान् वृद्धान् रसाजीर्णानो

रात्रौ जागरितान् नरान् निरशनान् कामं दिवा स्वापयेत् ॥

उपर्युक्त व्यक्तियों को दिन में शयन करने से धातुओं में (रस, रक्त, मांस-मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र के निर्माण में) समता होती है, बल की वृद्धि होती है। श्लेष्मा की वृद्धि होने से शरीर के अङ्ग पुष्ट होते हैं और आयु में स्थिरता आती है।

निद्रानाश की चिकित्सा

निद्रानाश करने वाले कारणों में वायु प्रमुख है। पित्तविकार, मानसिक

आघात, क्षय और चोट लगने के कारण भी नींद नहीं आती है। इसलिए इन कारणों को दूर करना चाहिए और कारण के विपरीत चिकित्सा करनी चाहिए। जैसे—वातशामक, वेदनानाशक, रोगनिवारक और मनःशान्तिकर उपायों का अवलम्बन। शिर से पैर तक तेल की मालिश करना श्रेष्ठ उपाय है। क्योंकि इससे सभी इन्द्रियाँ स्वस्थ होती हैं, वायु का प्रकोप मिटता है और थकावट दूर होकर अच्छी नींद आती है। तैलमर्दन से त्वचा और शाखाओं की रक्तवाहिनियाँ फैलती हैं और इन अङ्गों में रक्त की राशि अधिक होकर मस्तिष्क में कम हो जाती है, इससे निद्रा में सहायता मिलती है। नींद लाने के लिए शारीरिक स्वास्थ्य, बाह्य वातावरण की अनुकूलता और मानसिक तृप्ति आवश्यक है। यहाँ वाग्भट के निद्राप्रद उपायों का वर्णन याद रखने लायक है—

शीलयेन्मन्दनिद्रस्तु क्षीर-मद्य-रसान् दधि ।
अभ्यङ्गोद्वर्तन-स्नान-मूर्ध्-कर्णाक्षि-तर्पणम् ॥
कान्ताबाहुलताश्लेषो निवृत्तिः कृतकृत्यता ।
मनोज्ञुकूला विषयाः कामं निद्रासुखप्रदाः ॥
ब्रह्मचर्यरतेर्ग्राम्यसुखनिःस्पृहचेतसः ।
निद्रा सन्तोषतृप्तस्य स्वं कालं नातिवर्तते ॥

—अष्टाङ्ग० सू० ७

सोने के समय, जब मनुष्य को अपने दैनिक कार्यों से पूर्ण सन्तोष होता है, तो कृतकृत्यता के कारण मन निवृत्त और सन्तुष्ट होने से अच्छी नींद आती है।

निद्रा विष्णु-माया

आचार्य सुश्रुत ने निद्रा को वैष्णवी माया कहा है। इसका अभिप्राय यह है, कि जिसप्रकार विष्णु संसार की सृष्टि का आधार और पोषक होता है, उसी प्रकार निद्रा भी शरीर का धारण-पोषण करनेवाली होती है।

निद्रा पापमयी

निद्रा कितनी ही शरीरधारक क्यों न हो वह पापमूलक होती है, क्योंकि उसके आ जाने पर सभी प्रकार के शुभकार्यों में भी व्यवधान हो जाता है (‘कृत्स्नशुभव्यापारनिरोधात्’—डल्हण)।

निद्रा का वास्तविक काल

सत्त्वगुण वाले मनुष्य रात्रि के मध्यकाल में दो पहर सोते हैं—जो नौ बजे से ३ बजे रात तक होता है। निद्रा के लिए यही उत्तम काल है, जिसे

धर्म और लोक दोनों ही दृष्टि से श्रेष्ठ माना गया है। यही वास्तविक निद्रा का काल है।

निद्रा पर अभ्यास का प्रभाव पड़ता है—“आहारो मैथुनं निद्रा सेव्यमानं तु वर्धते”।

निद्रा का कारण

निद्रा का कारण तम और जागरण का कारण सत्त्वगुण होता है अथवा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कारण है—स्वभाव।

“निद्राहेतुस्तमः सत्त्वं बोधने हेतुरुच्यते।

स्वभाव एव वा हेतुर्गरीयान् परिकीर्तित ॥ (सुश्रुत० शा० ४)

पुरुष में सत्त्व, रज और तम ये तीनों गुण प्रकृति से ही रहते हैं और चेतनास्थान हृदय जब तम से आवृत होता है, तब नींद आती है। सत्त्वगुण की अधिकता होने से नींद खुल जाती है। प्रश्न उठता है ? कि प्रतिदिन रात्रि के समय एक विशिष्ट काल में निद्रा आती है और विशिष्ट काल में स्वयं ही चली जाती है, इस तरह नियत समय में निद्रा का आगमन और गमन क्यों होता है ? जिसके समाधान के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण कारण स्वभाव को बतलाया गया है, “स्वभाव एव वा हेतुः”। आधुनिक काल के विचारक भी इसी मत का समर्थन करते हैं^१। स्वभाव को बदला नहीं जा सकता “स्वभावो दुरतिक्रमः”। उसी तरह निद्रा का आना भी एक स्वभाव है, जिसे टाला नहीं जा सकता। जैसे—आहार ग्रहण करना स्वभाव है, वैसे ही निद्रा का सेवन भी एक स्वभाव है और जैसे आहार से शरीर की पुष्टि होती है। वैसे ही निद्रा से भी शरीर की पुष्टि होती है^२।

निद्रा-सम्बन्धी आधुनिक विचार

ब्रह्मगुहा (Third Ventricle) के तल के घूसर भाग में और कंदाधरीय (Hypothalamus) में निद्रा से सम्बन्ध रखने वाला कुछ अंश होता है, जिसमें खराबी होने से निद्रा तथा तन्द्रा बढ़ती है। प्रत्यक्ष निद्रा उत्पन्न होने की दृष्टि से निम्न मत पाश्चात्य चिकित्सा विज्ञान में वर्णित हैं।

(१) ‘हावेल’ के अनुसार मस्तिष्क में रक्त की कमी तथा अन्य अङ्गों में

1. “Natural sleep to the normal manifestation of one stage in the rhythmical activity of nerve cells”

—Halliburton's Physiology

२. देहवृत्तो यथाहारस्तथा स्वप्नः सुखो मतः।

चरक० सूत्र १

रक्त की अधिकता होने से निद्रा उत्पन्न होती है। भोजन के बाद पाचनसंस्थान में रक्ताधिक्य होकर मस्तिष्क में रक्त की कमी होने से ही भोजनोत्तर तन्द्रा या निद्रा मालूम पड़ती है। जाड़े के दिनों में रात को ओढ़ने के लिए काफी गरम कपड़ा न होने पर नींद नहीं आती, क्योंकि त्वचा की रक्तवाहिनियों के सिकुड़ने से मस्तिष्क में रक्ताधिक्य हो जाता है। प्रतिदिन रात को त्वचा की रक्तवाहिनियाँ विस्तृत होती हैं, जिससे मस्तिष्क में रक्त की कमी होकर नींद आती है, परन्तु इससे नींद आती है या नींद के कारण मस्तिष्क में रक्त की कमी होती है? यह प्रश्न अन्तिम रूप से अनिर्णीत है।

(२) कुछ वैज्ञानिकों का मत है—कि जाग्रत अवस्था में शरीर ऐसा रासायनिक द्रव्य उत्पन्न करता है, जो उचित मात्रा में संचित होकर मस्तिष्क पर निद्रा का प्रभाव डालता है और वैसे ही निद्रित अवस्था में ऐसे द्रव्य उत्पन्न होते हैं, जो निद्रा को हटाने का कार्य करते हैं।

(३) कतिपय विद्वानों का कहना है, कि जाग्रत अवस्था में मस्तिष्कगत नाडी केन्द्रों (Neurons) के अक्षतन्तु (Dendrites) आपस में भलीभाँति मिले रहते हैं, जिससे अबाध रूप से परस्पर संवहन होता रहता है और उसका परिणाम संज्ञा या जाग्रत अवस्था है निद्रावस्था में ये अक्षतन्तु सिकुड़कर गाँठदार हो जाते हैं, जिससे इनका आपस का सम्बन्ध टूट जाता है और एक दूसरे का सम्बन्ध न होने से संवहन नहीं होता, जिसका परिणाम संज्ञानाश या निद्रा होता है।

(४) पावलोव (Pavlov) नामक रशियन वैज्ञानिक का मत है, कि निद्रा सांकेतिक निवारण (Conditional inhibition) का परिणाम है। प्राणी के शरीर में कई सहज प्रत्यावर्तन क्रियाएँ (Reflex action) होती हैं। जैसे अन्नदर्शन से लालास्राव। यदि कुत्ते को नियत समय पर घंटिका-वादन के साथ भोजन दिया जाय तो कुत्ता घंटिकावादन का सम्बन्ध भोजन से जोड़ लेता है, जिससे कुछ समय बाद घंटिकावादन से ही लालास्राव होने लगता है। यह कार्य जन्मोत्तर होने से तथा सांकेतिक होने से सांकेतिक प्रत्यावर्तन (Conditioned reflex action) कहा जाता है। इसी प्रकार कुत्ते को यदि कोई दूसरा संकेत बताया जाय, जिससे वह अन्न न मिलने का संकेत समझ ले और उस संकेत का प्रयोग अन्न के बाद किया जाय तो कुछ काल तक अन्न दर्शन होने पर भी लालास्राव रूप प्रत्यावर्तन का होना रुक जाय अर्थात् उसका निवारण हो जाय यह निवारण कार्य संकेत के अनुसार होता है, अतः इसे सांकेतिक निवारण कहते हैं। प्रत्यावर्तन तथा निवारण दोनों कार्य मस्तिष्क के धूसर भाग में होते हैं। प्रत्येक कार्य का स्थान भिन्न-भिन्न होता है। एक स्थान

में निवारण का कार्य होने से यह अन्य स्थानों में भी विकिरण द्वारा फैलता है। इस परीक्षण से डाक्टर पावलोव ने यह निष्कर्ष निकाला कि रात्रि के समय शय्या आदि निद्रा के अनुकूल संकेतों का निवारण-परिणाम मस्तिष्क के ऊपर पड़ता है, जिससे मनुष्य को स्वयमेव नींद आ जाती है।

उपर्युक्त इन सभी मतों को अपने-अपने स्थान पर उचित मानने पर भी निद्रा के कारण और प्रक्रिया का स्पष्ट ज्ञान नहीं उपलब्ध हो पाता। निद्रा शरीर का एक स्वाभाविक घर्म है जिससे शरीर के प्रत्येक यन्त्रों को पूर्णतः विश्राम मिलता है। आयुर्वेद का यह सिद्धान्त आधुनिक अन्वेषणों से भी सिद्ध है।

तन्द्राविवेक

(Sleepor, Lethargy, Suspension of Sensibility)

इन्द्रियों के अर्थों (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) का ग्रहण न होना, शरीर में भारीपन, जँभाई लेना, थकावट और निद्रा से पीड़ित हुए के समान व्याकुलता का अनुभव होना, ये तन्द्रा के लक्षण होते हैं। यह हल्की सी संज्ञानाश की स्थिति है। यह वैकारिक संज्ञानाश की एक अवस्था है^१।

निद्रा और तन्द्रा में अन्तर^२ यह है, कि निद्रा के बाद जगने पर थकावट नहीं महसूस होती, बल्कि शरीर में हलकापन और स्फूर्ति का अनुभव होता है, जब कि तन्द्रा से जगने पर थकावट की अनुभूति होती है और इन्द्रियाँ अपने अपने विषय ग्रहण करने में असमर्थ होती हैं। तन्द्रा में रोगी क्लान्त और बेहोश रहता है। जगाने की कोशिश करने पर कुछ सचेत होता है, परन्तु फिर से बेहोश हो जाता है।

विमर्श—तन्द्रावस्था में ज्ञानेन्द्रियों को अपने शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध का ज्ञान नहीं हो पाता। तन्द्रा में संज्ञाशून्यता हो जाती है। आतुर एक दम गम्भीर रूप से थका-सा दीखता है। सामान्यतः तन्द्रा का अर्थ है सुस्ती और आलस्ययुक्त निद्रा का आवेश आना। तन्द्रा को दूर करने के लिए नस्य, धूम्र, तीक्ष्ण अंजन और आश्वासन आदि प्रयोग किये जाते हैं, फिर भी तन्द्रा

१. इन्द्रियार्थेष्वसंबित्तिर्गौरवं जृम्भणं क्लमः।

निद्रातंस्येव यस्येहा तस्य तन्द्रां विनिर्दिशेत् ॥ —सुश्रुत. शा. ४।४८

२. निद्रायां प्रबोधितस्य क्लमाभावः, तन्द्रायां तु प्रबोधितोऽपि क्लाम्यति।

—सुश्रुत. शा. ४।४८ पर उल्लेख टीका

का दूर करना आसान काम नहीं है। यह एक दारुण^१ अवस्था है और इससे कभी-कभी रोगी की मृत्यु भी हो जाती है। आधुनिक विचारों के अनुसार— यह एक गम्भीर निद्रा की स्थिति है, जिससे रोगी को जगाया जा सकता है। मूर्च्छा या संन्यास से तन्द्रा में अन्तर यह है, कि तन्द्रा में रोगी जग सकता है जब कि संन्यास में रोगी जगाया नहीं जा सकता—

It is a condition of deeper sleep from which the patient can be arose, distinguishing it from coma, from which the patient can not be arose.

—Symptom Diagnosis by Barton and Yater

इससे यह स्पष्ट है, कि तन्द्रा संन्यास रोग का हल्का स्वरूप है, जो निम्न-लिखित रोगों में पाया जाता है—क्योंकि इन रोगों में संन्यास के उत्पन्न होने की सम्भावना पायी जाती है—आन्त्रिक ज्वर, आमवातज्वर, घातक विषम-ज्वर, न्यूमोनिया, मसूरिका आदि सान्निपातिक ज्वरों के अन्त में सभी प्रकार के मस्तिष्कावरणशोथ (Meningitis) तन्द्रिक मस्तिष्कशोथ (Encephalitis lethargica) मस्तिष्क का अर्बुद, मूत्र विषमयता (Uremia), मधुमेह की अन्तिमावस्था, घातक पाण्डुरोग (Pernicious anaemia) मस्तिष्क में रक्तस्राव या रक्त का जम जाना (Embolism) पक्षाघात, लू लगना (Heat stroke) अत्यधिक रक्तस्राव आदि।

स्वप्नविवेक

(Dream)

सोये हुए मनुष्य का स्वामी जीवात्मा पूर्वजन्म के देह से अनुभव किए हुए या जन्म में इसी देह से अनुभव किए हुए, (ये अनुभव चाहे ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त हों या मन द्वारा कल्पित अथवा प्रापित हों, वे विषय वासना के रूप में रहते हैं।) शुभ-अशुभ विषयों को रजोगुणयुक्त मन के द्वारा देखता है और इसे ही स्वप्न^२ कहते हैं।

१. कफोऽल्पी वायुनोद्धूतो घमनीः संनिरुध्य तु ।

कुर्यात् संज्ञावहां तन्द्रां दारुणां मोहकारिणीम् ॥

उन्मीलिते विनिर्भुग्ने परिवर्तिततारिके ।

भवतस्तत्र नयने स्तुते लुलितपक्ष्मणी ॥

अर्धत्रिरात्रात्सा साध्या न सा साध्या ततः परम् ॥ —अष्टाङ्गसंग्रहसूत्र ९

२. पूर्वदेहानुभूतांस्तु भूतात्मा स्वपतः प्रभुः ।

रजोयुक्तेन मनसा गृह्णात्यर्थान् शुभाशुभान् ।

—सु. शा. ४।३५

जब बड़े हुए प्रबल दोष मनोवहस्रोतों में भर जाते हैं, तो प्राणी भयङ्कर स्वप्नों को देखता है। मृत्यु के समय अति प्रकुपित वात, पित्त, कफ जब शरीर के सभी स्रोतों में भर जाते हैं तब मनुष्य कष्टप्रद या मृत्युदायक भयङ्कर स्वप्नों को देखता है^१।

मनुष्य जब अधूरी नींद सोता है और वह अर्धनिद्रा की स्थिति में होता है तब इन्द्रियों के स्वामी मन द्वारा सफल या निष्फल अनेक प्रकार के स्वप्नों को देखता है।

स्वप्न^२ उस स्थिति का नाम है जब मनुष्य कुछ अंश तक ही सोया रहता है और उसकी नींद प्रगाढ़ नहीं होती। स्वप्नावस्था^३ में इन्द्रियों का व्यापार तो बन्द रहता है किन्तु मन का कार्य होता रहता है और जिस तरह की वासना^४ से मन आबद्ध रहता है, उस उस तरह के अच्छे या बुरे स्वप्न उसे दिखाई देते हैं। मन स्वप्न में भी निश्चल नहीं होता और उसकी चंचलता का प्रभाव शरीर पर भी कदाचित् होते हुए देखा जाता है। बोलना, हँसना, रोना और वीर्यपात की क्रियाएँ स्वप्न में भी होते देखी जाती हैं। कई लोग स्वप्न में अचानक चारपाई छोड़कर अनचाहे चलने लग जाते हैं।

स्वप्न के सात प्रकार

(Seven types of Dreams)

(१) दृष्ट (२) श्रुत (३) अनुभूत (४) प्रार्थित (५) कल्पित (६) भाविक और (७) दोषज, ये स्वप्न के सात^५ प्रकार होते हैं।

(१) दृष्ट—जिसे चक्षुरिन्द्रिय द्वारा देखा गया हो।

(२) श्रुत—जो कान द्वारा सुना गया हो, जैसे नीलगाय तेज दौड़ती है।

१. मनोवहानां पूर्णत्वाद्दोषैरतिबलैस्त्रिभिः।

स्रोतसां दारुणान् स्वप्नान् काले पश्यति दारुणे ॥

नाति प्रसुप्तः पुरुषः सफलानफलानपि।

इन्द्रियेशेन मनसा स्वप्नान् पश्यत्यनेकधा ॥ —च. इ. ५।४१-४२

२. निद्रोपप्लुतेन तन्द्रायुक्तेन मनसा विषयग्रहणं स्वप्नः। —उल्हण

३. सर्वेन्द्रियव्युपरतो मनोऽनुपरतं यदा।

विषयेभ्यस्तदा स्वप्नं नानारूपं प्रपश्यति ॥ —अष्टाङ्गसंग्रह सूत्र ९

४. जीवो यद्वासनाबद्धस्तदेवान्तः प्रपश्यति। —योगवाशिष्ठ ४।१७।२६

५. दृष्टं श्रुतानुभूतं च प्रार्थितं कल्पितं तथा।

भाविकं दोषजं चैव स्वप्नं सप्तविधं विदुः ॥ —च. इ. ५।४३

(३) अनुभूत—जिस विषय की मन द्वारा चिन्ता की जाय—जैसे परीक्षा में अमुक प्रश्न आना चाहिए पच्ची कहीं कठिन न हो ? तो फिर उसी तरह का स्वप्न दिखाई पड़ता है ।

(४) प्रार्थित—मन से जिस विषय की चाह हो । जैसे—मेरे टिकट नम्बर की लाटरी निकल जाती तो कार खरीदता ।

(५) कल्पित—जिसकी कल्पना की जावे, जैसे अगली परीक्षा में सर्वोच्च अङ्क प्राप्त करने हैं ।

(६) भाविक—जो स्वप्न मन में आबद्धवासना के अनुसार शुभ या अशुभ फल अवश्य दें ।

(७) दोषज—वात, पित्त और कफ इन दोषों के अनुसार स्वप्न का होना दोषज स्वप्न कहलाता है । जैसे—वातज स्वप्न—‘विददपि गच्छति सम्भ्रमेण सुप्तः’ (सु० शा० ४।६४) । पित्तज स्वप्न—‘सुप्तः सन् कनकपलाश कर्णिकारान् सम्पश्येदपि च हृताशविद्युदुल्काः’ (सु० शा० ४।६८) । कफज स्वप्न—‘सुप्तः सन् सकमलहंसचक्रवाकान् संपश्येदपि च जलाशयान् मनोज्ञान् ।’ (सु० शा० ४।७२) ।

आयुर्वेद में स्वप्नों का विशेष अध्ययन अपेक्षित है, क्योंकि भाविक स्वप्नों से रोगी के भावी रोगों के संकेत या जीवन-मरण के संकेत और वातादि दोषों के प्रभाव का ज्ञान होता है । विशेषकर अरिष्ट विज्ञान की दृष्टि से स्वप्नों का अध्ययन महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी है ।

विमर्श—मनुष्य की अनेक इच्छाएँ ऐसी होती हैं, जिनकी पूर्ति के लिए वह लालायित रहता है, फिर भी उनकी पूर्ति नहीं हो पाती है, ऐसी इच्छाएँ विनष्ट नहीं होतीं, अपितु वह अर्धचेतन अवस्था (स्वप्न) में तृप्त होने की चेष्टा करती रहती हैं । अपूर्ण अभिलाषाएँ स्वप्न का रूप धारण कर अपनी पूर्ति स्वप्न में करती हैं । अधिकांश स्वप्न किसी न किसी वासना, शुभ या अशुभ फल के प्रतीक होते हैं, ऐसे स्वप्नों का संसार भी कम नहीं है, जिनके विषय में कभी कल्पना भी नहीं की गयी होती है । बहुत-सी वासनाएँ, जो नैतिक दृष्टि से त्याज्य हैं, फिर भी मनुष्य की स्वप्नावस्था में सांकेतिक रूप से अपनी तृप्ति की चेष्टा करती हैं और परिणामस्वरूप मनुष्य स्वप्न में उनकी तृप्ति का अनुभव करते हैं । दबी हुई वासनाएँ स्वप्न में परिवर्तित, संक्षिप्त या सम्मिश्रित घटनाओं के रूप में प्रकट होती हैं ।

अर्वाचीन मनोविज्ञान शास्त्र के अनुसार मनुष्य का अन्तर्मन बाह्यमन की अपेक्षा सहस्रों गुना अधिक शक्तिशाली है । उसके यथार्थस्वरूप, रहस्य और शक्तियों का ज्ञान अब तक जो प्राप्त है, वह पर्याप्त नहीं है । पाश्चात्य विद्वान्

‘फ़ायड’ ने अन्तर्मन का अन्वेषण कर उसमें निहित शक्तियों को ढूँढ़ निकालने में काफी श्रम किया है। जब मन में कुत्सित विकल्प उठते हैं, तो उसे ‘अघ-शंस’ कहा जाता है और वह मानसिक व्याधि है। ‘अघशंस’ के कारण दुःस्वप्न दिखायी देते हैं और उन दुःस्वप्नों से त्राण पाने के लिए प्रातः और सायं स्नान, जप, संकल्प और समाधि का विधान शास्त्रों में किया गया है। शिवसंकल्पात्मक मन्त्रों का बहुत बड़ा भण्डार है—‘अथर्ववेद’। दिग्दर्शन के लिए कतिपय वाक्य उद्धृत हैं—‘अग्ने यन्मे तन्वा ऊनं तन्म आपृण। अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि। तच्छ्रेयं तन्मे राध्यताम्। इदमहम् अमृतात् सत्यम् उपैमि ॥’ ‘प्राणापानौ मृत्योर्मा पातं स्वाहा।’ इन मन्त्रों में व्रतग्रहण का संकल्प है। अग्नि से प्रार्थना की गयी है कि—हे अग्ने ! तू मेरे शरीर की न्यूनता को पूर्ण करो। मैं तेरा व्रत करूँगा। मैं अमृतभाव (वासना-विषयभोग) को छोड़कर सत्यभाव (शिवसंकल्प = सात्विक कर्म) का आश्रय लूँगा। हे प्राण और अपान आप मुझे मृत्यु से बचावें ? ‘यशस्वी तेजस्वी ब्रह्मवर्चस्वी अन्नदो भूयासम्’—‘अहमिन्द्रो न पराजिग्य इद्धनं, न मृत्यवे अवतस्ये कदाचन।’ मैं तेजस्वी, यशस्वी और ब्रह्मतेज से सम्पन्न होकर अन्न का उपभोग करता रहूँ। मैं इन्द्र हूँ, मेरा धन कौन जीत सकता है, मैं कभी मृत्यु के लिए नहीं बना।

उपर्युक्त प्रकार की भावनाओं से दुःस्वप्नों पर विजय प्राप्त कर मानसिक व्याधियों से छुटकारा पाया जा सकता है। नैतिक बुद्धि के उदय से मन में जब उत्तम संकल्प की राशि का ही संचय होगा, तब शनैः-शनैः दुःस्वप्नजनक भावनाओं का स्वयमेव विनाश हो जायेगा।

मन के विषय में ‘योगवाशिष्ठ’ का अध्ययन-मनन वाञ्छनीय है। मन की वृत्तियों की भिन्नता के आधार पर मन को असंख्य कहा गया है—(मनोरथानाम् अगतिर्न विद्यते) मन के रथ की गति विना इन्धन और विना मार्ग-बरोध के बेरोकटोक सर्वत्र त्रैलोक्य में हो सकती है। रघु का रथ समुद्र आकाश और पर्वतों पर समानरूप से अप्रतिहत गति था, तो फिर मन का क्या कहना ? (‘उदन्वदाकाशमहीधरेषु गतिर्विजघ्ने नहि तद्रथस्य’ । रघुवंश)।

‘योगवाशिष्ठ’ में मन की तीन स्थितियों का वर्णन उपलब्ध होता है—
 १. जाग्रतमन (Ordinary working) २. स्वप्नमन (Dream) और
 ३. सुषुप्तिमन (Deep Sleep)। आयुर्वेद शास्त्र के अनुसार शरीर या मन में होने वाले विकारों का निर्देश देने वाला ‘स्वप्नमन’ होता है। मनुष्य अर्ध-निद्रितावस्था में नाना प्रकार के स्वप्न देखता है। कारणों के अनुसार स्वप्नों के प्रकारों का वर्णन ऊपर किया गया है। शुभ और अशुभ स्वप्नों का वर्णन

‘सुश्रुत संहिता’ के सूत्र स्थान अ० २९ में तथा चरक संहिता के इन्द्रिय स्थान के अ० ५ में विस्तृत रूप से वर्णित है । (जिज्ञासु-जन वहीं देखें) ।

सामान्यतः हमें किसी वस्तु का ज्ञान श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और नासिका द्वारा (पञ्चज्ञानेन्द्रिय) होता है । किन्तु असंख्य अनुभव ऐसे हैं, जिनका आधार इन पाँच ज्ञानेन्द्रियों में से कोई भी नहीं होता । उदाहरणार्थ—अर्धरात्रि में एक महिला चीखती हुई हड़बड़ाकर उठती है—न SSS हीं ? न SSS हीं ?? और बेहोश होकर गिर जाती है । उसने अभी अभी एक स्वप्न में देखा था कि, रेल दुर्घटना में उसका पुत्र जाता रहा और दूसरे दिन उसे समाचार मिलता है, पिछली रात वास्तव में एक रेल दुर्घटना में उसके पुत्र की मृत्यु हो गयी थी । निःसन्देह उक्त महिला को अपने पुत्र की रेल दुर्घटना में मृत्यु का ज्ञान सामान्य ज्ञानेन्द्रियों द्वारा नहीं हुआ था । इसलिए इस प्रकार के स्वप्न-ज्ञान को ‘अतीन्द्रियज्ञान शक्ति’ माना जाता है ।

अतीन्द्रिय ज्ञान के प्रकार

अतीन्द्रिय ज्ञान पर आधारित अनुभवों को ४ श्रेणियों में रक्खा जा सकता है—

(१) विचारसम्प्रेषण (Telepathy)—इसमें व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति के विचार या मानसिक भावों को, ज्ञानप्राप्ति के मान्य साधनों को उपयोग में लाये बिना ही जान लेता है । आयुर्वेद में इसे ‘परचित्तज्ञान’ कहा जाता है और यह एक योगसिद्धि है (चरक शा. १) ।

(२) परोक्षदर्शन (क्लेअर वायेन्स)—इसमें व्यक्ति किसी वस्तु या घटना आदि का ज्ञान, ज्ञानप्राप्ति के किसी मान्य साधन को उपयोग में लाये बिना प्राप्त कर लेता है ।

(३) पूर्वज्ञान या पूर्वाभास (प्री-कान्गनीशन)—इसमें व्यक्ति को भविष्य की घटना का ज्ञान, ज्ञानप्राप्ति के किसी मान्य साधन के उपयोग के बिना प्राप्त हो जाता है ।

(४) भूतकाल का ज्ञान (रेट्रो कान्गनीशन)—इसमें व्यक्ति को किसी प्राचीन काल की घटना का ज्ञान, ज्ञानप्राप्ति के मान्य साधनों के उपयोग के बिना ही हो जाता है ।

अतीन्द्रिय ज्ञान संबंधी प्रयोगों के क्षेत्र में अभी तक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण नाम जिस व्यक्ति का है, वह है ‘ड्यूक विश्वविद्यालय के डा. जी. बी. राहन’ ।

पूर्वाभासी स्वप्न

कुछ उदाहरण—(१) एक सम्पन्न व्यापारी एक नये व्यक्ति के साथ सांभे में रोजगार कर रहा था । एक रात में उसे स्वप्न हुआ, कि उसका

व्यापारी साथी उससे हजारों रुपये ठग लिया है। लगभग एक वर्ष बाद वह साक्षीदार बहुत बड़ी रकम लेकर चम्पत हो गया।

होता यह है, कि अनेक बार व्यक्ति का अचेतन मन उसके चेतन मन की तुलना में कहीं अधिक कुशलता से किसी के चरित्र की परख कर लेता है। सम्भव है, उस व्यापारी के अचेतन मन ने उन छोटे-छोटे संकेतों को ग्रहण कर लिया हो, जिससे कि साक्षीदार की अविश्वसनीयता लक्षित होती हो और जिसकी ओर उसके चेतन मन का ध्यान नहीं गया हो। इन संकेतों के आधार पर सम्भव है, चेतावनी देने हेतु अचेतन मन ने उपर्युक्त स्वप्न प्रस्तुत किया हो।

(२) लंगर डाले हुए एक जहाज के नाविक को अचानक स्वप्न में किसी अन्य जहाज से टकराने के खतरे की चेतावनी मिली। यह पूर्वाभास इतना प्रबल था, कि वह एकाएक उठा और डेक पर जाकर उसने चारों ओर नजर दौड़ाई, तो उसने देखा, कि चारों ओर घना कुहरा छाया हुआ है और शान्ति है, वह पुनः सो गया। उसे फिर वही स्वप्न दिखायी पड़ा। इस बार वह इतना घबड़ाया कि उसने मस्तूल के ऊपर चढ़कर इधर-उधर देखने की चेष्टा की, तभी उसे एक अन्य जहाज का मस्तूल एकदम निकट दिखायी दिया। यदि इस नाविक के चिल्लाने पर अन्य नाविकों ने शीघ्रता से इस जहाज को न मोड़ लिया होता तो वास्तव में दोनों जहाजों में टक्कर हो ही गयी होती।

यहाँ यह सम्भव है, कि इस नाविक के अचेतन मन ने दूर से आते हुए इंजिन की धीमी गति को सुन लिया हो और इससे उत्पन्न खतरे की सम्भावना कर उसके अचेतन मन ने स्वप्न द्वारा उसे चेतावनी दी हो।

(३) एक व्यक्ति को बार-बार यह स्वप्न आता था, कि उसके मुँह और बाँह पर लकवा मार गया है। कुछ ही दिन बाद वह अपना रेडियो ठीक कर रहा था, उसकी बाँह और मुँह का एक भाग सुन्न पड़ गया। बाद में चिकित्सक के निदान से यह ज्ञात हुआ कि इस व्यक्ति के शरीर में वंशानुगत रोग दबा हुआ था और सन्निपात के हलके-हलके भटके प्रारम्भ में उसे निद्रा में ही लगे थे और ये ही स्वप्नों के कारण थे।

इसी प्रकार शारीरिक व्याधियों और लक्षणों के प्रारम्भिक लक्षण अत्यन्त सूक्ष्म हुआ करते हैं और उनकी जानकारी स्वप्नों के माध्यम से हुआ करती है। एवं रोगों की स्थिति जब असह्य हो जाती है और मृत्यु की आशंका होती है, तो विविध प्रकार के दुःस्वप्न आते हैं, जिनका वर्णन आचार्य चरक ने हजारों वर्ष पहले ही किया है। (चरक इन्द्रिय अ० ५)

पूर्वाभास का विवरण जिन घटनाओं में मिलता है वह सब पूर्वाभास सोलहों आने सही हैं, यह कहना कठिन है, फिर भी ऐसे उदाहरणों की कमी

नहीं है, जिन स्थलों में पूर्वाभासी स्वप्न एकदम सही साबित हुए हैं। जहाँ पूर्वाभास का विवरण घटना के घटित हो जाने के बाद मिलता है, ऐसे विवरणों की सत्यता सन्देहास्पद हो सकती है ?

नीचे पूर्वाभास के एक ऐसे वृत्तान्त का विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है, जिसकी सत्यता के बारे में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता।

२३ मई १९६७ के 'टाइम्स आफ इण्डिया' में एक रेल दुर्घटना का विवरण छपा था और साथ ही 'राजस्थान विश्वविद्यालय' के परामनोविज्ञान विभाग के तत्त्वाधान में 'कीर्तिस्वरूप रावत' द्वारा एक महिला को रेल दुर्घटना के पूर्वाभास होने का अध्ययन का समाचार भी प्रकाशित हुआ था।

जयपुर की एक सामान्य महिला 'श्रीमती रत्नमणि जैन' के बारे में जब 'श्री रावत' को यह सूचना मिली, कि उस महिला को पूर्वाभास होता है, तो १६ मई १९६७ को वे उसके निवास-स्थान पर उससे मिलने गये। उन्होंने उस महिला में निवेदन किया, कि वह अपने किसी ऐसे पूर्वाभास की सूचना दें, जो कि अभी तक घटित न हुआ हो। इस पर श्रीमती जैन ने अपने एक पूर्वाभास का विवरण सुनाया और कहा, कि 'एक रेल दुर्घटना होने वाली है, जो काफी भीषण होगी। इसमें कम से कम ५० व्यक्ति मरेंगे। इंजन बहुत तेज स्पीड में स्टेशन पर आयेगा और किसी चीज से टकराकर टेढ़ा हो जायेगा। लाइन की गड़बड़ी से यह दुर्घटना होगी। यह दुर्घटना १० दिन में या उससे पहले घटित होगी। यह दुर्घटना 'बाम्बे-दिल्ली ट्रेन' की होगी।' श्रीमती जैन के पूर्वाभास को उसी समय 'श्री रावत' ने अपनी डायरी में लिख लिया और उसी दिन एक अन्तर्देशीय पत्र में पूर्वाभास के विवरण को लिखकर अपनी पत्नी के पास 'जोधपुर' भेज दिया। जिससे अन्तर्देशीय पत्र पर डाक की मुहर के बाद में तिथि के बारे में कोई सन्देह न रह जाये साथ ही अनेक मिलने-जुलने वालों को इसकी सूचना दे दी गयी। पाँचवे दिन ही सबेरे रेडियो से तथा समाचार पत्रों में ट्रेन-दुर्घटना का समाचार प्रसारित हुआ। कुल ६२ व्यक्ति मरे थे, ट्रेन का इंजन गलत पटरी पर आ गया था। गाड़ी बहुत तेज स्पीड में स्टेशन पर आयी थी और इंजन का अगला भाग टेढ़ा हो गया था।

अनेक बार भविष्य की घटनाओं के कुछ प्रतीक व्यक्ति के मन में निश्चित हो जाते हैं जिन्हें स्वप्न में देखकर वह व्यक्ति भविष्य की घटना का आभास पा जाता है। एक बार लेखक को स्वप्न में जो समाचार पूर्वाभासित हुआ, वह हबहू अगले दिनों के समाचार पत्रों में छपा दिखा और ऐसा अनेकशः हुआ। संस्कृत विश्वविद्यालय (वाराणसी) के कई रास्ते ऐसे हैं, जहाँ अगल-बगल

भुरमुट हैं। लेखक को दो बार दो रास्तों में चलते-चलते पूर्वाभास हुआ, कि कहीं बगल से साँप न निकल आवे और क्षण भर के लिए पाँव ठिठक गये। सचमुच कुछ ही सेकण्ड में बीच रास्ते में साँप इधर से निकला और उधर भाग गया, यदि लेखक रुक न गया होता तो, अगला कदम साँप पर ही पड़ता। दो अन्य स्थानों में भी चलते-चलते अचानक मन में आया, कि इस रास्ते को छोड़कर बगल से चलें। बाद में मालूम हुआ, कि जहाँ से मैंने रास्ता छोड़ा था, वहाँ अगले ही कदम पर साँप बीच रास्ते पर बैठा था।

अस्तु, अनेकानेक जाग्रत तथा स्वप्नावस्था के अनुभवों के आधार पर पूर्वाभास की सम्भावनाएँ (विशेषकर-स्वप्नसम्बन्धी) अप्रत्याशित घटनाओं की बोधिका साबित हुई हैं और इनका अध्ययन क्षेत्र विकसित हो रहा है।

स्वप्नसम्बन्धी विविध मत

‘अरस्तू’ का मत है, कि ‘स्वप्न न दैवी होते हैं न ईश्वरीय, न दानवीय। स्वप्न भौतिक होते हैं, क्योंकि प्रकृति भौतिक है, स्वप्न मानवीय आत्मा के अनुसार सञ्चालित होते हैं।’

प्रसिद्ध दार्शनिक फिस्ते (१८६४) ने कहा—कि स्वप्न यथार्थ अर्थात् जाग्रत जगत् के पूरक हैं, स्वप्न मनुष्य के लिए वरदान हैं और वे मनुष्य के मन द्वारा अपनी मानसिक व्याधियों की स्वयं चिकित्सा की एक प्रक्रिया भी हैं। हैफनर (१८८७) नामक विद्वान् कहते हैं, कि स्वप्न हमारे जाग्रत जीवन के ही विस्तार हैं। सोने के पूर्व हमारे मष्तिष्क में जो विचार भरे रहते हैं, हमारे स्वप्न अपने आप को उनके साथ जोड़ लेते हैं। मयास्स (१८०५) ने और भी पहले यह धारणा व्यक्त की है, कि यह विचार हमारे अनुभवों से पुष्ट होता है, कि हम प्रायः उन चीजों के बारे में स्वप्न देखते हैं, जिनके प्रति हमारे मन में गहरी आसक्ति रहती है।

राबर्ट (१८८६) ने कहा है, कि स्वप्न में हमारे अत्यन्त भारग्रस्त मस्तिष्क को भार से मुक्त करने और उसे लगे आघात को आराम पहुँचाने की विलक्षण क्षमता है। यदि मनुष्य से स्वप्न देखने की क्षमता छीन ली जाय, तो कालान्तर में वह मानसिक रूप से विकसित हो जायेगा। यह कथन आधुनिक काल में वैज्ञानिक प्रयोगों से शतप्रतिशत सही सिद्ध हुआ है। ‘स्वप्न हमें भविष्य में होने वाली घटनाओं का ज्ञान तो कराते ही हैं, सुदूर अतीत में भी वे हमें ले जाते हैं, जहाँ के चित्र चलचित्र की भाँति हमारी आँखों में तैरने लगते हैं। इतना ही नहीं, विज्ञान की महत्वपूर्ण खोजें भी स्वप्नों के ही माध्यम से हुई हैं।’

स्वप्न : दमित वासना की तृप्ति का साधन

स्वप्नों की सबसे अधिक क्रान्तिकारी व्याख्या 'सिगमंड फ्रायड' (१९३९) ने की है। वे कहते हैं, कि हमारे स्वप्न हमारी महत्वपूर्ण मानसिक क्रियाएँ हैं। वे निरपवाद रूप से हमारी किसी न किसी दमित इच्छा के परिणाम होते हैं, जो इच्छा अपनी पूर्ति के लिए भटकती रहती है। 'फ्रायड' का मत है, कि देखने में ऐसा नहीं लगता, कि सपने हमारी इच्छापूर्ति का परिणाम हैं? इसका कारण यह है, कि हम अपने मस्तिष्क पर एक प्रकार का सेन्सरशिप (आत्म-दमन) लगाये हुए हैं। यह सेन्सरशिप हमारी नैतिक, धार्मिक, सामाजिक तथा अन्य मानसिक धारणाओं और संस्कारों का परिणाम होती है। हमारी दमित वासनाएँ उस सेन्सरशिप को लाँचकर सपनों में तृप्ति खोजती हैं।

मनुष्य का उपचेतन मन नींद के समय उन समस्याओं का समाधान ढूँढता है, जो जाग्रत जीवन में उसे परेशान करती रहती हैं और उनकी चिन्ता का भारी बोझ होता है और सोते समय चेतन मन जिन्हें उसे सौंप देता है। स्वप्न रहस्यात्मक तो होते ही हैं, किन्तु बहुत अंश में उसके रहस्यों का भेदन हो चुका है। स्वप्न की सामग्री उसका स्रोत और उसका प्रयोजन, ये गम्भीर अध्ययन के विषय हैं और इनके विश्लेषण से अनेक गुत्थियाँ सुलझी हैं। पश्चिमी कवि गेटे, ब्लेक, कोलरिज और स्टीवेन्सन जैसे कवियों को अपनी श्रेष्ठतम कविताओं की विषय वस्तु स्वप्नों में साक्षात्कृत हुई है। गणितशास्त्र के पचासों विद्वानों का जीवन, चिन्तन और क्रियाकलापों का अध्ययन करने से ज्ञात हुआ है, कि उन्होंने कठिनतम प्रश्न स्वप्नों में हल किये थे। स्वप्न हमारी चिन्तनधारा के प्रतीक हैं।

स्वप्न और विज्ञान

एक ही स्वप्न जब बार-बार आवे, तो समझना चाहिए कि उसमें कोई गूढ़ सङ्केत है, जिसका सम्बन्ध हमारी किसी प्रमुख समस्या के साथ है। 'जेम्स बाट' ने लिखा है, कि एक रात मैंने एक सपना देखा, कि मैं आँधी में चलता जा रहा हूँ, इतने में वर्षा शुरू हुई, मगर मेरे शिर पर पानी के बूंदों के बजाय सीसे के गोल छर्रे गिर रहे हैं ठीक वैसे ही जैसे मैं बनाना चाहता था। मैंने सोचा, कि यह मेरे मन की इच्छा का बिम्ब है और सपने की ओर कोई ध्यान नहीं दिया। आखिर मैं चौंका—कि यह क्या है? मैंने अपने आप से पूछा और मुझे लगा, कि इसमें सीसे को पिघला कर उसकी बूँदे—हवा के माध्यम से पानी में टपकाने का संकेत है।' उस जमाने में आज जैसी प्रयोगशालाएँ नहीं थीं। 'बाट' एक ऐसे जलाशय की खोज में लग गया जो किसी दीवार से

सटा हुआ हो, अन्ततोगत्वा एक चर्च में वैसा जलाशय था और वहाँ उसके प्रयोग की अनुमति भी मिल गयी। उसके बाद 'बाट' पिघला हुआ शीशा लेकर चर्च के घंटे वाले बुर्ज पर चढ़ा—और उसने वहाँ से सीसे की बूंदें पानी में टपकायीं, नीचे आकर उसने देखा कि सीसे के ठीक वैसे ही छरें तैयार हो गये हैं, जैसे कि सपने में आकाश से बरस रहे थे। इससे यह सिद्ध होता है, कि सपने हमारे चिन्तन की फलश्रुति के परिचायक हैं। इसी प्रकार 'लुई आगा-सीज' को स्वप्न में जीवाश्म का ज्ञान हुआ। 'नील्स बोहर' को एक स्वप्न में परमाणु के संरचन का ज्ञान हुआ, जिससे उसने अनुसन्धान के आधार पर जगत् को परमाणु संरचना का वह चित्र प्रदान किया, जिसमें परमाणु स्वयं एक केन्द्र अथवा न्यूक्लियस है और उसके चारों ओर विद्युत्कण यानी इलेक्ट्रान चक्कर लगा रहे हैं। 'नील्स बोहर' का स्वप्न फलीभूत हो गया और उस स्वप्न ने संसार को परमाणु युग की दहलीज के भीतर दाखिल कर दिया।

प्रयोगशालाओं में स्वप्न के अध्ययन का बड़े ही दिलचस्प ढंग से प्रारम्भ हो गया है। नींद में व्यक्ति के शारीरिक अंगों की गतिविधि नेत्र, मुखाकृति तथा अन्य अवयवों के परिवर्तन के कारणों की खोज के सन्दर्भों में 'स्वप्न संसार' की हलचलें ज्ञात की जा रही हैं। १९५० के प्रारम्भ में 'शिकागो विश्वविद्यालय' के शरीरशास्त्री 'नेथोलियनक्लीटमाँ' तथा उनके विद्यार्थी 'यूजोन एसेरिन्सकी' ने 'एलेक्ट्रो-एन्सेलोग्राफ' के जरिये सुप्तावस्था में मानव-मस्तिष्क की तरङ्गों का विद्युत् रेखांकन किया और अपने 'मस्तिष्क तरंग विद्युत् रेखांकन' के द्वारा निद्रा की विभिन्न अवस्थाओं का अध्ययन किया। अन्त में वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे, कि 'जब हम आधी नींद में होते हैं और हमारे मस्तिष्क की तरंगें जागृत-मस्तिष्क की तरह ही होती हैं तभी तीव्र नेत्र-पुतली संचालन (रैपिड आई मूवमेन्ट) होता है। प्रायः यही स्थिति स्वप्न की स्थिति है। वैज्ञानिक इस प्रयास में लगे हैं, कि स्वप्नों को साकार रूप में स्वयं भी परदे पर अथवा किसी रेखांकन के माध्यम से देख सकें, पढ़ सकें या सुन सकें।

स्वप्न-अनुसन्धानशालाएँ

न्यूयार्क के 'डाउन टाउन मेडिकल सेन्टर' में एक मनोविज्ञान का जिज्ञासु विद्यार्थी स्वप्न संसार के गूढ़ रहस्यों को ढूँढ़ निकालने के लिए प्राणपण से लगा है—उसका नाम है—'गेब्रियल रोजेन' जो सारी रात जागता है और अपनी नींद दिन में पूरी करता है। वह रिसर्च के लिए किन्हीं व्यक्तियों को आठ रात के लिए नियुक्त करता है और प्रतिव्यक्ति पचीस डालर देता है। उन

व्यक्तियों के शिर, पलक, और यौन अंगों पर अत्यन्त संवेदनशील हलके यन्त्र बांध दिये जाते हैं। वे अपनी प्रयोगशाला में दाखिल व्यक्तियों को स्वप्न देखते हुए देखते हैं। विद्युत् उपकरणों से स्वप्न का पता लगाने की चेष्टा करते हैं, कभी-कभी बीच में जाकर उनसे प्रश्न पूछते हैं।

अमेरिका में 'नेशनल इन्स्टीच्यूट आफ मेन्टल हेल्थ' के निर्देशन में ६० 'स्वप्न अनुसन्धान केन्द्र' काम कर रहे हैं।

स्वप्न और उपचेतन मन

जिस प्रकार चरम आध्यात्मिक विकास होने पर योगियों को अष्टविध ऐश्वर्य^१ की उपलब्धि होती है, और वे अतीन्द्रिय विषयों का भी ज्ञान सहज ही प्राप्त कर लेते हैं, उसी प्रकार 'स्वप्नों का संसार' भी इन्द्रियों और बुद्धि से परे है, वह भौतिक जगत् से कहीं परे है, क्योंकि स्वप्न हमारे चेतन मन की क्रियाएँ नहीं हैं। स्वप्न उपचेतन मन का व्यापार है, जहाँ चेतना के मार्ग से समय और स्थान की दीवारें ढह जाती हैं और पल भर के ही स्वप्न में सृष्टि के आरम्भ से अब तक के विकास का दर्शन हो जाता है और तीनों काल की बातें ज्ञात हो जाती हैं।

आधुनिक युग के एक मनीषी 'कार्ल जुंग' ने अपने ग्रन्थ 'मेमोरीज ड्रीम्स एण्ड रिप्लेक्शन्स' में लिखा है कि चेतन मन की अपेक्षा हमारे उपचेतन मन के पास ज्ञान प्राप्त करने के अधिक साधन हैं। चेतन मन केवल इन्द्रियों के द्वारा उत्पन्न ज्ञान पर निर्भर रहता है, किन्तु हमारा उपचेतन मन समूचे ब्रह्माण्ड की शाश्वत, सनातन और सार्वभौमिक चेतना के साथ जुड़ा हुआ है।

भविष्यदर्शन—स्वप्न 'मनोरथ' है जिनके लिए कोई स्थान और काल अगम्य नहीं रहता। कभी तो वे किसी भूले-बिसरे जमाने की याद दिलाते हैं और कभी भविष्य की दीवार का भेदन कर आने वाली घटनाओं का दृश्य दिखलाते हैं। सपनों का सम्बन्ध मनुष्य की आत्म-चेतनता, पराचेतना अथवा परम चेतना के साथ है। 'हालैण्ड' में एक संस्था है, जिसका नाम है—'डच सोसायटी फार सायकिकल रिसर्च'। उसने स्वप्नों के विषय में बहुत से अन्वेषण किये हैं। उनकी रिपोर्ट के अनुसार यहाँ एक घटना का उल्लेख किया जा रहा है। इस घटना में एक सामान्य व्यक्ति का जिक्र है, जिसके पास कोई आध्यात्मिक ऐश्वर्य या सिद्धि नहीं थी, फिर भी उसने सपने में अपने भविष्य को सही-सही देख लिया था।

१. आवेशश्चेतसो ज्ञानमर्थानां छन्दतः क्रिया।

नवम्बर १९४७ में इस डच पुरुष ने कई बार सपने में ३६८४ अंक देखा । परेशान होकर वह आधी रात को विस्तर पर उठ बैठा और वह अंक याद करने के लिए इस अंक को दर्जनों बार रटा और फिर सो गया, उठने पर उसे अंक भली प्रकार याद रहा । पहले तो इस अंक वाले सपने से परेशान रहा और कुछ मतलब नहीं समझ सका, लेकिन बाद में उसने सोचा कि शायद यह डच राज्य लाटरी का वह अंक हो, जिसे प्रथम पुरस्कार प्राप्त होने वाला है ? यह सोचकर उसने जनवरी १९४८ में लाटरी का इस अंक का टिकट खरीद लिया और उसी वर्ष मार्च में उसे प्रथम पुरस्कार मिल गया । इस सत्य का साक्षात्कार होना इस बात का साक्षी है कि मनुष्य का उपचेतन मन भविष्य को पहले ही देख सकता है ।

स्वप्न में देवदूत का संदेश—“विनफील्ड स्काट स्ट्राटन” अपने व्यवसाय में असफल होकर निराश हो गया था । वह शान्ति की खोज में किसी झरने के किनारे घास पर सोया था । वह ४ जुलाई सन् १८९१ की रात थी, जबकि सपने में उससे एक देवदूत ने कहा—“कि तुम यहाँ से सीधे बैटिल पहाड़ पर चले जाओ । उसने सपने में ही पहाड़ जाने का मार्ग बतला दिया और उसने उसे एक स्थल दिखाया तथा कहा कि यहाँ खोदो ? तुम्हें बहुत-सा सोना मिलेगा । स्ट्राटन स्वप्न देखकर नींद से जाग कर बैठ गया । उसके एक साथी ने उसे पुनः सुलाने की काफी कोशिश की, किन्तु वह नहीं माना और उसे साथ लेकर बैटिल पहाड़ के लिए चल पड़ा । वहाँ पहुँचने पर उसने सपने में देखा हुआ स्थल ढूँढ़ लिया । ज्यों ही उसने उसे खुरचा, उसमें से सोना झलक आया । सोने की वह खदान आज भी संसार में दूसरे नम्बर पर मानी जाती है । भूगर्भ शास्त्रियों ने १८७४ में उस स्थल की परीक्षा करके यह घोषणा कर दी थी, कि वहाँ लाल पथरीली भूमि के सिवाय और कुछ नहीं है^१ ।

इस प्रकार स्वप्नों के विश्लेषण से नये-नये तथ्य उभर कर सामने आ रहे हैं । स्वप्नों की अनेक ढंग से व्याख्या की जा रही है । वैज्ञानिक और परामनो-वैज्ञानिक आदि सभी स्वप्नों के स्तरों को अपने-अपने ढंग से कुरेद रहे हैं और यह आशा लगाये बैठे हैं कि एक न एक दिन स्वप्नों के रहस्य का पर्दाफास होकर रहेगा तथा अनेक महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ होंगी ?

मोह

(Infatuation)

मोह का पर्याय मद है । जब रूक्ष, शीत, अल्पाहार, व्यायाम आदि बात-

१. नवभारत टाइम्स, १९७६, वार्षिक विशेषाङ्क से साभार ।

प्रकोपक कारणों से प्रकुपित हुआ वायु^१ मन के अधिष्ठान हृदय को आक्रान्त करता है, तो मन क्षुब्ध हो जाता है और चेतना (ज्ञानशक्ति) नष्ट हो जाती है । जब पित्त और कफ का प्रकोप हृदय और मनोवह स्रोतों में व्याप्त हो जाता है तब भी मन के क्षुब्ध होने से मोह (बेहोशी) की स्थिति हो जाती है । वात-पित्त-कफ के अतिरिक्त अन्य कारणों से भी मोह या मद रोग होता है, जैसे—मदिरा पीने से, विषभक्षण से या रक्त के विकृत होने से, किन्तु ये कारण भी वातादि दोषों को ही प्रकुपित करते हैं, इसलिए सभी तरह का “मोहरोग” बिना वातादि प्रकोप के नहीं होता^२ । काव्यशास्त्र में यह एक व्यभिचारी भाव माना गया^३ है ।

विमर्श—मोह में तमोगुणाधिक्य होता है । यह एक मनोविकार है । अज्ञानतावश भय, दुःख और चिन्ता के बढ़ने से मन में विकलता हो जाती है । इसमें पूर्ण बेहोशी नहीं होती है । मोहाक्रान्त व्यक्ति ज्ञानशून्य जैसा बैठा या सोया रहता है । यदि वातदोष की प्रधानता होती है, तो मोहग्रस्त रोगी अस्पष्ट और रुक-रुक कर, जल्दी जल्दी बोलने का प्रयास करता है । पित्त की अधिकता के कारण रोगी, क्रोधयुक्त कठोर वचन बोलता है और उसकी आकृति लाल या पीले वर्ण की हो जाती है । कफ की प्रबलता की दशा में—वह तन्द्रा और आलस्य से युक्त रहता है उसकी आकृति पाण्डुवर्ण की हो जाती है । वह सदैव कुछ न कुछ सोचता रहता है ।

४ मूर्च्छा

(Syncope or Loss of Consciousness)

जिस पुरुष के मन में रजोगुण और तमोगुण की अधिकता होती है, वह वह पुरुष जब कड़वे, खट्टे, अतिगरम, रुक्ष, विदाही, अपवित्र तथा नीरस,

१. दुर्बलं चेतसः स्थानं यदा वायुः प्रपद्यते ।

मनो विक्षोभयन् जन्तोः संज्ञां सम्मोहयेत्तदा ॥

पित्तमेवं कफश्चैवं मनो विक्षोभयन्तृणाम् ।

संज्ञा नयत्याकुलतां ॥ —चरक० सूत्र० २४।२८-२९

२. यश्च मद्यमदः प्रोक्तो विषजो रौधिरश्च यः ।

सर्व एते मदा नर्ते वातपित्तकफत्रयात् ॥ —चरक० सूत्र० २४।३४

३. मोहो विचित्ता भीतिदुःखवेगानुचिन्तनैः ।

घूर्णना गात्रपतनभ्रमणादर्शनादिक्त्व ॥ —साहित्यदर्पण ३।१५५

४. यदा तु रक्तवाहीनि रससंज्ञावहानि च ।

पृथक् पृथक् समस्ता वा स्रोतांसि कुपिता मलाः ॥

दुर्गन्धयुक्त, बासी और उच्छिष्ट भोजन करता है तब उसके शरीर के वात-पित्त, कफ बढ़ जाते हैं एवं वे रक्तवाही स्रोतों को अवरुद्ध कर देते हैं। रज और तम ये दोनों मन के दोष हैं, इनकी वृद्धि का मन पर प्रभाव पड़ने से आत्मा भी प्रभावित हो जाती है, जिससे मनुष्य की चेतना लुप्त हो जाती है और वह बेहोश होकर गिर जाता है तथा उसे सुख-दुःख का ज्ञान नहीं रहता है। मूर्च्छा में पित्त और तम दोषों की प्रधानता होती है। “मूर्च्छा पित्ततमःप्राया”।

(१) वातज मूर्च्छा—वात से होने वाली मूर्च्छा में आक्रमण के पहले ही रोगी को नीला काला या लाल वर्ण का आकाश दिखाई देने लग जाता है। मूर्च्छा आ जाने पर शरीर में कम्पन, अङ्गमर्द, हृदयशूल, कृशता और शरीर के वर्ण में कालापन हो जाता है। रोगी शीघ्र ही होश में आ जाता है।

(२) पित्तज मूर्च्छा—पित्तज मूर्च्छा में बेहोशी के पहले लाल हरा या पीले वर्ण का आकाश दिखाई देता है। आँखों के सामने अन्धकार छा जाता है। होश में आने पर रोगी को दाह, प्यास और संताप का अनुभव होता है।

(३) कफज मूर्च्छा—इस मूर्च्छा में रोगी को घने अंधेरे से भरा हुआ आकाश दीख पड़ता है। फिर आँखों के सामने अन्धकार छा जाता और मूर्च्छा आ जाती है, जिसमें मुख से लालास्राव और मिचली आती है। कफ चिरकारी होता है, इसलिए कफजमूर्च्छा में विलम्ब से ज्ञान हो पाता है और कभी-कभी होश में आने पर वमन भी होने लगता है।

विमर्श—मूर्च्छा होने से पहले रोगी की आँखों के सामने नीला, काला या लालवर्ण का आकाश दिखाई देने लगता है, फिर सहसा सामने अन्धकार छा जाता है और रोगी को मूर्च्छा (बेहोशी) होने का एहसास (आभास) हो जाता है। शरीर में कम्पन, अङ्गों का टूटना और हृदय में पीडा होकर रोगी मूर्च्छित हो जाता है।

मूर्च्छा उस स्थिति का नाम है, जिसमें रोगी संज्ञाहीन अचेत हो जाता है। सामान्यतः यह स्थिति मस्तिष्क में रक्ताल्पता (Anaemia of the brain) के कारण होती है। इसका कारण प्रायः रक्तवाहिनियों की अथवा हृदय (Vascular and cardiac) की विकृति होती है। रक्तवाहिनियों की विकृति

मलिनाहारशीलस्य रजोमोहावृतात्मनः।

प्रतिहृत्यावतिष्ठन्ते जायन्ते व्याधयस्तदा ॥

मदमूर्च्छायसंन्यासास्तेषां विद्याद विचक्षणः।

यथोत्तरं बलाधिक्यं हेतुलिङ्गोपशान्तिषु ॥

(चरक० सूत्र० २४।२५-२७)

में रक्तचाप (Blood-pressure) का अत्यधिक न्यून हो जाना तथा हृदय विकृतियों में मस्तिष्क प्रदेश में रक्तानुधावन को यथेष्ट रखने की अक्षमता प्रधान है।

रक्तवाहिनी-विकृतिजन्य मूर्च्छा

इसमें रोगी खड़ा-खड़ा बेहोश हो जाता है। यह मूर्च्छा विशेषकर भोजनोपरान्त होती है, जब कि औदरिक रक्तवाहिनियों में रक्त का संचार अधिक हो जाता है और वह किसी कारणवश हृदय की ओर नहीं लौटता है जिससे मस्तिष्क प्रदेश में रक्त की कमी हो जाती है। इस स्थिति की मूर्च्छा (Postural syncope) प्रौढ़ पुरुषों को अधिक हुआ करती है। अन्य भी कारण होते हैं। जैसे—अत्यधिक कालतक किसी भयंकर रोग से पीड़ित रहने पर तथा अत्यधिक थकावट के बाद रक्तवाहिनी एवं प्राणदा नाडी की विकृति (Vagovagal attack) के कारण भी मूर्च्छा होती है। अत्यधिक पीड़ावश और अकस्मात् शोकाघात आदि से नाडियों में अनावश्यक उत्तेजना (Nervous excitement) से दुर्बल एवं अपतन्त्रक ग्रस्त (हिस्टेरिक) व्यक्ति तथा हृदय विकार (Ortic regurgitation) से युक्त पुरुष को भी मूर्च्छा होती है। इस रोग के आक्रमण की सूचना देने वाले लक्षण भी विचित्र होते हैं। रोगी को प्रतीत होता है, कि वह डूब रहा है (Sinking feeling) उसे मिचली आती है। कभी मलत्याग का वेग आता है। गिर में चक्कर और आँखों के सामने अंधेरा होकर वह बेहोश हो जाता है। त्वचा पीली पड़ जाती है, पसीना छूटने लगता है, नाडी की गति धीमी होती है, कभी-कभी प्रति मिनट ३० तक हो जाती है। रक्तचाप अत्यधिक गिर जाता है। प्राणदा नाडियों की अत्यधिक कार्यशीलता के कारण, रक्तचाप की कमी, औदरिक रक्तवाहिनियों के फैलाव तथा रक्तवाहिनियों को अनुप्राणित करने वाली नाडियों—(Vasomotor nerve) के मन्द प्रभाव के कारण हृदय की गति मन्द पड़ जाती है। इस तरह की मूर्च्छा का वेग दो से दस मिनट तक रहता है, किन्तु बेचैनी और अवसाद (ह्लास-थकावट) घंटों तक बना रहता है।

हृदय-विकृतिजन्य मूर्च्छा

यह मूर्च्छा आंशिक हृदयावरोध (Partial heart-block) जब पूर्ण होने लगता है तब होती है और जब आलिन्दीय उत्तेजना (Auricular Impulses) निलयों तक नहीं पहुँच पाती और अलिन्दनिलयीय गति (Auriculo-ventricular rhythm) का श्रीगणेश नहीं होता, तब निलयों के कार्य का स्थगन होकर मूर्च्छा की स्थिति आ जाती है। अत्यधिक हृदय-

स्पन्दन से भी मूर्च्छा हो जाती है, इसमें हृदय के अल्पकालिक विस्तार के कारण निलय में पर्याप्त रक्त नहीं पहुँच पाता है और क्रमिक रक्तसंचार के लिए एक साथ पर्याप्त रक्त न मिलने से रक्तसंचार कम हो जाता है एवं मस्तिष्क प्रदेश में रक्ताल्पता हो जाती है, जिसके परिणाम स्वरूप मूर्च्छा होती है। मूर्च्छा रोग महाधमनी के विकार के कारण हृदय की मांसपेशियों और सौत्रिक तन्तुओं के परिवर्तनों के कारण हो सकता है।

संज्ञानाश

(Apoplexy—संन्यास)

वात-पित्त-कफ शरीर के सभी स्रोतों में अवस्थित हैं “सर्वशरीरचरास्तु वातपित्तश्लेष्माणः”। जब वे प्रकुपित होकर “प्राणायतन” हृदय और मस्तिष्क तथा मनोबहु स्रोतों में व्याप्त हो जाते हैं, तो शारीरिक और मानसिक चेष्टाएँ नष्ट हो जाती हैं। परिणामस्वरूप निःसंज्ञता हो जाती है और जैसे-वृक्ष की जड़ काट दी जाय और वह निरवलम्ब (धराशायी) हो जाता है, उसी तरह संन्यास रोग से आक्रान्त पुरुष अचानक जमीन पर गिर पड़ता है। इसी स्थिति को “संज्ञानाश” या संन्यास कहते हैं, इसमें रोगी मृतकतुल्य निश्चेष्ट हो जाता है^१।

यदि इस रोग में सद्यः फलप्रद आशुकारी चिकित्सा न की जाय, तो आक्रान्त व्यक्ति अकाल में ही कालकवलित हो जाता है और उसकी मृत्यु हो जाती है।

विमर्श—इस रोग का प्रधान आश्रय “प्राणायतन” कहा गया है। प्राणायतन शब्द से जैसा कि चरकाचार्य ने—दो शंखप्रदेश, तीन मर्मस्थान (हृदय, वस्ति और शिर) कण्ठ, रक्त, शुक्र, ओज और गुदा इन दस को माना है, वह ठीक है, किन्तु प्रसङ्गानुसार संन्यासरोग के वर्णन में प्रयुक्त यह प्राणायतन शब्द हृदय का बोधक है (चक्रपाणि ने भी यही कहा है)। संन्यास रोग का वर्णन रक्त के अध्याय (विधिशोणित्तीय) में किया गया है और रक्त का सञ्चालक-यन्त्र हृदय है उस हृदय की क्रिया पर ही जीवन निर्भर है हृदय का काम बन्द होने पर मृत्यु हो जाती है। इसी अभिप्राय से रक्त को जीव कहा जाता है। “रक्तं जीव इति स्थितिः”। आधुनिक विचार से प्राणायतन से मस्तिष्क का भी ग्रहण

१. वाग्देहमनसां चेष्टामाक्षिप्यातिबला मलाः।

संन्यस्यन्त्यबलं जन्तुं प्राणायतनसंश्रिताः॥

स ना संन्याससन्त्रस्तः काष्ठीभूतो मृतोपमः।

प्राणैर्वियुज्यते शीघ्रं मुक्त्वा सद्यःफलं क्रियाम्॥

किया जा सकता है, शिर संज्ञावह और चेष्टावह नाड़ियों के केन्द्र हैं और दोषों द्वारा उनके आक्रान्त होने पर संन्यास रोग होता है। इसी तात्पर्य से शिर को प्राण का स्थान कहा गया है।^१

संज्ञावह तथा चेष्टा वह नाडीकेन्द्रों, को जब वात आदि दोष विकृत कर देते हैं या उनकी गति अवरुद्ध कर देते हैं तब संन्यास या संज्ञानाश की स्थिति होती है। आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान शास्त्री संन्यास को एपोप्लेक्सी (Apoplexy) मानते हैं और इस रोग के तीन प्रधान कारणों का निर्देश करते हैं—
(१) मस्तिष्क में किसी प्रकार से रक्त का स्थगन हो जाना (Thrombosis)
(२) मस्तिष्क में रक्तस्राव (Haemorrhage) और (३) मस्तिष्कीय रक्त-वाहिनी में अन्तःशल्यता (Embolism)। इनमें से प्रथम दो का कारण धमनी की दीवारों का अपचय होता है और अन्तःशल्यता किसी आन्तरिक अवरोध का परिणाम है। रक्तस्राव के निम्नलिखित कारण होते हैं—(१) फिरङ्ग (२) धमनी की भित्ति का मेदस् अपचय या ग्रन्थि (३) रक्तचापाधिक्य के कारण धमनीप्रतिक्षय (४) व्रणशोथजन्य परिवर्तन (५) मस्तिष्क में अबुद्ध या अभिघात (६) चिरस्थायी न्यून रक्तचाप (७) रक्तविकार (पाण्डु कामला आदि)।

चिकित्सा की दृष्टि से इस रोग में सबसे अधिक सावधानी वर्तनी चाहिए। थोड़ा भी विलम्ब होने पर प्राणान्त हो जाता है। सद्यः अवबोधन (होश लाना) के लिए आचार्य चरक के निम्नलिखित प्रयोग अतिहितकर हैं—

अञ्जनान्यवपीडाश्च धूमाः प्रधमनानि च ।

सूचीभिः तोदनं शस्तं दाहः पीडा नखान्तरे ॥

लुञ्चनं केशलोम्नां च दन्तैर्दशनमेव च ।

आत्मगुप्ताऽवघर्षश्च हितस्तस्यावबोधने ॥

(च० सू० २४।४६-४७)

उद्बोधन

अनुभूत विषयों के अनुभवजन्य संस्कारों को जगाना “उद्बोधन” कहा जाता है। पहले उत्पन्न किसी भी मनोव्यापार का एक बार मन में लीन हो जाने के बाद फिर से जग जाना या उसका ज्ञान हो जाना उद्बोधन है। स्मृति को जागृत करना ही उद्बोधन का लक्ष्य होता है। स्मृति कैसे जगती है? उद्बोधन कैसे होता है? इसका वर्णन चरकाचार्य ने अत्यन्त स्पष्ट रूप में किया है।

१. प्राणाः प्राणभृतां यत्र श्रिताः सर्वेन्द्रियाणि च ।

यदुत्तमाङ्गमङ्गानां शिरस्तदभिधीयते ॥—चरक० सूत्र० १७।३

स्मृति के जाग्रत होने (उद्बोधन) में आठ कारण होते हैं^१—(१) निमित्त-ग्रहण (२) रूपग्रहण (३) सादृश्य (४) सविपर्यय (५) सत्त्वानुबन्ध (६) अभ्यास (७) ज्ञानयोग और (८) पुनःश्रवण ।

(१) निमित्तग्रहण से—कारणों को देख कर कार्य का स्मरण होना ।

(२) रूपग्रहण से—किसी रूप को देखने पर तत्समान दूसरे रूप का स्मरण होना ।

(३) सादृश्य से—समान मुखाकृति को देखकर अनुपस्थित आकृति का स्मरण होना ।

(४) सविपर्यय से—किसी काले पुरुष को देखकर गोरे पुरुष का स्मरण होना ।

(५) सत्त्वानुबन्ध से—मन लगाकर ध्यान करने से स्मरण होना ।

(६) अभ्यास से—बार-बार याद करने से स्मरण होना ।

(७) ज्ञानयोग से—आध्यात्मिक ज्ञान से स्मरण होना ।

(८) पुनःश्रवण—किसी भूली बात को फिर सुना जाने पर स्मरण कर लेना ।

न्यायसूत्र में विस्तारपूर्वक स्मृति के कारण बतलाये गये हैं,^२ विस्तार भय से उन सबका यहाँ वर्णन अभीष्ट नहीं है ।

भूतकाल के जो संस्कार मन में संचित हैं, जब समान परिस्थितियाँ आती हैं, तो वे उभड़ पड़ते हैं । इनके स्मारक या उद्बोधक कारण असंख्य हैं, जिन सबका परिगणन नहीं किया जा सकता ।

जाग्रत्स्वरूप

पञ्चीकृत महाभूतों से (१) जरायुज (मनुष्य-पशु आदि) (२) अण्डज (पक्षी-सर्प आदि) (३) उद्भिर्ज (वृण-वृक्ष आदि) और (४) स्वेदज (यूका-लिक्षा

१. वक्ष्यन्ते कारणान्यष्टौ स्मृतिर्यैरुपजायते ।

निमित्तरूपग्रहणात् सादृश्यात् सविपर्ययात् ॥

सत्त्वानुबन्धादभ्यासात् ज्ञानयोगात् पुनः श्रुतात् ।

दृष्टश्रुतानुभूतानां स्मरणात्स्मृतिरुच्यते ॥

(चरक० शा० १।१४८-४९)

२. अथ केभ्यः स्मृतिरुत्पद्यत इति ? स्मृतिः खलु—प्राणिधाननिबन्धाभ्यास-लिङ्गलक्षणसादृश्यपरिग्रहाश्रयाश्रितसम्बन्धानन्तर्यवियोगैककार्यविरोधातिशय-प्राप्तिव्यवधानसुखदुःखेच्छाभयार्थित्वक्रियासमधर्माधर्मनिमित्तेभ्यः ।

(न्यायसूत्र ३।२।४१)

आदि) इन चार प्रकार के स्थूल शरीरों की उत्पत्ति होती है। इन स्थूल शरीरों के पोषण के लिये विविध प्रकार के खाद्य-आहार अन्नादि की उत्पत्ति होती है।

समस्त प्राणियों में अहंकार होने के कारण "मैं" की अज्ञानमयी (माया या अविद्या से संवलित) भावना होती है। अज्ञानता के ही कारण उनमें निहित सर्वान्तर्यामी चैतन्य अलग-अलग प्रतिभासित होता है। उक्त चार प्रकार के शरीरों को "स्थूलशरीर" कहते हैं, इस स्थूलशरीर को ही "जाग्रत" कहते हैं।

माता-पिता द्वारा खाये हुए अन्न के सर्वोत्कृष्ट सारभाग से उत्पन्न होने के कारण इस स्थूलशरीर को "अन्नमय" आत्मा के आच्छादक होने के कारण "कोश" सुखदुःखादि के भोग का आधार होने के कारण "स्थूलशरीर" और "इन्द्रियों के भोगने के कारण स्थूल शरीर को "जाग्रत" कहते हैं।

इस "जाग्रत" की संज्ञा का कारण यह है, कि यह स्थूलशरीर दिक्, वायु, सूर्य, वरुण और अश्विनी कुमारों द्वारा क्रमशः नियन्त्रित श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, और घ्राण इन पाँच ज्ञानेन्द्रियों से शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध इन पाँच इन्द्रियायों को ग्रहण करने में सतत जागरूक रहता है। इसी तरह अग्नि, इन्द्र, उपेन्द्र, यम और प्रजापति के द्वारा क्रमशः नियन्त्रित वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ इन पाँच कर्मेन्द्रियों द्वारा यह शरीर बोलना, आदान, विचरण, भक्ष्याग और आनन्द या मूत्रत्याग की क्रियाएँ सम्पादित करता है। एवं चन्द्र, ब्रह्मा, शंकर तथा विष्णु से क्रमशः नियन्त्रित मन, बुद्धि, अहङ्कार और चित्त से क्रमशः संकल्प, निश्चय, गर्व तथा स्मरण रूपी विषयों को ग्रहण करने के कारण इस स्थूल शरीर को 'जाग्रत' कहते हैं।

इसी अभिप्राय से माण्डूक्योपनिषद्^२ में यह कहा गया है कि जाग्रत अवस्था में इस स्थूल शरीर का अभिमानी जीवात्मा शिर से पैर तक सात अंगों से युक्त है वह स्थूल विषयों के उपभोग के द्वाररूप दस इन्द्रिय, पाँच प्राण और चार अन्तःकरण इस प्रकार उन्नीस मुखों से विषयों का उपभोग करता है।

१. ...स्थूलशरीरमन्नविकारत्वादेव हेतोरन्नमयकोशो जाग्रदिति चोच्यते। दिग्वातार्कवरुणाश्विभिः क्रमान्नियन्त्रितेन श्रोत्रादीन्द्रियपञ्चकेन क्रमाच्छब्दस्पर्श-रूपरसगन्धान्, अग्नीन्द्रोपेन्द्रयमप्रजापतिभिः क्रमान्नियन्त्रितेन वागादीन्द्रियपञ्चकेन क्रमाद्वचनादानगमनविसर्गानन्दान्, चन्द्रचतुर्मुखशङ्कराच्युतैः क्रमान्नियन्त्रितेन मनोबुद्ध्यहङ्कारचित्ताख्येनान्तरिन्द्रियचतुष्केण क्रमात् संकल्पनिश्चयाहङ्कार्य-चैत्तांश्च सवनेितान् स्थूलविषयाननुभवति। —वेदान्तसार-स्थूलप्रपञ्चनिरूपण

२. 'जागरितस्थानो बहिष्प्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः स्थूलभुक्' ॥

—माण्डूक्योपनिषद्—मन्त्र ३

एकोनविंश अध्याय विविध-वाद-विज्ञान

सत्कार्यवाद

कार्य उत्पन्न होने के पहले भी अपने कारण में विद्यमान रहता है, इस सिद्धान्त को 'सत्कार्यवाद' कहते हैं। इस जगत् में जो सदा से है वही सत् है और जो नहीं है, वह नहीं ही है। जैसे—तिलों में तेल पहले से था, जो कोल्हू में पेरने से प्रकट होता है और बालू में तेल पहले से ही नहीं है, इसलिए बालू को कोल्हू में डालकर पेरने से तेल नहीं निकल सकता है। इस प्रकार कार्य का अपने कारण में पहले से ही उपस्थित रहना 'सत्कार्यवाद'^१ कहा जाता है।

इस बात को 'सांख्यकारिका' की नवीं कारिका में स्पष्ट रूप से बतलाया गया है,^२ तात्पर्यार्थ लिखा जा रहा है।

१. इस विषय में चार सिद्धान्त प्रसिद्ध हैं—

(i) असत् से (अभाव से) सत् (भाव) की उत्पत्ति होती है। जैसे—बीज नष्ट होकर अङ्कुर की उत्पत्ति करता है अर्थात् अभाव रूप कारण से भाव रूप कार्य की उत्पत्ति होती है। यह बौद्धों का सिद्धान्त है।

(ii) केवल सत् (ब्रह्म) ही एक पदार्थ है अन्य कुछ है ही नहीं। जैसे—रज्जु (रस्सी) में सर्प का अभ्यास हो जाता है, किन्तु वास्तविक ज्ञान होने पर सर्प की प्रतीति नहीं होती है। उसी प्रकार जो एक सत् (ब्रह्म) है, उसी का विवर्त यह सब कार्यसमूह है। वस्तुतः ब्रह्म (सत्) ही सब कुछ है, शेष कुछ नहीं। यह अद्वैत वेदान्त का मत है।

(iii) सत् (नित्य परमाणु) से असत् (द्व्यणुक आदि) उत्पन्न होते हैं। यह नैयायिकों और वैशेषिकों का सिद्धान्त है।

(iv) सत् (भावात्मक नित्य प्रकृति) से महान् अहंकार आदि कार्य उत्पन्न होते हैं अर्थात् महान् आदि कार्य सत् हैं, जो अपने कारण अव्यक्त में पहले से ही विद्यमान रहते हैं।

निष्कर्ष—

(i) 'असतः सत् जायते' यह बौद्धों का मत है।

(ii) 'सत् एव सर्वम्' यह अद्वैत वेदान्त का मत है।

(iii) 'सतः असत् जायते' यह नैयायिक और वैशेषिक मत है।

(iv) 'सतः सत् जायते' यह सांख्य मत है।

२. असदकारणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात् ।

शक्तस्य शक्यकारणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥ —सांख्यकारिका ९

जो सत् नहीं है उसे असत् कहते हैं, असत् को उत्पन्न नहीं किया जा सकता, इसलिए कार्य भी सत् है (क्योंकि कार्य पहले से ही अपने कारण में मौजूद रहता है) । बालू से तेल नहीं निकाला जा सकता, क्योंकि बालू में तेल असत् (पहले से नहीं विद्यमान होता) है । तिल में पेरने के पहले तेल अव्यक्तावस्था में था, जो पेरे जाने पर प्रकट हो जाता है इसलिए कार्य सत् है अर्थात् कारण में अव्यक्तरूप से कार्य छिपा रहता है ।

दूसरी बात यह है कि दही चाहनेवाला दूध को जमाता है जल को नहीं ? अर्थात् जिसे जिस कार्य द्रव्य की आवश्यकता होती है, वह उसी के उपादान कारण को ग्रहण करता है, क्योंकि कारण में कार्य अव्यक्तरूप से सत् (विद्यमान) है, इसलिए भी 'सत्कार्यवाद' की पुष्टि होती है ।

तीसरा हेतु यह है, कि यदि असत् से सत् की उत्पत्ति होती चाँदी से सोना और बालू से लोहा भी उत्पन्न होता (जो असम्भव है), इसलिए सब वस्तु सबसे नहीं उत्पन्न होती बल्कि जो पहले से उस उपादान में विद्यमान है उसी की उत्पत्ति उस वस्तु से होती है, इससे भी 'सत्कार्यवाद' सिद्ध होता है ।

चौथा कारण यह है, कि जो कारण जिस कार्य को उत्पन्न कर सकता है, उससे वही कार्य उत्पन्न होता है । जैसे—कुम्भकार मिट्टी, दण्ड, डोरा और जल आदि के द्वारा घड़ा ही बनाने में समर्थ होता है, न कि वस्त्र या आभूषण बनाने में । इससे भी यह सिद्ध होता है, कि कार्य कारण में सत् है ।

एवं यह देखने में आता है, कि कारण जिस प्रकार का होता है कार्य भी उसी प्रकार का होता है । जैसे—जो बोने से जो ही उत्पन्न होते हैं और धान का बीज डालने से धान ही पैदा होता है । यदि कार्य सत् न होता, तो कोदो बोकर धान काट सकते होते, किन्तु ऐसा नहीं होता । इसलिए 'सत्कार्यवाद' सिद्ध है । उपर्युक्त कारणों से यह स्पष्ट है, कि सत् की ही उत्पत्ति होती है असत् की नहीं ? इस प्रकार पूर्वोक्त युक्तियों के आधार पर 'सत्कार्यवाद' की प्रामाणिकता सिद्ध होती है ।

विमर्श—सत्कार्यवाद के सिद्धान्त के अनुसार इस संसार में जो भी वस्तु उत्पन्न होती है, उसके उत्पन्न होने का मात्र इतना ही अर्थ है, कि जो द्रव्य अपने कारण में अपनी अव्यक्तावस्था में छिपा था, वह व्यक्त होकर प्रकट हो गया । 'सत्कार्यवाद' का सिद्धान्त है, कि उत्पत्ति के पूर्व भी कारण में कार्य अव्यक्त रूप में अवश्यमेव उपस्थित रहता है । इस मत में कार्य और कारण में अभिन्नता मानी जाती है । कार्य की अव्यक्तावस्था का ही नाम कारण है और कारण की अव्यक्तावस्था को ही कार्य कहते हैं । इस प्रकार व्यवहार की दृष्टि

से कारण और कार्य भले ही अलग-अलग अपना अस्तित्व रखते हैं, किन्तु वास्तविकता यह है कि दोनों में अभिन्नता है। इस सिद्धान्त को 'कार्यकारण-वाद' 'सत्कार्यवाद' या 'परिणामवाद' कहते हैं।

इस पक्ष के समर्थक सांख्यदर्शन के निम्नलिखित सूत्र हैं।

(१) "नासदुत्पादो नृशृङ्गवत्" अर्थात् जिसका अस्तित्व पहले से नहीं है, उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। जैसे—मनुष्य को सींग नहीं होती।

(२) "उपादाननियमात्" अर्थात् जिस कारण में जो कार्य अव्यक्त रूप से स्थित रहता है, उस कार्य के लिए उस कारण का ग्रहण किया जाता है। जैसे—वस्त्र के निर्माण के लिए तन्तुओं का ग्रहण और गृहनिर्माण के लिए ईंट और सीमेन्ट, बालू तथा लोहा और काष्ठ आदि का ग्रहण किया जाता है।

(३) "सर्वत्र सर्वदा सर्वासम्भवात्" अर्थात् सब समय, सब जगह, एक ही कारण से जिस किसी कार्य की उत्पत्ति होना सम्भव नहीं है। इसी कारण तेल के लिए तिल और दही के लिए दूध का ही ग्रहण किया जाता है, क्योंकि तेल और दही रूपी कार्य पहले से ही तिल और दूध में विद्यमान हैं।

इस सब उदाहरणों से यही निष्कर्ष निकलता है, कि कारण में कार्य की सत्ता पहले से ही रहती है और वह कोई नवीन वस्तु नहीं उत्पन्न होती, अपितु मात्र कर्तृव्यापार से वस्तु की अव्यक्तावस्था का प्राकट्य होकर आविर्भाव होता है और वस्तु व्यक्त स्वरूप को धारण कर लेती है।

उपनिषद् और गीता में भी इस तरह के वचन मिलते हैं, जो 'सत्कार्यवाद' को पुष्ट करते हैं।

उपनिषद् में कहा गया है—कि जो वस्तु जहाँ नहीं है, वहाँ से वह वस्तु नहीं उत्पन्न होती है 'नाऽवस्तुनो वस्तुसिद्धिः' गीता का वह श्लोक द्रष्टव्य है, जिसमें यह बतलाया गया है कि सृष्टि के प्रारम्भ में अव्यक्त से ही सभी भाव व्यक्तावस्था में प्रकट होते हैं और प्रलय काल में सभी व्यक्तभावों का अव्यक्त में सन्निवेश हो जाता है। एवं इस कथन का अर्थ है—आविर्भूत पदार्थों का तिरोभाव हो जाना—

"नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।

तथा—अव्यक्तादव्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।

रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥

—श्रीमद्भगवद्गीता ८।१८

इस मत में मिट्टी से घड़ा या सुवर्ण से कुण्डल का बनना कोई नयी उत्पत्ति नहीं है, अपितु मिट्टी और सुवर्ण का घट तथा कुण्डल के रूप में आविर्भाव मात्र है। इसी प्रकार घट का मिट्टी के रूप में और कुण्डल का स्वर्ण के

रूप में निवेश (तिरोभाव) मात्र है न कि घट या कुण्डल का विनाश । घट और कुण्डल, मिट्टी और स्वर्ण से भिन्न नहीं हैं । जैसे—कछुआ स्वयं में ही अपने अङ्गों को समेट कर छिपा लेता है और पुनः उन अङ्गों का आविर्भाव कर देता है, एवं यह स्पष्ट है, कि कछुए के अङ्ग कछुए से भिन्न नहीं हैं, उसी प्रकार घट और कुण्डल मिट्टी और स्वर्ण से भिन्न नहीं हैं । यही विश्लेषण है 'सत्कार्यवाद' का जिससे आयुर्वेद के चिकित्सा क्षेत्र में कितनी ही महत्त्वपूर्ण मान्यताओं की स्थापना की गयी है और युक्तियुक्त ढंग से दोष-दूष्य की परि-कल्पना की पृष्ठभूमि पर औषधियों का आविष्कार किया गया है । द्रव्यों की पञ्चभौतिक निष्पत्ति के आधार पर ही उनके गुण-दोष का विवेचन किया गया है । इस सन्दर्भ में चरकसंहिता का 'रसों का पञ्चभौतिक संगठन' तथा 'रसों की गतियों' का वर्णन बड़े ही वैज्ञानिक आधार पर किया हुआ प्रतीत होता है । जैसे—मधुर रस की उत्पत्ति पृथिवी और जल इन दो सौम्य महाभूतों के आधिक्य से होती है । अतएव वह सौम्य होने के कारण आयुष्य, बल-वर्णकारक, तृष्णाशामक, प्रीणन, तपण, वृंहण, स्थैर्यकर, स्निग्ध तथा शीतल होता है । मधुररस के उक्त गुण इस रस के उपादानकारण पृथिवी और जल से ही उद्भूत हुए हैं । यदि पृथिवी और जल में ये गुण न होते तो मधुर रस में उनकी अभिव्यक्ति कथमपि नहीं होती । आयुर्वेद में चिकित्सा की सुविधा को दृष्टि में रखकर रसों के गुणों का विशदरूप में वर्णन किया गया है, साथ ही अलग-अलग प्रत्येक द्रव्यों के गुण-धर्म जानने की अपेक्षा छह रसों (मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त, कषाय) के गुणधर्म का ज्ञान अधिक उपयोगी होने से चिकित्सा में रसों का ही विशेषरूप से निर्देश किया गया है ।

द्रव्यों में जो भी गुण हैं, वे पञ्चमहाभूतों के ही गुण हैं और मधुर आदि रस तो एक माध्यम हैं, जहाँ उपादान कारणीभूत महाभूतों के कार्यों का अभिव्यक्तीकरण हुआ है । इससे यह महान् लाभ है, कि औषधियोजना में इन पञ्चभौतिक रसों का उनके मौलिकभूत-संगठन की दृष्टि से उपयोग होता है^१ । जैसे—विरेचन के लिए पृथिवी और जल महाभूत प्रधान रस का ही उपयोग करते हैं, क्योंकि जल नीचे की ओर गतिशील स्वभाव का है और पृथिवी गुरु होती है, जिससे पृथिवी सलिलात्मक रस विरेचन कार्य करता है ।

१. तत्राग्निमारुतात्मका रसाः प्रायेणोर्ध्वभाजः, लाघवादुत्पलवनत्वाच्च वायोरूर्ध्वज्वलनत्वाच्च बह्वेः । सलिलपृथिव्यात्मकास्तु प्रायेणाधोभाजः पृथिव्या गुरुत्वान्निम्नगत्वाच्चोदकस्य, व्यामिश्रात्मकाः पुनरुभयतो भाजः ।

—चरक० सूत्र० २६।४१

इस प्रकार आयुर्वेदीय चिकित्सा के सैद्धान्तिक और वैज्ञानिक पक्षों का मूलाधार होने के कारण 'सत्कार्यवाद' एक बहुत महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है।

असत्कार्यवाद

अभावात्मक असत् से भावात्मक सत् की उत्पत्ति मानने के सिद्धान्त को 'असत्कार्यवाद' कहते हैं। जैसे—जब खेत में बीज डाला जाता है, तो बीज नष्ट हो जाता है, बीज का अभाव होकर बीज की सत्ता विनष्ट हो जाती है और बीज असत् हो जाता है, तब उस असत् से (विनष्ट बीज से) सत् अङ्कुर की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार मिट्टी का लोंदा जब असत् (विनष्ट) हो जाता है, तो उससे सत् (कार्य) घट की उत्पत्ति होती है। इसी सिद्धान्त को "असत्कार्यवाद" कहा जाता है। यह बौद्धों का सिद्धान्त है।

कार्यकारणभावविवेक—'सत्कार्यवाद' में कार्य और कारण का अभेद सम्बन्ध माना जाता है, क्योंकि इस मत में प्रत्येक कार्य अपने कारण में अव्यक्तावस्था में विद्यमान रहता है, कार्यरूप में उसकी कोई नवीन उत्पत्ति नहीं होती है, अपितु मात्र अभिव्यक्ति होती है। कार्य सत् होता है वह असत् (अभावात्मक) नहीं होता। जिस समय वह नहीं दीखता; उस समय भी उसका अस्तित्व रहता है वह अपने कारण में छिपा हुआ रहता है। जैसे—पानी जमकर बर्फ बन जाता है और जब बर्फ पिघल जाती है तो वही पानी बन जाता है। किन्तु जब 'सत्कार्य' के सिद्धान्त के विपरीत अर्थात् असत् से सत् की उत्पत्ति मानते हैं तो वहाँ कार्य और कारण में परस्पर जन्यजनकभाव सम्बन्ध मानना चाहिए। कार्य जन्य होगा और कारण जनक होगा। अङ्कुर-रूपी कार्यजन्य और बीजरूपी कारण जनक कहा जायेगा।

परिणामवाद

इस संसार में प्रतिक्षण परिवर्तन हो रहा है। संसार की हर वस्तु बदलती रहती है। बीज से अङ्कुर, फिर वृक्ष और पुनः फल तथा बीज होता है। इस परिणाम का कारण है गुणों का चंचल स्वभाव। गुण कभी स्थिर नहीं रहते और संसार की समस्त वस्तुएँ त्रिगुणात्मक हैं। अतः उनमें परिवर्तन होता रहता है और यही मत 'परिणामवाद' कहलाता है। सत्कार्यवाद को ही परिणामवाद भी कहते हैं और उसी का नाम कार्य-कारणवाद भी है। अतएव अलग से विस्तार करने की आवश्यकता नहीं होने से संक्षेप में ही 'परिणामवाद' की व्याख्या की गयी है। (विस्तृत जानकारी के लिए 'सत्कार्यवाद' देखें)।

सदृश विसदृश और परिणाम—जो वस्तु चिरकाल तक एक ही रूप में दिखाई देती रहती है, उसमें भी प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है। अन्तर इतना ही रहता है कि जब तक वह वस्तु उसी रूप में दीखती रहती है, तब तक 'सदृशपरिणाम' होता है। जैसे—दूध जब तक दूध है तब तक वह सदृश परिणाम है और जब वस्तु का रूपान्तर होने लगता है तब 'विसदृशपरिणाम' होता है। जैसे—दूध जब दही बनने लगता है तब विसदृश परिणाम होता है। विसदृश परिणाम अपने कारण से विलक्षण होता है। जैसे—शुक्रशोणित रूप द्रव पदार्थ, एक ठोस और हाथ पैरों वाला प्राणी बन जाता है। चूँकि गुण कभी स्थिर नहीं होते, अतः प्रत्ययावस्था में भी उसका परिणाम होता रहता है, किन्तु वह सदृश परिणाम होता है। जब गुण सृष्टि की ओर उन्मुख होते हैं। तब विसदृश परिणाम होने लगता है। इस विसदृश परिणाम के कारण ही एक ही प्रकृति से उत्पन्न यह संसार नाना रूपों वाला, असंख्य आकृतियों वाले विलक्षण पदार्थों का एक विशाल भुवनव्यापी संग्रहालय जैसा दीख रहा है।

विवर्तवाद

किसी वस्तु का अपने स्वरूप का परित्याग किये बिना ही, दूसरी वस्तु के रूप में अपनी प्रतीति कराना 'विवर्त' कहलाता है।^२ जैसे—रस्सी के अपने स्वरूप में रहने पर भी उसमें सर्प की प्रतीति होना 'विवर्त' है।

'वेदान्त' का मत है कि सांसारिक समस्त प्रपञ्च ब्रह्म का 'विवर्त' है। एवं किसी सत्यवस्तु में अन्य असत्यवस्तु की प्रतीति का होना विवर्त है। विवर्त के भ्रम को हटाकर सत्यवस्तु मात्र का ज्ञान कराना 'अपवाद' है। जैसे—वेदान्ती लोग ब्रह्मस्वरूप सत्यवस्तु में सांसारिक प्रपञ्च की प्रतीति को मिथ्या-ज्ञान (विवर्त) मानते हैं और उस मिथ्याज्ञान को हटाकर ब्रह्मात्मन के ज्ञान को 'अपवाद' मानते हैं^३।

पौलुपाक-विचार

पृथिवी को नानारूपवती माना गया है। रूप के परिवर्तन में पाकक्रिया

१. गुणपरिणामविशेषान्नात्वं बाह्यभेदाच्च । —सांख्यकारिका २७

२. वस्तुनः स्वस्वरूपापरित्यागेन वस्त्वन्तरमिथ्याप्रतीतिविवर्तः । यथा—
रज्जावहेः, शुक्ती रजतस्य वा प्रतीतिः । असर्पभूतायां रज्जौ सर्पारोपवद्वस्तुन्य-
वस्त्वारोपोऽध्यारोपः, अयमेव विवर्तोऽध्यास इति चोच्यते ।'

—वेदान्तसार—अध्यारोप

३. ब्रह्मरूपसत्यवस्तुनि प्रपञ्चस्य प्रतीतिमिथ्या, तामपसार्य ब्रह्मात्मप्रती-
तिरपवादः । —वेदान्तसार—अपवाद

का विशेष महत्त्व है। रूप बदलने के लिए, इस विषय में दो तरह के सिद्धान्त माने गये हैं—प्रथम वैशेषिक और द्वितीय नैयायिकों का है। वैशेषिक 'पीलु-पाकवादी' होते हैं, इनके मन से पृथिवी के परमाणु में ही एक रूप का नाश होने पर दूसरा रूप उत्पन्न होता है। ये सीधे घट में पाक नहीं मानते, अपि तु इनका कहना है, कि कुम्भकार की भट्टी (आवाँ) में पड़ा हुआ घट नष्ट हो जाता है और उसके प्रत्येक परमाणु में पाक होता है, फिर नया घट उत्पन्न हो जाता है। जैसे—घट में कपाल समवायिकारण, दो कपाल का संयोग असमवायिकारण और दण्डादि निमित्तकारण हैं वैसे भट्टी में बनने वाले घट में भी परमाणु समवायिकारण, तेजःसंयोग असमवायिकारण एवं अदृष्ट निमित्त कारण है। यह वैशेषिकों का मत 'पीलुपाकवाद' कहा जाता है।

पिठरपाक-विचार

कुम्भकार की भट्टी में घट की पाकप्रक्रिया के सम्बन्ध में वैशेषिकों के विचार से नैयायिकों का मतभेद है। वैशेषिकों का मत 'पीलुपाकवादी' है जिसकी घर्चा की जा चुकी है। इस सम्बन्ध में नैयायिकों का कहना है, कि पूर्व घट के नाश के बिना ही परमाणु तक जितने भी अवयव या अवयवी हैं, सब में एक साथ ही दूसरा रूप उत्पन्न होता है और इस प्रक्रिया में पूर्वघट नष्ट नहीं होता, बल्कि उसका रूपान्तर हो जाता है। यही मत 'पिठर पाकवाद' कहलाता है, जो नैयायिकों का मत है।

आरम्भवाद

न्याय और वैशेषिक ये दोनों ही दर्शन आरम्भवादी है। इनके अनुसार इस विचित्र सृष्टि के निर्माण के लिए पदार्थविशेषों की आवश्यकता है। भिन्न-भिन्न कारण कलाप से भिन्न-भिन्न प्रकार के कार्य होते हैं। न्याय अनुमान प्रमाण के द्वारा अपने आरम्भवाद को सिद्ध करता है। उसके अनुमान का स्वरूप यह है कि 'पृथ्वी आदि पदार्थ कर्ता से उत्पन्न हैं, क्योंकि यह कार्यरूप हैं। जो जो कार्य होता है, वह सब कर्ता से ही उत्पन्न होता है। जैसे—घटरूपी कार्य बिना कुम्भकार के नहीं उत्पन्न हो सकता, क्योंकि 'घट' कार्य है और कार्य बिना कर्ता के नहीं उत्पन्न हो सकता है।

न्यायशास्त्र की दृष्टि से इस विश्व के मूल में परमाणु, आत्मा एवं ईश्वर ऐसे नित्य पदार्थ विद्यमान हैं, जिनके कारण ही इस जगत् की उत्पत्ति होती है। इस दृश्य जगत् का समवायिकारण 'परमाणु' है, ईश्वर निमित्त-कारण है, जो कि अनुमानगम्य है। जब एक परमाणु दूसरे परमाणु से मिलता है, तो द्व्यणुक की उत्पत्ति होती है और जब तीन द्व्यणुक मिलते हैं तब त्रसरेणु

की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार क्रमशः इस विशाल सृष्टि का निर्माण हो जाता है। वैशेषिक का भी सृष्टि के विषय में यही दृष्टिकोण है, वह भी यही मानता है, कि कारणों की उपस्थिति में ही कार्य का आरम्भ होता है और यही मत 'आरम्भवाद' कहलाता है।

क्षणभंगवाद

बौद्धों की मान्यता के अनुसार संसार के सभी पदार्थ क्षणिक हैं। जो घट वर्तमान क्षण में है वह दूसरे ही क्षण में विनष्ट हो जाता है। इस मत में कोई वस्तु दूसरी वस्तु के समान नहीं है, क्योंकि समानता में स्थायित्व की आवश्यकता होती है। सादृश्यज्ञान क्षणिक पदार्थों में नहीं हो सकता। बौद्ध ज्ञानादि समुदायात्मक शरीर को निरात्म तथा प्रतिक्षण परिवर्तनशील मानते हैं अर्थात् वर्तमान क्षण में जो शरीर है अगले क्षण में वह शरीर नष्ट हो गयी और उसकी जगह दूसरा शरीर खड़ी हो गया। बौद्धों के इस सिद्धान्त को 'क्षणभंगवाद' कहते हैं।

आस्तिकता-नास्तिकता-विचार

संसार से दुःख को दूर करने के लिए आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक इन त्रिविध तापों से मनुष्य को छुटकारा पाने के लिए ऋषियों तथा ज्ञानी मुनियों ने जिन साधनों को ढूढ़ निकाला, उसे 'दर्शन' कहते हैं। उन दर्शनों के दो विभाग किये गये हैं—वैदिक और अवैदिक। वैदिकदर्शनों का दूसरा नाम आस्तिकदर्शन है और अवैदिक दर्शनों का नाम नास्तिकदर्शन है^१।

आस्तिकदर्शनों में (१) वेदान्त (२) भीमांसा (३) सांख्य (४) योग (५) न्याय और (६) वैशेषिकदर्शन आते हैं। ये वेद को प्रमाण मानते हैं, इसलिए ये वैदिक या आस्तिक दर्शन कहलाते हैं।

आस्तिकता-विचार—यहाँ संक्षेप में वैदिकदर्शनों के सिद्धान्तों का निर्देश करना समुचित होगा, अतः विचार प्रस्तुत है।

वेदान्त—वेदान्तदर्शन के सर्वमान्य आचार्य शङ्कराचार्य 'अद्वैतवाद' मानते

१. 'अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः' (पाणिनिसूत्र० ४।४।६०)

(i) अस्ति परलोकः, अस्ति पुनर्भवः, अस्ति कर्म, अस्ति कर्मफलं, अस्ति आत्मा, अस्ति ईश्वरः इत्येवं प्रकारेण यः अस्तित्वा वर्तते स आस्तिकः।

(ii) नास्ति परलोकः नास्तीश्वरः इत्येवं प्रकारेण यः नास्तित्वा वर्तते स नास्तिकः।

हैं अर्थात् इस संसार में जो कोई वस्तु दीख रही है सब ब्रह्ममय है। केवल ब्रह्म की ही सत्ता सत्य है और जगत् की प्रतीति मिथ्या है। यथा—

‘ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः’।

ब्रह्म निर्गुण है, अनन्त है, नित्य है। वह शुद्ध, मुक्त, सत्य, परमानन्द और अखण्ड तथा बुद्धस्वरूप है। जब ब्रह्म माया से संवलित (युक्त) होता है तो वह सगुण परमेश्वर कहलाता है। विश्व की सृष्टि, स्थिति और प्रलय का कारण वही सगुण ब्रह्म है। जीव भी ब्रह्म ही है ‘जीवो ब्रह्मैव नापरः’। वेदान्त ‘वेद’ में कहे गये ‘एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति’ सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है, इसलिए वह एक आस्तिकदर्शन है।

मीमांसा—मीमांसा का मत है, कि वेद नित्य और स्वतः सत्तावान् हैं। यह वैदिकदर्शन होते हुए भी ईश्वर को नहीं मानता है। इसका कहना है—कि जीवों के कर्म से एक प्रकार की शक्ति उत्पन्न होती है, जो स्वतः कर्मफल का नियमन करती है, इसे ‘अपूर्व’ कहते हैं। जीवों के व्यक्तिगत ‘अपूर्व’ से उनके जन्मजन्मान्तर के रूप का नियमन होता है। यह दर्शन स्वर्ग, नरक और पाप-पुण्य तथा कर्म और कर्मफल मानता है।

सांख्य—यह ‘द्वैत’ का प्रतिपादक दर्शन है, जो प्रकृति और पुरुष इन दो तत्त्वों को मूल मानता है। यह जन्मचक्र के बन्धन में डालने वाले अहङ्कारादि को ही त्रिविध दुःखों का कारण मानता है। सांख्य का मत है, कि जब पुरुष को अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूप का ज्ञान हो जाता है, तो वह कर्ता भोक्ता के अहंकार से तथा जन्म-कर्म की परम्परा से मुक्त होकर केवल अपने शुद्ध स्वरूप (कैवल्य) को प्राप्त कर लेता है। सांख्य ‘कैवल्य’ को ही मोक्ष मानता है।

योग—समस्त चित्तवृत्तियों पर स्वामित्व की उपलब्धि प्राप्त कर उनका नियन्त्रण करना ही ‘योग’ कहलाता है—‘योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः’ (योग-दर्शन १।२) योगदर्शन सांख्य के कैवल्यप्राप्ति के लिए व्यावहारिक मार्ग बतलाता है। योग की स्थिति में सभी चित्तवृत्तियों का निरोध होने पर पुरुष समस्त विषयों से अलग होकर अपने केवल ‘चैतन्य’ रूप में स्थित हो जाता है यही ‘कैवल्य’ है। ‘योग’ सांख्य के पञ्चीस तत्त्वों के अतिरिक्त छब्बीसवाँ तत्त्व ‘ईश्वर’ को मानता है। ऐश्वर्य और ज्ञान की पराकाष्ठा ही ईश्वर है। ईश्वर के प्रणिधान से ही समाधि द्वारा परमतत्त्व ‘कैवल्य’ मिलता है।

न्याय—यह विश्वसृष्टि के मूल में तीन तत्त्वों को मानता है—परमाणु, आत्मा और ईश्वर। यह ज्ञान को ही मोक्ष का साधनतत्त्व मानता है। मुक्ति में समस्त प्रकार की वेदनाएँ निवृत्त हो जाती हैं, वहाँ सुख-दुःख दोनों ही नहीं

होते 'निवर्तते तदुभयम्' (चरक० शा० १) 'प्रमाण-प्रमेय' आदि षोडश पदार्थों के यथार्थज्ञान से जीवन का चरम लक्ष्य 'निःश्रेयस' प्राप्त होता है। इस प्रकार 'न्याय दर्शन' ज्ञान को ही मुक्ति-प्राप्ति का वास्तविक साधन मानता है।

वैशेषिक—यह आत्मा और जगत् के पदार्थों का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत करता है। भौतिक जगत् की समीक्षा करके ही तत्त्वज्ञान को प्राप्त किया जा सकता है, जिससे आत्मा तथा आत्मभिन्न द्रव्यों के सामान्य और विशेष धर्म जाने जा सकते हैं। यह निष्काम कर्मों के द्वारा तत्त्वज्ञान होने पर 'मोक्ष' की उपलब्धि मानता है।

इन सभी आस्तिक दर्शनों के मार्ग भिन्न-भिन्न होने पर भी सभी का उद्गम 'वेद' है। ये वेद को प्रमाण मानने के कारण वैदिक या आस्तिक दर्शन कहलाते हैं। आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति के लिए यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना इनका लक्ष्य है। ये आत्मा, पुनर्जन्म और मोक्ष को मानते हैं और अपने सिद्धान्तों के प्रामाण्य के लिए वेद को आधार मानते हैं। इस प्रकार ये सब वैदिक विचार धारा के ही स्रोत हैं, जो तत्त्वज्ञान के समुद्र में एकीभूत हो जाते हैं।

आयुर्वेद—आचार्य चरक ने मनुष्य की तीन प्रकार की एषणाओं का वर्णन किया है^२—(१) प्राणैषणा (२) धनैषणा और (३) परलोकैषणा। इनमें से 'परलोकैषणा' के विषय में नास्तिकता के पूर्वपक्ष को सामने करके पुनः युक्तियुक्त प्रकार से उसका खण्डन किया गया है और अन्तिम निष्कर्ष यह दिया गया है, कि नास्तिकता एक महान् पातक है। यथा—'पातकेभ्यः परं चैतत् पातकं नास्तिकग्रहः' (चरक० सूत्र० ११।१५)। प्रत्यक्षप्रमाण के दोषों को तथा निरात्मवादियों के मतों को एवं नास्तिक मतों को लक्ष्य करके, अनुमान युक्ति तथा आप्तोपदेश प्रमाणों से पुनर्जन्म तथा परलोक की मान्यता स्थापित की गयी है। पुनश्च आत्मा, मोक्ष और पुनर्जन्म का प्रतिपादन करते हुए यह चेतावनी दी गयी है कि नास्तिकता एक बड़ा भारी पापग्रह है, कभी भी इससे

१. प्रमाण-प्रमेय-संशय-प्रयोजन-दृष्टान्त-सिद्धान्तावयव-तर्क-निर्णय-वाद-जल्प-वितण्डा-हेत्वाभास-च्छल-जाति-निग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानाभिः श्रेयसाधिगमः।

—न्याय० १।१।१

२. इह खलु पुरुषेणानुपहत-सत्त्व-बुद्धि-पौरुष-पराक्रमेण हितमिह चामुष्मिश्च लोके समनुपश्यता तिस्रः एषणाः पर्येष्टव्या भवन्ति। तथा वा—प्राणैषणा धनैषणा परलोकैषणेति।

—चरक० सू० ११।३

मैत्री नहीं करनी चाहिए ? यह एक भ्रष्ट मार्ग है, इसलिए नास्तिकता का परित्याग कर सत्पुरुषों की बुद्धि के प्रदीप से आलोकित सत्पथ (वास्तविक मार्ग) का अनुसरण करना चाहिए^१ । अन्तःकरण में आस्तिकता की उदात्त भावना धारण कर धार्मिक क्रियाओं और सत्कर्मों को ही करे और मानस दोषों को दूर कर अनिन्द्य प्रशस्त लोक-परलोक के लिए जो हितकर हों ऐसे ही सत्कर्मों का आचरण करना चाहिए^२ ।

विमर्श—अस्ति शब्द से आस्तिकता शब्द निकला है । अस्ति का अर्थ होता है—‘है’ अर्थात् पुनर्जन्म होता है, परलोक होता है, कर्म का फल अवश्य भोगना पड़ता है इत्यादि बातों को स्वीकार करना आस्तिकता है और इन सिद्धान्तों का मानने वाला व्यक्ति ‘आस्तिक’ कहलाता है ।

आयुर्वेद के प्रमुख ग्रन्थ ‘चरकसंहिता’ के सूत्रस्थान अध्याय ११ में मनुष्य की तीन एषणाओं का वर्णन किया गया है । उनमें ‘प्राणैषणा’ सर्वप्रथम गिनी गयी है क्योंकि मानव का जीवन अमूल्य है, यदि प्राण ही नहीं रहेगा, तो उसके लिए सारा संसार बेकार है । दूसरे स्थान पर ‘धनैषणा’ का नाम आता है, क्योंकि जीवित मनुष्य को जीवन के साधनों को जुटाने के लिए धन की आवश्यकता अनिवार्य है । तीसरी एषणा है—‘परलोकैषणा’ । परलोक शब्द अपने में विस्तृत अर्थ समेटे हुए है । जैसे—मृत्यु के पश्चात् तीन प्रकार की स्थितियों का वर्णन पाया जाता है, जिनमें प्रथम या सर्वोच्च है—मोक्ष^३ अर्थात् जब जीवात्मा, जीवितावस्था में ही रज और तम के विकारों से, सभी प्रकार की तृष्णाओं से, राग, द्वेष आदि से कर्म फलोपभोग से निरीह और निद्वन्द्व तथा परमशान्त निर्विकार हो जाता है, तो वह मृत्यु के पश्चात् पर-

१. तस्मान्मति विमुच्यैताममार्गप्रसूतां बुधः ।

सतां बुद्धिप्रदीपेन पश्येत्सर्वं यथायथम् ॥

—चरक० सू० ११।१६

२. यानि.....कर्माणि सतामविगहितानि स्वर्ग्याणि वृत्तिपुष्टिकराणि विद्यात्तान्यारभेत् कर्तुम् । तथा कुर्वन्निह चैव यशो लभते, प्रेत्य च स्वर्गमिति ।

—चरक० सूत्र० ११।३३

३. मोक्षो रजस्तमोऽभावात् बलवत्कर्मसंक्षयात् ।

वियोगः सर्वसंयोगैरपुनर्भव उच्यते ॥

अतः परं ब्रह्मभूतो भूतात्मा नोपलभ्यते ।

निःसृतः सर्वभावेभ्यश्चिह्नं यस्य न विद्यते ॥

—च० शा० १।१४२-१५५

मात्मा में लीन हो जाता है, उसी प्रकार जैसे—घड़े के फूटने पर घड़े का आकाश इस महाकाश में विलीन हो जाता है और उसकी कोई निशानी नहीं रहती। मोक्ष वह स्थिति है जब मन से रज और तम हट जाते हैं, जब कर्मों के बन्धन कट जाते हैं, जब सभी प्रकार की वेदनाओं का नाश हो जाता है और पुनर्जन्म नहीं होता है। दूसरी स्थिति वह है—जब जीवात्मा जीवन-काल में धर्म, पुण्य, परोपकार आदि अच्छे कार्यों को करता है तो पुण्य के संचय से उसे स्वर्ग प्राप्त होता है जहाँ वह पुण्यों के अनुसार अपनी कामनाओं की तृप्ति का साधन प्राप्त करता है। तीसरी स्थिति वह है—जब जीवात्मा का जीवन न मोक्ष के पथ का पथिक बनता है, न तो उसमें कोई उत्कृष्ट सत्कर्म या पुण्य आदि होता है, बल्कि वह सांसारिक विषयों में ही आसक्त रहकर धरती के सुखों के उपभोग के लिए तरसती रहती है, तब मरने के बाद फिर इस धरती पर लौट आती है और पूर्वजन्म के कर्मों के अनुसार शरीर और स्थान प्राप्त कर लेती है।

पुनर्जन्म के बारे में जो सन्देह किया जाता है—‘चरक संहिता’ में उसका पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष दोनों ही विस्तृत रूप से वर्णित हैं। जो अपुनर्भववादी (Rejectors of rebirth of spirit theory) हैं, वे कोई प्रत्यक्ष को, कोई परम्परा को, कोई माता-पिता को, कोई स्वभाव को, कोई परनिर्माण को और कोई यदृच्छा को जन्म का कारण मानते हैं। इसलिए सन्देह होता है, कि पुनर्जन्म होता है कि नहीं? हम इसका विस्तार यहाँ नहीं करेंगे, अतः जिज्ञासुजन इसे चरक संहिता में ही देखें। फिर भी कतिपय साक्ष्यों के आधार पर पुनर्जन्म का प्रतिपादन किया जायेगा। ‘पुनर्जन्म आत्मा की अमरता का स्वयमेव प्रमाण है’ पुनर्जन्म एक प्रकार का मरणोत्तर जीवन है। संवेदनशील आत्माओं के साथ गया ‘सूक्ष्ममन’ अपने उपचेतन में पिछले जन्मों की स्मृतियाँ लेकर लौटता है। पिछले जन्म की घटनाओं का स्मरण इस बात का प्रमाण है, कि आत्मा त्रिकालदर्शी है। वह अतीत

१. अथ तृतीयां परलोकैषणामापद्येत् । संशयश्चात्र, कथं भविष्याम इतश्च्युता न वेति, कुतः पुनः संशय इति, उच्यते—सन्ति ह्येके प्रत्यक्षपराः परोक्षत्वात् पुनर्भवस्य नास्तिक्यमाश्रिताः, सन्ति चागमप्रत्ययादेव पुनर्भवमिच्छन्ति, श्रुतिभेदाच्च—

मातरं पितरं चैके मन्यन्ते जन्मकारणम् ।

स्वभावं परनिर्माणं यदृच्छां चापरे जनाः ॥ इति

अतः संशयः—किं नु खल्वस्ति पुनर्भवो न वेति ?

च. सू. ११६

से भविष्य तक सब कुछ देख सकता है, यही कारण है, कि कुछ लोग सही-सही भविष्यवाणी कर पाते हैं। जब मनुष्य के मन में सत्त्वगुणाधिक्य होता है, तो उसे दूसरे जन्म में पूर्वजन्म की बातें याद आती हैं। ऐसे पुरुष को 'जातिस्मर' जन्म का स्मरण करने वाला कहा गया है^१। पुनर्जन्म की घटनाएँ इस बात का साक्ष्य उपस्थित करती हैं—कि 'आत्मा मृत्युनिरपेक्ष है 'तथा मनुष्य की अन्तश्चेतना शाश्वत है' वह काल के व्यवधान को वेधकर पीछे देख सकता है। मृत्यु उस चेतना का कुछ नहीं बिगाड़ सकता, वह मृत्यु के पंजे में नहीं फँस सकता, वह शरीर नहीं है। आत्मा न जन्म लेता है न मरता है, यह आज, नित्यशाश्वत और पुरातन है, शरीर के नाश होने पर भी इसका नाश नहीं होता है।^२ जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्याग कर दूसरे नये वस्त्रों को धारण करता है, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरों को त्याग कर दूसरे नये शरीरों को धारण करता है^३ और यही है आत्मा का पुनर्जन्म जब कि वह नये शरीर में प्रवेश करता है।

पुनर्जन्म या परकाया-प्रवेश—'जगद्गुरु शंकराचार्य' जब मण्डन मिश्र की पत्नी से शास्त्रार्थ में हार गये, तो वे राजा सुधन्वा के मृत देह में प्रवेश कर कामशास्त्र का अध्ययन किये थे, यह सर्वविदित तथ्य है। अरविन्द आश्रम की 'पूजनीया माँ' मूलतः फ्रांसीसी थीं। उनके बारे में यह जनश्रुति अतिप्रसिद्ध है, कि वे बचपन में अपना शरीर त्यागकर इधर-उधर विचरण किया करती थीं।

ऐसी अनेक घटनाओं का वर्णन 'जर्नीज आइट आफ दी बाडी' (सूवेनीर प्रेस, लन्दन) 'दी अदर वर्ल्ड' (डब्ल्यू० स्पेन्सर) तथा 'स्पिरिचुअल हार्लिंग' (ऋषिराम) आदि पुस्तकों में उपलब्ध होता है। पुनर्जन्म सम्बन्धी सत्य

१. यदिन्द्रियाणामभिग्राहकं च 'मनः' इत्यभिधीयते; तत्त्रिविधमाख्यायते—
शुद्धं राजसं तामसमिति येनास्य खलु मनो भूयिष्ठं, तेन द्वितीयामाजातो
संप्रयोगो भवति, यदा तु तेनैव शुद्धेन संसृज्यते, तदा जातेरतिक्रान्ताया अपि
स्मरति। स्मार्तं हि ज्ञानमात्मनस्तस्यैव मनसोऽनुबन्धनादनुवर्तते, यस्यानुवृत्ति
पुरस्कृत्य पुरुषो 'जातिस्मर' इत्युच्यते।

—चरक. शा. ३।१९

२. न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वापि भूयः।

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

—श्रीमद्भगवद्गीता २-२०

३. वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।

तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥

—गीता अ० २।२२

घटनाएँ अनेकशः मिलती रहती हैं, जो उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर सत्य पायी जाती हैं। उनमें से एक दो का वर्णन उदाहरणार्थ यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

१९५८ में राजस्थान के 'सोहनलाल मेमोरियल संस्थान' के निर्देशक श्री एच. एन. वनर्जी को यह समाचार सुनने को मिला कि उत्तर प्रदेश के मुजफ्फरनगर जिले के 'रसूलपुर जाटान' नामक गाँव में 'जसवीर नामक लड़के के शरीर पर किसी दूसरे व्यक्ति की आत्मा ने अधिकार कर लिया है' यह समाचार उन्हें केन्द्रीय वाणिज्य विभाग के श्री जे. पी. भारद्वाज से सुनने को मिला था। वे करीब सौ आदमियों को अपने साथ लेकर इस घटना की वैज्ञानिक जाँच करने के उद्देश्य से उस गाँव पहुँचे।

गाँव में चौधरी गिरधारी सिंह ने बताया कि जिस आश्चर्यजनक घटना की जाँच करने वे आये, वह एकदम सच है। उन्होंने अपने लड़के जसवीर की कहानी सुनाते हुए कहा—जसवीर सवा तीन साल का ही रहा होगा, कि उसके शरीर में चेचक निकली, जिसके निशान आज तक उसके शरीर पर मौजूद हैं और इसी रोग से एक रात उसकी मौत हो गयी। रात अधिक हो जाने के कारण हमने उसके शव को ढंककर, उसे सबेरे अन्तिम संस्कार के लिए ले जाने का निश्चय किया, पर जब हम सबेरे उसके शव को उठाने गये तो यह देखकर चकित और आनन्दित हो उठे, कि मृत 'जसवीर' में श्वास का संचार हो रहा है और वह जीवित है। धीरे-धीरे जब वह निरोग हुआ, तो हमने देखा कि उसके आचार-व्यवहार में एक विचित्र परिवर्तन आ गया है—न वह घर में रहने को तैयार था, न घर में किसी आदमी के हाथ का बना भोजन करने को तैयार था, अतः हमने वैसी ही व्यवस्था कर दी। कुछ समय बाद हमें मालूम हुआ, कि उसके मृत शरीर में शोभाराम त्यागी नामक २३-२४ वर्ष के किसी विवाहित युवक की आत्मा प्रवेश कर गयी है और उसकी गति-विधियों का संचालन कर रही है।

यह पूछे जाने पर कि शोभाराम त्यागी की मृत्यु कब हुई थी? चौधरी साहब ने बताया कि—'उसी रात को लगभग १० बजे। उसकी आयु २३-२४ वर्ष की थी और वह दो लड़कियों और लड़के का पिता था। उस दिन वह एक बारात में गया था और गाड़ी की पहियों के नीचे आकर चल बसा था। इस घटना के चार वर्ष बाद, जसवीर अपनी माँ के साथ उस स्थान से गुजर रहा था, जहाँ शोभाराम की मृत्यु हुई थी। जसवीर ने माँ को बताया था, कि जब मैं शोभाराम था, तब मेरी मृत्यु यहीं हुई थी। इसी प्रकार उसने

एक बार शोभाराम के पुराने मित्र को, जिसे उसने पहले कभी नहीं देखा था, मार्ग में पहचान लिया और उससे अपने (शोभाराम के) घर ले जाने की भी प्रार्थना की। जब उसे शोभाराम के घर ले जाया गया, तो उसने वहाँ रहने वालों को आसानी से पहचान लिया और कहा, 'मैं यहाँ से कभी नहीं जाऊँगा ? आज भी उसे कभी-कभी पूर्वजन्म की स्मृतियाँ आ जाती हैं और वह शोभाराम के घर जाकर अपने मित्रों और रिश्तेदारों से मिल आता है। (नवभारत टाइम्स, विशेषांक १९७६)

बृद्ध योगी का मृतयुवक के शरीर में प्रवेश— सन् १९३७ में ब्रिटेन से 'श्री फेरल' एक उच्च सैनिक अधिकारी के रूप में भारत आये थे, वह भारतीय कमाण्ड के प्रधान सेनापति भी रहे। उन्होंने भारतीय योग विद्या, तन्त्र, मन्त्र आदि का गहन अध्ययन कर अनेक चमत्कारों की अनुभूति की। बाद में ब्रिटेन लौटकर उन्होंने इस प्रकार की घटनाओं का संग्रह किया। परकाया-प्रवेश की यह घटना उनकी ही लेखनी से लिखी गयी है।

"सन् १९३९ के लगभग की यह बात है, जब असम-वर्मा सीमा पर एक फौजी कैम्प में मैं किसी योजना में संलग्न था। हमारा कैम्प एक नदी के तट पर था। एक दिन हम कुछ लोगों के साथ बैठे हुए थे, कि नदी के स्वच्छ व शान्त जल में कोई वस्तु बहती दिखायी दी। उत्सुकतावश टेलिस्कोप से देखा, तो आश्चर्यचकित रह गया। एक नवयुवक का शव बहा जा रहा था तथा एक बूढ़ा दाढ़ीवाला व्यक्ति उस लाश को नदी से बाहर खींचने का प्रयास कर रहा था। मैंने इस दृश्य की ओर अपने साथी आफिसरों का ध्यान आकृष्ट किया। हम सबने दूरबीनों की सहायता से देखा, कि वह बूढ़ा उस लाश को निकाल कर एक पेड़ के पीछे ले गया। हम प्रत्येक क्षण उत्सुक होकर यह दृश्य देख रहे थे। कुछ ही क्षणों के बाद हमारे आश्चर्य का ठिकाना न रहा, जब हमने पेड़ के पास जवान आदमी को चलते देखा।

हम लोगों ने कुछ सैनिकों को बुलाया तथा नदी किनारे जा रहे उस युवक को पकड़ लाने का आदेश दिया। वे उसे पकड़कर ले आये। मैंने उस व्यक्ति से पूछा—'सच-सच बताओ, तुम कौन हो ? मैंने खूब अच्छी तरह से देखा, कि तुम नदी में बहे जा रहे थे तथा दाढ़ी वाला बूढ़ा तुम्हारी लाश को निकालने का प्रयास कर रहा था, अब तुम जिन्दा हो' उस व्यक्ति ने कहा कि वह स्वयं ही बूढ़ा व्यक्ति है, किन्तु शरीर मृतक युवक का है। उसने बताया, कि उसका बृद्ध शरीर वृक्ष के भुरमुट में पड़ा है। उसने कहा कि वह योग साधना से शरीरपरिवर्तन की विधि में निपुण है, चूँकि उसका शरीर अत्यन्त बृद्ध, कृशकाय व रोगी हो गया था, इसलिए उसने इस मृत युवक के सुन्दर व बलिष्ठ

शरीर में प्रवेश कर लिया है। मैंने सैनिकों को उस वृद्ध के निर्जीव शरीर को लाने का आदेश दिया। जब वे दाढ़ी वाले वृद्ध का निर्जीव शरीर को लेकर आये, तो हम सब चकित होकर देखते रह गये। वह योगी कुछ ही देर बाद वहाँ से गायब हो गया। इस घटना ने मुझे भारतीय, योगियों, सिद्धों और तान्त्रिकों पर दृढ़ आस्था रखने को मजबूर कर दिया।” (नवभारत टाइम्स, विशेषांक १९७६)

नास्तिकता विचार—जो लोग वेदों को प्रमाण नहीं मानते और ईश्वर, आत्मा, पुनर्जन्म और मोक्ष को नहीं मानते हैं, उन्हें ‘नास्तिक’^१ कहते हैं एवं उनके विचार को ‘नास्तिकता’^२ कहते हैं। नास्तिकतावादी दर्शन तीन हैं—
(१) चार्वाक (२) जैन और (३) बौद्ध।

चार्वाक—यह केवल प्रत्यक्ष प्रमाण मानते हैं। चार्वाक, पृथिवी, जल, तेज और वायु इन चार भूतों से सृष्टि की उत्पत्ति मानते हैं। ये चैतन्य विशिष्ट शरीर को पुरुष मानते हैं^३। इनका कहना है, कि जिस प्रकार हल्दी और चूने के संयोग से लालिमा या समान घृत तथा मधु के संयोग से विष की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार उक्त चारों भूतों के सम्मिश्रण से शरीर में चेतनता उत्पन्न हो जाती है। ये लोग ईश्वर को नहीं मानते हैं। ये मरण को ही मोक्ष मानते हैं। इनके मत से पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक नहीं है। ये मानते हैं, कि सांसारिक सुख ही स्वर्ग है और दुःख ही नरक है। ‘खाओ पीओ मौज उड़ाओ’ यही इनका सिद्धान्त है^४।

जैनदर्शन—यह न ईश्वर की सत्ता में विश्वास करता है, न वैदिकमत ही मानता है, इसलिए यह नास्तिक दर्शनों की कोटि में गिना जाता है। यह कर्म को जीवन का नैतिक नियम और अहिंसा को मनुष्य का सर्वोत्तम गुण मानता है। यह मोक्ष को ‘निर्वाण’ (जीवन-दीप का बुझ जाना अर्थात् जैसे दीपक बुझ जाने के बाद नष्ट हो जाता है और वह न स्वर्ग में न पाताल में न और कहीं जाता है) के रूप में मानता है।

१. नास्तिको वेदनिन्दकः ॥ नास्ति परलोक इत्येवं मतिर्यस्य स नास्तिकः (पाणि० अष्टा० ४।४।६ ‘अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः’ इति सूत्रेण रूपसिद्धिः)।

२. नास्ति पुनर्भवो, नास्ति कर्मफलं, नास्त्यात्मेति, नास्तिना प्रचरतीति नास्तिकः तस्य भावः नास्तिकता। —च. सूत्र. १।१।६ पर चक्रपाणि

३. चैतन्यविशिष्टः कायः पुरुषः ॥

४. यावज्जीवेत् सुखं जीवेद् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत् ।

भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ॥

बौद्धदर्शन—यह ईश्वर और वेद को नहीं मानता है, इसलिए यह भी नास्तिकदर्शन है। इसके चार सम्प्रदाय हैं, जो 'सत्ता' को अलग-अलग दृष्टिकोण से मानते हैं। जैसे—

- (१) वैभाषिक—बाह्यार्थप्रत्यक्षवाद
- (२) सौत्रान्तिक—बाह्यार्थानुमेयवाद
- (३) योगाचार—विज्ञानवाद
- (४) माध्यमिक—शून्यवाद

'सत्ता' (सत्) विषयक महत्त्वपूर्ण प्रश्न को लेकर ही उक्त श्रेणी विभाजन किया गया है।

व्यवहार के आधार पर ही परमार्थ का निरूपण प्रारम्भ किया जाता है। व्यावहारिक जगत् में बाह्य वस्तु का अपलाप नहीं किया जा सकता, अतः बाह्यार्थ को प्रत्यक्ष रूप से सत्य मानने वाले बौद्धों को 'वैभाषिक' कहते हैं।

दूसरा मत बाह्यार्थ को प्रत्यक्ष सिद्ध न मानकर अनुमेय मानता है, इस मत के अनुयायी 'सौत्रान्तिक' कहलाते हैं। तीसरा मत बाह्य भौतिक जगत् को नितान्त मिथ्या स्वीकार कर 'चित्त' को ही एकमात्र सत्य पदार्थ मानता है। यह मत विज्ञानवादी योगाचार दार्शनिकों का है।

चौथा मत वह है जो 'चित्त' की भी स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानता। इसके अनुसार न बाह्यार्थ है न विज्ञान, प्रत्युत 'शून्य' ही परमार्थ सत्य है। ये शून्याद्वैत के अनुयायी हैं। इनके अनुसार समस्त जगत् की सत्ता 'प्रातिभासिक' है एवं शून्य की सत्ता पारमार्थिक है। ये लोग 'शून्यवादी माध्यमिक' कहलाते हैं। इस प्रकार 'सत्' के ही विषय में विभिन्न कल्पना-चतुष्टय के आधार पर बौद्ध दर्शन के चार भाग किये गये हैं। निम्नलिखित श्लोक में इन चारों मतों का सङ्ग्रह है—

मुख्यो माध्यमिको विवर्तमखिलं शून्यस्य मेने जगत्,
योगाचारमते तु सन्ति मतयस्तासां विवर्तोऽखिलः ।

अर्थोऽस्ति क्षणिकस्त्वसावनुमितो बुद्धयेति सौत्रान्तिकः,
प्रत्यक्षं क्षणभङ्गुरं च सकलं वैभाषिको भाषते ॥

बौद्धमतानुसार संसार दुःखमय है, किन्तु इस दुःख की निवृत्ति 'निर्वाण' अवस्था में सम्भव है।

नास्तिकवादी जीवन और जगत् की समस्याओं को सुलझाने के लिए व्यावहारिक पक्ष पर ज्यादा जोर देते हैं, किन्तु इनका दृष्टिकोण सीमित हैं, जो संसार के प्रपञ्च में हारे थके लोगों के लिए कोई विश्राम का केन्द्र नहीं दे पाता है।

इस प्रकार आस्तिकता और नास्तिकता का विवाद प्राचीन काल से चला आ रहा है और आज भी ये दोनों मत अपने-अपने सिद्धान्त के औचित्य का प्रतिपादन करने में लगे हुए हैं। जहाँ तक आयुर्वेद दर्शन का प्रश्न है, यह एक ऐसा दर्शन है, जो स्वस्थ के स्वास्थ्य की रक्षा और रोगी के रोग को दूर करने का तो उपदेश देता है, साथ ही वह सर्वोच्च सुख तथा पारमार्थिक सर्वोच्च आनन्द की प्राप्ति के लिए आस्तिकता का निम्नान्त सोपान बतलाता है। अतः आयुर्वेदीय दृष्टिकोण असन्दिग्ध रूप से आस्तिकता का पक्षपाती है और आयुर्वेद स्पष्ट शब्दों में नास्तिकता को परम पातक मानता है^१।

विमर्श—आचार्य चरक ने कहा है, कि 'बुद्धिमान् पुरुष को नास्तिक बुद्धि (परलोक, पुनर्जन्म, कर्मफल, ईश्वर और वेद न मानने की भावना) का परित्याग कर देना चाहिए^२। उसे, ईश्वर, पुनर्जन्म, कर्म और कर्मफल आदि के बारे में तनिक भी संशय नहीं रखना चाहिए, क्योंकि प्रत्यक्ष ही सब कुछ नहीं है। प्रत्यक्ष योग्य वस्तुएँ सीमित हैं और अप्रत्यक्ष वस्तुएँ सीमातीत हैं, जिनकी इयत्ता का मापन दुष्कर है। अप्रत्यक्ष वस्तुएँ शास्त्रप्रमाण से, अनुमान और युक्तिप्रमाण से जानी जाती हैं।

दूसरी बात यह है, कि यदि केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण माना जाये, तो इस पक्ष में महान् दोष यह है, कि जिन इन्द्रियों से प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, वे इन्द्रियाँ ही स्वयं अप्रत्यक्ष हैं? तो क्या इन्द्रियों के अस्तित्व की उपेक्षा की जा सकती है? इन्द्रियों के कार्यों को देखकर उनकी सत्ता अनुमान प्रमाण से सिद्ध होती है। अतः यह कहना एकदम गलत होगा, कि प्रत्यक्ष के अलावे और कुछ नहीं है? एक तीसरी बात यह भी है कि प्रत्यक्ष के भी कुछ बाधक कारण

१. न परीक्षा न परीक्ष्यं न कर्ता कारणं न च ।

न देवा नर्षयः सिद्धाः कर्म कर्मफलं न च ॥

नास्तिकस्यास्ति नैवात्मा यदृच्छोपहृतात्मनः ।

पातकेभ्यः परं चैतत् पातकं नास्तिकग्रहः ॥

तस्मान्मति विमुच्येताममार्गप्रसृतां बुधः ।

सतां बुद्धिप्रदीपेन पश्येत् सर्वं यथायथम् ॥

—चरक० सूत्र० ११।१४-१६

२. तत्र बुद्धिमान् नास्तिक्यबुद्धिं जह्यात् विचिकित्सां च । कस्मात् ? प्रत्यक्षं ह्यल्पमनल्पमप्रत्यक्षमस्ति, यदागमानुमानयुक्तिभिरुपलभ्यते, यैरेव तावदिन्द्रियैः प्रत्यक्षमुपलभ्यते, तान्येव सन्ति चाप्रत्यक्षाणि ।

—चरक० सूत्र० ११।७

हैं, जिनके कारण प्रत्यक्ष नहीं हो पाता है उनका वर्णन “प्रत्यक्षदोषाः अति-सामीप्यादयः” शीर्षक में इसी ग्रन्थ में देखें। अतः केवल प्रत्यक्ष को मानना असङ्गत, अविचारित और अपरीक्षित विचार है। अतः अपनी बुद्धि को शास्त्राभ्यास से परिष्कृत कर सज्जनों द्वारा उपदिष्ट, वेदसम्मत, ऋषिप्रणीत आस्तिकवाद का अवलम्बन करना चाहिए। नास्तिकता महान् पातक है, जो उद्वेग, क्षोभ और अशान्ति की ज्वाला भड़काने वाला निन्दनीय अभिशाप है। कभी भी नास्तिकता का आश्रय नहीं अपनाना चाहिए। जीवनधारा के प्रवाह को अवरुद्ध करनेवाली नास्तिकता की अर्गलाओं के फन्दे से अपनी रक्षा करने में रंचमात्र भी असावधानी नहीं बर्तनी चाहिए। आस्तिकबुद्धि से आस्था, श्रद्धा तथा विश्वास का सहारा लेकर जीवनयात्रा को सोद्देश्य व्यतीत करना चाहिए। मानव की एषणाएँ स्वाभाविक हैं (जिनका दिग्दर्शन पिछले पृष्ठों में कराया जा चुका है) उनकी तृप्ति में ही मानव की इतिकर्तव्यता निहित है। जब स्वस्थ सुदीर्घ जीवन को समस्त उपभोग्य धन-सम्पदा और जीवनोपयोगी मूल्यों से सुसम्पन्न बनाने की चेष्टाएँ की जाती हैं, तो जीवन का लक्ष्य प्राणैषणा और धनैषणा तक ही नहीं सीमित होता है अपि तु बुद्धिमान् और आस्तिक मनुष्य हर पद-विन्यास पर ‘लोकयोरुभयोर्हितम्’ की याददास्त बनाये रखते हैं। जो कार्य इस लोक के साथ परलोक के लिए भी हितकर होते हैं ‘प्रेत्य चेह च यच्छ्रेयः’ उन्हीं कार्यों को करना चाहिए, इसी अभिप्राय से आचार्यों ने विस्तार पूर्वक ‘परलोकैषणा’ के पक्ष का समर्थन उन सभी प्रमाणों से किया है, जिन प्रमाणों से प्रमेयों की सिद्धि की जाती है^२। नास्तिकता अनायुर्वेदीय विचार है।

आयुर्वेद में अनेकान्त-विचार

एकान्त का अर्थ होता है, एक निश्चित मत, एक सिद्धान्त, एक पक्ष का समर्थन। जैसे—निशोथ विरेचन करता है। शारीरिक दोष वात, पित्त और कफ से जो रोग होते हैं, उन्हें निज रोग कहा जाता है इत्यादि।

१. सतां च रूपाणामतिसन्निकर्षात्, अतिविप्रकर्षात्, आवरणात्, करण-दौर्बल्यात्, मनोजनवस्थानात्, समानाभिहारात्, अभिभवात्, अतिसौक्ष्म्यात् प्रत्यक्षानुपलब्धिः, तस्मादपरीक्षितमेतदुच्यते—प्रत्यक्षमेवास्ति नान्यदस्तीति।

—चरक० सूत्र० ११।८

२. एवं प्रमाणैश्चतुर्भिरुपदिष्टे पुनर्भवे धर्मद्वारेण्ववधीयेत। तद्यथा—गुरु-सुश्रूषायामध्ययने व्रतचर्यायां.....देहवाङ्मानसे कर्मण्यक्लिष्टे देहेन्द्रियमनो-बुद्ध्यात्मपरीक्षायां मनःसमाधाविति.....तथा कुर्वन्निह चैव यशो लभते प्रेत्य च स्वर्गमिति, इति परलोकैषणा व्याख्याता भवति। —चरक० सूत्र० ११।३३

एकान्त के विपरीत अर्थात् किसी एक सिद्धान्त का निश्चय न करना 'अनेकान्त' है^१। कभी किसी पक्ष को, कभी किसी पक्ष को मानना और किसी एक पक्ष पर दृढ़ नहीं रहना 'अनेकान्त' कहलाता है। जैसे—कभी द्रव्य को प्रधान मानना, कभी रस को प्रधान मानना, कभी वीर्य को प्रधान मानना और कभी गुण को प्रधान मानना। इस प्रकार किसी एक मत का निश्चय न होना 'अनेकान्त' कहलाता है।

सुश्रुत ने द्रव्य-रस-गुण-वीर्य-विपाक की चर्चा में कारणों का उल्लेख करते हुए (१) व्यवस्थितत्व, (२) नित्यत्व, (३) स्वजात्यवस्थानत्व, (४) पञ्चेन्द्रिय-ग्राह्यत्व, (५) आश्रयत्व, (६) आरम्भ सामर्थ्य, (७) शास्त्रप्रामाण्य, (८) क्रमापेक्षितत्व और (९) एकदेशसाध्यत्व होने से द्रव्य^२ को प्रधान मानकर, पुनः शास्त्रप्रामाण्य अनुमान और आर्षवचन के आधार पर रस को प्रधान माना है। इसी प्रकार वीर्य के प्राधान्य को कारण सहित कहकर फिर विपाक के प्राधान्य का विवेचन किया है। इस तरह किसी एक निश्चित मत पर न रहना 'अनेकान्त' कहलाता है।

आचार्य चरक^३ ने भी चतुष्पाद का विवेचन करते हुए कहा है, कि रोगी चतुष्पाद के रहने पर भी मर जाते हैं। यह कोई निश्चित नहीं है, कि गुणवान् चतुष्पाद के रहने पर रोगी को आरोग्य की उपलब्धि हो ही जावे। इस कथन से चिकित्सा करना सफल ही होगा यह असन्दिग्ध नहीं है। एवं गुणवान् चतुष्पाद के रहते हुए यह अनिश्चित है, कि रोगी नीरोग हो जायगा या मर जायगा। आरोग्य या मृत्यु इन दोनों बातों की सम्भावना व्यक्त करने के कारण यह 'अनेकान्त' का सिद्धान्त है, क्योंकि यहाँ पर किसी एक पक्ष का समर्थन न कर दोनों बातें मानी गयी हैं। कालमृत्यु होती है या अकालमृत्यु होती है? इस प्रश्न के उत्तर में भी किसी एक मत को न मानकर काल और अकाल दोनों मृत्युओं को माना गया है, इसलिए यह भी अनेकान्त का ही उदाहरण है^४। इस प्रकार अन्य स्थलों में भी आयुर्वेद अनेकान्त का समर्थक है और वह कहता

१. क्वचित् तथा क्वचिदन्यथेति यः सोऽनेकान्तः। यथा—केचिदाचार्या ब्रुवते द्रव्यं प्रधानं, केचिद्रसं, केचिद्वीर्यं, केचिद्विपाकमिति। —सुश्रुत० उ० ६५।२४

२. केचिदाचार्या ब्रुवते—द्रव्यं प्रधानं, कस्मात्? व्यवस्थितत्वात् इत्यादि। रसास्तु प्रधानं, कस्मात्? आगमात् इत्यादि। —सुश्रुत० सूत्र० ४।३-१०

३. ये ह्यातुराः केवलाद् भेषजादृतेऽपि समुत्तिष्ठन्ते न च ते सर्व एव भेषजोपपन्नाः समुत्तिष्ठेरन्। —चरक० सूत्र० १०।५

४. तस्मादुभयदृष्टत्वादेकान्तग्रहणमसाधु। —चरक० विमान० ३।४२

है, कि चिकित्सक को कभी भी हठ नहीं करना चाहिए, उसे एकान्तग्राही नहीं होना चाहिए। चिकित्सक को अपनी विवेक-बुद्धि के अनुसार जहाँ जैसा आवश्यक हो, वहाँ वैसा करना चाहिए^१।

तद्विद्यसम्भाषा-विचार

(Seminars & Symposia of Experts)

जो जिस विषय का विद्वान् है, उसे उसी विषय के विद्वान् (तद्विद्य) के साथ संभाषा (वाद-विवाद) करनी चाहिए। तद्विद्य शब्द का अर्थ है—‘उस विद्या को जानने वाला’ अर्थात् जो व्यक्ति जिस शास्त्र का ज्ञाता है उसकी भेंट यदि अन्य विद्वान् से हो जावे जो उस शास्त्र का विद्वान् हो, तो उसकी दृष्टि से वह ‘तद्विद्य’ होगा। जैसे—किसी वैद्य के लिए दूसरा वैद्य तद्विद्य होगा और किसी वैयाकरण के लिए दूसरा वैयाकरण तद्विद्य कहलायेगा। जब दो तद्विद्य परस्पर वाद-विवाद करते हैं या शास्त्रार्थ करते हैं, तो उसे ‘तद्विद्यसंभाषा’ कहा जाता है। इस संभाषा से ज्ञान की वृद्धि के साथ जब नये ज्ञान प्रकाश में आते हैं तो आनन्द और संहर्ष का भी अनुभव होता है। यह संभाषा सभाचातुरी भी उत्पन्न करती है। बोलने की शक्ति भी देती है। इससे यश की वृद्धि होती है, सन्देह की निवृत्ति होती है। बार-बार किसी विषय के सुनने से दृढ़ निश्च-यात्मक ज्ञान होता है। कभी-कभी गूढार्थ विषय भी प्रकाश में आ जाते हैं। विजयेच्छु व्यक्ति गोपनीय अर्थों का भी कदाचित् प्रकाशन कर देता है। इससे स्पर्धा बढ़ती है और प्रतिपक्षी को शास्त्रार्थ में पराजित कर देने की प्रवृत्ति का विकास होता है। इन्हीं लाभों को देखकर विद्वज्जन तद्विद्यसंभाषा की प्रशंसा करते हैं; यह शास्त्रज्ञानोपाय है^२। इसी प्रसङ्ग में शास्त्र और व्यवहार-ज्ञानोपयोगी ‘आयुर्वेद’ शास्त्र के मूलभूत आचार-संहिता की चर्चा करना अप्रा-सङ्गिक नहीं होगा ?

आयुर्वेदशास्त्र आयुर्विज्ञान का शास्त्र है। यह अपार और अनन्त है। इस शास्त्र के जिज्ञासु विद्यार्थी को प्रमाद और आलस्य का अन्तिम नमस्कार कर लेना चाहिए। चिकित्साविज्ञान के छात्र को बहुश्रुत होना चाहिए। उसे सतत

१. न चैकान्ते न निर्दिष्टे शास्त्रे निविशते बुधः ।

स्वयमप्यत्र भिषजा तर्कणीयं यथामति ॥

तथा

न च मोहदेकान्तग्राही स्यात् ।

—चरक० विमान० ८।१७

२. तत्रोपायाननुव्याख्यास्यामः—अध्ययनम्, अध्यापनं तद्विद्यसंभाषा चेत्युपायाः ।

—चरक० वि० ८।६

अध्ययनशील और विविध शास्त्रों के ज्ञानार्जन में प्रयत्नशील रहना चाहिए। 'सतताध्ययनं वादः बुद्धि मेधाकरो गुणः' किसी से भी अच्छी बातें सीखने में संकोच नहीं करना चाहिए। आयुर्वेद कहता है, कि बुद्धिमान् व्यक्ति के लिए सारा संसार उसका गुरु है और मूर्ख के लिए सारी दुनियाँ शत्रु है। यदि अपना शत्रु भी कोई ऐसी बात कहता है, जो उत्साहजनक, यश को बढ़ाने वाली, आयु के लिए हितकर, पुष्टिकारक, लोकोपयोगी और लाभप्रद हो, तो उसे भी आदर के साथ सुनना चाहिए और उसके अनुसार आचरण करना चाहिए^१।

गुरु के पास जाकर आराधक और साधक बनकर प्रमादरहित होकर, गुरु की अग्नि की तरह, देवता की तरह, पिता की तरह और स्वामी की तरह सावधान होकर सेवा करे। गुरु की प्रसन्नता से सम्पूर्ण शास्त्र का अध्ययनकर अध्ययन के स्थायित्व के लिए, प्रतिपादन करने की क्षमता के लिए, अर्थ को समझने के लिए, व्याख्यान के द्वारा दूसरों को समझाने के लिए अपनी प्रतिभा को बढ़ावे और ज्ञानवर्धन का भरपूर प्रयास करे^२।

एवञ्च आयुर्वेद के अध्ययन के लिए तल्लीन होकर विषयवस्तु को समझने का प्रयास करे। चिकित्सा सम्बन्धी कार्यों को स्वयं करने का अभ्यास करे। औषधिनिर्माण, कल्पना और प्रयोग का ज्ञान करे। बार-बार व्यावहारिक क्रियाओं को देखे और करे। दक्षता और प्रवीणता के अर्जन में सर्वात्मना लग जावे^३।

शास्त्रज्ञान के साधनों में तद्विद्यसम्भाषा का महत्त्व—तद्विद्यसंभाषा

१. न चैव ह्यस्ति सुतरामायुर्वेदस्य पारम्, तस्मादप्रमत्तः शश्वदभियोग-मस्मिन् गच्छेत्, एतच्च कार्यं, एवंभूयश्च वृत्तसौष्ठवमनसूयता परेभ्योऽप्यागमयितव्यं, कृत्स्नो हि लोको बुद्धिमतामाचार्यः शत्रुश्चाबुद्धिमताम्, अतश्चाभिसमीक्ष्य बुद्धिमताऽमित्रस्यापि धन्यं यशस्यमायुष्यं लौक्यमभ्युपदिशतो वचः श्रोतव्यमनुविधातव्यं चेति।

—चरक० विमान० ८।१४

२. तमुपसृत्यारिराघयिषुरुपचरेदग्निवच्च देववच्च राजवच्च भर्तृवच्चा-प्रमत्तः ततस्तत्प्रसादात् कृत्स्नं शास्त्रमधिगम्य शास्त्रस्य दृढतायामभिधानस्य सौष्ठवेऽर्थस्य विज्ञाने वचनशक्तौ च भूयो भूयः प्रयतेत् सम्यक्।

—चरक० विमान० ८।५

३. तस्माच्छास्त्रेऽर्थविज्ञाने प्रवृत्तौ कर्मदर्शने।

भिषक् चतुष्टये युक्तः प्राणाभिसर उच्यते ॥

हेतौ लिङ्गे प्रशमने रोगाणामपुनर्भवे।

ज्ञानं चतुर्विधं यस्य स राजार्हो भिषक्तमः ॥

—चरक० सूत्र० १।१८-१९

शास्त्रज्ञान के साधनों में अपना विशिष्ट स्थान रखती है। विद्या (ज्ञान) में निखार तब आता है, जब उस विद्या के विशेषज्ञों से उस विषय पर चर्चा की जाती है और उस विद्या के रहस्यों का उद्घाटन होता है। चर्चा चाहे जिज्ञासु भाव से की जाय या विजिगीषु की भावना से की जाय, दोनों ही परिस्थितियों में ज्ञान की वृद्धि होती है। उस विषय के ज्ञान की पूर्णता होती है या स्थायित्व आता है। यदि शास्त्रचर्चा में प्रतिपक्षी को पराजित कर दिया गया, तो यश की वृद्धि होती है। इस प्रकार तद्विद्यसंभाषा ज्ञानसंवर्धन और यशोवर्धन के लिए अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती है।

पतञ्जलिमुनि ने महाभाष्य में कहा है—कि 'चतुर्भिः प्रकारैर्विद्योपयुक्ता भवति—आगमकालेन, स्वाध्यायकालेन, प्रवचनकालेन, व्यवहारकालेन चेति' इसी बात को श्रीहर्ष कवि ने अपने नैषधकाव्य में भी कहा है—'अधीतिबोधाचरणप्रचारणैः दशाश्चतस्रः प्रणयन्नुपाधिभिः'। एवं आचार्य चरक ने जो अध्ययन, अध्यापन और तद्विद्यसंभाषा की शास्त्रज्ञान के उपायों में गणना की है, उनमें तद्विद्यसंभाषा का सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान है^१।

तद्विद्यसंभाषा के दो भेद—तद्विद्यसंभाषा दो प्रकार की होती है।

(१) सन्धायसंभाषा या अनुलोमसंभाषा और (२) विगृह्यसंभाषा^२।

(१) सन्धायसंभाषा—सन्धायसंभाषा उसे कहते हैं, जिस शास्त्रचर्चा में सन्धि से प्रेमपूर्वक, सौमनस्य, आदर, श्रद्धा और विश्वास के साथ दोनों पक्षों में वार्तालाप किया जाता है। इस प्रकार की सभा में समुचित ढंग से विचार-विमर्श करके यथार्थ का निर्णय किया जाता है।

जो व्यक्ति शास्त्र और व्यावहारिक ज्ञान में निपुण हों, प्रश्न और उत्तर करने में सक्षम हों, क्रोधरहित, शास्त्राभ्यासी, असूया (गुणों में दोष निकालने) से हीन, प्रियभाषी, सहिष्णु, अनुभवजन्यज्ञानसम्पन्न, अनुनेय और स्वयं अनुनय करने में दक्ष हों, ऐसे लोगों से 'सन्धायसंभाषा' करनी चाहिए। उनसे

१. भिषक् भिषजा सह संभाषेत । तद्विद्यसंभाषा हि ज्ञानाभियोगसंहर्षकरी भवति, वैशारद्यमपि चाभि निर्वर्तयति, वचनशक्तिमपि चाधत्ते, यशश्चाभिदीपयति, पूर्वश्रुते च संदेहवतः पुनः श्रवणात् श्रुतसंशयमपकर्षति, श्रुते चासंदेहवतो भूयोऽध्यवसायमभिवर्तयति, अश्रुतमपि कञ्चिदर्थं श्रोत्रविषयमापादयति । यच्चाचार्यः शिष्याय शुश्रूषवे प्रसन्नः क्रमेणोपदिशति, गुह्याभिमतमर्थजातं तत् परस्परण सह जल्पन् पिण्डेन विजिगीषुराह संहर्षति, तस्मात् तद्विद्यसंभाषामभिप्रशंसन्ति कुशलाः ।

—चरक० विमान० ८।१५

२. द्विविधा तु खलु तद्विद्यसंभाषा भवति—सन्धायसंभाषा विगृह्यसंभाषा च ।

—चरक० वि० ८।१६

विश्वासपूर्वक कहना और पूछना चाहिए। यदि वे कुछ पूछें, तो उन्हें भली प्रकार स्पष्ट उत्तर देना चाहिए। किसी विषय के शास्त्रार्थ में अपने निग्रह (पकड़ जाने) के भय से घबड़ाना नहीं चाहिए और यदि वे किसी बात में पकड़ में आ जाय, तो हँसना नहीं चाहिए, न दूसरों से इसकी चर्चा करनी चाहिए। अज्ञात विषय को नहीं कहना चाहिए, दुराग्रह न करें, अपितु विनम्रतापूर्वक प्रार्थना कर उन्हें सन्तुष्ट रखें, असावधान न रहे। सन्धाय का अर्थ है—सन्धि के साथ (मेल-जोल के साथ) और संभाषा का अर्थ है—विचार-विमर्श वार्तालाप करना। एवं 'सन्धायसंभाषा' परस्पर आदर-सम्मान पूर्वक शास्त्रचर्चा है, जिसका प्रयोजन है—वास्तविकता का विश्लेषण और तत्त्वज्ञासा की शान्ति, उसका समाधान।

(२) विगृह्यसंभाषा—विगृह्य यानी भगड़ा करके और संभाषा अर्थात् शास्त्रार्थ। इस प्रकार विगृह्यसंभाषा में प्रतिपक्षी का कोई आदर-सम्मान नहीं किया जाता है, अपितु जल्प और वितण्डा का सहारा लेकर वाद-विवाद किया जाता है तथा उचित-अनुचित उपायों द्वारा विपक्षी को परास्त किया जाता है। विवाद करने वाला विद्वान् हो या अल्पज्ञ, इसका कोई लिहाज न करके किसी भी प्रकार से उसे हराने की चेष्टा की जाती है। वाद-विवाद की इस प्रक्रिया को 'विगृह्यसंभाषा'^२ कहते हैं।

जो व्यक्ति सन्धायसंभाषा के योग्य नहीं है, उनसे वाद-विवाद का अवसर

१. तत्र ज्ञानविज्ञान-वचन-प्रतिवचन-शक्तिसम्पन्नेन, अकोपनेन, अनुपस्कृत-विघ्नेन, अनसूयकेन, अनुनेयेन, अनुनयकोविदेन, क्लेशक्षमेण प्रियसम्भाषणेन च सह सन्धायसंभाषा विधीयते। तथाविघ्नेन सह कथंयन् विस्त्रब्धः कथयेत्, पृच्छेदपि विस्त्रब्धः, पृच्छते चास्मै विस्त्रब्धाय विस्त्रब्धमर्थं ब्रूयात्, न च निग्रहभयादुद्विजेत, निगृह्य चैनं न हृष्येत, न च परेषु विकत्येत, न च मोहादेकान्तग्राही स्यात्, न चाविदितमर्थमनुवर्णयेत्, सम्यक् च अनुनयेन अनुनयेत्, तत्र चावहितः स्यादित्यनुलोमसंभाषा विधिः।

—चरक० वि० ८।१७

२. तत्र प्रतिनिविष्टायां परिषदि.....तद्विघ्नेन सह कथयता आविद्धदीर्घसूत्रसङ्कुलैर्वाक्यदण्डकैः कथयितव्यम्। अतिहृष्टं मुहुर्मुहुरपहसतां परं निरूपयता च पर्षदमाकारैर्ब्रुवतश्चास्य वाक्यावकाशो न देयः। कष्टशब्दं च ब्रुवता वक्तव्यो नोच्यते, अथवा पुनर्हीना ते प्रतिज्ञा इति। पुनश्चाहूयमानः प्रतिवक्तव्यः—परिसंवत्सरो भवान् ? शिक्षस्व तावत्, न त्वया गुरुपासितो नूनम् अथवा पर्याप्तमेतावत्ते, सकृदपि च परिक्षेपिकं निहतं निहतमाहुरिति नास्य योगः कर्तव्यः कथञ्चित्, न त्वेवं ज्यायसा सह विग्रहं प्रशंसन्ति कुशलाः।

—चरक० विमान० ८।२०

मिलने पर विजयश्री पाने की लालसा से शास्त्रार्थ करना चाहिए। दृढ़तापूर्वक प्रभावकारी ढंग से अपनी बात कहनी चाहिए। प्रतिपक्षी के गुण-दोष की अपने गुण-दोष से तुलना करे, फिर लच्छेदार क्लिष्ट वाक्यों का प्रयोग करे। प्रतिपक्षी कुछ भी कहे, तो हंसते हुए उसकी बात का खण्डन करे और कहे, कि आप असम्बद्ध बोल रहे हैं, यह सरासर गलत है? आपने समुचित रूप से गुरु की उपासना नहीं की है? अभी साल दो साल और अध्ययन कीजिए। तब फिर आप शास्त्रार्थ कीजिएगा? इत्यादि वाक्यों का प्रयोग कर प्रतिपक्षी को पराजित करे।

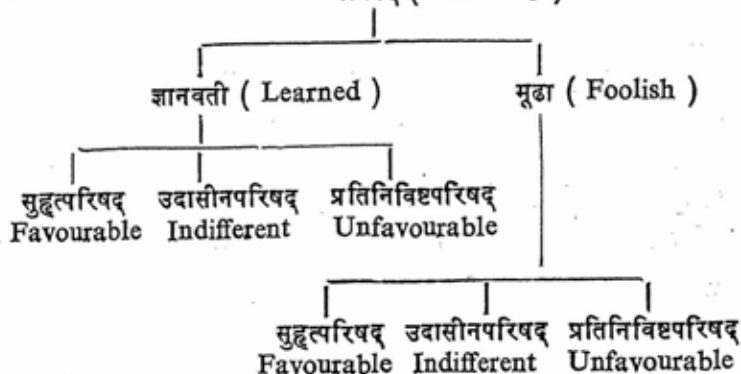
इस प्रकार विजयेच्छु होकर अपने प्रतिद्वन्दी को हराने के लिए जो संभाषा की जाती है, उसे 'विगृह्यसंभाषा' कहते हैं।

परिषद् के भेद

(Types of Assembly)

परिषद् दो प्रकार की होती है—(१) ज्ञानवती (विद्वानों की) परिषद् (२) मूढ़परिषद् (मूर्खों की परिषद्)। पुनः इनके तीन भेद होते हैं। (१) मित्रपरिषद् (२) उदासीनपरिषद् और (३) प्रतिनिविष्ट (शत्रु) परिषद्। इस प्रकार ६ परिषदें होती हैं—(१) ज्ञानवती सुहृत्परिषद्, (२) ज्ञानवती उदासीनपरिषद्, (३) ज्ञानवती प्रतिनिविष्टपरिषद्, (४) मूढ़ सुहृत्परिषद्, (५) मूढ़ उदासीनपरिषद्, (६) मूढ़ प्रतिनिविष्टपरिषद्। इनमें जिस परिषद् के सदस्य मित्र होंगे वह सुहृत्परिषद्, जिसके सदस्य न मित्र न शत्रु होंगे वह उदासीनपरिषद् और जिस परिषद् के सदस्य शत्रु होंगे वह प्रतिनिविष्टपरिषद् कहलायेगी। यदि परिषद् के सदस्य ज्ञानवान् होंगे तो ज्ञानवती परिषद् और यदि सदस्य मूर्ख होंगे तो वह मूढ़-परिषद् कहलायेगी। नीचे के चार्ट में परिषदों का संग्रह किया गया है—

परिषद् (Assembly)



‘विगृह्यसंभाषा’ में प्रतिपक्ष पर किसी भी तरह विजय प्राप्त करने की प्रबल आकाङ्क्षा रहती है और प्रतिपक्षी की सही बात भी नहीं मानी जाती है। इसी अभिप्राय से किसी ने कहा है—

न श्रोतव्यं न मन्तव्यं वक्तव्यं तु पुनः पुनः ।

तारस्वरेण वक्तव्यं सभायां विजयी भवेत् ॥

आचार्य चरक ने अपने से बड़े विद्वान् के साथ विगृह्यसंभाषा का निषेध किया है—‘न त्वेवं ज्यायसा सह विग्रहं प्रशंसन्ति कुशलाः’ (च० वि० ८।२०) ।

अपने से दुर्बल अर्थात् अल्पज्ञ को पराजित करने के लिए निम्नलिखित उपायों का अवलम्बन करना चाहिए ।^१

(१) यदि विपक्षी शास्त्रज्ञानहीन हो तो उसके सामने लम्बे-लम्बे सूत्रों को बोले, जिसे वह न समझ सके और परास्त हो जाय ।

(२) यदि अल्पज्ञ हो तो उसे दुर्बोध शब्दों के प्रयोग से पराजित करें ।

(३) वाक्यधारणहीन हो तो बड़े-बड़े वाक्यों के प्रयोग से उसे पराजित करें ।

(४) यदि प्रतिभाहीन हो तो उसे अनेकार्थक शब्दों के प्रयोग से पराजित करें ।

(५) यदि वचनशक्तिहीन हो तो ऐसे आधे वाक्य का प्रयोग करें जिसमें बिना दूसरे शब्द का आक्षेप किये वाक्यार्थ का पूरा ज्ञान न हो । जैसे—‘यह रोग संशोधन साध्य है ।’ इस कथन में जब तक यह ज्ञान न हो, कि वमन साध्य है या विरेचन साध्य है तब तक पूरा वाक्यार्थ बोध नहीं होगा ।

(६) यदि वह सभा में बोलने में निपुण नहीं है, तो उसे यह कह कर लज्जित करना चाहिए कि ‘तुम्हें तो सभा में बोलने का भी ढंग नहीं मालूम है ?’ तुम्हें यह भी पता नहीं है, कि सभा में कैसे शब्दों का प्रयोग करना चाहिए ।

(७) यदि क्रोधी स्वभाव का हो, तो सहसा क्रोध उत्पन्न करने वाले शब्दों का प्रयोग करना चाहिए ।

(८) यदि वह भीरु (डरपोक) हो, तो उसे डराना घमकाना चाहिए ।

१. श्रुतहीनं महता सूत्रपाठेनाभिभवेत्, विज्ञानहीनं पुनः कष्टशब्देन वाक्येन, वाक्यधारणाहीनमावद्धदीर्घसूत्रसङ्कुलैर्वाक्यदण्डकैः प्रतिभाहीनं पुनर्वचनेनैकविधेनानेकार्थवाचिना, वचनशक्तिहीनमर्थोक्तस्य वाक्यस्याक्षेपेण, अविशारदमपत्रपणेन, कोपनमायासनेन, भीरुं वित्रासनेन, अनवहितं नियम-नेनेति । एवमेतैरुपायैः परमवरमभिभवेच्छीघ्रम् । —च० वि० ८।२१

(९) यदि वह नियमों से अनभिज्ञ है, तो उससे कहना चाहिए, कि यदि नियमों से विपरीत चलोगे, तो पराजित हो जाओगे ।

उक्त उपायों द्वारा दुर्बल प्रतिपक्षी को पराजित करना चाहिए ।

बाद में सफलता प्राप्त करने के लिए सभासदों को पहले से ही अनुकूल रखना चाहिए। समासदों को अपने पक्ष में करके अपने बार-बार अभ्यास किये हुए विषय को अथवा जो विषय प्रतिपक्षी के लिए अत्यन्त कठिन हो, वही विषय शास्त्रार्थ के लिए सदस्यों द्वारा रखवावे अथवा ऐसा कोई उपाय रचे, कि सारी सभा विपक्षी के प्रतिकूल हो जावे । सभा के जब सारे सदस्य अपने अनुकूल हो जायें, तो कहे, कि किस विषय पर शास्त्रार्थ होगा ? यह मैं नहीं कह सकता ? यही सभा अपनी इच्छा के अनुसार उपयोगिता और रुचि को देखते हुए शास्त्रार्थ के विषय का निर्धारण करेगी । शास्त्रार्थ के क्या नियम होंगे ? किन-किन नियमों का पालन करना आवश्यक होगा, यह सब कुछ विचार और निर्णय परिषद् ही करेगी ? यह कह कर चुप हो जावे ।

बाद-विवाद प्रारम्भ होने पर उसमें—‘यह कहना चाहिए कि इस तरह की बात अनुचित है, जो आप कह रहे हैं वह एकदम गलत है, कथमपि ऐसा नहीं हो सकता ?’ इत्यादि बातें प्रतिपक्षी से कहनी चाहिए, इस प्रकार कहने से वह पराजित हो जाता है^२ ।

शास्त्रार्थ के उपयोगी ४४ पद—शास्त्रार्थ में विजय प्राप्त करने के लिए चौवालीस वादमार्गों का ज्ञान बहुत उपयोगी है । इन वादमार्गों का ज्ञान आवश्यक है, क्योंकि समय-समय पर इनका प्रयोग करने से शास्त्रार्थ में सफलता मिलती है । ४४ वादमार्ग निम्नलिखित हैं—जैसे—(१) वाद, (२) द्रव्य, (३) गुण, (४) कर्म, (५) सामान्य, (६) विशेष, (७) समवाय, (८) प्रतिज्ञा, (९) स्थापना, (१०) प्रतिष्ठापना, (११) हेतु (१२) दृष्टान्त, (१३) उपनय, (१४) निगमन, (१५) उत्तर, (१६) सिद्धान्त, (१७) शब्द, (१८) प्रत्यक्ष, (१९) अनुमान, (२०)

१. प्रागेव तावदिदं कतुं यतेत—सन्धाय परिषदाज्यनभूतमात्मनः प्रकरण-मादेशयितव्यं, यद्वा यत् परस्य भृशदुर्गं स्यात्, पक्षमथवा परस्य भृशं विमुख-मानयेत् । परिषदि चोपसंहितायाम् अशक्यमस्माभिर्वक्तुम्, एषैव परिषद् यथेष्टं यथायोग्यं यथाभिप्रायं वादं वादमर्यादां च स्थापयिष्यति इति उक्त्वा तूष्णीमासीत् ।

—च० वि० ८।२५

२. तत्रेदं वादमर्यादालक्षणं भवति—इदं वाच्यमिदमवाच्यं, एवं पराजितो भवतीति ।

—चरक वि० ८।२६

ऐतिह्य, (२१) औपम्य, (२२) संशय, (२३) प्रयोजन, (२४) सव्य-
भिचार, (२५) जिज्ञासा, (२६) व्यवसाय, (२७) अर्थप्राप्ति, (२८)
सम्भव, (२९) अनुयोज्य, (३०) अननुयोज्य, (३१) अनुयोग, (३२)
प्रत्यनुयोग, (३३) वाक्यदोष, (३४) वाक्य प्रशंसा, (३५) छल, (३६)
अहेतु, (३७) अतीतकाल, (३८) उपलम्भ, (३९) परिहार, (४०)
प्रतिज्ञाहानि, (४१) अभ्यनुज्ञा, (४२) हेत्वन्तर, (४३) अर्थान्तर
(४४) निग्रहस्यान^१ ।

(इनकी विशेष व्याख्या चरकसंहिता के विमानस्थान अध्याय ८ में देखें)।

वाद के स्थल और प्रयोजन^२

वैद्यों को वाद-विवाद का आरम्भ करना हो तो, उन्हें आयुर्वेदशास्त्र में
ही शास्त्रार्थ करना चाहिये, क्योंकि आयुर्वेद के सभी विषयों में वाक्य एवं
प्रतिवाक्य के विस्तार को सम्पूर्ण युक्तियों के साथ कहा गया है। उन सभी
युक्तियों को ठीक से सोच-समझकर वाक्यों का प्रयोग करना चाहिए। अस्वा-
भाविक, अशास्त्रीय, बिना परीक्षा किये हुए, अयुक्तियुक्त, निरर्थक तथा
व्याकुल कर देने वाले, वाक्य का प्रयोग नहीं करना चाहिए। जो कुछ भी
बोले, वह युक्तियुक्त हो, तर्कसङ्गत और सकारण हो, क्योंकि चिकित्साशास्त्र
में हेतु, युक्ति और तर्क का बड़ा महत्व है^३। हेतुयुक्त वाद-विवाद में दोष नहीं

१. इमानि तु खलु पदानि भिषग्वादमार्गज्ञानार्थम् अधिगम्यानि भवन्ति,
तद्यथा—वादः, द्रव्यम्, गुणम्, कर्म, सामान्यम्, विशेषः, समवायः, प्रतिज्ञा,
स्थापना, प्रतिष्ठापना, हेतुः, दृष्टान्तः, उपनयः, निगमनम्, उत्तरम्, सिद्धान्तः,
शब्दः, प्रत्यक्षम्, अनुमानम्, ऐतिह्यम्, औपम्यं, संशयः, प्रयोजनम्, सव्यभिचारं,
जिज्ञासा, व्यवसायः, अर्थप्राप्तिः, सम्भवः, अनुयोज्यम्, अननुयोज्यम्, अनुयोगः,
प्रत्यनुयोगः, वाक्यदोषः, वाक्यप्रशंसा, छलम्, अहेतुः, अतीतकालम्,
उपलम्भः, परिहारः, प्रतिज्ञाहानिः, अभ्यनुज्ञा, हेत्वन्तरम्, अर्थान्तरम्,
निग्रहस्यानमिति ।
—चरक० वि० ८।२७

२. वादस्तु खलु भिषजां प्रवर्तमानो प्रवर्ततायुर्वेद एव नान्यत्र । अत्र हि
वाक्यप्रतिवाक्यविस्तारः केवलाश्चोपपत्तयः सर्वाधिकरणेषु । ताः सर्वाः सम-
वेक्ष्यावेक्ष्य सर्वं वाक्यं ब्रूयात्, नाप्राकृतकमशास्त्रमपरीक्षितमसाधकमाकुलम-
व्यापकं वा । सर्वं च हेतुमद ब्रूयात् । हेतुमन्तो ह्यकलुषाः सर्व एव वादविग्रहा-
श्रिकित्सते कारणभूताः प्रशस्तबुद्धिवर्धकत्वात् सर्वारम्भसिद्धिं ह्यावहत्यनुपहता
बुद्धिः ।
—च० वि० ८।६७

३. स्मृतिमान् हेतुयुक्तिज्ञो जितात्मा प्रतिपत्तिमान् ।

भिषगौघसंयोगैश्चिकित्सां

कर्तुमर्हति ॥ —चरक० सू० २।३६

होता है और वह चिकित्साशास्त्र की दृष्टि से बहुत उपयोगी होता है। चिकित्सा में निदान ही मूल है, जब तक रोग के कारण को नहीं समझा जायेगा, तब तक उसकी समुचित चिकित्सा नहीं की जा सकती? कारण के अन्वेषण में बुद्धि का विकास होता है और विकसित शुद्ध बुद्धि सभी कार्यों की सिद्धि कराने वाली होती है।

वाद-जल्प-वितण्डाविचार^१

वाद—प्रतिद्वन्दी के साथ शास्त्र के अनुसार अपने-अपने पक्ष का समर्थन करते हुए विजय पाने की इच्छा से जो 'विग्रहसंभाषा' के रूप में वाद-विवाद या शास्त्रार्थ किया जाता है, उसे 'वाद' कहते हैं। यह वाद संक्षेप में दो तरह का होता है—

(१) जल्प और (२) वितण्डा।

जल्प—प्रतिद्वन्दी के मत को दूषित करते हुए अपने पक्ष का युक्तिपुक्त ढंग से प्रतिपादन करना 'जल्प' कहलाता है। जैसे—एक व्यक्ति का पक्ष है कि 'पुनर्जन्म होता है' और दूसरे का पक्ष है कि 'पुनर्जन्म नहीं होता है'। यदि ये दोनों व्यक्ति प्रमाण एवं युक्तियों के द्वारा अपने-अपने पक्ष को पुष्ट करते हैं और दूसरे के पक्ष को दोषयुक्त बतलाते हैं, तो इसे 'जल्प' कहते हैं।

वितण्डा—प्रतिद्वन्दी के मत में दोषों का दिखलाना और अपने मत को पुष्ट करने के लिए कोई प्रमाण नहीं देना, यह 'वितण्डा' है। ऐसे व्यक्ति लम्बी चौड़ी बात तो करते हैं, किन्तु उनमें यह योग्यता नहीं होती कि अपने पक्ष को युक्तिपूर्वक उपस्थापित कर सकें, इसलिए वे अपने प्रतिपक्षी का ही छिद्रान्वेषण करते रहते हैं। जल्प के विपरीत वितण्डा है।

निग्रहस्थान^२

निग्रह का अर्थ है—किसी दोष का आरोप कर पराजित किया जाना और

१. तत्र वादो नाम सः, यत् परः परेण सह शास्त्रपूर्वकं विग्रह्य कथयति। स वादो द्विविधः संग्रहेण, जल्पो वितण्डा च। तत्र पक्षाश्रितयोर्वचनं जल्पः जल्पविपर्ययो वितण्डा। यथा—एकस्य पक्षः पुनर्भवोऽस्तीति, नास्तीत्यपरस्य। तौ च हेतुभिः स्वस्वपक्षं स्थापयतः परपक्षमुद्धावयतः, एष जल्पः। जल्प-विपर्ययो वितण्डा। वितण्डा नाम परपक्षे दोषवचनमात्रमेव।

—चरक० विमान० ८।२८

२. निग्रहस्थानं नाम पराजयप्राप्तिः। तच्च त्रिभिरभिहितस्य वाक्यस्या-परिज्ञानं परिषदि विज्ञानवत्त्वां, यद्वा अननुयोज्यस्यानुयोगोऽनुयोज्यस्य चाननु-

स्थान का अर्थ है—कारण, इस प्रकार निग्रहस्थान का अर्थ होता है—पराजय का कारण ।

यदि विद्वानों की सभा में एक पक्ष ने किसी विषय को तीन बार कहा और उस विषय को सभी सभासदों ने समझ लिया, किन्तु प्रतिवादी ने नहीं समझा, तो प्रतिवादी का उस विषय को न समझना उसके पराजय का कारण होता है ।

पराजय के दो प्रकार^१—विप्रतिपत्ति और अप्रतिपत्ति भेद से पराजय दो प्रकार का होता है ।

(१) **विप्रतिपत्ति**—सभा में जब किसी विषय की चर्चा चल रही हो तो उस विषय की अनभिज्ञता के कारण प्रारम्भ में ही चुप हो जाना 'विप्रतिपत्ति' कहलाता है ।

(२) **अप्रतिपत्ति**—विषय चर्चा के प्रसङ्ग में प्रतिज्ञाहानि आदि दोषों के प्रदर्शन करने पर उन दोषों का निराकरण न कर पाना, यह 'अप्रतिपत्ति' कहा जाता है । ये दोनों निग्रहस्थान हैं^२ ।

आयुर्वेद में कारणान्तर-विचार

आयुर्वेद शास्त्र में न्याय, सांख्य आदि दर्शनों से भिन्न 'निदान' के अर्थ में कारण शब्द का प्रयोग मुख्य रूप से किया गया है । निदानार्थक कारण शब्द के पर्यायों में 'निमित्त, हेतु, आयतन, कर्ता, कारण, प्रत्यय, समुत्थान' शब्दों का प्रयोग किया है^३ ।

योगः । प्रतिज्ञाहानिरभ्यनुज्ञाकालातीतवचनमहेतवो न्यूनमतिरिक्तं व्यर्थमपार्थक्यं पुनरुक्तं विरुद्धं हेत्वन्तरमर्थान्तरं च निग्रहस्थानम् ।

—चरक० विमान० ८।६५

१. विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम् ।

—न्यायदर्शन ५।२।७

२. प्रतिज्ञाहानिः, प्रतिज्ञान्तरम्, प्रतिज्ञाविरोधः, प्रतिज्ञासंन्यासो हेत्वन्तरमर्थान्तरं निरर्थकमवितार्थमपार्थक्यमप्राप्तकालं न्यूनमधिकं पुनरुक्तमननुभाषणमज्ञानमप्रतिभा विक्षेपो मतानुज्ञा पर्यनुयोज्योपेक्षण निरनुयोज्यानुयोगोऽपसिद्धान्तो हेत्वाभासाश्च निग्रहस्थानानि ।

—न्यायदर्शन ५।२।१

३. इह खलु हेतुनिमित्तमायतनं कर्ता करणं प्रत्ययः समुत्थानं निदानमित्यनर्थान्तरम् ।

—चरक. निदान. १।३

निमित्तहेत्वायतनप्रत्ययोत्थानकारणैः । निदानमाहुः । —माधवनिदान

कारण—रोगोत्पादक हेतु को 'निदान' (कारण) कहते हैं, व्याधिजनक 'निदान' कारण शब्द का वाच्यार्थ है^१ ।

भेद—रोगों को उत्पन्न करने वाले कारणों के मोटे तौर पर तीन भेद बतलाये गये हैं—(१) असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग (२) प्रज्ञापराध और (३) परिणाम^२ ।

(१) **असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग**—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध के भेद से पाँच प्रकार का असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग होता है, पुनः उसके अयोग, अतियोग और मिथ्यायोग भेद से तीन विकल्प होते हैं और पाँचों इन्द्रियार्थों के तीन-तीन भेद होने से यह पन्द्रह प्रकार का होता है^३ ।

(२) **प्रज्ञापराध**^४—बुद्धिविभ्रष्ट, धृतिविभ्रष्ट और स्मृतिविभ्रष्ट के भेद से प्रज्ञापराध तीन प्रकार का होते हुए भी अपरिसंख्येय प्रकार का होता है । कायिक, वाचिक और मानसिक भेद से तीन प्रकार के कर्म होते हैं और तीनों कर्मों के अयोग अतियोग और मिथ्यायोग होने से नौ भेद होते हैं किन्तु इनकी संख्या अनगिनत हो सकती है ।

(३) **परिणाम**^५—परिणाम का अर्थ काल परिणाम से है । काल शीत, वर्षा और गर्मी के भेद से तीन प्रकार का होता है और तीनों के अयोग, अतियोग और मिथ्यायोग के भेद से तीन-तीन भेद होते हैं ।

१. निदानं कारणमिहोच्यते, तच्चेह—व्याधिजनकं व्याधिबोधकं च सामान्ये नोच्यते । तत्र व्याधिजनकं निदानं=हेतुः, व्याधिबोधकं च कारणं=निदानपूर्व-रूपरूपोपशयसम्प्राप्तिरूपम् । तत्र हेतुरूपं निदानं जनकं च भवति, व्याधिबोधकं च भवति । —चरक. निदान. १।३ पर चक्रपाणि टीका

२. इत्यसात्म्येन्द्रियार्थसंयोगः प्रज्ञापराधः परिणामश्चेति त्रयस्त्रिविध-विकल्पा हेतवो विकाराणाम् । —चरक. सू. ११।४३

३. सोऽयमनुपशयात्पञ्चविधस्त्रिविध विकल्पो भवत्यसात्म्येन्द्रियार्थसंयोगः; सात्म्यार्थो ह्युपशयार्थः । —चरक. सूत्र. ११।३८

४. धीधृतिस्मृतिविभ्रष्टः कर्म यत्कुरुतेऽणुभम् ।

प्रज्ञापराधं तं विद्यात्सर्वदोषप्रकोपणम् ।

बुद्ध्या विषमविज्ञानं विषमं च प्रवर्तनम् ।

प्रज्ञापराधं जानीयान्मनसो गोचरं हि तत् ॥

—चरक. शारीर. १।१०२, १०९

५. शीतोष्णवर्षलक्षणाः पुनर्हेमन्तग्रीष्मवर्षाः—संवत्सरः स कालः.....

कालः पुनः परिणाम उच्यते ।

—च. सू. ११।४२

प्रकारान्तर से कारण के भेद

(१) सन्निकृष्ट (२) विप्रकृष्ट (३) व्यभिचारी और (४) प्राधानिक भेद से कारणों के चार भेद होते हैं^१ ।

(१) व्याधिहेतु (२) दोषहेतु और (३) व्याधि-दोष-उभयहेतु भेद से कारण तीन प्रकार के होते हैं^२ ।

(१) उत्पादक और (२) व्यञ्जक भेद से कारण दो प्रकार के होते हैं^३ ।

(१) बाह्य और (२) आभ्यन्तर भेद से कारण दो प्रकार का होता है^४ ।

इसी प्रकार प्राकृत और वैकृत भेद से अनेक प्रकार^५, अनुबन्ध और अनुबन्ध्य भेद से दो प्रकार के कारण होते हैं^६ । एवं प्रकृतिविकृति,^७

१. 'सन्निकृष्ट-विप्रकृष्ट-व्यभिचारि-प्राधानिकभेदाच्चतुर्धा' । सन्निकृष्टो ज्वरस्य, रूक्षादिसेवा, विप्रकृष्टो रुद्रकोपः, व्यभिचारी यथा—यो दुर्बलत्वाद्बन्ध-धिकरणासमर्थः, प्राधानिको यथा—विषादिः । —मा. नि. नि. मधु०

२. 'दोषव्याध्युभयहेतुभेदाच्च स त्रिविधः १' दोषहेतवो यथा—चयप्रकोप-प्रशमनिमिता यथर्तृत्पन्ना मधुरादयः, व्याधिहेतवो यथा—मृदूक्षणं पाण्डुरोगस्य कारणम्, उभयहेतुर्यथा, वातरक्ते, हस्त्यश्वोष्टैर्गच्छतश्चाशतश्च इत्यादि ।

—मा० नि० नि० मधु०

३. 'स एवोत्पादकव्यञ्जकभेदाच्च द्विधा ।' तत्रोत्पादको यथा—हेमन्तजो मधुरसः कफस्य, व्यञ्जको यथा—तस्यैव कफस्य व्यञ्जको वसन्ते सूर्यसन्तापः ।

—मा. नि. नि. मधु

४. 'बाह्याभ्यन्तरभेदाच्च द्विधा ।' तत्र बाह्या आहाराचारकालादयः, आभ्यन्तरा यथा—दोषा दूष्याश्च ।

—मा. नि. नि. मधु.

५. 'प्राकृतादिभेदादनेकधा ।' प्राकृतो यथा—वसन्ते श्लेष्मा, शरदि पित्तं प्रावृषि वायुः । वैकृतस्तु यथा—वसन्ते पित्तं वायुर्वा, वर्षासु कफः पित्तं वा, शरदि कफो वायुर्वा ।

—मा. नि. नि. मधु

६. 'अनुबन्ध्यानुबन्धभेदाच्च द्विधा ।' अनुबन्ध्यः प्रधानं, अनुबन्धोऽप्रधानम् । 'स्वतन्त्रो व्यक्तलिङ्गो यथोक्तसमुत्थानप्रशमो भवत्यनुबन्ध्यः, तद्विपरीतलक्षण-स्त्वनुबन्धः (चरक. चि. ६) ।'

—मा० नि० नि० मधु०

७. प्रकृतिविकृतितो यथा—वातप्रकृतेर्वारि रोगः कष्टसाध्यो भवति, कफ-पित्तप्रकृतेस्तु सुखसाध्यः ।

—मा. नि. नि. मधु.

आशयापकर्ष^१ और दोषों के गतिभेद^२ से कारण (निदान) के भेद बतलाये गये हैं ।

स्वभावोपरमवाद

(Theory of Natural Destruction)

बिना किसी कारण के, पदार्थों का अपने आप, स्वभावतः विनाश होता रहता है । यह जो पदार्थों के स्वतःविनाश की प्रक्रिया है, इसे 'स्वभावोपरम' कहते हैं । स्वभाव और उपरम इन दो शब्दों के योग से यह शब्द बना है । इस लिए इन दोनों शब्दों का अर्थ जाने बिना 'संयुक्त' का अर्थज्ञान नहीं हो सकता । अतः इनका अलग-अलग अर्थ किया जा रहा है ।

स्वभाव का अर्थ है—प्रकृति, निसर्ग और आदत । जैसे—उन-उन पदार्थों का असाधारण कार्य करना, यथा—अग्नि का दाहकत्व तथा जल का नीचे की ओर बहना आदि । एवं आहार द्रव्य और औषध द्रव्यों में गुरु लघु आदि बीस गुण स्वभावतः होते हैं । इसी प्रकार काँटों में तीक्ष्णता, गन्ने में माधुर्य, मरिच में कटुता और पक्षियों में तरह-तरह के वर्ण, स्वभाव से अपने आप ही हैं^३ ।

१. आशयापकर्षतो यथा—यदा स्वमानस्थमेव दोषं स्वाशयादपकृष्य वायुः स्थानान्तरं गमयति, तदा समानस्थोऽपि स विकारं जनयति । यथा चरके—

प्रकृतिस्थं यदा पित्तं मारुतः श्लेष्मणः क्षये ।

स्थानादादाय गात्रेषु यत्र यत्र विसर्पति ॥

तदा भेदश्च दाहश्च तत्र तत्रानवस्थितः ।

गात्रदेशे भवत्यस्य श्रमो दीर्घकालमेव च ॥ (च. सू. १७)

—मा० नि० नि० मधु०

२. गतितो यथा—दोषाणां क्षीण वृद्धत्वादयः गतिः ।

क्षयः स्थानं च वृद्धिश्च दोषाणां त्रिविधा गतिः ।

ऊर्ध्वं चाधश्च तिर्यक् च विज्ञेया त्रिविधाऽपरा ॥

त्रिविधा चापरा कोष्ठशास्त्रामर्मास्थिसन्धिषु ॥ (च. सू. १७)

—मा० नि० नि० मधु०

३. प्रकृतिरुच्यते स्वभावो यः, स पुनराहारौषधद्रव्याणां स्वाभाविको गुर्वादिगुणयोगः ।

—चरक. विमान. १।२१

कः कण्टकानां प्रकरोति तैक्ष्ण्यं चित्रं विचित्रं मृगपक्षिणां च ।

माधुर्यमिक्षौ कटुतां मरीचे स्वभावतः सर्वमिदं प्रवृत्तम् ॥

उपरम का अर्थ है—नष्ट होना, शान्त हो जाना, विराम कर जाना^१ ।

इस दृष्टि से “भावों के स्वभाव से ही अपने आप विनाश कारणनिरपेक्ष होने को ‘स्वभावोपरम’ कहते हैं” और इस सिद्धान्त की संज्ञा है—‘स्वभावोपरमवाद’ ।

आचार्य चरक^२ ने लिखा है—कि ‘धातुओं के वैषम्य के कारण धातुओं को बढ़ाने या घटाने वाले आहार-विहार आदि हैं और धातुओं के साम्य के कारण धातुओं को सम रखने वाला आहार-विहार आदि का ‘समयोग’ होता है, किन्तु इन सम या विषम धातुओं का विनाश बिना किसी कारण के स्वभाव से ही सदैव होता रहता है । ‘यही मत ‘स्वभावोपरमवाद’ है ।

इस सिद्धान्त की पुष्टि में यह भी कहा जाता है, कि भावों (धातुओं) की उत्पत्ति में तो कारण की अपेक्षा होती है, किन्तु भावों के विनाश में किसी कारण की अपेक्षा नहीं होती है । जैसे—दीपक को प्रज्वलित करने के लिए तो बत्ती, तेल और दियासलाई की जरूरत पड़ती है, किन्तु दीपक को बुझाने के लिए किसी साधन की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि तेल और बत्ती के जल जाने पर दीपक अपने आप ही बुझ जाता है । दीपक का विनाश कारणनिरपेक्ष है इस विनाश को ‘स्वभावोपरम’ कहते हैं और इसी सिद्धान्त का नाम ‘स्वभावोपरमवाद’ है ।

विमर्श—‘स्वभावोपरमवाद’ बौद्धों का मत है । बौद्धदर्शन का सिद्धान्त है कि प्रत्येक वस्तु क्षणत्रयस्थायी होती है अर्थात् प्रथम क्षण में उत्पत्ति, दूसरे क्षण में स्थिति, और तीसरे क्षण में वह नष्ट हो जाती है । इनके मत में वस्तुओं का नाश स्वभाव से ही होता है । उसके नाश में कोई कारण नहीं होता है । शरीर में नित्य ही विनाश की गति अबाध रूप से चल रही है, जिसकी पूर्ति आहार से की जाती है । यदि आहार न ग्रहण किया जाय, तो प्राणी का जीवन ही नष्ट हो जायेगा । जैसा कि कहा गया है—

१. तत्र प्रवृत्तेरुपरमः स्वभावो विनाश इत्येकोऽर्थः

—चरक

२. जायन्ते हेतुवैषम्याद् विषमा देहधातवः ।

धातुसाम्यात् समास्तेषां स्वभावोपरमः सदा ॥

प्रवृत्तिहेतुर्भावानां न निरोधेऽस्ति कारणम् ॥

न नाशकारणाभावाद भावानां नाशकारणम् ।

शायते, नित्यमस्येव कालस्यात्ययकारणम् ॥

शीघ्रगत्वाद् यथा भूतस्तथा भावो विपद्यते ।

निरोधे कारणं तस्य नास्ति नैवान्यथा क्रिया ॥

—चरक. सूत्र. १६।२७-२८, ३२-३३

आहारं पचति शिखी, दोषान् आहारवर्जितः पचति ।

दोषक्षये च धातून्, पचति च धातुक्षये प्राणान् ॥

आहार रस से रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र की पूर्ति होती रहती है। एवं रस धातु से मलरूप में कफ की उत्पत्ति और रक्त के मल रूप में पित्त की उत्पत्ति होती है। आहार सेवन करने पर जब उसका मधुर पाक होता है तब कफ की, जब अम्ल पाक होकर अन्न विदग्ध होता है तब पित्त की और जब अन्न पच जाने पर कटुरस बनता है तब वात की उत्पत्ति होती है। इस तरह शारीरिक क्रियाओं से जो धातुओं का नाश होता है, उसकी पूर्ति होती रहती है।

स्वभावोपरमवाद का दार्शनिक आधार—वस्तुस्थिति यह है, कि रोग का कारण धातुवैषम्य है अर्थात् वात, पित्त और कफ का अपने प्रमाण से घट-बढ़ जाना ही रोग है और वात, पित्त और कफ का अपने-अपने प्रमाण में सही व्यवस्थित हो जाना ही आरोग्य है। यह वैषम्य कारणों की विषमता से होता है, जब इन तीनों दोषों को विषम बनाने वाले आहार-विहार का सेवन किया जाता है, तो दोष विषम होकर रोग को उत्पन्न करते हैं और जब दोषों में समता उत्पन्न करने वाले आहार-विहार का सेवन किया जाता है, तो दोषों के समप्रमाण में होने से आरोग्य होता है। यहाँ पर यह बात ध्यान देने योग्य है, कि किसी भी वस्तु को उत्पन्न करने के लिए कारण की अपेक्षा होती है, पर उसके नाश में कोई कारण नहीं अपेक्षित होता है और यही 'स्वभावोपरमवाद' है। जिसका उल्लेख चरकसंहिता किया गया है—

जायन्ते हेतुवैषम्याद् विषमा देहधातवः ।

हेतुसाम्यात् समास्तेषां स्वभावोपरमः सदा' ॥ (सूत्र० १६।२७)

अर्थात् जिन कारणों से धातुओं की पुष्टि होती है, यदि उन कारणों में विषमता आ जाती है, तो शारीरिक धातुओं में विषमता हो जाती है, यदि कारणों में समता हो जाती है, तो धातुओं में भी समता हो जाती है। इन धातुओं की नाश स्वभाव से ही होता रहता है।

इस बात की पुष्टि दूसरी जगहों में भी चरक ने किया है—जैसे निदान स्थान के आठवें अध्याय के पैंतालीसवें श्लोक में कहा है—कि विकार (रोग)

१. जायन्त इत्यादि । देहधातवो देहस्य धारका ये भावास्ते हेतुवैषम्यात्तेषामुत्पत्तौ स्थितौ च हेतूनां वैषम्याद् वृद्धिहान्यन्यतरस्माद्विषमा जायन्ते, तथा देहधातूनां ये हेतवस्तेषां साम्याद् वृद्धिहासव्यतिरेकावस्थायामवस्थानात्ते देहधातवः समा जायन्ते, तयोर्देह—धातुसाम्यवैषम्ययोः सदैवाविरतः स्वभावोपरमः

और प्रकृति (स्वास्थ्य) दोनों ही हेतु के अधीन हैं, जब इन दोनों के उत्पादक हेतुओं का अभाव होता है, तब ये दोनों नहीं होते, अर्थात्—ये दोनों ही कार्य हैं और इनकी उत्पत्ति बिना कारण के नहीं होती है।

विकारः प्रकृतिश्चैव द्वयं सर्वं समासतः ।

तद्धेतुवशगं हेतोरभावाच्च प्रवर्तते ॥ (च. नि. ८।४५)

स्वभावोपरमवाद की चर्चा चरकसंहिता के शारीरस्थान में भी की गयी है। जैसे—जो उत्पत्तिशील पदार्थ होते हैं, वे सभी सकारण होते हैं। सभी पदार्थ कार्यकारण-युक्त होते हैं और बिना कारण के कोई कार्य नहीं होता। नैयायिकों ने अभाव को भी पदार्थ माना है, अतः अभाव भी सकारण होगा? यह सन्देह स्वाभाविक है, जिसका निराकरण करते हुए आचार्य चरक ने कहा है कि—अभाव शीघ्रगामी होता है और उसका कोई कारण नहीं होता। वह शीघ्रग स्वभाव होने से अहेतुक माना जाता है—

न ह्येको वर्तते भावो वर्तते नाप्यहेतुकः ।

शीघ्रगत्वात् स्वभावात्स्वभावो न व्यतिवर्तते ॥ —च. शा. १।५८

इस प्रकार अभाव (नाश होना) स्वभाव है, नाश में कोई कारण नहीं होता—‘निरोधे कारणं तस्य नास्ति नैवान्यथा क्रिया ।’ (च. सू. १६।३३)

नाश के कारणों का सर्वथा अभाव होता है। इसीलिए नाश का कारण नहीं जाना जाता। जैसे नित्य चलने वाले काल के नाश का कोई कारण नहीं होता अतः उसका ज्ञान नहीं हो पाता। काल शीघ्रगामी होता है—निमेष, मुहूर्त, घण्टा, प्रहर, दिन-रात, पक्ष, मास आदि बीतता जाता है। इसी तरह उत्पन्न होने वाली सभी वस्तुओं का विनाश इतनी शीघ्रता से होता है कि उसका परिज्ञान नहीं हो पाता है।

स्वभावस्य—स्वस्य धर्मस्य रूपस्य चोपरमो नाशो भवति । तत्र भावानां स्व-स्व-धर्माणां स्व-स्व-रूपाणां च सदैवाविरतः प्रवृत्तौ हेतुरस्ति सदैवाविरतनिरोधे विनाशे कारणं नास्ति ।
—गंगाधरः ।

तेषामिति—विषमाणां धातूनां समानां च, सदा—अविलम्बेन, तेनोत्पन्न एव विनश्यन्तीत्यर्थः । प्रवृत्तिहेतुरुत्पत्तिहेतुर्भावानामस्ति, विनाशे हेतुर्भावानां कारणं नास्ति, यस्मात्सर्व एव भावाः प्रदीपाच्चिदुत्पत्तौ कारणापेक्षिणः, विनाशे तु द्वितीयक्षणविद्यमानत्वलक्षणे सहजसिद्धे न हेतुवन्तरमपेक्षन्ते ॥

—च. सू. १६।२७ पर चक्रपाणि

शीघ्रगामी होने से काल जिस प्रकार भूत अर्थात् बीता हुआ कहा जाता है, उसी प्रकार शरीरगत धातुएँ भी क्षणिक होने से नष्ट हो गयीं अर्थात् रूपान्तर में परिणत हो गयीं, यह कहा जाता है। धातुओं के परिणाम और निरोध में कोई कारण नहीं है और उन धातुओं के स्वरूप में हम कोई परिवर्तन भी नहीं कर सकते। जो वस्तु जिस समय जिस रूप में रहती है, वह वस्तु ठीक अपने समान ही वस्तु को दूसरे क्षण में उत्पन्न कर, तीसरे क्षण में स्वयं नष्ट हो जाती है। अर्थात् प्रथम क्षण में उत्पन्न होती है, द्वितीय क्षण में अपने समान वस्तु को उत्पन्न करती है और तीसरे क्षण में स्वयं नष्ट हो जाती है। जब तीसरे क्षण में नष्ट होने लगती है, तब उसे नष्ट होने में किसी कारण की अपेक्षा नहीं होती। पर ये क्रियाएँ इतनी शीघ्र होती हैं, कि इनका ज्ञान किसी को भी नहीं हो पाता। तात्पर्य यह है, कि उसकी पहली अवस्था के नाश में कोई कारण नहीं है और उसके विनाश में कोई भिन्नक्रिया भी नहीं होती है। इससे यह सिद्ध हो गया, कि दोषों के विषम होने पर रोग होते हैं, यह विषम अवस्था प्रथम क्षण उत्पन्न होती है, दूसरे क्षण में अपने समान ही विषम अवस्था को उत्पन्न कर तीसरे क्षण में स्वयं नष्ट हो जाती है। इस प्रकार पहले की विषम अवस्था ज्यों-की-त्यों बनी रहती है, अतः उस विषम अवस्था को बदल कर सम अवस्था में लाने के लिए चिकित्सा की उपयोगिता होती है।

अथ च—धातुओं के विषम होने के जो कारण हैं, उनको छोड़ देने से और धातुओं के सम होने के जो कारण हैं, उनका सेवन करने से शरीर में विषम धातुओं की परम्परा नष्ट हो जाती है और धातुएँ सम हो जाती हैं। (विशेष विवेचन 'साम्यवैषम्य सिद्धान्त' में देखें) चिकित्सा का यही उद्देश्य है और धातुसाम्यत्व का भी यही उपाय है, जैसा कि चरक ने कहा है—

कथं शरीरे धातूनां वैषम्यं न भवेदिह ।

समानां चानुबन्धः स्यादित्यर्थं क्रियते क्रिया ॥

त्यागाद्विषमधातूनां समानां चोपसेवनात् ।

विषमा नानुबध्नन्ति जायन्ते धातवः समाः ॥

—च० सू० १६।३५-३६

विमर्श—जिसके विनाश में कोई कारण न हो अर्थात्—कारण-निरपेक्ष विनाश को 'स्वभावोपरम' कहते हैं—'स्वभावात् विनाशकारण-निरपेक्षात् उपरमो विनाशः, स्वभावोपरमः'। क्षणिक विज्ञानवादी मानते हैं—कि संसार में जितने पदार्थ हैं, उन सब की प्रथम क्षण में उत्पत्ति, द्वितीय क्षण में स्थिति और तृतीय क्षण में विनाश हो जाता है। जैसे—काल शीघ्रगामी होता है उसमें प्रतिक्षण भूतकाल की उत्पत्ति होती रहती है, परन्तु उसे देखा नहीं

जा सकता, उसी तरह शरीर की धातुओं का या उत्पन्न होने वाली वस्तुओं का विनाश सदैव इतनी जल्दी से होता रहता है, कि उसका ज्ञान नहीं हो पाता है। जो वस्तु जिस समय जिस रूप में रहती है वह वस्तु ठीक अपने समान ही अन्य वस्तु को दूसरे क्षण में उत्पन्न कर तीसरे क्षण में विनष्ट हो जाती है। यह क्रिया शीघ्रगामी और सूक्ष्म होने से परिलक्षित नहीं होती।

यह क्षणिक विज्ञानवादी बौद्धों का मत है, कि धातुओं का नाश स्वभाव से ही होता है, उसके नाश में कोई कारण नहीं होता है। वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने पर यह कहा जा सकता है, कि शरीर में हमेशा Wear and Tear Phenomena का कार्य चल रहा है, Wear Phenomena (निर्माण) में तो आहारादि से शारीरिक धातुओं की पूर्ति होने के कारण वह सहेतुक है परन्तु Tear Phenomena (उपरम) सदा स्वाभाविक (Natural) गति से हो रहा है और वह अहेतुक है। इस प्रकार स्वभावोपरमवाद आधुनिक वैज्ञानिक विचारधारा के साथ सामंजस्य रखता है।

साम्यवैषम्यसिद्धान्त और चिकित्सा का प्रयोजन—शरीर की रस-रक्तादि धातुओं का समान मान में होना और अपना-अपना कार्य करना यह सब निर्भर है, वात, पित्त और कफ की साम्यावस्था पर और इनकी साम्यावस्था ही आरोग्य है। जब दोषों में वैषम्य होता है, तब उसे विकार, दुःख या रोग कहा जाता है और दोषों की समावस्था को स्वास्थ्य, प्रकृति या आरोग्य कहते हैं^१। दोष जब प्राकृत अवस्था में रहते हैं तो शरीर का धारण करते हैं इसलिए दोषों की एक संज्ञा 'धातु' भी है 'धातवो देह धारणात्' (वाग्भट)।

धातुसाम्यत्व (दोषसाम्यत्व) स्थापित करना ही आयुर्वेद का प्रयोजन है, इसलिए आयुर्वेद में धातुओं का 'साम्य-वैषम्यसिद्धान्त' बहुत महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

पूर्वोक्त 'स्वभावोपरम' के सिद्ध हो जाने पर यह प्रश्न उठता है, कि जब धातुवैषम्य स्वतः ही विनष्ट हो जाता है, तो 'धातुसाम्यत्व' स्थापन रूप चिकित्सा का कोई प्रयोजन नहीं है^२। दूसरी बात यह भी है, कि जिस 'धातु-वैषम्य' को दूर करना अभीष्ट है, वह क्षणभङ्गी होने से अस्थिर होता है, तो फिर उस पर कोई क्रिया कैसे सम्भव है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्य चरक ने कहा है, कि 'स्वभावोपरम' मानने पर भी ऐसा ही मानते हैं, कि

१. विकारो धातुवैषम्यं साम्यं प्रकृतिरुच्यते ।

सुखसंज्ञकमारोग्यं विकारो दुःखमेव च ॥ —चरक० सूत्र० १।४

२. स्वभावोपरमे कर्म चिकित्साप्राभृतस्य किम् । —च० सू० १६।२९

विषमधातुएँ अपने समान दूसरी विषम धातुओं को उत्पन्न कर स्वयं नष्ट हो जाती हैं। एवं समधातुएँ अपने समान ही दूसरी समधातुओं को उत्पन्न कर स्वयं नष्ट हो जाती हैं^१। ऐसा नहीं होता, कि समधातुओं के नष्ट होने से विसदृश विषम धातुएँ या विषम धातुओं के नष्ट होने से समधातुएँ उत्पन्न हो जावें।

इस तरह यह बात सिद्ध है, कि विषम धातुओं के स्वयं नष्ट हो जाने पर भी उनसे जायमान धातुवैषम्य की परम्परा कायम रहती है एवं तज्जन्य दुःखों की परम्परा बनी ही रहती है। अत एव 'धातुसाम्य' स्थापित करने का प्रयोजन तथा दुःखों को विनष्ट करने की आवश्यकता ज्यों की त्यों बनी ही हुई है।

दुःखों की परम्परा को नष्ट करने के लिए चिकित्सा की अपेक्षा है और चिकित्सा 'साम्यवैषम्य' सिद्धान्त पर ही अवलम्बित होती है। शरीर में धातु-वैषम्य की परम्परा में व्यवधान उपस्थित कर, धातुवैषम्य को हटाना और 'धातुसाम्य' की परम्परा को स्थापित करना, यही चिकित्सा का लक्ष्य^२ है और इस प्रयोजन के लिए दो प्रक्रियाएँ अपनायी जाती हैं—(१) निदानपरिवर्जन और (२) धातुसाम्यकर औषध एवं आहार-विहार का सेवन।

निदानपरिवर्जन द्वारा धातुवैषम्यजनक कारणों का परित्याग कर धातु-वैषम्य की परम्परा को नष्ट किया जाता है तथा धातुसाम्यकर औषध-आहार-विहार से समधातुओं की उत्पत्ति कराकर धातुसाम्यत्व की परम्परा स्थापित की जाती है।^३ इस प्रकार धातुवैषम्य अपनी क्षणभङ्गिता के स्वभाव से स्वयमेव नष्ट हो जाता है, क्योंकि धातुवैषम्यजनक कारणों का परित्याग हो चुका होता है। दूसरी ओर धातुसाम्यत्वजनक कारणों का सेवन चलता रहता है। एवं धातुवैषम्य की परम्परा के अवरुद्ध हो जाने से दुःखोत्पत्ति अवरुद्ध हो जाती है तथा धाम्यसाम्यकर औषध-आहार आदि के सेवन से सुखानुबन्ध 'धातुसाम्यत्व' स्थापित होता है^४ और यही 'धातुसाम्यत्वस्थापन' चिकित्सा का परम प्रयोजन कहा गया है।

१. न समा यान्ति वैषम्यं विषमाः समतां न च।

हेतुभिः सदृशा नित्यं जायन्ते देहधातवः ॥—चरक० शारीर० १।९३

२. कथं शरीरे धातूनां वैषम्यं न भवेदिति।

समानां चानुबन्धः स्यादित्यर्थं क्रियते क्रिया ॥ —च० सू० १६।३५

३. त्यागाद्विषमहेतूनां समानां चोपसेवनात्।

विषमा नानुबन्धन्ति जायन्ते धातवः समाः ॥ —च० सू० १६।३६

४. पारम्पर्यानुबन्धस्तु दुःखानां विनिवर्तते।

सुखहेतूपचारेण सुखं चापि प्रवर्तते ॥ —च० शारीर० १।९२

इस तरह 'साम्य-वैषम्य-सिद्धान्त' की व्यापकता से समस्त आयुर्वेद वाङ्मय ओत-प्रोत है। 'वैषम्य' का तात्पर्य है—रोगोत्पादक समस्त कारण-कलापों से, जिनके कारण रोगों का जन्म होता है और 'साम्य' का अभिप्राय उस समस्त चिकित्सा प्रक्रिया से है जो धातुवैषम्य को मिटाने के लिए विविध रूपों में अपनायी जाती है।

सूत्ररूप में निष्कर्ष यह है, कि वैषम्य को दूर करने के लिए वैषम्यजनक हेतुओं का परित्याग तथा साम्यत्व स्थापित करने के लिए साम्यत्व जनककारणों का सेवन करने से धातुवैषम्य की परम्परा छूट जाती है और धातुसाम्यत्व की परम्परा स्थापित हो जाती है।

विंश अध्याय

तन्त्रयुक्ति-विज्ञान

तन्त्रयुक्ति-विचार

तन्त्रयुक्तियों का प्रयोजन—जिस प्रकार सूर्य की किरणों के आलोक से कमल-वन का विकास होता है और कमलों की संकुचित पंखुड़ियाँ एक एक कर खिल उठती हैं, कि वा किसी अँधेरे घर में दीपक के जलते ही उस घर की एक एक वस्तुएँ दीखने लग जाती हैं और जो पदार्थ अब तक अन्धकार में तिरोहित (छिपे हुए) थे, वे सब प्रकाश में आ जाते हैं, उसी प्रकार तन्त्र-युक्तियों के प्रकाश से संकुचित वाक्यार्थ विकसित हो जाते हैं और उनके भीतर छिपे रहस्यों का उद्घाटन हो जाता है। इस प्रकार तन्त्रयुक्तियों के द्वारा वाक्य के गूढ़ार्थ का प्रकाशन और उन गूढ़ार्थों का प्रबोधन, ये दोनों ही बातें होती हैं^१।

तन्त्रयुक्तियों के ज्ञान की उपादेयता बतलाते हुए आचार्य चरक ने कहा है कि—‘तन्त्रयुक्ति न जानने वाला अध्येता शास्त्रों का बाह्य ज्ञान (ऊपरी जानकारी) भले ही कर ले, किन्तु वह शास्त्र में निहित वास्तविक तत्त्वावबोध से अपरिचित ही रहता है^२। इसलिए शास्त्रकारों ने अपने ग्रन्थों में निहित अर्थदुर्गों के भेदन के लिए (वास्तविक तत्त्वावबोध के लिए) अपने ग्रन्थों में ही तन्त्रयुक्तियों का भी वर्णन किया है। जैसे—चरकसंहिता और सुश्रुतसंहिता के अन्तिम अध्यायों में तन्त्रयुक्तियों का वर्णन उपलब्ध होता है।

१. यथाम्बुजवनस्याकः प्रदीपः वेश्मनो यथा ।

प्रबोधनप्रकाशाशार्थास्तथा तन्त्रस्य युक्तयः ॥ —च० सिद्धि० १२।७३.

२. अधीयानोऽपि शास्त्राणि तन्त्रयुक्त्यविवक्षणः ।

नाधिगच्छति शास्त्रार्थानर्थान् भाग्यक्षये यथा ॥ —च० सिद्धि० १२।७५

A physician who is not conversant with the canons of exposition, though he may be a student of many treatises, will fail to grasp the meaning of these treatises, just as a man fails to acquire wealth when fortune has deserted him.

आचार्य सुश्रुत ने तन्त्रयुक्तियों के दो प्रयोजन बतलाये हैं^१—(१) वाक्य-योजन और (२) अर्थयोजन ।

(१) वाक्ययोजन—परस्पर असम्बद्ध पदों का एक वाक्य में सम्बन्ध स्थापित करना 'वाक्ययोजन' कहलाता है । जैसे—योग, उद्देश, निर्देश आदि तन्त्रयुक्तियों से असंगत पदों की संगति करके संक्षेप या विस्तार से वर्णन के द्वारा विषय का प्रतिपादन किया जाता है, जिससे वाक्यार्थ का स्पष्टीकरण हो जाता है ।

(२) अर्थयोजन—किसी पद या वाक्य में छिपे हुए अर्थ का उद्घाटन करके असंगत अर्थ की संगति बैठाना और उसे संगत सिद्ध करना 'अर्थयोजन' कहलाता है । जैसे—अधिकरण, पदार्थ, ऊह्य आदि तन्त्रयुक्तियों से वर्णनीय विषय, पूर्वापर सम्बन्ध और तर्क द्वारा प्रतिपाद्य अर्थ को प्रकट किया जाता है ।

असत्पक्ष के प्रतिपादक प्रतिपक्षी का निषेध करना और अपने वचन को पुष्ट करके सिद्ध करना भी तन्त्रयुक्तियों का प्रयोजन बतलाया गया है । इस प्रकार प्रतिपक्षी के सिद्धान्त का खण्डन करने के लिए 'अपदेश' नामक तन्त्र-युक्ति का आश्रय लिया जाता है और अपने सिद्धान्त के समर्थन के लिए 'निर्णय' नामक तन्त्रयुक्ति का प्रयोग किया जाता है ।

जिस विषय का वर्णन स्पष्ट नहीं है या अपूर्ण है अथवा जिसका अर्थ गूढ़ (छिपा हुआ) है, ऐसे सन्दर्भों के विषय वस्तु का स्पष्टतया प्रकाशन करना भी तन्त्रयुक्तियों का ही कार्य है^२ । इस प्रकार वाक्यार्थज्ञान में तन्त्रयुक्तियों का महत्वपूर्ण योगदान है । तन्त्र शब्द का अर्थ है—शास्त्र और युक्ति का अर्थ है—योजना करना । एवं तन्त्रयुक्ति का अर्थ है—शास्त्र में प्रतिपादित विषयों का रहस्योद्घाटन कर प्रसङ्गानुसार शास्त्रों के अर्थों में सामञ्जस्य स्थापित करना ।

विमर्श—तन्त्रयुक्ति का शब्दार्थ है—त्रायते शरीरमनेनेति तन्त्रं शास्त्रं चिकित्सा च, तत्र युक्तयः योजनाः, तन्त्रयुक्तयः, अर्थात् जिसके द्वारा शरीर की रक्षा होती है, उसे तन्त्र कहते हैं और शरीर की रक्षा शास्त्र तथा चिकित्सा

१. अथासां तन्त्रयुक्तीनां किं प्रयोजनम् ? उच्यते—वाक्ययोजनम् अर्थ-योजनञ्च ।

—सुश्रुत० उ० ६५।४

२. असद्वादिप्रयुक्तानां वाक्यानां प्रतिषेधनम् ।

स्ववाक्यसिद्धिरपि च क्रियते तन्त्रयुक्तिभिः ॥

व्यक्ता नोक्तास्तु ये ह्यर्था लीना ये चाप्यनिर्मलाः ।

लेशोक्ता ये च केचित्स्युक्तेषां चापि प्रसाधनम् ॥

—सुश्रुत उत्तर० ६५।५-६

दोनों ही से होती है, क्योंकि 'शास्त्र' नियमों के उपदेश द्वारा स्वस्थ दीर्घजीवन का अनुशासन करते हैं और 'चिकित्सा' आतुर की व्याधि को दूर कर आरोग्य प्रदान करती है। अतः तन्त्र शब्द से शास्त्र तथा चिकित्सा इन दोनों का ग्रहण करना उचित है और उस शास्त्र के अर्थ की योजना या चिकित्सा की योजना को 'तन्त्रयुक्ति' कहते हैं। इसलिए शास्त्र तथा चिकित्सा के मर्म को समझने के लिए तन्त्रयुक्तियों का ज्ञान होना आवश्यक है। जिस तरह अच्छी तरह सावधानी से पकड़ने पर 'शास्त्र' उस अज्ञानी व्यक्ति के ही अङ्गों का छेदन कर देता है, उसी तरह शास्त्र के रहस्य को या चिकित्सा के सिद्धान्तों को ठीक ढंग से न समझने पर अज्ञानी व्यक्ति स्वयं अपना या आतुर व्यक्ति का अहित कर बैठता है। जब शास्त्र और चिकित्सा का रहस्यज्ञान ठीक-ठीक होगा, तभी कोई व्यक्ति (चिकित्सक) अपना भी कल्याण कर सकेगा और अपने सुहृद् बन्धु तथा रोगीजनों का भी कल्याण करने में समर्थ होगा। अतः शास्त्र एवं चिकित्सासिद्धान्तों के परिज्ञान के लिए 'तन्त्रयुक्ति' का ज्ञान परमावश्यक है।

चालीस तन्त्रयुक्तियाँ

(१) अधिकरण (२) योग (३) हेत्वर्थ (४) पदार्थ (५) प्रदेश (६) उद्देश (७) निर्देश (८) वाक्यशेष (९) प्रयोजन (१०) उपदेश (११) अपदेश (१२) अतिदेश (१३) अर्थापत्ति (१४) निर्णय (१५) प्रसङ्ग (१६) एकान्त (१७) नैकान्त (१८) अपवर्ग (१९) विपर्यय (२०) पूर्वपक्ष (२१) विधान (२२) अनुमत (२३) व्याख्यान (२४) संशय (२५) अतीतावेक्षा (२६) अनागतावेक्षा (२७) स्वसंज्ञा (२८) ऊह्य (२९) समुच्चय (३०) निदर्शन (३१) निर्वचन (३२) सन्नियोग (३३) विकल्प (३४) प्रत्युच्चार (३५) उद्धार (३६) संभव (३७) परिप्रश्न (३८) व्याकरण (३९) व्युत्क्रान्ताभिधान और (४०) हेतु, ये चालीस 'तन्त्रयुक्ति' कहलाते हैं।

१. तत्राधिकरणं योगो हेत्वर्थोऽर्थः पदस्य च ।

प्रदेशोद्देशनिर्देशवाक्यशेषाः प्रयोजनम् ॥

उपदेशापदेशातिदेशार्थापत्तिनिर्णयाः ।

प्रसङ्गैकान्तनैकान्ताः सापवर्गोः विपर्ययः ॥

पूर्वपक्षविधानानुमतव्याख्यानसंशयाः ।

अतीतानागतावेक्षा स्वसंज्ञोह्यसमुच्चयाः ॥

निदर्शनं निर्वचनं सन्नियोगो विकल्पनम् ।

प्रत्युच्चारस्तथोद्धारः सम्भवस्तन्त्रयुक्तयः ॥ —च. सिद्धि. १२।६८-७१

२. 'परिप्रश्नव्याकरणव्युत्क्रान्ताख्यहेतवः'—च. सिद्धि. १२।७१ पर चक्रपाणि

(१) अधिकरणम्—जिस पदार्थ या विषय के वर्णन के लिए जो शास्त्र या प्रकरण आरम्भ किया जाता है, वह पदार्थ या विषय उस शास्त्र या प्रकरण का 'अधिकरण' होता है^१। जैसे आयुर्वेद के अधिकरण हैं—भिन्न-भिन्न रोग। समूचा 'आयुर्वेद' रोगों को नष्ट करने के लिए या उनसे बचने के लिए मार्ग-निर्देशन करता है और 'व्याधि-परिमोक्षण' ही आयुर्वेद का प्रयोजन है। अतः 'रोग या व्याधियाँ' आयुर्वेद के अधिकरण हैं।

इसी प्रकार 'रस विज्ञान' में 'रस' और 'दोषविज्ञान' में 'दोष' अधिकरण होते हैं, क्योंकि उनमें रस या दोष का ही विवेचन किया जाता है। जैसा कि सुश्रुत ने कहा है—'यमर्थमधिकृत्योच्यते तदधिकरणम् यथा रसं दोषं वा।'

(२) योग—किसी श्लोक या वाक्य में आये हुए क्रमहीन (बेतरतीब) पदों को अन्वय करके क्रम से (तरतीबवार) बैठाकर वाक्य की अर्थ बोधक योजना को 'योग' कहते हैं^२ अर्थात् अलग-अलग रखे हुए पदों के एकीकरण द्वारा वाक्यार्थ की संगति करना 'योग' कहलाता है। जैसे—'औषधि का पान सिद्ध तैल करना चाहिए' इस इस वाक्य के पदों का इस प्रकार क्रम से रखना, कि वक्ता के अभिप्राय का स्पष्टीकरण हो जावे, यथा—'औषधि-सिद्ध तैल का पान करना चाहिए' यह 'योग' नामक तन्त्रयुक्ति है।

(३) हेत्वर्थ—किसी एक विषय का प्रतिपादन करने से दूसरे अप्रतिपादित विषय का भी प्रतिपादन हो जाना 'हेत्वर्थ' कहलाता है^३। जैसे—जल के सम्पर्क से मिट्टी गीली हो जाती है, उसी प्रकार उड़द और दूध आदि कफवर्धक पदार्थों के सेवन से व्रण में क्लेद हो जाता है।

चक्रपाणि के अनुसार हेत्वर्थ की व्याख्या यह है कि जैसे किसी अपराध के अनेक अपराधी हों और उनमें से एक के पकड़ जाने पर यह कहा जाय, कि

१. अधिकरणं नाम यमर्थमधिकृत्य प्रवर्तते कर्ता, यथा—'विघ्नभूता यदा रोगाः।' (चरक० सूत्र० १।६) इत्यादि। अत्र रोगादिकमधिकृत्यायुर्वेदो महर्षिभिः कृत इति 'रोगाः' इत्यधिकरणम्।

—चरक० सिद्धि० १२।६८ चक्रपाणि

२. येन वाक्यं युज्यते स योगः।

—सुश्रुत० उत्तर० ६५।९

३. हेत्वर्थो नाम यदन्यत्राभिहितमन्यत्रोपपद्यते, यथा—'समानगुणाभ्यासो हि धातूनां वृद्धिकारणम्' (चरक० सूत्र० १२।५) इति वातमधिकृत्योक्तं, तत्र वातस्येति वक्तव्ये यदयं समानशब्दं धातूनामिति करोति, तेन यथा वायोस्तथा रसादीनामपि समानगुणाभ्यासो वृद्धिकारणमिति गम्यते।

—चरक० सिद्धि० १२।६८ पर चक्रपाणि

‘इसे चोरी के जुर्म में दस साल की सजा होगी’ तो उसका अन्य सहचर अपराधी भी इस वाक्य से यह अर्थ निकाल ले कि ‘यदि मैं भी पकड़ जाऊँ तो मुझे भी दस साल की सजा होगी ।’

विमर्श—चरक संहिता के टीकाकार आचार्य चक्रपाणि ने कहा है—कि “हेत्वर्थ उसे कहते हैं, जो किसी प्रसङ्ग में कहा जाय किन्तु अन्यत्र दूसरे प्रसङ्ग में भी वह कथन लागू हो जाय” । जैसे—‘समानगुण वाले द्रव्यों का अभ्यास घातुओं को बढ़ाता है’ यह बात वायु के अधिकार में कही गयी है । वहाँ वायु का नाम न लेकर घातु शब्द का प्रयोग किया गया है, जिससे यह अर्थ निकलता है कि—समानगुणधर्मी पदार्थों का सेवन घातुओं की वृद्धि का कारण होता है । यद्यपि यह वाक्य ‘वातकलाकलीय’ अध्याय (चरक० सूत्र १२) में वात के विषय में कहा गया है, परन्तु धारणार्थक घातु शब्द वायु के अतिरिक्त रस, रक्त, मांस आदि घातुओं का भी बोध करा देता है । अतः वायु घातु के सन्दर्भ में कहा गया यह वाक्य रस रक्तादि घातुओं के लिए भी संगतार्थ हो जाने से यह ‘हेत्वर्थ’ का उदाहरण हुआ ।

(४) **पदार्थ**—किसी सूत्र या पद में जो अर्थ पूर्वापर सन्दर्भ के अनुसार प्रतीत होता है, उसे ‘पदार्थ’ कहते हैं । जैसे—‘अब वेदोत्पत्ति अध्याय का वर्णन किया जायगा’ इस वाक्य के पूर्वापरसन्दर्भ को देखकर यह ज्ञान होता है कि अब आयुर्वेदोत्पत्ति का वर्णन करेंगे ।

(पदार्थलक्षणम् शीर्षक में पदार्थ का विस्तृत विवेचन किया जा चुका है विशेष वहीं देखें)

(५) **प्रदेश**—किसी भूतपूर्व घटना के आधार पर वर्तमान समस्या का समाधान निकल जाना ‘प्रदेश’ कहलाता है^२ । जैसे—डा० शर्मा ने मनोहर

१. योऽर्थोऽभिहितः सूत्रे पदे वा स पदार्थः, पदस्य पदयोः पदानां वाऽर्थः पदार्थः । अपरिमिताश्च पदार्थाः । यथा—स्नेहनस्वेदाग्नेषु निर्दिष्टेषु द्वयोस्त्रयाणां वाऽर्थानामुपपत्तिर्दृश्यते, तत्र योऽर्थः पूर्वापरयोगसिद्धो भवति स ग्रहीतव्यः । यथा—‘वेदोत्पत्तिमध्यायं व्याख्यास्याम’ इत्युक्ते सन्दिह्यते बुद्धिः—कतमस्य वेदस्योत्पत्तिं वक्ष्यतीति, यतः ऋग्वेदादयस्तु वेदाः, विद् विचारणे, विदलू लाभे इत्येतयोश्च धात्वोरनेकार्थयोः प्रयोगात्, तत्र पूर्वापरयोगमुपलभ्य प्रतिपत्तिर्भवति—आयुर्वेदोत्पत्तिमयं विवक्षुरिति, एष पदार्थः ।

—सुश्रुत० उ० ६५।१०

२. प्रकृतस्यातिक्रान्तेन साधनं प्रदेशः । यथा—देवदत्तस्यानेन शल्यमुद्धृतं तथा यज्ञदत्तस्यापि अयमुद्धरिष्यतीति ।

—सुश्रुत० उत्तर० ६५।१६

की पथरी का आपरेशन किया था, वे गोविन्द की पथरी का भी आपरेशन कर देंगे। यह परिभाषा सुश्रुत के अनुसार है।

विमर्श—चक्रपाणि ने 'प्रदेश' का अर्थ सुश्रुत से भिन्न किया है, जैसे—अर्थ (वर्णनीय विषय) के अधिक होने से उसका समग्र रूप में वर्णन करना असम्भव होता है, अतः उसके एक देश का वर्णन करके यह इशारा कर दिया जाता है कि 'इसी प्रकार और भी जानें' यह वर्णनीय विषय के किसी एक देश का वर्णन 'प्रदेश' कहलाता है^१।

(६) **उद्देश**—संक्षिप्त कथन को 'उद्देश'^२ कहते हैं। जैसे—जो शरीर में और मन में पीडा उत्पन्न करे वह 'शल्य' कहा जाता है।

विमर्श—किसी बात को संक्षेप (सूत्ररूप) में कहना 'उद्देश' है। जैसे—'रोग के हेतु का ज्ञान, लिङ्ग का ज्ञान और रोग की औषध का ज्ञान 'त्रिसूत्र' आयुर्वेद कहलाता है^३।

(७) **निर्देश**—विस्तृत वर्णन को 'निर्देश' कहते हैं^४। जैसे—शारीरिक और आगन्तुक भेद से शल्य दो प्रकार का होता है। यहाँ शल्य का विस्तार-पूर्वक वर्णन होने से यह 'निर्देश' है।

(८) **वाक्यशेष**—जिस पद का वाक्य में उल्लेख न किया जाय, किन्तु फिर भी उसका बोध हो जाय, ऐसे पद को 'वाक्यशेष' कहते हैं^५। जैसे—'भाग्यं फलति सर्वत्र न विद्या न च पौरुषम्' इस वाक्य में पुरुष का उल्लेख नहीं है तो भी पुरुष का बोध हो जाता है।

विमर्श—आधी मात्रा के प्रयोग की बचत से वैयाकरण विद्वान् पुत्रोत्सव जैसी प्रसन्नता का अनुभव करते हैं^६। अन्य लोग भी पदों के प्रयोग की बचत

१. प्रदेशो नाम यदबहुत्वादर्थस्य कात्स्न्येनाभिधातुमशक्यमेकदेशेनाभिधीयते, यथा—अन्नपानैकदेशोऽयमुक्तः प्रायोपयोगिकः (चरक० सूत्र० २७।३२९) इत्यादि।

—चरक० सिद्धि० १२।६९ पर चक्रपाणि

२. समासवचनमुद्देशः। यथा—शल्यमिति। —सुश्रुत० उत्तर० ६५।१२

३. हेतुलिङ्गीषधज्ञानं स्वस्थातुरपरायणम्।

त्रिसूत्रं शाश्वतं पुण्यं बबुधे यं पितामहः॥ —चरक० सूत्र० १।२४

४. विस्तारवचनं निर्देशः। यथा—शारीरमागन्तुकं चेति (द्विविधं शल्यम्)

—सु० उ० ६५।१३

५. येन पदेनानुक्तेन वाक्यं समाप्येत स वाक्यशेषः। यथा—शिरःपाणिपादपाश्वर्षपृष्ठोदरोरसामित्युक्ते पुरुषग्रहणं विनापि गम्यते पुरुषस्येति।

—सु० उ० ६५।१९

६. अर्धमात्रालाघवानुरोधेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः।

करने से नहीं चूकते, बशर्त कि उस पद के प्रयोग न किये जाने पर भी उसके अर्थ का ज्ञान हो जावे। जैसे—टिकट की खिड़की की ओर जाते हुए मित्र को देखकर आप चट कह उठते हैं, कि 'जरा मेरा भी' यहाँ आगे की बात स्पष्ट हो जाती है कि 'टिकट लेते आइयेगा'। इस प्रकार किसी वाक्य में जिस पद का प्रयोग किये बिना ही उसका अर्थ ज्ञात हो जाय उसे 'वाक्यशेष' कहते हैं।

(९) प्रयोजन—जिस लक्ष्य की सिद्धि के लिए किसी कार्य का आरम्भ किया जाय उस लक्ष्य को 'प्रयोजन' कहते हैं^१। जैसे—आयुर्वेद का प्रयोजन है—'धातुसाम्य' स्थापित करना।

(१०) उपदेश—आप्त (यथार्थवक्ता) पुरुषों के अनुशासन को (ऐसा करना चाहिए ऐसा नहीं करना चाहिए आदि को) "उपदेश" कहते हैं^२। जैसे—स्नेहन के प्रयोग के बाद स्वेदन करना चाहिए।

विमर्श—उपदेश और नियोग दोनों का साम्य होते हुए भी दोनों दो बातें हैं। 'उपदेश' में कोई जोर या दबाव की बात नहीं होती, जब कि 'नियोग' में किसी कार्य को करना ही है, ऐसा दबाव देकर कहा जाता है। दूसरी बात यह है, कि उपदेश प्रायिक होता है—जैसे, दिन में नहीं-सोना चाहिए—'दिवा-स्वापं न कुर्वीत' पहले इस तरह का उपदेश किया गया। फिर ग्रीष्मकाल में दिन में सोने का विधान किया गया है। इसी तरह रात्रिजागरण का निषेध किया गया 'न जाग्रयाद् रात्रौ' और फिर कफप्रकृति वाले व्यक्ति के लिए रात्रिजागरण को प्रशस्त कहा गया है। नियोग उपदेश नहीं है और वह अप्रायिक होता है, वह आज्ञा है जो टाली नहीं जा सकती, उसका पालन अवश्य ही करना होगा। जैसे—'पथ्यमेव भोक्तव्यम्' पथ्य ही खाना चाहिये। इस कथन से अपथ्य का एकदम निषेध कर दिया गया है एवं नियोग अप्रायिक होता है।

(११) अपदेश—किसी कार्य के प्रति कारण के कथन को 'अपदेश' कहते हैं^३। जैसे—मधुर रस कफ को बढ़ाता है यहाँ कफ के बढ़ने में मधुर रस को कारण बतलाया गया है।

१. प्रयोजनं नाम यदर्थं कामयमानः प्रवर्तते, यथा—

'धातुसाम्यक्रिया चोक्ता तन्त्रस्यास्य प्रयोजनम्।' (चरक० सू० १।४५)

—चरक० सिद्धि० १२।६९ पर चक्रपाणि

२. एवमित्युपदेशः। यथा 'तथा न जाग्रयाद् रात्रौ दिवास्वप्नं च वर्जयेत्।' सुश्रुत० उ० ६५।१४

३. अनेन कारणेनेत्युपदेशः। यथाऽपदिश्यते—मधुरः श्लेष्माणमभिवर्धयतीति। सुश्रुत० उ० ६५।१५

(१२) अतिदेश—वर्तमान स्थिति के आधार पर भविष्य की स्थिति का कथन 'अतिदेश' कहलाता है^१। जैसे—इसे वायु ऊपर उठ रही है इसलिए इसे उदावर्त रोग होगा।

(१३) अर्थापत्ति—जो बात शब्दतः कही न जावे और स्वयं ही जिसका बोध हो जावे, तो वह 'अर्थापत्ति' कही जाती है^२। जैसे—'यह रोग संतर्पण-साध्य नहीं है' यह कहने पर यह अर्थ अपने आप प्रकट हो जाता है—कि 'अपतर्पणसाध्य है'।

(१४) निर्णय—किसी संशय के उत्पन्न होने पर युक्तियुक्त ढंग से उसका निराकरण कर किसी पक्ष को पुष्ट करना 'निर्णय' कहलाता है^३। जैसे—वातज प्रमेह क्यों असाध्य होते हैं? इस प्रश्न का उत्तर देकर उनकी असाध्यता का निर्णय किया जाता है।

(१५) प्रसङ्ग—किसी विषय को अनेक प्रकरणों में बार-बार कहा गया हो और पुनः किसी अग्रिम प्रकरण में पूर्व प्रकरण की बात की याद दिलाकर उसे वहाँ समाप्त करना 'प्रसङ्ग' कहलाता है^४। जैसे—सुश्रुतसंहिता के सूत्रस्थान अध्याय एक (वेदोत्पत्ति) में यह कहा गया है कि "पञ्चमहाभूत और आत्मा के संयोग को पुरुष कहते हैं" और पुनः शारीरस्थान के प्रथम अध्याय में उस पुरुष की चर्चा कर यह कहा है कि वही पुरुष कर्मपुरुष है जो चिकित्सा का अधिकरण है। इस प्रकार का कथन प्रसङ्ग है।

(१६) एकान्त—निश्चयात्मक कथन को 'एकान्त' कहते हैं^५। जैसे—मदनफल वमनकारक होता है। निशोथ विरेचन कराता है।

१. प्रकृतस्यानागतस्य साधनमतिदेशः। यथा—यतोऽस्य वायुरूर्ध्वमुत्तिष्ठते, तेनोदावर्ती स्यादिति।
—सुश्रुत० उ० ६५।१७

२. यदकीर्तितमर्थादापद्यते साऽर्थापत्तिः। यथा ओदनं भक्ष्ये, इत्युक्तेऽर्थादापन्नं भवति नायं पिपासुर्यंवागूमिति।
—सुश्रुत० उ० ६५।२०

३. तस्य (पूर्वपक्षस्य) उत्तरं निर्णयः। यथा—शरीरं प्रपीड्य पश्चादधो गत्वा वसामेदोमज्जानुविद्धं मूत्रं विसृजति वातः, एवमसाध्या वातजाः प्रमेहा इति।
—सु० उ० ६५।२६

४. प्रकरणान्तरेण समापनं प्रसङ्गः। यद्वा, प्रकरणान्तरितो योऽर्थोऽसकृदुक्तः समाप्यते स प्रसङ्गः। यथा—पञ्चमहाभूतशरीरिसमवायः पुरुषस्तस्मिन् क्रिया, सोऽधिष्ठानमिति वेदोत्पत्तावभिधाय भूतचिन्तायां पुनरुक्तं—यतोऽभिहितं पञ्चमहाभूतशरीरिसमवायः पुरुष इति, स खल्वेष कर्मपुरुषश्चिकित्साऽधिकृत इति।
सु० उ० ६५।२२

५. यदवधारणेनोच्यते स एकान्तः। यथा—त्रिवृद्विरेचयति, मदनफलं वामयति (एव)।
—सु० उ० ६५।२३

(१७) अनेकान्त या नैकान्त—किसी एक सिद्धान्त पर निश्चित रूप से अटल न होना 'अनेकान्त' कहलाता है^१। जैसे—कभी द्रव्य को प्रधान, कभी रस को प्रधान, कभी वीर्य को प्रधान और कभी विपाक को प्रधान मानना 'अनेकान्त' का उदाहरण है।

(१८) अपवर्ग—किसी बात को विस्तारपूर्वक कहने के बाद फिर उसकी सीमा को घटाना 'अपवर्ग' कहलाता है^२।

(१९) विपर्यय—जो बात कही जाय उससे भिन्न बात समझा जाना 'विपर्यय' कहलाता है^३। जैसे—'कृश दुर्बल और भीरु दुश्चिकित्स्य होते हैं'। यह कहे जाने पर उनसे विपरीत दृढ़ और सबल व्यक्ति 'सुचिकित्स्य होते हैं' यह समझना।

विमर्श—अर्थापत्ति और विपर्यय में भेद—अर्थापत्ति में अनुकूल अर्थ की प्रतीति होती है। जैसे—'इसे दिन में नहीं सोना चाहिए' इस कथन से शयन का निषेध नहीं होता, अपितु रात में शयन करने का विधान प्रकट होता है। विपर्यय में प्रतिकूल अर्थ की प्रतीति होती है। जैसे—'कृश, भीरु और अवरसत्त्ववाले दुश्चिकित्स्य होते हैं' इस कथन से दृढ़ निर्भीक और प्रवरसत्त्ववाले सुचिकित्स्य होते हैं, यह विपरीत अर्थज्ञान होता है। इस प्रकार अर्थापत्ति में अर्थ की अनुकूलता और विपर्यय में अर्थ की प्रतिकूलता के होने से दोनों का भेद स्पष्ट है।

(२०) पूर्वपक्ष—आक्षेपपूर्वक प्रश्न को 'पूर्वपक्ष' कहते हैं^४। जैसे—वातज प्रमेह क्यों असाध्य होते हैं? यह प्रश्न पूर्वपक्ष का उदाहरण है।

(२१) विधान—किसी प्रकरण में विषयों का क्रम से वर्णन करना 'विधान' कहलाता है^५। जैसे—सक्थिमर्म क्रमशः न्यारह कहे गये हैं।

१. क्वचित्तथा क्वचिदन्यथेति यः सोऽनेकान्तः। यथा—केचिदाचार्या ब्रुवते द्रव्यं प्रधानं, केचिद्रसं, केचिद्वीर्यं, केचिद्विपाकमिति। —सु० उ० ६५।२४

२. अभिव्याख्यापकर्षणमपवर्गः। यथा—अस्वेद्या विषोपसृष्टाः, अन्यत्र कीटविषादिति। —सु० उ० ६५।२८

३. यद्यत्राभिहितं तस्य प्रातिलोभ्यं विपर्ययः। यथा—कृशाल्पप्राणभीरवो दुश्चिकित्स्या इत्युक्ते विपरीतं गृह्यते दृढादयः सुचिकित्स्या इति।

—सु० उ० ६५।२९

४. आक्षेपपूर्वकः प्रश्नः पूर्वपक्षः। यथा—कथं वातनिमित्ताश्चत्वारः प्रमेहा असाध्या भवन्तीति। —सु० उ० ६५।२५

५. प्रकरणानुपूर्व्याऽभिहितं विधानम्। यथा—सक्थिमर्मण्येकादशप्रकरणानुपूर्व्याऽभिहितानि। —सु० उ० ६५।२९

(२२) अनुमत—किसी दूसरे के सिद्धान्त का अपने ग्रन्थ में बिना खण्डन किये उल्लेख करना 'अनुमत' कहलाता है^१। जैसे—'सात रस होते हैं' इस मत का बिना खण्डन किये ही उल्लेख करने से अपनी भी स्वीकृति प्रतीत होती है।

(२३) व्याख्यान—सर्वसामान्यजन की बुद्धि जिस विषय को न समझ सकती हो, ऐसे किसी विषय का विस्तारपूर्वक अतिशय वर्णन करना 'व्याख्यान' कहलाता है^२। जैसे—धातुभेद से पुरुष चौबीस तत्त्वों से युक्त होता है, यह कहकर पुनः विस्तारपूर्वक चौबीसतत्त्वों का अलग-अलग वर्णन करना व्याख्यान कहा जायगा।

विमर्श—आचार्य चरक ने पुरुष को 'चतुर्विंशतिक' (चौबीस तत्त्वों से युक्त) कहा है। वे अव्यक्त को चेतन मानते हैं, क्योंकि अव्यक्त ही आत्मा है और क्षेत्रज्ञ है 'अव्यक्तमात्मा क्षेत्रज्ञः शाश्वतो विभुरव्ययः'। सुश्रुत ने अव्यक्त (मूलप्रकृति) को अचेतन माना है 'एका तु प्रकृतिरचेतना' और उससे उत्पन्न सभी २३ तत्त्व भी अचेतन माने जाते हैं 'सर्व एवाचेतन एष वर्गः' इस प्रकार इन चौबीस तत्त्वों के अचेतन होने से इनके अलावें पञ्चीसवाँ तत्त्व पुरुष को मानना पड़ता है जो मूलप्रकृति तथा महदादि कार्यों से संयुक्त हो कर इस समुदाय में चैतन्य लाता है 'पुरुषः पञ्चविंशतितमः कार्यकारणसंयुक्तश्चेतयिता भवति' (सुश्रुत० शारीर० १)। किन्तु चरक ने अव्यक्त को चेतन माना है, इसलिए उसे पञ्चीसवाँ तत्त्व मानने की कोई आवश्यकता नहीं होती। चरक ने चौबीस तत्त्वों में अव्यक्त को छोड़ कर शेष तेईस तत्त्वों को क्षेत्र कहा है और अव्यक्त को इसका ज्ञाता अर्थात् क्षेत्रज्ञ कहा है। उसी क्षेत्रज्ञ अव्यक्त से सृष्टि की उत्पत्ति होती है। चरक ने अव्यक्त, बुद्धि, अहंकार और पंचमहाभूत इन आठों को 'भूतप्रकृति' कहा है 'खादीनि बुद्धिरव्यक्तमहंकारस्तथाष्टमः। भूतप्रकृतिरुद्दिष्टा' और पंच ज्ञानेन्द्रिय, पंचकर्मेन्द्रिय, उभयात्मक मन तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इन पाँच अर्थों को कुल मिलाकर इन सोलह तत्त्वों को 'विकार' कहा है। इस प्रकार इन चौबीस तत्त्वों में तेईस क्षेत्र कहे जाते हैं और इस २३ तत्त्वात्मक क्षेत्र का ज्ञाता होने के कारण

१. परमतमप्रतिषिद्धमनुमतम्। यथा—अन्यो ब्रूयात् सप्त रसा इति तच्चा-
प्रतिषेधादनुमन्यते कथञ्चिदिति।

—सु० उ० ६५।२८

२. तन्त्रेऽतिशयोपवर्णनं व्याख्यानम्। यथा—इह पञ्चविंशतिकः पुरुषो
व्याख्यायते, अन्येष्वायुर्वेदतन्त्रेषु भूतादिप्रभृत्यारभ्य चिन्ता।—सु० उ० ६५।३३

अव्यक्त को क्षेत्रज्ञ कहा गया है। जिसका वर्णन चरकसंहिता के शारीरस्थान अध्याय एक में विस्तारपूर्वक किया गया है—

खादीनि बुद्धिरव्यक्तमहङ्कारस्तथाष्टमः ।
 भूतप्रकृतिरुद्दिष्टा विकाराश्चैव षोडश ॥
 बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चैव पञ्च कर्मेन्द्रियाणि च ।
 समनस्काश्च पञ्चार्था विकारा इति संज्ञिताः ॥
 इति क्षेत्रं समुद्दिष्टं सर्वमव्यक्तवर्जितम् ।
 अव्यक्तमस्य क्षेत्रस्य क्षेत्रज्ञमृषयो विदुः ॥
 जायते बुद्धिरव्यक्ताद् बुद्ध्याहमिति मन्यते ।
 परं खादीन्यहंकारादुत्पद्यन्ते यथाक्रमम् ॥
 ततः सम्पूर्णसर्वाङ्गो जातोऽभ्युदित उच्यते ॥

—चरक० शारीर० १।६३-६६३

इस प्रकार विस्तारपूर्वक पुरुष का वर्णन करना 'व्याख्यान' है।

(२४) संशय—एक ही वस्तु में परस्पर विरुद्ध अनेक वस्तुओं का ज्ञान होना 'संशय' है। जैसे—दूरस्थ किसी पुरुषाकृति स्तम्भ को देखकर संशय होता है कि लकड़ी का खम्भा है या पुरुष है? किं वा किसी सिद्धान्त के प्रतिपादन में साधक और बाधक इन दोनों तरह के हेतुओं को देखना 'संशय' कहलाता है। जैसे—पुनर्जन्म नहीं होता? क्योंकि पुनर्जन्म का प्रत्यक्ष नहीं होता है, किन्तु शास्त्रों में पुनर्जन्म का होना कहा गया है, इसलिए पुनर्जन्म होता होगा? इस प्रकार पुनर्जन्म का होना या न होना संशयग्रस्त है।

विमर्श—'चक्रपाणि' के अनुसार—विशिष्ट प्रकार के ज्ञान को प्राप्त करने की इच्छा से जहाँ किसी प्रश्न का अनेक प्रकार से उत्तर दिया जाता है, वहाँ 'संशय' होता है—कि कौन-सा पक्ष सही है और कौन सा पक्ष गलत। जैसे—जन्म का कारण कुछ लोग माता-पिता को मानते हैं कुछ लोग स्वभाव को, कुछ लोग अन्य (ईश्वरादि) से निर्मित होना और कुछ लोग यदृच्छा (घुणा-क्षरन्याय—अर्थात् अकस्मात् घुन जब लकड़ी को काटता है तो कोई अक्षर बन जावे, उसी तरह) को जन्म का कारण मानते हैं। ऐसी स्थिति में संशय होता है, कि वस्तुतः इन कारणों में से जन्म का सही कारण कौन सा है?

१. संशयो नाम विशेषाकांक्षाऽनिर्धारितोभयविषयज्ञानं, यथा—

‘मातरं पितरं चैके मन्यन्ते जन्मकारणम् ।

स्वभावं परनिर्माणं यदृच्छां चापरे जनाः ॥ (चरक० सूत्र० ११।६)

इत्यादिनोक्तः संशयः ।

(२५) अतीतावेक्षा—पूर्व में कहे गये किसी विषय का पुनः उल्लेख करना 'अतीतावेक्षा' कहलाती है^१ । जैसे—चरक चिकित्सास्थान में ज्वररोग में कुटीस्वेद का प्रसङ्ग आने पर यह कहना कि इसका उल्लेख सूत्रस्थान (अध्याय १४) में किया जा चुका है ।

विमर्श—जो बात पहले कह दी गयी हो उसका स्मरण कराना 'अतीता-वेक्षण' कहलाता है । सुश्रुत में इसका नाम 'अतिक्रान्तावेक्षण' रक्खा गया है, जिसका भी अर्थ वही है, केवल शब्दों में अन्तर है ।

(२६) अनागतावेक्षा—भविष्य में (आगे आने वाले प्रकरण में) जिस विषय का वर्णन किया जाने वाला हो, उस विषय की पहले ही चर्चा कर देना 'अनागतावेक्षा' कहलाती है^२ । जैसे—सूत्रस्थान में किसी विषय के वर्णन में यह कहना कि इसका विस्तृत वर्णन चिकित्सास्थान में किया जायगा ।

विमर्श—अनागत (भविष्य) विषय का वर्णन करना या स्मरण करना अथवा चर्चा करना 'अनागतावेक्षा' है । जैसे—चरकसंहिता के सूत्रस्थान अध्याय चार में यह कहा गया है—कि 'जो छह सौ विरेचन योग कहे गये हैं, उनको यहाँ संक्षेप में कहा गया है और विस्तारपूर्वक कल्पस्थान में उनका वर्णन किया जायगा'^३ । इस प्रकार यह भविष्य के विषय में वर्णन करने से 'अनागतावेक्षण' है ।

(२७) स्वसंज्ञा—अपने शास्त्र में प्रसिद्धि द्वारा अर्थ को बोधित करने में समर्थ, किन्तु अन्यशास्त्रों में भिन्नार्थक हो, ऐसी संज्ञा को 'स्वसंज्ञा' कहते हैं^४ । जैसे—आयुर्वेद में घी और मधु के संयोग के लिए 'मिथुन' शब्द का

१. अतीतावेक्षणं नाम यदतीतमेवोच्यते यथा 'सा कुटी तच्च शयनं ज्वरं संशमयत्यपि । (चरक० चि० ३) इत्यत्र स्वेदाध्याय (चरक० सूत्र० १४) विहितकुट्यादिकमतीतमेवेक्षते । (चरक० सिद्धि० १२।७० पर च० टीका)

२. एवं वक्ष्यतीत्यनागतावेक्षणम् । यथा—श्लोकस्थाने ब्रूयात्—चिकित्सितेषु वक्ष्यामीति । —सुश्रुत० उत्तर० ६५।३०

३. षड्विरेचनशतानि इति यदुक्तं; तदिह सङ्ग्रहेणोदाहृत्य विस्तरेण कल्पोपनिषदि व्याख्यातः । —चरक० सूत्र० ४।४

४. अन्यशास्त्रासामान्या स्वसंज्ञा । यथा—मिथुनमिति मधुसर्पिर्बोर्ग्रहणं, लोकप्रसिद्धमुदाहरणं वा । (सुश्रुत० उत्तर० ६५।३४) तथा—स्वसंज्ञा नाम या तन्त्रकारैर्व्यवहारार्थं क्रियते । यथा—जेन्ताक-होलाकादि-संज्ञाः ।

—चरक० सि० १२।७१ चक्र०

जेन्ताक और होलाक ये दोनों स्वेद के प्रकार हैं जिनका वर्णन चरक० सूत्र० अ० १४ में किया गया है ।

प्रयोग किया जाता है जब कि मिथुन शब्द अन्य शास्त्रों में केवल दो के संयोग को कहते हैं। इसी प्रकार 'यमक' (अर्थात् घी, तेल) और 'महास्नेह' (घी, तेल, वसा, मज्जा) शब्द केवल आयुर्वेद में प्रसिद्ध होने से 'स्वसंज्ञा' वाले हैं।

(२८) ऊह्य—किसी ग्रंथ में जो विषय शब्दतः नहीं कहा गया हो; किन्तु बुद्धि से तर्कपूर्वक उस विषय को समझ लिया जावे उसे 'ऊह्य' कहते हैं^१। जैसे—जीवक-ऋषभक आदि द्रव्य स्निग्ध, शीत, मधुर एवं वृष्य गुणयुक्त होने से जीवन शक्ति को बढ़ाते हैं; उसी प्रकार मुनक्का और दूध भी इन गुणों से युक्त हैं, इसलिए ये भी जीवनशक्ति को बढ़ा सकते हैं, यह तर्क करना ऊह्य है^२।

विमर्श—आयुर्वेदशास्त्र में तर्क और ऊह्य का बहुत महत्त्व है, बिना तर्क के विद्या बेकार हो जाती है। केवल शास्त्र पर निर्भर रहने से काम नहीं चल सकता। इसलिए बुद्धिमान् व्यक्ति को तर्क करके अपनी बुद्धि से किसी कर्तव्य का निर्णय करना चाहिए। 'न चैकान्तेन निर्दिष्टे शास्त्रे निविशते बुधः। स्वयम्प्यत्र भिषजा तर्कणीयं ययामति' (चरक)। किसी शास्त्र के किसी प्रकरण में जिस बात का उल्लेख न किया गया हो, किन्तु विशिष्ट बुद्धि से तर्क करके उस बात को समझ लेना ऊह्य कहलाता है। जैसे—शास्त्र में वमन, विरेचन या किसी भी कर्म के लिए जो 'योग' लिखे गये हैं, उनमें से बुद्धिमान् वैद्य को यह निर्देश दिया गया है, कि कोई द्रव्य यदि अनुकूल न प्रतीत हो, तो उसे उस योग में से निकाल दें। इसी प्रकार किसी योग में किसी गुणकारी श्रेष्ठ द्रव्य का उल्लेख न किया गया हो, किन्तु चिकित्सक उसका योग करना श्रेयस्कर समझता हो, तो वह अपनी तर्कबुद्धि के द्वारा उस योग में उस द्रव्य का ग्रहण कर लेवे^३। यही ऊह्य है।

१. यदनिबद्धं ग्रन्थे प्रज्ञया तर्क्यत्वेनोपदिश्यते, यथा—परिसंख्यातमपि यद्-यद्द्रव्यमयोगिकं मन्येत तत्तदपयकर्षयेत् । (चरक० वि० ८)।

—चरक० सिद्धि० १२।७१ पर चक्रपाणि टीका

२. बुद्धिमन्तो हि—'जीवकादयो हि स्निग्धशीतमधुरवृष्यादि-गुणयुक्ताः सन्तो जीवनं कुर्वन्तीति' भूयोदर्शनादुपधायं तद्गुणयुक्तेऽन्यत्रापि द्राक्षापयो-विदार्यादौ तज्जातीयत्वेन जीवनाद्यनुमीयते।

—चरक० सूत्र० ४।२१ पर चक्रपाणि

३. 'तेभ्यो भिषग् बुद्धिमान् परिसंख्यातमपि यद्यद् द्रव्यमयोगिकं मन्येत, तत्तदपयकर्षयेत् यच्चानुक्तमपि योगिकं मन्येत, तत्तद् विदध्यात् । वर्गमपि वर्ग-णोपसंसृजेदेकमेकेनानेकेन वा युक्तिं प्रमाणीकृत्य' । —चरक० विमान० ८।१४९

(२९) समुच्चय—अनेक विषयों का एक में समन्वय करना (जैसे—यह है, यह है और यह भी है) 'समुच्चय' कहलाता है^१ । जैसे—मांसवर्ग में हरिण का मांस, एण का मांस प्रधान होता है, वैसे ही तित्तिर, शारंग, लावा आदि (पक्षियों) का मांस भी प्रधान है ।

(३०) निदर्शन—दृष्टान्त के द्वारा वर्णनीय विषय को प्रस्तुत करना 'निदर्शन' कहलाता है^२ । जैसे—अज्ञात औषध अग्नि और विष की तरह है, जिसका बिना जाने समझे प्रयोग करना घातक होता है ।

विमर्श—दृष्टान्त देकर किसी बात को स्पष्ट तौर पर समझाना 'निदर्शन' है । ऐसा दृष्टान्त, जिसे मूर्ख और विद्वान् दोनों ही समान रूप से समझ सकें, उसे निदर्शन कहते हैं । जैसे—जिस औषध के बारे में कोई जानकारी नहीं है, वह औषधि जहर के समान है और अच्छी तरह से रस-गुण-वीर्य-आदि ज्ञात है, वह औषध अमृत के समान है' यह दृष्टान्त मूर्ख और विद्वान् दोनों के समझने योग्य होने से 'निदर्शन' है ।

(३१) निर्वचन—किसी विषय के प्रसङ्ग में निश्चित वचन कहने को 'निर्वचन'^३ कहते हैं । जैसे—जो शास्त्र आयु का ज्ञान कराता है 'आयुर्वेदयति' उसे आयुर्वेद कहते हैं ।

विमर्श—किसी शब्द को खण्ड-खण्ड करके प्रत्येक खण्ड का अर्थ बतलाना फिर सम्मिलित रूप से अर्थ का विवेचन करना अर्थात् प्रकृति, प्रत्यय, समास का प्रदर्शन करके उसके शब्दार्थ का स्पष्टीकरण करना 'निर्वचन' कहलाता है । जैसे—आयुर्वेद शब्द में आयु और वेद दो शब्द हैं । इन दोनों शब्दों का अलग-अलग क्या अर्थ हैं और जब दोनों शब्द जुट जाते हैं तब 'आयुर्वेद' का क्या अर्थ है ? इसे स्पष्ट शब्दों में व्यक्त करना निर्वचन कहलाता है । यथा—आयुर्वेद शब्द के आयु तथा वेद शब्द का पृथक् पृथक् अर्थ और दोनों का संयुक्तार्थ जानने पर ही 'आयुर्वेद' का यथार्थ निर्वचन होगा ।

१. इदं चेदं चेति समुच्चयः यथा—मांसवर्गे एणहरिणादयो लावतित्तिरि-
शारङ्गाश्च प्रधानानीति । —सुश्रुत० उत्तर० ५५।३८

२. निदर्शनं नाम मूर्खविदुषां बुद्धिसाम्यविषयो दृष्टान्तः, यथा—

‘यथा विषं यथा शस्त्रं यथाग्निरशनिर्यथा ।

तथौषधमविज्ञातं विज्ञातममृतं यथा’ ॥ (चरक० सूत्र० १।१२५) ।

—चरक० सि० १२।७१ पर चक्रपाणि

३. निश्चितं वचनं निर्वचनम् । यथा—आयुर्विद्यतेऽस्मिन्ननेन वा आयुर्विन्द-
सीत्यायुर्वेदः । —सुश्रुत० उत्तर० ६५।३५

आयु—शरीर, इन्द्रिय, मन और आत्मा के संयोग को आयु कहते हैं। जिसके पर्याय हैं—धारि, जीवित, नित्यग तथा अनुबन्ध। आयु के प्रकार—(१) हितायु (२) अहितायु (३) सुखायु और (४) दुःखायु भेद से आयु चार प्रकार की होती है (इन चारों का वर्णन चरक० सूत्र० अ० ३० में विस्तारपूर्वक किया गया है जिसे वहीं देखें)।

वेद—वेद शब्द विद्-धातु से बना है—विद्-धातु ज्ञान, विचार, सत्ता और लाभ इन चार अर्थों में प्रयुक्त है। इस प्रकार वेद का अर्थ हुआ—जानना, विचार करना, वर्तमान रहना (अस्तित्व बोध कराना) और लाभ करना।

आयुर्वेद—पहले जिस आयु का वर्णन किया गया है, उस आयु का ज्ञान, विचार, स्थापन, और लाभ करानेवाला शास्त्र आयुर्वेद कहलाता है। आचार्य चरक ने कहा है—कि 'हितायु, अहितायु, सुखायु, दुःखायु इन चार प्रकार की आयुओं का जहाँ वर्णन है, वहाँ आयु के लिए हितकर और अहितकर द्रव्य, गुण, कर्मों का वर्णन किया गया है, वहाँ आयु का मान कहा गया है और जहाँ आयु के स्वरूप को बतलाया गया है, उस शास्त्र को 'आयुर्वेद' कहते हैं।' इस प्रकार से आयुर्वेद का शब्दार्थ विवेचन 'निर्वचन' कहलाता है। अब संयुक्त 'आयुर्वेद' शब्द की परिभाषा यह हुई कि जिस शास्त्र में हित-अहित आयु, रोगों के निदान तथा उसकी चिकित्सा का विधान और स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य संरक्षण का उपदेश किया गया है, वह आयुर्वेद है। विशाल दृष्टिकोण अपनाने पर यह कहा जा सकता है, कि आयु के और स्वास्थ्य के हित में निर्देश देने वाले सभी शास्त्र, ज्योषित, धर्मशास्त्र, कर्मकाण्ड आदि आयुर्वेद के ही अङ्ग प्रत्यङ्ग हैं। एवं आयुर्वेद कल्पतरु की छाया में ऐहलौकिक और पारलौकिक उभयविध श्रेयस की उपलब्धि होती है—

‘अत्रायत्तमैहिकमामुष्मिकं च श्रेयः’ —सुश्रुत० सूत्र० १।४

हिताहितं सुखं दुःखमायुस्तस्य हिताहितम्।

मानं च तच्च यत्रोक्तमायुर्वेदः स उच्यते ॥—चरक० सूत्र० १।४१

निदर्शन और निर्वचन में भेद—निदर्शन मूल्य और विद्वान् दोनों के लिए समान रूप से समझने लायक होता है, जब कि निर्वचन को पण्डितों की बुद्धि ही समझ सकती है। निर्वचन शब्द का अर्थ है निरुक्ति। उदाहरणार्थ—जो शरीर के सम्पूर्ण अङ्गों में विविध प्रकार से फैल जाता है, उसे विसर्प कहते हैं 'विविधं सर्पति यतो विसर्पस्तेन संज्ञितः' इस निरुक्ति को पण्डित जन ही समझ सकते हैं।

(३२) सन्नियोग—‘ऐसा ही करना चाहिए’ इस प्रकार की प्रेरणा देना ‘सन्नियोग’ कहलाता है^१। जैसे—पथ्य ही खाना चाहिए।

(३३) विकल्प—जहाँ किसी कार्य के करने में द्विविधा की बात कही जाती है, उसे ‘विकल्प’ कहते हैं^२। जैसे—किसी रोगी को यह कहना—कि मद्यपान कम मात्रा में करना चाहिए या नहीं करना चाहिए या जल की अधिक मात्रा मिलाकर पीना चाहिए।

(३४) प्रत्युत्सार—तर्क और उपपत्ति के द्वारा दूसरे के मत का खण्डन करना ‘प्रत्युत्सार’ कहलाता है^३। जैसे—वायोविद आचार्य ने जब यह कहा, कि ‘पुरुष की उत्पत्ति रस से होती है और रोगों की भी उत्पत्ति रस से होती है’ तब हिरण्याक्ष ने कहा कि ‘आत्मा रसज नहीं है’। यह प्रत्युत्सार का उदाहरण है।

(३५) उद्धार—दूसरे की कही बात का खण्डन करके अपने पक्ष का समर्थन करना ‘उद्धार’ कहलाता है^४। जैसे—पुरुष और रोग की उत्पत्ति की संभाषा गोष्ठी में अन्य मतों का खण्डन कर यह कहना कि, जिन भावों की समृद्धि से पुरुष की उत्पत्ति होती है उन्हीं भावों की विपन्नता होने से रोगों की उत्पत्ति होती है।

(३६) सम्भव—जो जिससे उत्पन्न होता है, वह उस उत्पन्न होने वाले का ‘सम्भव’^५ कहलाता है। जैसे—मुख में व्यङ्ग और नीलिका आदि रोग होते हैं और मुख इनकी उत्पत्ति का स्थान होने से ‘सम्भव’ कहा जाता है।

१. इदमेव कर्तव्यमिति नियोगः। यथा—पथ्यमेव भोक्तव्यमिति।

—सुश्रुत० उत्तर० ६५।३७

२. इदं वा इदं वा इति विकल्पः। यथा—रसोदनः सघृता यवागूर्वा।

—सुश्रुत० उत्तर० ६५।३९

३. प्रत्युत्सारो नाम उपपत्त्या परमतनिवारणं, यथा वायोविदः प्राह—‘रसजानि तु भूतानि रसजाः व्याघ्रयः स्मृताः’। (च० सू० २५) इत्यादि, हिरण्याक्षो निषेधयति ‘न ह्यात्मा रसजः स्मृतः’ इत्यादि।

—चरक० सिद्धि० १२।७२ पर चक्रपाणि

४. उद्धारो नाम परपक्षदूषणं कृत्वा स्वपक्षोद्धरणं, यथा ‘येषामेव हि भावानां सम्पत्सञ्जनयेन्नरम्। तेषामेव हि भावानां विपद्व्याधीनुदीरेत्’॥ (चरक० सूत्र० २५) इत्यादिना स्वपक्षोद्धरणम्।

—चरक० सिद्धि० १२।७२ पर चक्रपाणि

५. सम्भवो नाम यद्यस्मिन्नुत्पद्यते स तस्य संभवः। यथा—मुखे पीलु-व्यङ्गनीलिकादयः सम्भवन्तीत्यादि। इत्येताः षट्त्रिंशत् तन्त्रयुक्तयो व्याहृताः।

—चरक० सिद्धि० १२।७२ पर चक्रपाणि

(३७) परिप्रश्न—इसे 'उद्देश' नामक तन्त्रयुक्ति की तरह समझें ।

(३८) व्याकरण—इसे 'व्याख्यान' के समान जानना चाहिए ।

(३९) व्युत्क्रान्ताभिधान—यह 'निर्देश' का ही भेद है ।

(४०) हेतु—इसके अन्तर्गत प्रत्यक्ष अनुमान और शब्द प्रमाण आते हैं ।

नोट—आचार्य सुश्रुत ने बत्तीस तन्त्रयुक्तियों का वर्णन किया है और आचार्य चरक ने उनमें चार और तन्त्रयुक्तियों को जोड़कर उनकी संख्या छत्तीस कही है—वे हैं, (१) प्रयोजन (२) प्रत्युत्सार (३) उद्धार और (४) सम्भव । 'भट्टारहरिश्चन्द्र' ने (१) परिप्रश्न (१) व्युत्क्रान्ताभिधान (३) व्याकरण और (४) हेतु इन चार अतिरिक्त तन्त्रयुक्तियों का वर्णन किया है, किन्तु चक्रपाणि कहना है (चरक० सिद्धि० १२।७२ की टीका) की इन चारों तन्त्रयुक्तियों का पूर्वोक्त तन्त्रयुक्तियों में अन्तर्भाव हो जाता है । जैसे—परिप्रश्न का 'उद्देश' में, व्याकरण का 'व्याख्यान' में, व्युत्क्रान्ताभिधान का 'निर्देश' में और हेतु का प्रत्यक्ष, अनुमान और आप्तोपदेश इन प्रमाणों में अन्तर्भाव हो जाता है^१ । अत एव चरकाचार्य ने अलग से इन चारों के वर्णन की आवश्यकता नहीं समझी है ।

१. भट्टारहरिश्चन्द्रेण त्वन्याश्रतस्तन्त्रयुक्तयः परिप्रश्न-व्याकरण-व्युत्क्रान्ताभिधान-हेत्वाख्या व्याहृताः, ताश्च तन्त्रेऽपठितत्वादेतास्वेवान्तर्भावनीयाः । तत्र परिप्रश्न उद्देशेऽन्तर्भवति, व्याकरणं तु व्याख्याने, व्युत्क्रान्ताभिधानं निर्देश-प्रभेदः, हेतुशब्देन यानि प्रत्याक्षादीनि प्रमाणान्युक्तानि तानि हेतावन्तर्भवन्ति ।

—चरक० सिद्धि० १२।७२ पर चक्रपाणि टीका

एकविंश अध्याय प्रकीर्ण-विषय-विज्ञान

वात, पित्त और कफ का मन पर प्रभाव

वात, पित्त और कफ समस्त शरीर में परिब्याप्त हैं। वायु जब प्राकृत स्थिति में रहता है, तब वह शरीर की विविध चेष्टाओं का प्रवर्तन करता है। वायु मन का नियन्त्रण और प्रेरण करता है। इन्द्रियों को अपने-अपने अर्थों में लगाने वाला और इन्द्रियार्थों को इन्द्रियों तक पहुँचाने वाला वायु ही है^१। जब वायु प्रकुपित होता है तब वह शरीर में अनेक प्रकार के उपद्रव खड़ा कर देता है और बल, वर्ण और आयु को भी नष्ट कर देता है। प्रकुपित वायु मन को दुःखी बनाता है और सभी इन्द्रियों की शक्ति को नष्ट कर देता है।

इसी प्रकार पित्त अपनी प्राकृत दशा में अन्न का सम्यक् पाचक, कान्ति, एवं शौर्य, पराक्रम, हर्ष और प्रसन्नताजनक होता है और विकृत होने पर शोक, भय, क्रोध, मोह आदि मानस विकारों को उत्पन्न करता है^२।

एवं श्लेष्मा अपनी प्राकृत स्थिति में रहने पर उत्साह वृषता, ज्ञान, बुद्धि आदि का सम्बर्धन करता है और विकृतावस्था में नपुंसकता, अज्ञान और मोह को उत्पन्न करता है^३। अन्यत्र भी वायु के कार्य में उत्साह, मानसिक चेष्टाओं को प्रवृत्त करना आदि कर्म बतलाये गये हैं^४। पित्त के कार्य में मन की प्रसन्नता और धारणा शक्ति वाली बुद्धि को बढ़ाना बतलाया गया है^५ एवं सहि-

१. प्रवर्तकश्चेष्टानामुच्चावचानां, नियन्ता, प्रणेता च मनसः, सर्वेन्द्रियाणामुद्योजकः, सर्वेन्द्रियार्थानामभिवोढा.....हर्षोत्साहयोर्योनिः।

—चरक० सूत्र० १२।८

२.शौर्यं भयं क्रोधं हर्षं मोहं प्रसादमित्येवमादीनि....

—चरक० सूत्र० १२।११

३.उत्साहमालस्यं वृषतां क्लीबतां ज्ञानमज्ञानं बुद्धिमोहमित्येवमादीनि चापराणि द्वन्द्वानीति।

—चरक० सूत्र० १२।१२

४. उत्साहोच्छ्वासनिःश्वासचेष्टा घातुगतिः समा।

समो मोक्षो गतिमतां वायोः कर्माविकारजम् ॥ —च० सू० १८।४९

५. दर्शनं पक्तिरूपमा च क्षुत्तृष्णा देहमार्दवंम्।

प्रभा प्रसादो मेघा च पित्तकर्माविकारजम् ॥ —च० सू० १८।५०

ष्णुता धैर्यं धारण करना और लोभ न करना, ये सब कफ के प्राकृत कर्म कहे गये हैं^१। इस तरह वात, पित्त और कफ का मन पर प्रभाव का होना स्पष्ट रूप में परिलक्षित होता है। वात, पित्त और कफ शरीर के प्रत्येक अणु में फैले हुए हैं^२। मन के विषय में भी यही बात है, कि शरीर में जितने अंश तक चेतना है वहाँ तक मन की गति है^३। शरीरक्रिया-विज्ञान की दृष्टि से विचार करने पर ऐसा अनुभव होता है, कि वायु की ही प्रेरणा से मन भी कार्य करता है। सभी संज्ञाएँ और चेष्टाएँ जो मन के द्वारा होती हैं उनका प्रेरक वायु ही है। जिस प्रकार शरीर में वात, पित्त, कफ प्राकृत अवस्था में धातु और जब शरीर को दूषित करते हैं, तो दोष और जब शरीर को मलिन बनाते हैं, तो मल कहे जाते हैं^४ उसी तरह की मन की भी कुछ हद तक स्थिति है। मन के तीन गुण कहे गये हैं, जिनमें वस्तुतः एक ही गुण है, जिसे सत्त्व कहते हैं, क्योंकि वह दोषरहित होता है और शरीर के शुभ भावों का जनक होता है। एवं रज और तम मानस दोष कहे गये हैं^५। शरीर के वायुदोष की विकृतावस्था में रज के विकार और कफदोष की विकृतावस्था में तम के विकार उभड़ते देखे जाते हैं।

कारण यह है, कि शारीरदोष वात-पित्त-कफ और मानसदोष रज और तम इन दोनों के प्रकोप के कारण एक ही हैं^६। जब वातादि दोष दूषित होते हैं, तो वे रज और तम को भी दूषित कर मानस विकार उत्पन्न करते हैं। जब भी कोई शारीरिक रोग होता है तो शरीर के साथ मन को भी व्यथा होती

१. स्नेहो बन्धः स्थिरत्वं च गौरवं दृषता बलम् ।

क्षमा धृतिरलोभश्च कफकर्माविकारजम् ॥

—चरक० सूत्र० १८।५१

२. वात-पित्त-श्लेष्मणां पुनः सर्वशरीरचराणां सर्वाणि स्रोतांस्ययन-भूतानि ।

—च० वि० ५।६

३. अतीन्द्रियाणां पुनः सत्त्वादीनां केवलं चेतनावच्छरीरमयनभूतमधिष्ठान-भूतं च ।

—च० वि० ५।६

४. शरीरदूषणात् दोषा घातवो देहधारणात् ।

वातपित्तकफा ज्ञेया मलिनीकरणान्मलाः ॥

—शाङ्गधर० पू० ख० ५।२४

५. मानसः पुनरुद्दिष्टो रजश्च तम एव च ॥

—चरक० सू० १।५७

६. तत्र खल्वेषां द्वयानामपि दोषाणां त्रिविधं प्रकोपणम्, तद्यथा—असात्म्येन्द्रियार्थः, प्रज्ञापराधः, परिणामश्चेति ।

—चरक० वि० ६।६

है। शारीरिक रोग पहले तो शरीर को पीड़ा पहुँचाते हैं पश्चात् मन को भी प्रभावित कर बैठते हैं, इसका कारण स्पष्ट है कि रोगोत्पादक वात-पित्त-कफ की विकृति का मन पर भी प्रभाव पड़ता है।

^१शारीरिक और मानसिकविकार परस्पर अनुबद्ध हो जाते हैं, जिससे शरीर और मानस दोनों ही प्रकार की विकृतियाँ बढ़ जाती हैं।

सुश्रुताचार्य ने कहा है कि जितने भी रोग होते हैं वे वात-पित्त-कफ से ही होते हैं। वे रोग शरीर में हो या मन में हों, उन सबमें ही उक्त तीनों दोष अवश्य कारण होते हैं^२ इसी दृष्टि से मानसरोगों के निदान^३ में भी वातज, पित्तज, कफज आदि भेद बतलाए गये हैं। मानस रोगों में मानस दोष रज और तम दूषित होते हैं और उनको दूषित करने वाले वात-पित्त-कफ ही होते हैं। एवं शारीरिक और मानसविकार एक दूसरे के साथ मिल कर अन्य-अन्य विकृतियों को उत्पन्न कर रोग को बढ़ा देते हैं। अतः वात-पित्त-कफ का मन पर निश्चित ही प्रभाव पड़ता है।

परमाणु-लक्षण

रोशनदान या जँगले की जाली से छनकर जब सूर्य की किरणें कमरे के भीतर प्रवेश करती हैं, तो उन किरणों की रोशनी में धूलि के सूक्ष्म कण उड़ते हुए दीख पड़ते हैं। उनमें से किसी एक धूलिकण के तीसवें भाग को 'परमाणु' कहते हैं^४।

वैशेषिकदर्शन के अनुसार 'जो परम अणु अर्थात् परम सूक्ष्म परिमाण

१. ते च विकाराः परस्परमनुवर्तमानाः कदाचिदनुबद्धान्ति कामादयो ज्वरादयश्च। नियतस्त्वनुबन्धो रजस्तमसोः परस्परम्। न ह्यरजस्कं तमः प्रवर्तते।

—चरक० विमान० ६।८-९

२. सर्वेषां च व्याधीनां वातपित्तश्लेष्माण एव मूलं; तल्लिङ्गत्वात्, इष्ट-फलत्वाच्च आगमाच्च। यथा हि कुत्सं विकारजातं विश्वरूपेणावस्थितं सत्त्व-रजस्तमांसि न व्यतिरिच्यन्ते, एवमेव कुत्सं विकारजातं विश्वरूपेणावस्थित-मव्यतिरिच्य वातपित्तश्लेष्माणो वर्तन्ते।

—सुश्रुत० सूत्र० २४।८

३. इह खलु पञ्चोन्मादा भवन्ति तद्यथा—वात-पित्त-कफ-सन्निपाता-गन्तु-निमित्ताः।

—चरक० नि० ७।३

इह खलु चत्वारोऽपस्मारा भवन्ति, वात-पित्त-कफ-सन्निपात-निमित्ताः।

—चरक० नि० ८।३

४. जालान्तर्गते भानौ सूक्ष्मं यद् दृश्यते रजः।

तस्य त्रिशत्तमो भागः परमाणुः प्रकीर्तितः॥ —शा० सं० पू० १७

वाला हो, उसे 'परमाणु' कहते हैं^१। जहाँ अवयवगत क्रिया द्वारा लोष्ट आदि अवयवी द्रव्य के अवयवों का परस्पर उत्तरोत्तर विभाग होने के कारण जहाँ अवयवावयवी विभाग का प्रवाह निवृत्त होकर शेष में जो परमसूक्ष्म अवयव रहता है (जिसके बाद किसी अन्य अवयव का विभाग नहीं हो सकता अर्थात् जो परम सूक्ष्म निरवयव द्रव्य है) वही 'परमाणु' है।

वात्स्यायन ने न्यायभाष्य में कहा है—कि जब ढ़ेले (लोष्ट) के पीसने से उसके अवयवों का विभाग हो जाता है और उस विभाग के पिसे जाने पर क्रमशः अल्प, अल्पतर और अल्पतम अवयव बन जाते हैं, एवं वे अवयव अन्तिम रूप से इतने सूक्ष्म हो जाते हैं, जब कि उनका विभाजन रुक जाता है और फिर उन-उन अवयवों का विभाजन नहीं हो सकता। इस प्रकार 'अवयवरहित होने से अन्त्यावयव निरवयव रूप परमसूक्ष्म अवयव परमसूक्ष्म होने के कारण परमाणु कहलाता है'^२।

आधुनिक वैज्ञानिक जिस तोड़ने योग्य अवयव को भी परमाणु कहते हैं, वह वस्तुतः परमाणु नहीं है, क्योंकि निरवयव पदार्थ का अवयव विभाग नहीं होता और परमाणु निरवयव होता है और उसे तोड़ा नहीं जा सकता है, अतः उसे पारिभाषिक परमाणु ही समझना चाहिए।

परमाणुनित्यता-विचार—खिड़की या जंगले के अन्दर वर्तमान सूर्य-किरणों के मध्य में जो अत्यन्त छोटा धूलिकण (त्र्यणुक) दीखता है, वह जन्य द्रव्य होने के कारण सावयव है। इस तरह यह सिद्ध होता है, कि उसका अवयव (द्व्यणुक) भी जन्य द्रव्य होने के कारण सावयव है। इस प्रकार जो उसका अवयव है, वही परमाणु है और वह निरवयव है, क्योंकि यदि उसे भी सावयव माना जायगा, तो तुल्ययुक्ति होने से उसके भी अवयव सावयव होंगे। इस तरह अनन्त अवयव-अवयवी धारा चल पड़ेगी, तब राई और पर्वत के परिमाण में भेद होना कठिन हो जायगा, क्योंकि दोनों अनन्तावयव होंगे।

१. परमाणुत्वपरिमाणवान् परमाणुः ।

—वैशेषिकदर्शन ३।१

यत्रोत्तरोत्तरं गच्छन्नवयवावयवी प्रवाहस्तावदुपरमते यतश्च नापरं किञ्चिदल्पतरं विद्यते, यः खलु परमोज्ज्वलीयान् स परमाणुरिति परिभाष्यते ।

—प्रशस्तपादभाष्य

२. ... निरवयवत्वं तु खलु परमाणोर्विभागैरल्पतरप्रसङ्गस्य यतो नाल्पीयस्तत्रावस्थानात्, लोष्टस्य प्रविभज्यमानावयवस्याल्पतरमल्पतममुत्तरोत्तरं भवति, स चायमल्पतरप्रसङ्गः यस्मान्नाल्पतरमस्ति, यः परमोज्ज्वलस्तत्र निवर्तते, यतश्च नाल्पीयोऽस्ति, तं 'परमाणुं' प्रचक्ष्महे । इति ॥ —वात्स्यायनन्यायभाष्य

परमाणु को निरवयव मानने पर यह दोष नहीं होगा, क्योंकि निरवयव परमाणुओं की संख्या का तारतम्य दोनों के परिमाणुओं का भेदक हो जाता है अर्थात् जितने परमाणुओं से राई बनी है उनसे कहीं अधिक परमाणुओं से पर्वत बना है। अतः दोनों के परिमाण भिन्न-भिन्न होते हैं। एवं निरवयव होने के कारण ही परमाणु नित्य है।

विमर्श—परिमाण चार प्रकार का होता है—(१) अणु (२) महत् (३) ह्रस्व और (४) दीर्घ। यह नियम है, कि कोई वस्तु किसी प्रकार से उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होती जाय अथवा उत्तरोत्तर न्यूनता की ओर बढ़ती जाय, तो दोनों ही परिस्थितियों का किसी न किसी सीमा पर विश्राम अवश्य होता है। इस नियम के अनुसार, जैसे—पृथिवी आदि द्रव्यों के उत्तरोत्तर अधिक होने से महत् परिमाण की समाप्ति आकाश में देखी जाती है अर्थात् पृथिवी आदि की अपेक्षा आकाश महत्परिमाणवाला है, वैसे ही पृथिवी आदि द्रव्यों के उत्तरोत्तर विभाग होने से उत्तरोत्तर अणु परिमाण की समाप्ति भी किसी केन्द्र पर अवश्य होनी चाहिए। इस प्रकार जहाँ पृथिवी आदि द्रव्यों के अन्त्य अवयव में अणु परिमाण की समाप्ति होती है अर्थात् जिसके बाद अन्य कोई अणु परिमाण वाला अवयव नहीं हो सकता, वही परम अणु परिमाण का आधार होने से वैशेषिक मत में 'परमाणु' नाम से कहा जाता है। परम सूक्ष्म होने से वह प्रत्यक्ष का विषय नहीं होता, किन्तु उसकी सिद्धि अनुमान प्रमाण से होती है। अनुमान का प्रकार—जंगले या रोशनदान से छनकर कमरे के भीतर आती हुई रविरश्मियों के बीच जो सूक्ष्म धूलिकण दृष्टिगोचर होते हैं उन्हें त्र्यणुक या त्रसरेणु कहते हैं। जो द्रव्य नेत्रेन्द्रिय से दिखाई पड़ता है, वह अवश्य अवयवजन्य है। जैसे—'घट'द्रव्य नेत्र से प्रत्यक्ष होने के कारण कपाल आदि अवयवों से जन्य है, वैसे ही द्रव्यरूप त्र्यणुक भी चाक्षुष प्रत्यक्ष का विषय होने से अवयवजन्य है। (त्र्यणुक के आरम्भिक अवयव वही द्व्यणुक हैं अर्थात् त्र्यणुक के अवयव का ही नाम द्व्यणुक है, क्योंकि परस्पर संयुक्त हुए तीन द्व्यणुकों से त्र्यणुक रूप कार्य द्रव्य की उत्पत्ति होती है) इस प्रकार द्व्यणुक की सिद्धि के बाद 'परमाणु' की सिद्धि के लिए यह अनुमान है—कि जो महत्परिमाणवाले द्रव्य का आरम्भिक है, वह अवश्यमेव अवयवजन्य होता है (द्व्यणुकम् अवयवजन्यं महदारम्भकत्वात् कपालवत्), जैसे—कपाल महत्परिमाणवाले 'घट'रूप द्रव्य के आरम्भिक होने से कपालरूप अवयवों द्वारा जन्य है, वैसे ही द्व्यणुक भी महत्परिमाणवाले त्र्यणुकरूप द्रव्य का आरम्भिक होने से अवयवजन्य होना चाहिए। एवं जो द्व्यणुक का आरम्भिक द्रव्य है, वही परमाणु है। इस प्रकार अनुमान के द्वारा परमाणु सिद्ध होता है।

परमाणु निरवय तथा नित्य है—जिस द्रव्य के आरम्भक तथा अवयवों की संख्या अधिक होती है वह अधिक परिमाणवाला होता है तथा जिसके आरम्भक अवयवों की संख्या न्यून होती है वह न्यून परिमाण वाला होता है, यह नियम है। इस नियम के अनुसार 'हिमालय' के आरम्भक अवयवों की संख्या अधिक और 'सर्षप' के आरम्भक अवयवों की संख्या न्यून है।

यदि अवयवी द्रव्यों के उत्तरोत्तर विभाग द्वारा अवयवों के विभाजन की शृङ्खला लगातार चालू मानी जाय और कोई परमसूक्ष्म अन्त्यावयव न माना जाय, तब तो हिमालय और सर्षप इन दोनों के उत्तरोत्तर विभाग की भी कहीं इति श्री (समाप्ति) नहीं होगी और उत्तरोत्तर विभाग की शृङ्खला न टूटने से दोनों तुल्य परिमाण वाले होने चाहिए (हिमालय-सर्षपयोरपि साम्यत्वप्रसङ्गः), किन्तु ऐसा नहीं है हिमालय और सरसों की समानता कथमपि बुद्धिगम्य नहीं हो सकती। इससे यह सिद्ध है, कि कहीं न कहीं अवयव-विभाजन की परम्परा समाप्त होती है और वह समाप्ति जहाँ है, वही 'परमाणु' है। परमाणु निरवयव होने के कारण नित्य है। परमाणु पृथिवी आदि कार्यद्रव्यों का समवायिकारण होने पर भी अवयवजन्य नहीं किन्तु निरवयव है। यदि एक ही परमाणु पृथिवी आदि द्रव्यों का आरम्भक होता, तो इसके नित्य होने से निरन्तर कार्य की उत्पत्ति होती रहती और कार्य का विनाश कभी न होता। कार्य विनाश के दो हेतु होते हैं—(१) अवयव-विभाग और (२) अवयव-विनाश। परमाणु में अवयवविभाग संभव नहीं और न तो उसमें अवयवविनाश की संभावना है, क्योंकि परमाणु नित्य है।

परमाणुवाद और प्रकृतिवाद

जगत् के उपादान के विषय में शास्त्रों में मौलिक दृष्टि से मतभेद न होते हुए भी संज्ञा की भिन्नता है, जैसे—सृष्टि के आदि में परमात्मा की प्रकृतिरूप दिव्यशक्ति अपने गुणों के साथ अव्यक्त अवस्था में रहती है। वह स्थिति, मूल कारण, अव्यक्त, दैवीशक्ति, माया, महामाया, पराशक्ति इत्यादि नामों से सम्बोधित की जाती है। न्याय, वैशेषिक और मीमांसा में इनकी परमाणु संज्ञा है। परमाणु असंख्य होते हुए भी तीन प्रकार के होते हैं—सत्त्व, रज और तम। सांख्य, योग और वेदान्त—इन्हें ही त्रिगुण कहते हैं। प्रकृति को भी त्रिगुणात्मिका कहा गया है और इन तीन गुणों की साम्यावस्था को प्रकृति कहा गया है। सत्त्व आदि तीनों गुण जिसमें समान हों, ऐसे अत्यन्त सूक्ष्म, सर्वत्र व्यापक सृष्टि के मूल तत्त्व को मूलप्रकृति (Supreme nature) कहते हैं।

आधुनिक वैज्ञानिक सृष्टि को परमाणुजन्य मानते हैं, परन्तु इनका परमाणु विभाज्य और अनित्य है। भारतीय दार्शनिक गौतम तथा कणाद का परमाणु

नित्य तथा अविभाज्य है। आधुनिक मत में परमाणु पञ्चभौतिक है, जब कि गौतम और कणाद के परमाणु भूतोत्पादक हैं। पाँच महाभूतों में से चार भूत पृथिवी, जल, तेज और वायु परमाणुरूप से और आकाश व्यापक रूप से किसी द्रव्य की उत्पत्ति में कारण होते हैं। द्रव्यों का विभाजित न होनेवाला अंश परमाणु है। जब मूलप्रकृति में सत्वगुण की अधिकता होती है तब उसे 'महत्तत्त्व' (Intellectuality) कहते हैं और जब उसमें रजोगुण की अधिकता होती है तब उसे अहंकार (Egoism) कहते हैं। गुण और गुणी का अभेद सम्बन्ध मानकर अहंकार शब्द से अहंकार गुण वाले परमाणु लिए जाते हैं। इस प्रकार प्रकृति और महत्तत्त्व, अहंकार और पञ्चतन्मात्रा ये आठ नाम परमाणुओं (प्रकृति) के ही हैं। यही अव्यक्त अष्टरूप होकर संसार का निर्माण करता है। इस प्रकार मूलतः विचार करने पर जो प्रकृति है वही परमाणु है और जो परमाणु है वही प्रकृति है, एवं शब्दशः ये दोनों अलग भले ही हों, किन्तु अर्थशः दोनों एक ही हैं।

परमाणु और तन्मात्रा

सांख्य और वैशेषिक दर्शनों के अनुसार यह सृष्टि पञ्चभौतिक संरचना है। जगत् के निर्माण में पञ्चमहाभूत अपने सूक्ष्मरूप से एक दूसरे से मिलकर सृष्टि करते हैं। पञ्चमहाभूतों के जो सूक्ष्मरूप हैं उन्हें ही 'तन्मात्रा' कहते हैं। वे अतीन्द्रिय हैं और दृष्टिगोचर नहीं होते हैं। किसी कार्यद्रव्य की उत्पत्ति में पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश, ये पञ्चमहाभूत अपनी तन्मात्रा (सूक्ष्मरूप) के न्यूनाधिक अंश में सम्मिलित होते हैं। जैसे—पार्थिव द्रव्य की उत्पत्ति में पृथ्वी सूक्ष्मभूत (गन्धतन्मात्रा) अन्य सूक्ष्मभूतों की अपेक्षा अधिक होती है। इसी प्रकार जलीय द्रव्यों में जलसूक्ष्मभूत (रसतन्मात्रा), तैजस द्रव्यों में तेज सूक्ष्मभूत (रूपतन्मात्रा); वायवीय द्रव्यों में वायु सूक्ष्मभूत (स्पर्श-तन्मात्रा) और आकाशीय द्रव्यों में आकाश सूक्ष्मभूत (शब्दतन्मात्रा) अन्य भूतों की अपेक्षा अधिक होता है। इसी बात को दूसरे शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं, कि पृथिवी, जल, तेज और वायु अपने सूक्ष्मरूप अर्थात् 'परमाणु' रूप से संसार की उत्पत्ति में कारण होते हैं।

वैशेषिक दर्शन के सिद्धान्तानुसार संसार का कारणद्रव्य, परमसूक्ष्म अतीन्द्रिय तत्त्व 'परमाणु' को माना गया है और सांख्यदर्शन के अनुसार जगत् का कारण द्रव्य परमसूक्ष्म अतीन्द्रिय 'तन्मात्रा' को माना गया है। ये दोनों संज्ञा-भेद से दो अलग-अलग तत्त्व भले ही समझे जाय, किन्तु वास्तविकता यह है, कि ये दोनों एक ही पदार्थ हैं और इनमें कोई भेद नहीं है।

श्रीमद्भागवत में परमाणु-लक्षण

सत् कार्य के विशेष अंशों का जो अन्त्य अंश हो (अर्थात् जिसका फिर दूसरा अंश न हो) जो कार्यावस्था को न प्राप्त हो, जो सदा रहता हो, कार्य एवं समुदायावस्था के न रहने पर भी जो रहता हो, उसे 'परमाणु' कहते हैं ।

जिन समुदितों से व्यवहार करनेवाले मनुष्यों को ऐक्य का भ्रम हो अर्थात् अवयवी होने की बुद्धि हो तथा जिनमें समूह के द्वारा विशेषता उत्पन्न की गयी हो, उनको 'परमाणु' कहते हैं ।

जिसका अन्तिम अंश परमाणु होता है उसी सत् कार्यमात्र का अपने स्वरूप में स्थित अर्थात् जिसके परिणाम न हुए हों, उसका जो कैवल्य हो, वह परम महान् होता है । यह अविशेष है अर्थात् निरन्तर भेद की विवक्षा से रहित समस्त जगत् का प्रपञ्च परम महान् कहा जाता है—

चरमः सद्विशेषाणामनेकोऽसंयुतः सदा ।

परमाणुः स विज्ञेयो नृणामैक्यभ्रमो यतः ॥

सत एव पदार्थस्य स्वरूपावस्थितस्य यत् ।

कैवल्यं परमं महानविशेषो निरन्तरः ॥

—श्रीमद्भागवत ३।१।१-२

अवयव-अवयवी-विचार

किसी समुदाय के एक भाग को अवयव कहते हैं, जैसे—मानवशरीर छः अङ्गोंवाला होता है—'षडङ्गं शरीरम्' और हाथ, पैर आदि उसके अंग या अवयव कहलाते हैं । एवञ्च अनेक अवयवों के संयुक्त होने पर किसी अवयवी का निर्माण होता है—'अवयवोऽस्यास्तीति अवयवी' ।

जैसे—'दशमूल' दस तरह के द्रव्यों को संयुक्त कर बनाये गये समुदाय या अवयवी की संज्ञा है ।

प्रायः अवयवों के गुणों के अनुसार ही अवयवी का भी गुण होता है । दशमूल के पृथक् पृथक् दसों द्रव्य वातनाशक हैं और संयुक्त अवयवी के रूप में भी दशमूल वातनाशक होता है ।

यहाँ यह ज्ञातव्य है, कि कहीं-कहीं अवयवी का गुण मिश्रित अवयवों से भिन्न होता है, अतः अवयवों के संयोग को दो प्रकार का जानना चाहिये—

१. प्रकृति अनुगुण और २. प्रकृति अननुगुण ।

(१) प्रकृति अर्थात् कारण (अवयव) के गुणों के अनुरूप अवयवी समुदाय में जब गुण पाया जाता है, तो उसे प्रकृति अनुगुण या प्रकृति सम-समवाय

कहते हैं। मूल अवयवों के अनुसार अवयवी में भी गुण का पाया जाना 'प्रकृति सम-समवाय' है।

(२) जहाँ अवयवी में संयुक्त अवयवों के गुण परिवर्तित हो जाते हैं और अवयव समुदाय का अपने प्रकृत अवयवों के गुणों के विपरीत गुण पाया जाता है वहाँ प्रकृति अननुगुण या विकृतिविषमसमवाय होता है।

इसलिए सर्वत्र अवयव के गुणों के ही अनुसार अवयवी का गुण नहीं होता है, अपितु दोनों तरह की बातें देखी जाती हैं—अवयव के गुणानुसार और अवयव के गुणों से भिन्न। अतः अवयव और अवयवी दोनों के गुणों का ज्ञान होना अपेक्षित है।

भावना-विचार

लक्षण—किसी उत्पद्यमान वस्तु की उत्पत्ति के अनुकूल उत्पादक का जो व्यापारविशेष होता है, उसे 'भावना' कहते हैं^१ अर्थात् भावना एक प्रकार की प्रेरणा है, जो वैदिक वाक्यों के सुनने पर यज्ञ आदि क्रियाओं के अनुष्ठान के लिए उत्पन्न होती है। जैसे—'स्वर्गकामो यजेत' इस वैदिक वाक्य के श्रवण के अनन्तर यज्ञ करने की प्रेरणा उत्पन्न होती है।

भावना के भेद

भावना के दो भेद होते हैं—(१) शाब्दी भावना और (२) आर्थी भावना।

(१) शाब्दी भावना का लक्षण—पुरुष की प्रवृत्ति के अनुकूल प्रेरक का जो व्यापारविशेष होता है, उसे 'शाब्दी भावना' कहते हैं^२। लौकिक वाक्य में व्यापारविशेष पुरुषनिष्ठ अभिप्रायविशेष माना जाता है, किन्तु वैदिक वाक्य में पुरुषाभाव होने से व्यापारविशेष लिङ् (लकार) आदि शब्दनिष्ठ माना जाता है, इसे ही शाब्दी भावना कहते हैं।

शाब्दी भावना के तीन अंश—यह शाब्दी भावना तीन अंशों की अपेक्षा रखती है—(१) साध्य, जैसे—कि भावयेत्, (२) साधन जैसे—केन भावयेत् और (३) इतिकर्तव्यता, जैसे—कथं भावयेत्।

१. भवितुर्भवनानुकूलो भावयितुर्व्यापारविशेषो भावना नाम। सा द्विविधा—शाब्दी भावना, आर्थी भावना चेति।

—अर्थसङ्ग्रहः

२. तत्र पुरुषप्रवृत्त्यनुकूलो भावयितुर्व्यापारविशेषः शाब्दी भावना। सा च भावना अंशत्रयमपेक्षते, साध्यं साधनमितिकर्तव्यतां चेति—किं भावयेत्, केन भावयेत्, कथं भावयेदिति।

—अर्थसङ्ग्रहः

(२) आर्थी भावना का लक्षण—फलप्राप्ति की इच्छा से उत्पन्न क्रिया का विषयव्यापार ही 'आर्थी भावना' कहलाता है^१ ।

आर्थी भावना के तीन अंश—यह आर्थी भावना भी तीन अंशों की अपेक्षा रखती है—(१) साध्य (२) साधन और (३) इतिकर्तव्यता । जैसे—क्रमशः 'किं भावयेत्' 'केन भावयेत्' और 'कथं भावयेत्' । यहाँ साध्याकाङ्क्षा में स्वर्गादिकल 'साध्य' हैं । साधनाकाङ्क्षा में 'याग' आदि क्रिया 'साधन' हैं, एवं इतिकर्तव्यताकाङ्क्षा में यागविधानप्रक्रिया 'इतिकर्तव्यता' है ।

वेदवाक्यों के पाँच भेद

(१) विधि (२) मन्त्र (३) नामधेय (४) निषेध और (५) अर्थवाद भेद से समस्त वैदिक वाक्य पाँच भागों में विभक्त हैं^२ ।

(१) विधि—अज्ञात अर्थ के ज्ञापक वेदभाग को 'विधिवाक्य' कहते हैं^३ । जैसे—'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' इस विधिवाक्य द्वारा अन्य प्रमाण से अज्ञात स्वर्गप्राप्तिरूप अर्थ के लिए अग्निहोत्र का विधान किया गया है ।

विधिवाक्य के भेद—यह विधिवाक्य (i) उत्पत्तिविधि (ii) विनियोगविधि (iii) अधिकारविधि और (iv) प्रयोगविधि, इन चार भागों में विभक्त है ।

(i) उत्पत्तिविधि—कर्म के स्वरूप मात्र को बताने वाली विधि को 'उत्पत्तिविधि' कहते हैं^४ । जैसे—'अग्निहोत्रं जुहोति इति' ।

(ii) विनियोगविधि—अङ्गप्रधान अनुष्ठानों के सम्बन्ध-बोधक विधि को 'विनियोगविधि' कहते हैं^५ । जैसे—'दध्ना जुहोति इति' ।

१. प्रयोजनेच्छाजनितक्रियाविषयव्यापार आर्थी भावना । साप्यंशत्रयमपेक्षते—साध्यं साधनमितिकर्तव्यतां चेति, किं भावयेत्, केन भावयेत्, कथं भावयेदिति ।

—अर्थसङ्ग्रहः

२. अपौरुषेयं वाक्यं वेदः । विधि-मन्त्र-नामधेय-निषेध-अर्थवादभेदात् पञ्चविधः ।

—अर्थसंग्रहः

३. तत्र अज्ञातार्थज्ञापको वेदभागो विधिः । यथा—'स्वर्गकामो यजेत' ।

—अर्थसंग्रहः

४. कर्मस्वरूपमात्रबोधको विधिरुत्पत्तिः । यथा—अग्निहोत्रं जुहोतीति ।

—अर्थसंग्रहः

५. अङ्गप्रधानसम्बन्धबोधको विधिर्विनियोगः । यथा—दध्ना जुहोतीति ।

—अर्थसंग्रहः

विनियोग विधि के सहकारी छह प्रमाण—विनियोग विधि के सहकारीभूत छह प्रमाण माने गये हैं—१. श्रुति २. लिङ्ग ३. वाक्य ४. प्रकरण ५. स्थान और ६. समाख्या ।

१. **श्रुति**—प्रमाणान्तर की अपेक्षा न करने वाला शब्द 'श्रुति' कहलाता है । यह विधात्री, अभिधात्री और विनियोकत्री भेद से तीन प्रकार का होता है ।

२. **लिङ्ग**—शब्दसामर्थ्य को 'लिङ्ग' कहते हैं ।

३. **वाक्य**—शेष-शेषिवाचक पदों का एक साथ उच्चारण 'वाक्य' कहलाता है । जैसे—'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति, न स पापं श्लोकं शृणोतीति ।'

४. **प्रकरण**—उपकार्याकाङ्क्षा और उपकारकाकाङ्क्षा 'प्रकरण' कहलाता है । जैसे—'समिधो यजति' यहाँ 'क्यों' ? इस प्रकार की उपकार्याकाङ्क्षा रहती है और 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गं भावयेत्' यहाँ पर 'कैसे' ? यह उपकारकाङ्क्षा रहती है ।

५. **स्थान**—किन्हीं दो या अधिक क्रियाओं में देशसामान्य हो, तो उसे 'स्थान' कहते हैं ।

६. **समाख्या**—योगिक शब्द को 'समाख्या' कहते हैं ।

(iii) **अधिकारविधि**—कर्मजन्य फल की भोक्तृत्व विधि को 'अधिकारविधि' कहते हैं^१ । जैसे—'अहरहः सन्ध्यामुपासीत' ।

(iv) **प्रयोगविधि**—प्रयोग के भावों को शीघ्र बोध कराने वाली विधि को 'प्रयोगविधि' कहते हैं ।

(२) **मन्त्र**—प्रयोग के समवेत अर्थ के स्मारक मन्त्र होते हैं । नियमविधि के आश्रयद्वारा मन्त्रों से स्मरणीय ज्ञान होता है । इस प्रकार अर्थ के स्मारक होने से मन्त्रों में अर्थवत्त्व है^२ । इस सन्दर्भ में नियमविधि और परिसंख्या विधि का ज्ञान आवश्यक है ।

नियमविधि—अनेक साधनों द्वारा साधित क्रिया में एक साधन प्राप्त होने पर अप्राप्त दूसरे साधन को प्राप्त कराने वाली विधि 'नियमविधि' कहलाती है^३ ।

१. अधिकारविधिर्नाम कर्मजन्यफलभोक्तृत्वविधिः । —अर्थसंग्रह ।

२. प्रयोगसमवेतार्थस्मारका मन्त्राः, तेषाञ्च तादृशार्थस्मारकत्वेनार्थवत्त्वम् । —अर्थसंग्रह ।

३. विधिरत्यन्तमप्राप्ती नियमः पाक्षिके सति ।

तत्र चान्यत्र चाप्राप्ती परिसंख्येति गीयते ॥

—वही

परिसंख्याविधि—दो विधियों के एकसाथ प्राप्त होने पर एक विधि की व्यावृत्तिपरक विधि 'परिसंख्याविधि' कहलाती है। जैसे—'पञ्च पञ्चनखाः भक्ष्याः' यहाँ 'पञ्चनख' भक्षण प्राप्त है, अतः इस वाक्य से 'अपञ्चनख' भक्षण की व्यावृत्ति हो जाती है और पञ्चनखों में भी पाँच को छोड़कर शेष की व्यावृत्ति हो जाती है। इसमें तीन दोष होते हैं^१।

(३) **नामधेय**—त्रिजातीय अर्थ का व्यावर्तक और विधेयार्थ का निश्चायक शब्द 'नामधेय' कहलाता है। जैसे—'उद्भिदा यजेत पशुकामः' यहाँ उद्भिद शब्द से 'उद्भिद' नामक यागविशेष का विधान निश्चित होता है^२।

(४) **निषेध**—कर्ता के निवर्तक वाक्य को 'निषेधवाक्य' कहते हैं^३। जैसे—'न कलञ्जं भक्षयेत्'।

(५) **अर्थवाद**—प्रशंसापरक या निन्दापरक वाक्य को 'अर्थवाद' कहते हैं^४। अर्थवाद के दो भेद होते हैं—(१) विधिशेष और (२) निषेधशेष। विधिशेष—जैसे—'वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः' तथा निषेधशेष का उदाहरण है—'वहिषि रजतं न देयम्'।

प्रकारान्तर से अर्थवाद के तीन भेद किये जाते हैं—१. गुणवाद २. अनुवाद और ३. भूतार्थवाद।

१. **गुणवाद**—प्रमाणान्तर से विरोध होने पर जो अर्थवाद होता है, उसे 'गुणवाद' कहते हैं^५। जैसे—'आदित्यो यूपः' यहाँ यूप का आदित्य के साथ अभेद, प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित है। अतः इस कथन से उज्ज्वलत्वरूप गुण का प्रतिपादन होता है। इस प्रकार यह गुणवाद का उदाहरण है।

२. **अनुवाद**—प्रमाणान्तर से सिद्ध अर्थ के बोधक अर्थवाद को 'अनुवाद'

१. श्रुतार्थस्य परित्यागादश्रुतार्थप्रकल्पनात्।

प्राप्तस्य बाधादित्येवं परिसंख्या त्रिदूषणा ॥ —अर्थसंग्रह।

२. नामधेयानाञ्च विधेयार्थपरिच्छेदकतयार्थत्वम्। तथाहि—'उद्भिदा यजेत पशुकामः' इत्यश्रोद्भिच्छब्दो यागनामधेयम्। —अर्थसंग्रह।

३. पुरुषस्य निवर्तकं वाक्यं निषेधः। —अर्थसंग्रह।

४. प्राशस्त्यनिन्दान्यतरवाक्यमर्थवादः। स द्विविधः, विधिशेषः निषेधशेषश्चेति। स पुनस्त्रेधा—गुणवादोऽनुवादो भूतार्थवादश्च। —अर्थसंग्रह।

५. प्रमाणान्तरविरोधे सत्यर्थवादो गुणवादः। यथा—आदित्यो यूपः।

—अर्थसंग्रह।

कहते हैं^१। जैसे—‘अग्निहिमस्य भेषजम्’ यहाँ अग्नि का हिम विरोधित्व प्रत्यक्ष द्वारा सिद्ध होने से, शीत हिम का विपरीत, उष्णगुण वाला अग्नि ‘भेषज’ है।

३. भूतार्थवाद—यथार्थबोधक अर्थवाद को ‘भूतार्थवाद’ कहते हैं^२। जैसे—‘इन्द्रो वृत्राय वज्रमुदयच्छत’।

सात प्रकार की कल्पनाएँ

जिस प्रकार सूर्य की किरणों की प्रकाशरश्मि से कमल खिल जाते हैं, उसी प्रकार अनेक प्रकार की कल्पनाओं के प्रकाश से छिपे हुए शास्त्ररहस्य प्रकट हो जाते हैं। तन्त्रयुक्तिकार ने निम्नलिखित कल्पनाओं का वर्णन किया है।

१. प्रधानकल्पना २. गुणकल्पना ३. लेशकल्पना ४. इंगितकल्पना ५. विभवकल्पना ६. भक्तिकल्पना और ७. आज्ञाकल्पना।

(१) प्रधानकल्पना—किसी विशेष प्रयोजन के लिए उस प्रयोजन के लिए सक्षम द्रव्य द्वारा जब कल्पना की जाती है, तब उसे प्रधानकल्पना कहते हैं। जैसे, स्नेहनकारक घृत एवं जीवनदायक दुग्ध से जो कल्पना की जाती है, वह प्रधानकल्पना है। यह प्रधानकल्पना का उदाहरण है। जहाँ प्रधान के द्वारा कल्पना करेंगे, वहाँ प्रधानक्षीर की कल्पना में क्षीरवर्ग के तक्र, मस्तु घृत आदि का भी प्रयोग होता है।

(२) गुणकल्पना—जिस धर्म से युक्त होने पर किसी को योग्य तथा क्रियाकुशल माना जाता है, वह गुण कल्पना है। जैसे, चिकित्सा के चार चरण कहे गये हैं—१. वैद्य २. द्रव्य ३. परिचारक और ४. रोगी। इन चारों में जब दक्षता, शास्त्राध्ययन, इष्टकर्मता आदि गुणों की कल्पना की जाती है, तब वह ‘गुणकल्पना’ है।

(३) लेशकल्पना—जहाँ किसी सूत्र में किसी विषय को स्पष्ट रूप से नहीं कहा गया है और किसी निर्णय पर पहुँचने के लिए उस सूत्र के पदों से ही किसी अर्थ की कल्पना कर निष्कर्ष निकाला जाता है, उसे लेशकल्पना

१. प्रमाणान्तरावगतार्थबोधकोऽर्थवादोऽनुवादः। यथा—अग्निहिमस्य भेषजम्।
—अर्थसंग्रह।

२. प्रमाणान्तरविरोधतत्प्राप्तिरहितार्थबोधकोऽर्थवादो भूतार्थवादः, यथा—
‘इन्द्रो वृत्राय वज्रमुदयच्छत’। तथा च—

निरोधे गुणवादः स्यादनुवादोऽवधारिते।

भूतार्थवादस्तदधानादर्थवादस्त्रिधा मतः॥

—अर्थसंग्रह।

(१४) अपार्थक—(अनर्थक) ऐसे शब्दों का प्रयोग करना, जिनका कोई अर्थ नहीं है। जैसे, डित्य आदि।

सत्रह ताच्छील्य

ताच्छील्य सत्रह प्रकार के कहे गये हैं—जैसे, १. ताच्छील्य २. अवयव ३. विकार ४. सामीप्य ५. भूयस्त्व ६. प्रकार ७. गुणिगुणविभव ८. संसक्तता ९. तद्धर्मता १०. स्थान ११. साहचर्य १२. तादर्थ्य १३. कर्म १४. गुणनिमित्तता १५. चैष्टानिमित्तता १६. मूलसंज्ञा १७. तात्स्थ्य।

(१) ताच्छील्य—जब किन्हीं दो स्थलों में कोई धर्म या क्रिया समान रूप में देखी जाती है, तो वही 'ताच्छील्य' का ज्ञान होता है। जैसे—वातव्याधियों का एक भेद है 'सुप्तिवात', जिसमें किसी अङ्ग में शून्यता हो जाती है, वहाँ स्पर्शज्ञान नष्ट हो जाता है। जिस प्रकार सुप्त व्यक्ति कुछ नहीं जानता-सुनता है, उसी तरह संज्ञाशून्यता होने से इस वातरोग का नाम 'सुप्तिवात' है।

(२) अवयव—जब किसी विस्तृत विषय के एक अंश का वर्णन किया जाय, तो उसे 'अवयव' कहते हैं। जैसे, अन्नपान के वर्णन के प्रसङ्ग में (चरक० सू० २७।३३१) यह कहना, कि अन्नपान के एकदेश का वर्णन किया गया—“अन्नपानैकदेशोऽयमुक्तः प्रायोपयोगिकः”।

(३) विकार—शरीर के मूल त्रिदोष (वात-पित्त-कफ) की साम्यावस्था को प्रकृति कहते हैं और जब इनमें किसी प्रकार की विषमता हो जाती है, तब उसे 'विकार' कहते हैं—“विकारो धातुवैषम्यं” (चरक० सू० १।४) एवञ्च पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च कर्मेन्द्रिय, मन तथा शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध, इनको 'विकार' कहा गया है—

बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चैव पञ्च कर्मेन्द्रियाणि च।

समनस्काश्च पञ्चार्था विकारा इति संज्ञिताः ॥

—चरक० शा० १।६४।

(४) सामीप्य—जिसके समीप जो रहता है, उसका उसके साथ 'सामीप्य' होता है। जैसे—स्नेहवर्ग में पठित घृत-तैल आदि गुणों की दृष्टि से परस्पर 'सामीप्य' रखते हैं।

(५) भूयस्त्व—जैसे कषाय रस में संग्रहण, रोपण, सन्धान और स्तम्भन गुण अधिक अंश में पाये जाते हैं, अतः कषाय रसवाले द्रव्यों में उक्त गुणों का 'भूयस्त्व' (आधिक्य) होता है।

(६) प्रकार—जहाँ सादृश्य होते हुए भी भिन्नता प्रकट होती है, वहाँ

‘प्रकार’ कहा जाता है। जैसे, गुण की दृष्टि से समान होने पर भी उत्पत्ति की दृष्टि से स्नेह दो ‘प्रकार’ का होता है—१. स्थावर और २. जंगम।

(७) **गुणिगुणविभव**—गुणों में समानता होने के कारण कोई आहार द्रव्य स्वसमानगुणी किसी विशेष धातु को बढ़ाता है। जैसे, मांस खाने से मांस बढ़ता है—‘मांसमाप्यायते मांसेन’। यहाँ मांस भक्षण का गुण शरीर के स्वसमानगुणी मांस धातु को बढ़ाता है, अतः यह ‘गुणिगुणविभव’ कहा जायगा।

(८) **संसक्तता**—जब किसी एक द्रव्य में अनेक रस पाये जाते हैं तब उस द्रव्य में रसों की ‘संसक्तता’ कही जाती है। जैसे, लहसुन में पाँच रसों की ‘संसक्तता’ होती है, अम्ल को छोड़कर उसमें पाँचों रस होते हैं।

(९) **तद्धर्मता**—जब किसी वस्तु में अन्य वस्तु का धर्म पाया जाता है, तब उसमें उसकी ‘तद्धर्मता’ कही जाती है। जैसे—विष प्राणहर होता है और प्राण-हरण का कार्य यम का होता है, इसलिए विष में यम की ‘तद्धर्मता’ है।

(१०) **स्थान**—जहाँ स्थानी से स्थान या स्थान से स्थानी को कहा जाता है वह ‘स्थान’ है। जैसे, कर्णवाद रोग कर्णेन्द्रिय का नहीं है, अपितु वह कर्ण स्थान का है। एवं ‘जिह्वा रस ग्रहण करती है’ इस कथन में तथ्य यह है कि रस का ग्रहण तो रसनेन्द्रिय से होता है जिह्वा तो उसका स्थान है। किन्तु यह कहने का ढंग है।

(११) **तादर्थ्य**—जिस प्रयोजन के लिए किसी उपादान का प्रयोग किया जाता है, वह ‘तादर्थ्य’ कहा जाता है। जैसे, कुर्सी बनाने के लिए लकड़ी। एवं वमन कराने के लिए वमनकारक मदनफल का ग्रहण तादर्थ्य (अर्थात् वमनार्थ) है।

(१२) **साहचर्य**—जब कोई दो वस्तुएँ साथ-साथ दीख पड़ें तो उनके साथ रहने को ‘साहचर्य’ कहा जाता है। जैसे—धूम और अग्नि का साहचर्य है। जहाँ जहाँ धूम होता है, वहाँ वहाँ अग्नि देखी जाती है। इस साहचर्य नियम को व्याप्ति भी कहते हैं।

(१३) **कर्म**—किसी कर्तव्य को लक्ष्य कर जो क्रिया की जाती है वह ‘कर्म’ है (‘कर्तव्यस्य क्रिया कर्म’—चरक० सू० १।५२)। जैसे—गमन (जाना) एक कर्म है।

(१४) **गुणनिमित्तता**—जब किन्हीं गुणों के कारण तदनुरूप फल की प्राप्ति होती है, तब उस फलप्राप्ति में ‘गुणनिमित्तता’ होती है। जैसे—धार्मिक क्रियाओं से हर्ष की प्राप्ति होती है—‘धर्म्याः क्रियाः हर्षनिमित्तमुक्ताः’। (चरक० शा० २।४१)।

(१५) चेष्टानिमित्तता—चेष्टा (विशेष प्रयत्न) पूर्वक कर्म करने से किसी विशेष फल की प्राप्ति में 'चेष्टानिमित्तता' होती है। जैसे—गुरु की सुश्रूषा से विद्या की प्राप्ति होने में 'चेष्टानिमित्तता' है—'गुरुसुश्रूषया विद्या'।

(१६) मूलसंज्ञा—किसी विषय का संक्षेपतः मूलरूप में वर्णन करना 'मूलसंज्ञा' है। जैसे—त्रिविध औषध (त्रिविधमौषधम्) यह कथन 'मूलसंज्ञा' है। अथवा स्वशास्त्र संज्ञा को मूलसंज्ञा कहते हैं; अर्थात् लोक में या अन्य शास्त्रों में रूप कहने से शुक्ल, नील, पीत, कृष्ण आदि वर्णों का ज्ञान होता है जबकि आयुर्वेद में रूप शब्द से लिङ्ग, लक्षण, आकृति, चिह्न आदि पर्याय शब्दों का ग्रहण होता है।

(१७) तात्स्थ्य—किसी कथन का भाव कुछ और है, किन्तु दूसरा भाव भी उससे ग्रहण कर लिया जाता है, यह दूसरे भाव का ग्रहण 'तात्स्थ्य' कहा जाता है। जैसे—मूत्र का वेग रोकने से वस्ति और मूत्रमार्ग में शूल आदि रोग होते हैं। यदि कोई व्यक्ति मूत्रवेग धारण करता है, तो शूल आदि स्पष्ट न होने पर भी वस्तिस्थान के शोधनार्थ स्वेदन अवगाहन अभ्यङ्ग आदि क्रियाएं करनी चाहिए।

इक्कीस अर्थाश्रय

शास्त्रकार शास्त्रों की रचना में किन्हीं विशेष नियमों का अनुसरण करते हैं। उनकी अपनी विशिष्ट शैली होती है। कहीं क्रमहीन, प्रसङ्गरहित और गूढार्थ होती है, जिसके परिज्ञान के लिए इक्कीस अर्थाश्रयों का उल्लेख किया है—

१. आदिलोप २. मध्यलोप ३. अन्त्यलोप ४. उभयपदलोप ५. आदिमध्यान्त्यलोप ६. उपघालोप ७. वर्णोपजनन ८. ऋषिक्लिष्ट ९. तन्त्रशैली (तन्त्र-शील) १०. तन्त्रसंज्ञा ११. प्राकृताख्य (प्राकृत) १२. समानतन्त्रप्रत्यय १३. परतन्त्रप्रत्यय १४. हेतुहेतुकधर्म १५. कार्यकारणधर्म १६. आद्यन्तविपर्यय १७. शब्दान्यत्व १८. प्रत्ययाख्यधर्म १९. उपनय २०. संभव २१. विभव।

(१) आदिलोप—पद या सूत्र के आदि शब्द का लोप होना 'आदि-लोप' कहलाता है। जैसे—धारण या उदीरण कहने पर उसका आदिशब्द 'वेग' लुप्त समझना चाहिए, क्योंकि लुप्त शब्द का ज्ञान होने पर ही पदार्थ एवं वाक्यार्थ का ज्ञान होगा।

(२) मध्यलोप—किसी शब्द के मध्यवर्ती पद का लोप होना 'मध्यलोप' कहलाता है। जैसे—अन्नविज्ञानीय तथा द्रवविज्ञानीय शब्दों में मध्यवर्ती 'स्वरूप' एवं 'द्रव्य' शब्द लुप्त हैं।

(३) अन्त्यलोप—अन्त्य में रहने वाले शब्द का लोप 'अन्त्यलोप'

कहलाता है। जैसे—‘मधुराम्ललवण रस विशिष्ट द्रव्यों का सेवन’ यहाँ ‘कफकारक’ शब्द लुप्त है।

(४) उभयलोप—यह तीन प्रकार का होता है—१. आदिमध्यलोप
२. आद्यन्तलोप और ३. मध्यान्तलोप।

(५) आदिमध्यान्तलोप—(सर्वलोप) जब आदि, मध्य और अन्त तीनों ही का लोप होता है, तब उसे ‘आदिमध्यान्तलोप’ कहा जाता है। जैसे—‘अन्नकाल में सेवन करें’ यह कहने पर अन्नकाल के आदि, मध्य और अन्त इन तीनों को समझना चाहिए।

(६) उपधालोप—व्याकरणशास्त्र में ‘अलोऽन्त्यात्पूर्वं उपधा’ सूत्र से अन्त्य अल् के पूर्व वर्ण की उपधा संज्ञा होती है। जैसे—गर्दभ शब्द में (भ् + अ = भ) भ् की उपधा संज्ञा होगी। यदि ‘भ्’ न लिखा हो केवल ‘गर्दं अ’ लिखा हो, यह ‘उपधा लोप’ कहा जाएगा।

(७) वर्णोपजनन—किसी एक शब्द से उससे सम्बन्धित अन्य शब्दों का ग्रहण करना ‘वर्णोपजनन’ कहलाता है। जैसे—पार्थिव शब्द से गन्ध एवं घ्राण का ग्रहण होता है।

(८) ऋषिक्लिष्ट—कोई पद ऋषि द्वारा प्रमादवश अशुद्ध रूप में उच्चारण किया गया और वैसा ही प्रचलित हो गया, तो वह ‘ऋषिक्लिष्ट’ कहलाता है। जैसे—रोम लोम आदि।

(९) तन्त्रशैली—तन्त्र (शास्त्र) कार की ‘तन्त्र’ लिखने की शैली को ‘तन्त्रशैली’ कहते हैं। जैसे—तीन सौ साठ अस्थियाँ होती हैं, यह संक्षेप में कहकर पुनः विस्तारपूर्वक उसका वर्णन करना।

(१०) तन्त्रसंज्ञा—किसी विषय के वर्णन के प्रसङ्ग में प्रमाण के लिए अपने तन्त्र का कोई सिद्ध उदाहरण प्रस्तुत करना ‘तन्त्रसंज्ञा’ है। जैसे—पित्त विकार में विशेषकर ‘तिक्तुरस’ का तथा कफ विकार में ‘कटुरस’ का प्रयोग श्रेष्ठ है।

(११) प्राकृताख्य—प्रस्तुत प्रसङ्ग के अनुसार शब्द का अर्थ करना ‘प्राकृताख्य’ है। जैसे—किसी औषध के योग में पठित ‘सैन्धव’ शब्द से सैन्धव लवण का ग्रहण किया जाता है, न कि अश्व का।

(१२) समानतन्त्रप्रत्यय—अपने तन्त्र के समान किसी अन्य तन्त्र में वर्णित विषय को उपस्थित करना ‘समानतन्त्रप्रत्यय’ कहलाता है। जैसे—सद्वृत्त के प्रसङ्ग में यह कहना, कि ‘क्षारपाणि संहिता’ में दश, दश दिन पर केश, नख आदि के कर्तन का निर्देश किया गया है।

(१३) परतन्त्रप्रत्यय—जो विषय अन्य तन्त्रों में भी समानरूप से

वर्णित हो, उसका अपने तन्त्र में वर्णन करना 'परतन्त्रप्रत्यय' कहलाता है। जैसे—'काल' शीत, उष्ण तथा वर्षा लक्षण वाला होता है।

(१४) हेतुहेतुकधर्म—जब किसी रोग का कारण उस रोग से सम्बद्ध किसी दूसरे रोग का कारण बने, तो वह 'हेतुहेतुकधर्म' कहलाता है। जैसे—पित्तातिसारी का पित्त और अधिक कुपित होकर रक्तातिसार का कारण बन जाता है।

(१५) कार्यकारणधर्म—जहाँ कारण से कार्य का अथवा कार्य से कारण का निर्देश किया जाता है, वहाँ 'कार्यकारणधर्म' होता है। जैसे—दोष वैषम्य से रोग होता है अथवा रोग की उत्पत्ति देखकर दोष वैषम्य का ज्ञान होता है।

(१६) आद्यन्तविपर्यय—किसी प्रतिज्ञा में जिसकी पहले प्रतिज्ञा की गई है, उसका बाद में वर्णन करना और जिसकी बाद में प्रतिज्ञा की गई है, उसका पहले वर्णन करना 'आद्यन्तविपर्यय' है। 'सूचीकटाहन्याय' से यह ग्राह्य होता है। जैसे—'अन्नपानविधि व्याख्यास्यामः' इस प्रतिज्ञा में पहले पान का वर्णन कर बाद में अन्न का वर्णन किया गया है (चरक० सू० २७)।

(१७) शब्दान्यत्व—पर्यायवाची शब्दों द्वारा कथन शब्दान्यत्व है। जैसे—ज्वर, विकार, व्याधि, आमय, गद, आतङ्क और यक्ष्मा, ये सब रोग के पर्यायवाची शब्द हैं (चरक० निदान० ११५)।

(१८) प्रत्ययाख्यधर्म—किसी विषय का कारण सहित वर्णन करना 'प्रत्ययाख्यधर्म' है। जैसे—भूतोन्माद का कारण प्रज्ञापराधजन्य पूर्वकृत असत्कर्म होता है (चरक० नि० ७।१३)।

(१९) उपनय—प्रस्तावित सूत्र के अनुसार विषय का वर्णन करना 'उपनय' है। जैसे—'अथातो न वेगान्धारणीयमध्यायं व्याख्यास्यामः' (अब आगे 'न वेगान्धारणीय अध्याय' का वर्णन करेंगे)। इस सूत्र के बाद वेगधारण-निषेध का वर्णन करना।

(२०) संभव—प्रसङ्ग में आये हुए विषय के अतिरिक्त विषय का वर्णन 'संभव' है। जैसे—'व्याधितरूपीय विमान' (चरक० वि० ७) में कृमियों का वर्णन करना।

(२१) विभब—जिस सूत्र के विषय का वर्णन समस्त ग्रन्थ में किया गया हो, वह 'विभब' है। जैसे—अष्टांग आयुर्वेद (काय-बाल-प्रहोष्वांग-शल्य-दंष्ट्रा-जरा-वृषान्) का वर्णन सम्पूर्ण 'अष्टाङ्गसंग्रह' संहिता में किया गया है।

द्वाविंश अध्याय तुलादि-विज्ञान

तुलायन्त्रादि प्रामाण्य

तुलायन्त्र (तराजू) के अनेक प्रकार प्रचलित हैं । जो मिलीग्राम से लेकर क्विण्टल और टनों का तौल कर लेते हैं । बहुमूल्य वस्तुओं एवं तीव्र औषधों की तौल के लिए वैज्ञानिक तराजू प्रयोग में आते हैं, जिसे जवाहरात के दूकानदार, वैज्ञानिक और चिकित्सक प्रयोग करते हैं । सामान्य एवं बड़ी मात्रा में वस्तुओं को तौलने के लिए पंसारी, गल्ला के व्यापारी मध्यम कोटि की तुला का और मिलों के कांटों पर या चुंगी चौकी पर भरी हुई ट्रकों तौल ली जाती हैं ।

आयुर्वेद में औषध द्रव्यों के निर्माण अथवा निमित्त औषधों के प्रयोग के सिलसिले में मान का महत्त्वपूर्ण स्थान है । क्योंकि चिकित्सा की सफलता औषध योजना (युक्ति) पर निर्भर है और सम्यक् योजना के लिए औषधों के मान पर विशेष ध्यान देना अत्यन्त उपयोगी है । मान का समुचित निर्धारण किये बिना औषध योजना बन ही नहीं सकती^१ ।

आचार्य चरक ने कहा है, कि औषध योजना मात्रा और काल के आश्रित है अर्थात् उष्ण-शीतादि अथवा रोगी की अवस्थाविशेष का तथा औषध की मात्रा का सम्यक् विचार करके ही औषध योजना बनानी चाहिए, क्योंकि चिकित्सा की सफलता योजना (युक्ति) पर निर्भर है । युक्तिज्ञ चिकित्सक ही श्रेष्ठ चिकित्सक माना जाता है^२ ।

युक्ति का आधार-स्तम्भ होने के कारण 'मान' की उत्कृष्ट मर्यादा है और मान का मापक होने के नाते 'तुलायन्त्र' एक अनिवार्य उपयोगी उपकरण है । तुलायन्त्र का प्रयोग करने वाले तुला की पूजा से ही अपना व्यापार प्रारम्भ करते हैं ।

तुलायन्त्र सर्वोच्च मानदण्ड है । अतएव सर्वोच्च न्याय का भी प्रतीक 'तुला यन्त्र' को माना गया है । जैसे—हंस की नीरक्षीर विवेकिनी बुद्धि निरुपम है,

१. न मानेन बिना युक्तिर्द्रव्याणां जायते क्वचित् । —परिभाषा-प्रदीप ।

२. मात्रा कालाश्रया युक्तिः सिद्धिर्युक्तौ प्रतिष्ठिता ।

तिष्ठत्युपरि युक्तिज्ञो द्रव्यज्ञानवतां सदा ॥ —चरक० सू० २ ।

उसी प्रकार 'तुलायन्त्र' से मापन द्वारा वस्तु की मात्रा का निर्धारण करना वस्तु के मूल्याङ्कन का अनुपम आधार है।

तुलायन्त्र का प्रामाण्य स्वयमेव सिद्ध है, क्योंकि तुलायन्त्र से अन्य वस्तुओं के प्रमाण का निश्चय किया जाता है। प्रमाण उसे कहते हैं, जिसके द्वारा कोई वस्तु नापी या तोली जाय। जब अच्छी तरह सही-सही किसी वस्तु का मापन किया जाता है, तो इस मापन प्रक्रिया के लिए 'प्रमाण' शब्द प्रयुक्त होता है—'प्रकृष्टेन मीयते इति प्रमाणं प्रमाणस्य भावः प्रामाण्यम्'।

प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के द्वारा जैसे किन्हीं वस्तुतत्त्वों की वास्तविकता की प्रतीति होती है, उसी तरह जब कोई वस्तु तोल दी जाती है, तो उसकी मात्रा का निश्चय हो जाने से उसके मूल्याङ्कन या प्रयोग आदि का निश्चय करने में सुविधा होती है, अतः तुलायन्त्र की प्रामाणिकता स्वतः सिद्ध है।

तुलायन्त्र और बाट अब राजकीय नियन्त्रण में हैं और समय-समय पर बाटों के निरीक्षण और मुद्राङ्कन आदि के लिए एक 'बाटमाप-निरीक्षण' विभाग की स्थापना की जा चुकी है।

तुलायन्त्र तथा अन्य माप प्रतिदिन के प्रयोग के उपकरण हैं और इनके सम्यक् ज्ञान पर ही औषध-निर्माण किंवा औषधयोजना की प्रक्रिया सुचारु रूप से चल सकती है। प्रत्येक चिकित्सक के लिए यह आवश्यक है, कि वह सभी प्रकार के मापक साधनों से पूर्णतः परिचित हो।

उदाहरणार्थं कतिपय माप-तोल दिये जाते हैं—

माप

$$१० \text{ मीलीमीटर} = १ \text{ सेन्टीमीटर}$$

$$= .३९ \text{ इंच}$$

$$१० \text{ सेन्टीमीटर} = १ \text{ डेसीमीटर}$$

$$= ३.९४ \text{ इंच}$$

$$१० \text{ डेसीमीटर} = १ \text{ मीटर}$$

$$= ३९.३७ \text{ इंच}$$

$$१० \text{ मीटर} = १ \text{ डेकामीटर}$$

$$१० \text{ डेकामीटर} = १ \text{ हेक्टोमीटर}$$

$$१० \text{ हेक्टोमीटर} = १ \text{ किलोमीटर}$$

$$= \text{लगभग } ५ \text{ फर्लांग}$$

तौल

$$१० \text{ मीलीग्राम} = १ \text{ सेन्टीग्राम}$$

$$१० \text{ सेन्टीग्राम} = १ \text{ डेसीग्राम}$$

- १० डेसीग्राम = १ ग्राम
 १० ग्राम = १ डेकाग्राम
 १० डेकाग्राम = १ हेक्टोग्राम
 १० हेक्टोग्राम = १ किलोग्राम
 = २.२ पौंड
 १०० किलोग्राम = १ क्विन्टल

तुलनात्मक परिवर्तन

१. बाट

- १ तोला = ११.६६ ग्राम
 १० तोला = ११६.६४ "
 १ पौंड = ४५ किलोग्राम
 १० " = ४५ "
 १ सेर = ९३ "
 १० " = ९३ "
 १ मन = ०.३७ क्विन्टल
 १० " = ३.७३ "
 १ टन = १०२ मेट्रिक टन
 १० " = १०.१६ "

२. लम्बाई

- १ इंच = २५.४० मीलीमीटर
 १२ " = ३०.४८० "
 १ गज = ०.९१ मीटर
 १० " = ९.९४ "
 १ मील = १.६१ किलोमीटर
 १० " = १६.९ "



पदार्थ-विज्ञानम्

आयुर्वेदाचार्य (बी. ए. एम. एस.) पाठ्यविषयाः

१. पदलक्षणम्	३१-३२
२. पदार्थलक्षणम्	३२-३३
३. पदार्थविज्ञानस्य प्रयोजनम्	२८-३१
४. पदार्थविज्ञानस्य आयुर्वेदे उपयोगः	"
५. पदार्थस्वरूपसंख्यादिषु मतमतान्तराणि	३६-४०
६. प्रचलितविविधदर्शनानां मते पदार्थस्वरूपम्	३३-३६
७. आयुर्वेदे दर्शनान्तराणामुपयोगः	२३१-२३४
८. पदार्थभेदाः	४०
९. प्रमाणप्रमेयरूपं पदार्थवैशिष्ट्यम्	४३-५५
१०. अभ्यहितत्वात् प्रमाणस्य प्रथमं विचारः	४८-४९
११. प्रमाणभेदाः	४९
१२. आयुर्वेदे विविधप्रमाणानामुपयोगः	५१-५३
१३. स्वतःप्रामाण्यं परतःप्रामाण्यम्	५३-५५
१४. प्रत्यक्षप्रमाणविचारः	५६-६८
१५. प्रत्यक्षलक्षणम्	५६
१६. निर्विकल्पक-सविकल्पकभेदेन प्रत्यक्षद्वैविध्यम्	५६-५७
१७. इन्द्रियभेदेन प्रत्यक्षभेदाः	५७-५८
१८. उपलभ्यमान-विविधयन्त्रादि-सहायताद्वारा प्रत्यक्षप्रमाण-विस्तारः	६७-६८
१९. इन्द्रियार्थसन्निकर्षभेदाः	५९-६१
२०. सन्निकर्षस्वरूपम्	५९
२१. इन्द्रियाणां प्राप्यकारिताविचारः	६१-६२
२२. आत्मबुद्धिमनसाम् इन्द्रियार्थसन्निकर्षविवेकः	२७१-२९०
२३. इन्द्रियलक्षणम्	२७४
२४. इन्द्रियभेदाः	२७४-२७५
२५. इन्द्रियाणां भौतिकत्वम्	२८१-२८५
२६. इन्द्रियाणाम् आहंकारिकत्वम्	२८५-२८६
२७. ज्ञानकर्मेन्द्रियस्वरूपविचारः	२७५

२८. प्रत्यक्षदोषाः अतिसामीप्यादयः	६२-६३
२९. प्रत्यक्षप्रमाणस्य प्रमाणान्तरसहायकत्वम्	६३-६४
३०. योगजप्रत्यक्षम्	५९
३१. स्वप्नावस्थायां प्रत्यक्षं च	६४-६६
३२. ज्ञानोत्पत्तिप्रकारः	६६
३३. चाक्षुषप्रत्यक्षोत्पत्तिप्रकाराः १८९, छायाप्रतिच्छाया रूपप्रत्यक्षभेदाः ५६	
३४. श्रोत्र (शब्द) प्रत्यक्षोत्पत्तिप्रकाराः १८९, शाब्दप्रत्यक्षभेदाः १८०-१८१	
३५. त्वाचप्रत्यक्षोत्पत्तिप्रकाराः, त्वाचप्रत्यक्षभेदाः	१८७
३६. रसनाप्रत्यक्षोत्पत्तिप्रकाराः, रसनाप्रत्यक्षभेदाः	१९५
३७. घ्राणज (गन्ध) प्रत्यक्षोत्पत्तिप्रकाराः	१९७
३८. मानसप्रत्यक्षभेदाः	१४५-१७०
३९. वेदनानामधिष्ठानं मनोदेहश्च सेन्द्रियः	२६८
४०. वेदनानाशहेतवः	२६८-२७०
४१. अनुमितिकरणविचारः	६९-९१
४२. अनुमानस्वरूपम्	६९-७०
४३. अनुमानभेदाः	७४-७४-७५, ७७-७८
४४. अनुमानपदार्थः, परामर्शादयः	६९-९१
४५. अनुमानलक्षणम्	७०-७१
४६. व्याप्तिभेदाः	७२
४७. व्याप्तिलक्षणम्	७१
४८. परामर्शलक्षणम्	७३
४९. अनुमानावयवाः	७५-७६
५०. पक्षहेतुदृष्टान्तादयः	७३
५१. पक्षलक्षणम्	७३
५२. पक्षताविचारः	७३
५३. पक्षधर्मताविचारः	७३
५४. हेतुलक्षणम्	७८
५५. हेतुभेदाः	७८-८०
५६. हेत्वाभासाः	८०-८४
५७. दृष्टान्तभेदाः	३४४
५८. दृष्टान्तलक्षणम्	३४५
५९. उपनयस्वरूपम्	७६
६०. निगमनस्वरूपम्	७६

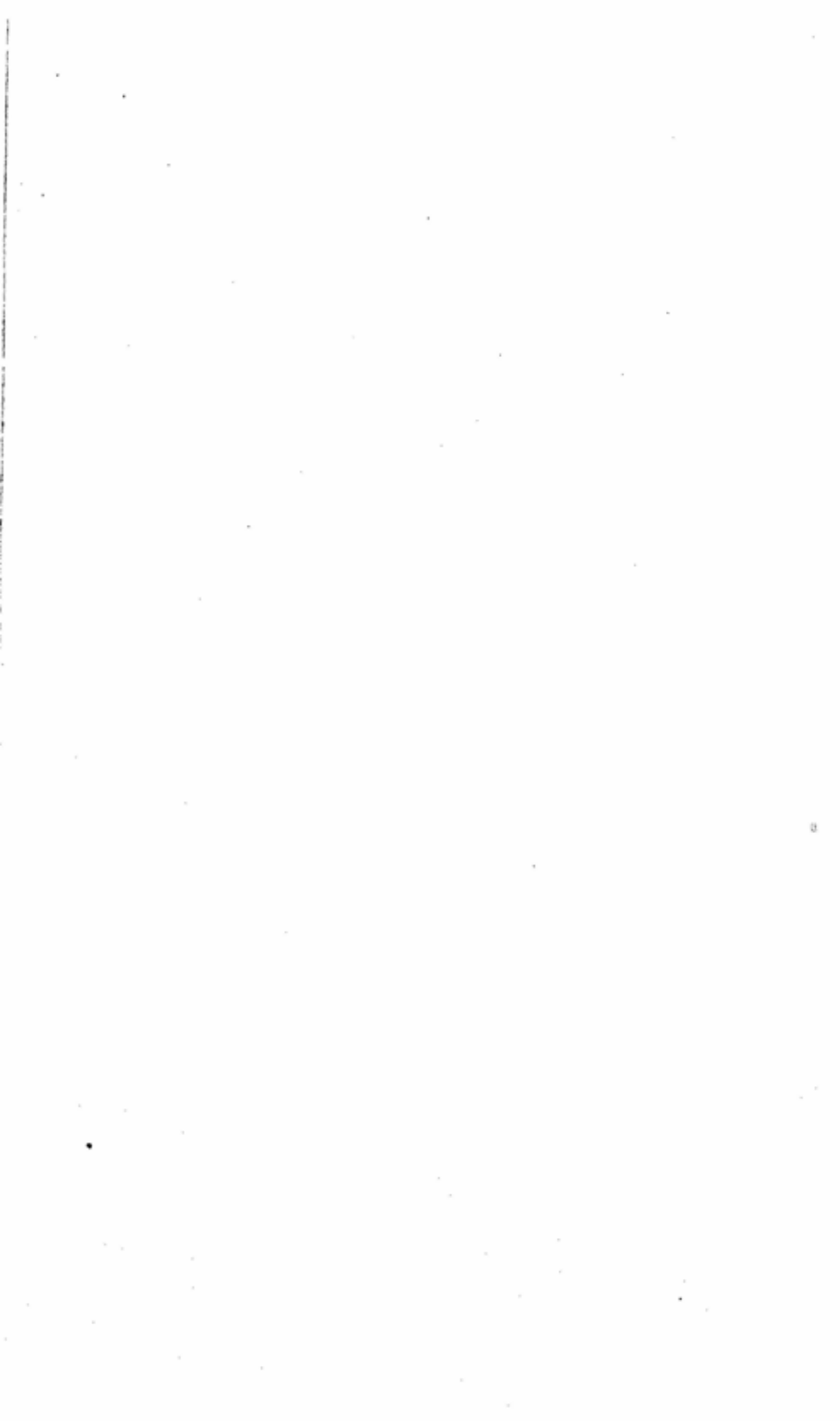
६१. तर्कलक्षणम्	८५-८६
६२. तर्कमहत्त्वम्	८५
६३. तर्कभेदाः	८६
६४. तद्विद्यसंभाषाविचारः	३३८-४२
६५. वाद-जल्पवितण्डाविचारः	३४६
६६. निग्रहस्थानानि	३४६-४७
६७. तुलायन्त्रादिसाहाय्येन सविस्तारमनुमानविषयस्य विचारः	८९
६८. आयुर्वेदे अनुमानस्य सर्वाधिकः प्रयोगः	८९-९१
६९. अनुमानमहत्त्वम्	"
७०. उपमानविचारः	९६-९७
७१. उपमानप्रमाणलक्षणम्	९८
७२. उपमानभेदाः	९७-९८
७३. आयुर्वेदे उपमानप्रमाणोपयोगः	९८-१००
७४. सादृश्यमूलकस्य उपमानप्रमाणस्य प्रमाणान्तरोपजीव्यत्वम्	१००-१०१
७५. शब्दप्रमाणविचारः	१०१
७६. शाब्दप्रमाणविषयविवेकः	१०३
७७. शाब्दीप्रमा	४३
७८. आप्तस्वरूपम्	१०२
७९. आप्तलक्षणम्	१०१-१०२
८०. शास्त्रप्रामाण्यम्	३
८१. शास्त्रलक्षणम्	१
८२. आयुर्वेदलक्षणम्	५-६
८३. शब्दस्य अभिधादिवृत्तयः	१४
८४. शक्तिग्रहः	१५
८५. अभिधास्वरूपम्	१४
८६. शक्तिग्राहकाः कोषादयः	१६-१७
८७. निघण्टवः	२४-२६
८८. वाक्यस्वरूपम्	११
८९. आकांक्षा-योग्यता-सन्निधि-स्वरूपम्	१२-१३
९०. लक्षणावृत्तिविचारः	१७
९१. लक्षणाभेदाः	१८-२०
९२. व्यञ्जनावृत्तिविचारः	२०

९३. व्यञ्जनाभेदाः	२१-२२
९४. तात्पर्यावृत्तिविचारः	२२
९५. युक्तिप्रमाणलक्षणम्	९२
९६. प्रमाणान्तरेभ्यो युक्तिप्रमाणस्य वैशिष्ट्यम्	९२
९७. युक्तिप्रमाणस्य आयुर्वेदे विशेषतः उपयोगः	९३
९८. युक्तिप्रमाणस्य अनुमाने न अन्तर्भावः ?	९५
९९. इतिहासप्रामाण्यम्	१०५
१००. तुलायन्त्रादिप्रामाण्यम्	३९५
१०१. भ्रान्तिसंशययोः लक्षणोदाहरणविवेकः	८७-८८
१०२. कार्यकारणभावविवेकः	१०७-१०८
१०३. कारणलक्षणम्	१०७
१०४. कारणभेदाः	१०७
१०५. समवायि-असमवायि-निमित्तद्योतकादयः	१०८
१०६. कार्यभेदाः	१०८
१०७. सत्कार्यवादः	३१८-३२२
१०८. असत्कार्यवादः	३२२
१०९. आरम्भवादः	३२४-३५
११०. परिणामवादः	३२२-३३
१११. क्षणभंगवादः	३२५
११२. विवर्तवादः	३२३
११३. आयुर्वेदे कारणान्तराणां विचारः	१०८
११४. साम्यवैषम्यसिद्धान्तः	१७९
११५. सुश्रुतोक्तः कारणषट्कविचारः	१०८
११६. प्रमेयविचारः	४२
११७. प्रमेयस्वरूपम्	४२
११८. प्रमेयलक्षणम्, प्रमेयभेदाः	४०-४२
११९. द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायरूप-भावपदार्थनिरूपणम्	२८-३२
१२०. अभावविचारः	३७
१२१. द्रव्यस्य पृथिव्यादिभेदेन भेदाः	११०-११५
१२२. पृथिवीनिरूपणम्	११५-११६
१२३. जलनिरूपणम्	११६
१२४. तेजोभेदाः	११७-११८
१२५. तेजोनिरूपणम्	११६-११७

१२६. विद्युत्निरूपणम् (निरुक्ते यास्कद्वारासूचितम्)	२६-२७
१२७. तमसः (अन्धकारस्य) निरूपणम् (आयुर्वेदे तमसो गुणनिर्देशः)	११३-११४
१२८. वायुनिरूपणम्	११८
१२९. आकाशनिरूपणम्	११८-११९
१३०. कालनिरूपणम् (योऽयं कालस्तस्य तेऽव्यक्तबन्धो चेष्टामाहु- श्चेष्टते येन विश्वम्) भागवत, दशमस्कन्ध अ० ३	१७१-१७५
१३१. दिक्निरूपणम्	१७५
१३२. मनोनिरूपणम्	१४५
१३३. मनोलक्षणम्	१४५-१४६
१३४. सात्त्विकादिभेदेन अन्तर्बाह्यभेदेन च मनोभेदाः	१४६-१४७
१३५. मनोवृत्तयः कामक्रोधादयः	१५२-५३
१३६. अन्तःकरणचतुष्टयम्	२७३-७४
१३७. मनोविज्ञानविवेकः	१४८-१५१
१३८. मनसः अन्नमयत्वम्	१६६-१७०
१३९. मनसः अणुत्वमेकत्वञ्च	१५१-५२
१४०. स्वप्नविवेकः	२९८-३१०
१४१. निद्राविवेकः	२९१-२९८
१४२. तन्द्राविचारः	२९८
१४३. मूर्च्छाविचारः	३११-३१४
१४४. मोहविवेकः	३१०
१४५. संज्ञानाशः	३१४-१५
१४६. उद्बोधनम्	३१५-१६
१४७. जाग्रत्स्वरूपम्	३१६-१७
१४८. आत्मनिरूपणम्	१२३-१२६
१४९. पुरुषविवेकः	२५७-२६०
१५०. आयुर्वेदे चिकित्साधिकृतः पुरुषः	२५५-२५६
१५१. पुरुषगुणाः	२५५-२५०
१५२. जीवात्म-परमात्मभेदेन पुरुषपञ्चकम् (भूतात्मा चेन्द्रि- यात्मा च प्रधानात्मा तथा भवान् । जीवात्मा. परमात्मा च त्वमेकः पञ्चधा स्मृतः) विष्णुपुराणे ।	१३३-१३७
१५३. परमेश्वरविचारः	१३९-१४२
१५४. आयुर्वेदे परमेश्वरस्मरणविधानम्	१४२-१४४

१५५. सांख्यसंमतः प्रकृतिपुरुषविचारः	२४४-४५, २४८-४९
१५६. आस्तिकता-नास्तिकताविचारः	३२५-३६
१५७. सत्त्वरजस्तमसां विशेषतो विचारः	२१३-१६
१५८. अष्टविधप्रकृतिविवेकः	२३८-३९
१५९. अहंकारस्य त्रैविध्यम्	२८९-९०
१६०. पञ्चमहाभूतविचारः	११९-१२२
१६१. परमाणुलक्षणम्	३७७-३७८
१६२. परमाणु-नित्यताविचारः	३७८-८०
१६३. भागवतीयपरमाणुलक्षणविचारः	३८२
१६४. अवयवविचारः	७६
१६५. अवयवीविचारः	७६
१६६. गुणनिरूपणम् (साधारणम्)	१९९-२०४
१६७. गुणनिरूपणम्-वैशेषिकम् आयुर्वेदिकञ्च	१७७-१८०
१६८. शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध-निरूपणम्	१८०-१९८
१६९. पीलुपाकविचारः	३२३-३२४
१७०. पिठरपाकविचारः	३२४
१७१. आयुर्वेदिकगुणविचारः	१९९-२१६
१७२. द्वन्द्वगुणाः	२१३
१७३. आयुर्वेदेऽनेकान्तवादविचारः	३३६-३८
१७४. तन्त्रयुक्तिविचारः	३५८-३६०
१७५. चत्वारिंशत् तन्त्रयुक्तयः	३६०-३७४
१७६. सप्तदश ताच्छील्यानि	३९०-३९२
१७७. सप्तविधा कल्पना	३८७-३८८
१७८. एकविंशतिः अर्थाश्रयाः	३९२-३९४
१७९. चतुर्दश तन्त्रदोषाः	३८८-३९०





Vaidyaka

Central Archaeological Library,
NEW DELHI.

72043

Call No. Sa6V
Shu

Author— Shukla, Vidyadhar

Title— Padārtha-vijñāna-
Darpana

Borrower No.

Date of Issue

Date of Return

"A book that is shut is but a block"

CENTRAL ARCHAEOLOGICAL LIBRARY
GOVT. OF INDIA
Department of Archaeology
NEW DELHI.

Please help us to keep the book
clean and moving.